# PREFACE

The present edition of the Mímánsá Darsana was undertaken so long ago as the year 1863 The extraordinary delay in bringing it out, and that in part only, has resulted from various causes, which it is needless here to detail There has been an irregularity also in publishing nearly three *Adhyáyas* of the second part (Uttara Shatka) before the completion of the first part (Purva Shatka) This has been owing to the troublesome character of the work of preparing an Index to the first Part, and a desire not to stop the publication until it was ready, the bulk of Indian readers being perfectly indifferent about indexes

The MSS collated in the preparation of this edition are the following —

1 MS in the Library of the Asiatic Society of Bengal
2 „ „ „ Sanskrit College of Calcutta
3 „ „ „ Sanskrit College of Benares
4. „ procured by the editor from a Tailangi Pandit at Benares.

The last has been referred to in the notes as आ॰ पु॰ and also as का॰ कौ॰.

From the Calcutta and Benares College Libraries the editor also obtained MSS of some of the *Adhyáyas*, but they were not of any value The MSS from the Colleges are recent and inaccurate The other two MSS mentioned above are old and very correct.

The Mímánsá Bháshya is written in an archaic form of the Sanskrit language It is not easy of comprehension, besides, owing to the manner in which its arguments and their solutions are introduced It is difficult to find out where an objection to an argument begins, and where the argument is which is intended to meet the objection There are other difficulties also of a similar character To overcome them to some extent the editor has

particular care about the punctuation, and has marked the objections raised by means of inverted commas. For facilitating comprehension, he has, also separated, in several cases, words originally united together by *Sandhi*. Thus विस्त्येतानर्थकं तु has been broken up into विस्त्येत अनर्थकं तु. In this part of the editor's work there must doubtless be several faults—of omission at any rate. The difficulty of the task can, however, be appreciated by only those who would take the trouble of comparing the printed copy with a MS.

There are grave discrepancies between the readings of the several MSS. in regard to passages quoted from the *Vedas*. The editor has not been able to compare all such passages with the original texts, and he fears, therefore, there must be several errors in them.

It struck the editor only after the first *Páda* of the first *Adhyáya* had gone through the press that there would be an advantage in putting the different *Adhikaranas* under different headings. From the second Páda onward, this plan has been uniformly followed. The Adhikaranamálá of Mádhaváchárya has been of great help to him in this part of his undertaking.

The Mimáñsá-Darsana, though styled a Darsana, has in fact very little of a Darsana or philosophical system in it. It may very properly be styled a commentary on the Vedas, for it almost wholly occupies itself with expounding and commenting on texts quoted from the Vedas. But, though dealing so largely with the sacred scriptures of the Hindus and thus commanding a large share of their respect, oddly enough, it propounds a godless system of religion. The main drift of its arguments is to show that if bliss be the fruit of good works, the interposition of a Deity is simply superfluous.

A brief summary of the doctrines of the Mimáñsá Darsana will be annexed to the concluding fasciculus of the second part.

THE EDITOR.

# सङ्केत सूचनम् ।

| सङ्केतः | | अर्थः |
|---|---|---|
| अ० | ... | अधिकरणम् । |
| अ० पा० अ० | ... | अध्याये पादे अधिकरणम् । |
| अ० पा० अधि० | ... | ,, ,, ,, |
| आ० | ... | आशङ्का वा आपत्तिः । |
| आ० नि० | ... | आशङ्कायाः आपत्तेर्वा निरासः |
| आभा० | ... | आभासः । |
| आश० | ... | आशङ्का । |
| आ० सो० | ... | आसियाटिक् सोसाइटी |
| उ० | ... | उत्तरम् |
| उप० | ... | उपसंहारः । |
| उ० यु० | ... | उत्तरे युक्तिः । |
| क० स० | ... | कलिकाता संस्कृतकलेज् । |
| का० क्री० | .. | काशी क्रीतम् । |
| का० स० | ... | काशीसंस्कृतकलेज् |
| द्वि० | ... | द्वितीयम् । |
| द्वि० पू० | ... | द्वितीयः पूर्वपक्षः । |
| नि० | ... | निराकरणम् । |
| पा० | ... | पादः । |
| पु० | | पुस्तकम् । |
| पु० पा० | ... | पुस्तकस्य पाठः । |

| | | |
|---|---|---|
| पू० | ... | पूर्व्वपक्षः। |
| पू० आ० नि० | ... | पूर्व्वपक्षे आशङ्कानिरासः। |
| पू० नि० | ... | पूर्व्वपक्षनिरासः। |
| पू० पू० | ... | पूर्व्वपक्षे पूर्व्वपक्षः। |
| पू० यु० | ... | पूर्व्वपक्षे युक्तिः। |
| प्र० | ... | प्रथमम्। |
| प्र० पू० | ... | प्रथम पूर्व्वपक्षः। |
| प्रा० पू० | ... | प्राचीनपुस्तकम्। |
| भा० | ... | भाष्यम्। |
| व्या० | ... | व्याख्या। |
| सि० | ... | सिद्धान्तः। |
| सि० आ० | ... | सिद्धान्ते आशङ्का। |
| सि० आ० नि० | ... | सिद्धान्ते आशङ्कानिरासः। |
| सि० यु० | ... | सिद्धान्ते युक्तिः। |
| सि० हे० | ... | सिद्धान्ते हेतुः। |
| सू० | ... | सूत्रम्। |
| हे | ... | हेतुः। |

# मीमांसादर्शनस्य पूर्व्वषट्कस्थाधिकरण-सूचीपत्रम् ॥




| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्ति । |
|---|---|---|
| अंश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वस्य | ७०९ | ११ |
| अग्निचयनस्य संस्कारताया | १८९ | १ |
| अग्निचिद्वर्षणादिव्रतानां क्रत्वन्तेऽनुष्ठानस्य | ५०७ | १२ |
| अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगस्य | २५१ | ६ |
| अग्निहोत्रादियावज्जीवकर्मणाम् सकामसाधकर्त्तव्यताया | ६४८ | १ |
| अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताया | ८९ | ७ |
| अग्निहोत्रादीनां स्वकालाहुत्या आवृत्तेः | ६४९ | ११ |
| अग्नीषोमीयस्थाने प्राकृतानां मन्त्राणां विनियोगस्य | ५४८ | ९ |
| अग्नीषोमीयपशौ प्रयाजानुयाजयोः पात्रभेदस्य | ५११ | १२ |
| अग्ने प्रकृतिविकृतिसर्व्वार्थताया | ४०६ | ६ |
| अङ्गक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारिताया | ४४५ | १५ |
| अङ्गवैकल्ये काम्यस्य निष्फलत्वस्य | ६५६ | ६ |
| अङ्गानामन्यद्वाराऽनुष्ठानस्य | २९५ | १९ |
| अङ्गापूर्व्वभेदस्य | १०७ | ९ |
| अङ्गेषु मुख्यक्रमापेक्षया पाठक्रमस्य बलवत्त्वस्य | ४४६ | ५ |
| अचिकित्स्याङ्गवैकल्यस्य यागानधिकारस्य | ६१८ | ८ |
| अञ्जनादेः परिव्याणान्तानुसमयस्य | ५६० | ४ |
| अदाभ्यादीनां ग्रहनामताया | १८८ | ६ |
| अनाहिताग्नेरुपनयनहोमस्य | ७६५ | २१ |
| अनाहिताग्नेरेव चतुर्थ्यादिहोमाधिकारस्य | ७६२ | ७ |
| अनाहितेऽग्नावपकीर्णिपश्वनुष्ठानस्य | ७६९ | १३ |
| अनाहितेऽग्नौ स्थपतीष्ट्या | ७६८ | १ |
| अनिरुप्तेऽभ्युदयेष्ट्या | ७०६ | |
| अनिरुप्तेऽभ्युदये वैकृतीभ्यो निर्व्वापस्य | ७०७ | |
| अनुयाजादीनामग्निमारुतोर्द्धकालताया | ५ | |

| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्ति। |
|---|---|---|
| आग्नेयादिकर्म्मेष्टा | १९१ | ९ |
| आग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताया | १०२ | १३ |
| आग्नेयादीनामनामताया | ९२ | ८ |
| आग्नेयाष्टाकपालचरोद्भवदानमात्रस्य होतव्यताया | २२६ | १ |
| आघारादीनामङ्गताया | ५२० | १ |
| आघाराद्यपूर्व्वताया | १४१ | १७ |
| आघाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावस्य | १४० | ७ |
| आज्यस्य सोमादनुत्कर्षस्य | ५९२ | १८ |
| आधानस्य पवमानेष्ट्यनङ्गताया | २७० | १८ |
| आधानस्य विधेयत्वस्य | १७५ | १४ |
| आधानस्य सर्व्वार्थताया | ५७१ | १५ |
| आधाने गानस्योपास्यताया | २८० | १६ |
| आधानेऽपरिमितं देयमित्यनेन सङ्ख्यान्तरविधानस्य | ७५१ | ४ |
| आध्वर्य्यवादिषु अध्वर्य्वादीनां कर्त्तृतानियमस्य | ४०९ | ५ |
| आनुपूर्व्व्येणापच्छेदे उभयापच्छेदनिमित्तप्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ७२६ | २ |
| आमनहोमानां साङ्ग्रहण्यङ्गताया | ५१९ | १ |
| आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताया | ४१८ | १ |
| आरब्धकाम्यकर्म्मणोऽपि समाप्तिनियमस्य | ६४० | १२ |
| आरब्धलौकिककर्म्मणः समाप्तेरनियमस्य | ६४३ | १ |
| आरुण्यादिगुणानामसङ्कीर्णताया | २१५ | १ |
| आश्वयिणामदृष्टार्थताया | ४४७ | ५ |
| आक्रान्तप्रकाशकमन्त्राणामाक्रान्ते विनियोगस्य | २४८ | २० |
| | | |
| इति ह स्मेत्यादिपरकृतिपुराकल्पानामर्थवादताया | ७५२ | १४ |
| इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्व्वेषु भक्षणेषु ऊहेन विनियोगस्य | २६६ | १ |
| इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगस्य | २४१ | १७ |
| इष्टिसमाप्तावग्निहोत्राद्यनुष्ठानस्य | ५०६ | १ |
| इष्टिसोमयोः पौर्व्वापर्य्यानियमस्य | ५८८ | ७ |
| | | |
| उक्थ्यानुरोधेन षोडश्युत्कर्षस्य | ५५५ | ७ |

| अधिकरणम् । | पृष्ठा । | पङ्क्ति । |
|---|---|---|
| उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्म्मताया | १७८ | २ |
| उद्वसानीयेष्ट्यर्थेऽपि प्रतिहोमाननुष्ठानस्य | ७१८ | १ |
| उद्गातुरुन्नेतापच्छेदेऽपि सर्वस्वदक्षिणादानस्य | ७२४ | ५ |
| उद्गात्रा सह सुब्रह्मण्येन भक्षस्य | ३५० | १८ |
| उद्भिदादिशब्दानां यागनामताया | ८५ | २ |
| उपगस्यायष्टृत्वस्य | ४७१ | २ |
| उपभृति द्विचतुर्दशीनाधारणस्य | ४१३ | ४ |
| उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताया | २३४ | ११ |
| उपांशुयाजेऽपि देवतापमेयस्य | ७०५ | १ |
| उपांशुयाजापूर्वताया | १४४ | १ |
| उपाकरणादीनामग्नीषोमीयधर्म्मताया | ३७७ | ६ |
| ऊहादमन्त्रताया | १२८ | १ |
| ऋजुत्वस्य | ११८ | १० |
| ऋणत्रयापाकरणस्य ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां नित्यताया | ६११ | २ |
| ऋत्विग्लिङ्गानामसर्वगामिताया | ४०२ | २ |
| ऋत्विजां स्वामिसम्बद्धत्वस्य | ४०५ | १४ |
| ऋत्विजामेव शेषभक्षणस्य | ६०६ | २ |
| एकधानानामनुज्ञापनस्य | २५९ | १९ |
| एकवाक्यत्वलक्षणस्य | २३१ | १० |
| एकस्यैव पुंसः आधानाधिकारस्य | ६२५ | १२ |
| एकवाक्यविरोधेऽपि पश्वाश्रयविधानस्य | ६८२ | १८ |
| एकादशाधिकरणोक्तस्य उपसंहारस्य | २७६ | १६ |
| ऐन्द्रवायवग्रहे द्विशेषभक्षणस्य | २४८ | ५ |
| ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताया | २७५ | १ |
| औदुम्बरी औद्गात्रा समस्तस्यानुष्ठातव्यताया | ७११ | १४ |

| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्तिः। |
|---|---|---|
| कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्ततायाः | ४५१ | १७ |
| करणमन्त्रेषु कर्म्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्म्मतायाः | ४२६ | ११ |
| करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याप्याशितव्यतायाः | ४२४ | ४ |
| कर्त्तृदेशकालानां वधीनां नियमार्थतायाः | ४८१ | १७ |
| कर्म्मणां गुणप्रधानभावविभागस्य | ११३ | १० |
| कल्पसूत्राणां प्रामाण्यस्य | ७१ | १ |
| काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डानां काम्यमात्राङ्गतायाः | ९५६ | १७ |
| काम्यानां यथोक्तकाम्यफलकत्वस्य | ५०२ | १७ |
| काम्यानामैहिकामुष्मिकफलवत्त्वस्य | ५०६ | १९ |
| काम्येष्टिषु उपांशुत्वधर्म्मस्य प्रधानार्थतायाः | ४६० | १० |
| काम्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानस्य | ५८० | ७ |
| किञ्चिन्नियमेऽभ्युदयेऽवशिष्टस्य तूष्णीनिर्वापस्य | ७०८ | ११ |
| कुण्डपायादौ प्रतिपदोत्कर्षस्य | २९७ | १२ |
| कालैकदेशभेदे प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ६७७ | १८ |
| क्रत्वर्थपुरुषार्थलक्षणस्य | ४२५ | १७ |
| क्रमनियमस्य | ५३७ | २ |
| क्रमस्य क्वचित्पाठानुसारितायाः | ५४० | ७ |
| क्रमस्य क्वचित्प्रथमप्रवृत्त्यनुसारितायाः | ५४२ | १० |
| क्रमस्य क्वचित्स्थानानुसारितायाः | ५४४ | ८ |
| क्रमस्य क्वचिदनियमस्य | ५४० | १ |
| क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वस्य | ५३९ | ४ |
| क्रमस्य विनियोजकतायाः | २८३ | २ |
| क्रमस्य स्वामिकर्म्मतायाः | ४९२ | २ |
| क्षामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तानुष्ठानस्य | ६८० | १२ |
| | | |
| गवामयनस्य षट्कर्म्माप्रयुक्ततायाः | ४५१ | ७ |
| गवामयने माघपौर्णमास्याः पुरस्ताद्दीक्षायाः | ७१२ | ११ |
| गायत्रच्छन्दस —इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्के विनियोगस्य | ९७१ | १ |
| गुर्वनुगमनादीनां प्रतिनिमित्तमावृत्तेः | ६५० | |
| गुर्वनुगमनादीनामुपनयनोत्तरकालकर्त्तव्यतायाः | | |

# सूचीपत्रम्।


| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्तिः। |
| --- | --- | --- |
| गोदोहनादीनां प्रकृतिगामित्वस्य | ६३० | ३ |
| ग्रहाग्रताया ज्योतिष्टोमाङ्गताया | ११८ | २ |
| ग्रहैककादीनां कलग्निप्रेषताया | ५०१ | ११ |
| ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षणस्य | ५५१ | ११ |
| धर्मिसद्भावे अध्वर्योः कर्तृताया | २४० | १४ |
| चमसादौ मन्त्राद्यप्रयोगस्य | ४०९ | ७ |
| चमसाध्वर्यूणां दमसङ्ख्यानियमस्य | ६६० | १ |
| चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वस्य | २९९ | १५ |
| चमसाध्वर्यूणां वरणनियमस्य | २९८ | १४ |
| चमसिनां भक्षणस्य | २९९ | ७ |
| चातुर्वर्ण्यातिरिक्तस्य रथकारस्याधाने अधिकारस्य | ३४० | १२ |
| चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताया | ६६० | ६ |
| चित्रिण्यादीनां मध्यमचितावुपधानस्य | ८७ | १४ |
| चित्रिण्यादीष्टकानामङ्गताया | ५०४ | ११ |
| | ६८० | ११ |
| छागस्यैवाग्नीषोमीयपशुताया | | |
| छेदनस्य शाखाप्रयुक्तताया | ७७२ | १० |
| | ४७७ | ३ |
| जघन्यनामधर्माणां प्रकरणे निवेशस्य | | |
| जपादीनां वैदककर्माङ्गताया | ३११ | २२ |
| जायाया अनुकर्षस्य | ३१८ | ७ |
| जुह्वादीनां साधारण्यस्य | २९९ | ८ |
| ज्योतिष्टोमविकाराणां अग्निष्टोमपूर्वकताया | ७३८ | १२ |
| ज्योतिष्टोमस्य चातुर्वैदिकताया | ५८२ | १४ |
| ज्योतिष्टोमाङ्ग काम्याकाम्ययोर्नित्यताया | ९८१ | १५ |
| ज्योतिष्टोमादिषु पशुव्रतादीनामपि नित्यताया | ७०१ | ५ |
| ज्योतिष्टोमे दासभार्यादीनामङ्गताया | ७७२ | ९ |
| ज्योतिष्टोमोत्तरे प्रतिहोमानुष्ठानस्य | ५३४ | १८ |
| | ७१७ | १ |

| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्ति। |
|---|---|---|
| तत्रैवाग्न्यूना साम्ना मध्ये निवेशस्य | ४३७ | १८ |
| तपसो याजमानताया | ३१५ | १ |
| तन्त्रे पयसि दध्यानयनस्यामिक्षाप्रयुक्तताया | ३४९ | २ |
| त्रैवर्णिकमिश्रस्य निषादस्य रौद्रयागेऽधिकारस्य | ६६७ | ११ |
| त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्य्यग्निकरणगुणकत्वस्य | १८३ | ९ |
| दक्षिणाग्निहोमानपकर्षस्य | ४४७ | १६ |
| दण्डदानस्यार्थकर्मताया | ४३८ | १ |
| दधिपयस्य नित्यताया | ४२० | १ |
| दध्यादिद्रव्यसमन्वस्य | ११८ | ९ |
| दध्यादेर्नित्यनैमित्तिकोभयार्थताया | ४७३ | १८ |
| दर्शपूर्णमासयोः यागार्थयोरेवाधिकारस्य | ६०९ | ६ |
| दर्शपूर्णमासादीनां प्रतिफलं प्रथमानुष्ठानस्य | ५०५ | १७ |
| दर्शपूर्णमासादीनां सर्वकामार्थताया | ५०४ | १४ |
| दर्शादौ क्रमकालनियमस्य | ६६५ | २१ |
| दर्शादौ भेदाद्याहुत्या होमाहृते | ६५० | ७ |
| दर्शाभ्युदयेष्टौ नैमित्तिकदेवतापनयस्य | ७०१ | २ |
| दाक्षायणादीनां गुणताया | १७९ | ६ |
| दातुर्वारुणीष्टे | ६२१ | १७ |
| दिग्विभागस्यानुवादताया | ३११ | ५ |
| दीक्षणीयादः सर्वासामग्निष्टोमाङ्गताया | ३८२ | ८ |
| दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताया | ३९१ | १५ |
| दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ऋत्विजां सप्तदशत्वविधानस्य | ४०४ | १२ |
| दीक्षापरिमाणस्य द्वादशाहलिङ्गकत्वस्य | ७९२ | १६ |
| दीक्षाया दर्शिसिद्धताया | ५७८ | १६ |
| दीक्षोत्कर्षे तत्प्रथमानामप्युत्कर्षस्य | ७११ | १ |
| दृष्टमूलकस्मृतिप्रमाणस्य | ९८ | ६ |
| देवताभेदहृतकर्मभेदस्य | २४७ | १ |
| देवतामन्त्रक्रियाणामुपचारः प्रतिनिधिभावस्य | ६६० | १७ |
| दैवकर्मणामुदगयनादिकालताया | | |

# सूचीपत्रम्।


| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्ति। |
|---|---|---|
| दैवताद्यवदानेषु पदार्थानुसमयस्य | ५११ | ११ |
| द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थतायाः | ४८२ | १० |
| द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरतायाः | १८६ | १० |
| द्रव्यभेदेऽपि कर्माभेदस्य | ६५७ | १० |
| द्रव्यविशेषानुनिष्पन्नकर्मकस्य | १४८ | १ |
| द्रव्यस्य एकार्थता अन्वर्थतायाः | ४८७ | २ |
| द्रव्यसंस्कारस्याऽप्रधानार्थतायाः | ४९७ | ११ |
| द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तरानुपादानस्य | ६१० | १ |
| द्वादशद्वन्द्वानामाध्वर्यवत्वस्य | ४९० | १९ |
| द्वादशाहगतायाः षडहीनताया | १९६ | ११ |
| द्वाभ्यां निर्वपणीयानुवाकायाः | ४१९ | १ |
| धर्मजिज्ञासाप्रतिज्ञायाः (प्रथमसूत्रेण) | | |
| धर्मे प्रत्यक्षाप्रमाणतायाः (चतुर्थसूत्रेण) | १ | २ |
| धर्मे प्रामाण्यस्य परीक्षणतायाः (तृतीयसूत्रेण) | ६ | १० |
| धर्मे लक्षणस्य (द्वितीयसूत्रेण) | ४ | ८ |
| धर्मे वेदस्य प्रामाण्यस्य (पञ्चमसूत्रेण) | ८ | १५ |
| ध्रुवाद्यादिभिः विहितकारिणां यागानुष्ठानस्य | ६४२ | २ |
| ननु प्रमीयेतेत्यादिना भोमकालवाधस्य | ५९२ | ८ |
| नानाबीजेष्टौ सनूपकादीनां तन्त्रतायाः | ५६९ | १२ |
| नारिष्ठहोमस्यापचेत्तिपूर्वतायाः | ५६७ | १२ |
| निगदानां यजुष्टस्य | ११९ | १५ |
| नित्यकर्मणां नित्यप्रारब्धकर्मणाञ्च द्रव्यापचारे प्रतिनिधिना समापनस्य | ६५८ | ९ |
| नित्ये यथाशक्त्यनुष्ठानस्य | ६५२ | २ |
| निमयनस्य प्रतिपत्तिकर्मतायाः | ४७७ | १ |
| निर्मन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वस्य | ८४ | १ |
| निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयतायाः | २११ | १० |
| निवीतस्य अर्थवादतायाः | २१२ | २ |
| नैमित्तिकानां वारन्तिकादीनामनित्यत्वस्य | ४०१ | १ |

# सूचीपत्रम्।


| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्ति। |
|---|---|---|
| प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानस्य .. .. .. .. | ६८१ | १० |
| प्रतिनिध्यपचारे उपात्तद्रव्यसदृशस्य पुन प्रतिनिधित्वस्य .. .. | ६६९ | ८ |
| प्रतिषिद्धकर्मणामनुष्ठानेऽनिष्टापातस्य .. . .. .. | ६४४ | ११ |
| प्रतिषिद्धद्रव्यस्य प्रतिनिधित्वाभावस्य . .. .. | ६६२ | १९ |
| प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रत्याख्यानस्य . .. .. .. | ७१८ | १५ |
| प्रथमादीनां तिसृणामुपसदां सत्त्वारम्भे . . .. | ३१९ | ४ |
| प्रथमकर्मलक्षणस्य . . .. . .. | ११४ | ९ |
| प्रधाननिर्वापकाले अङ्गनिर्वापापर्याप्तस्यापि मुख्यस्योपादानस्य .. | ६७१ | १८ |
| प्रयाजादीनाम् एकादशादिसङ्ख्याया कर्मोत्पत्त्यङ्गताया . | ३६८ | १ |
| प्रयोगवचनात् चोदकस्य बलवत्त्वस्य . .. | ४४७ | ७ |
| प्रयोजनायोग्यस्य मुख्यस्य सत्त्वेऽपि प्रतिनिध्यादानस्य .. .. | ६७१ | ३ |
| प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताया . . .. | ३०४ | ३ |
| [illegible] . . | ५५[illegible] | २९ |
| प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानस्य .. .. . | ४१९ | १९ |
| प्राणभृदादिपदानां स्तुत्यर्थताया . .. .. . | २०५ | १ |
| प्रायश्चित्तकर्मणि लिङ्गक्रमानुष्ठानस्य .. . | ६२९ | ५ |
| प्राशनस्य प्रतिपत्तिकर्मताया . . | ४७९ | १९ |
| प्रोक्षणादिपदानां यौगिकताया . . . . | ९५ | ९ |
| प्रैषप्रैषार्थयोः इयत्ताया .. . . .. | ४९२ | १ |
| प्रैषप्रैषार्थयोः यथाक्रममाध्वर्यवैकताया . | ४९४ | ५ |
| फलचमसस्य द्रव्यादिविकारताया . | २६१ | ५ |
| बाहुल्येन प्रवृत्तिप्रदेशस्य . .. | २०४ | ९ |
| ब्राह्मणनिर्वचनस्य .. . | १२७ | १ |
| ब्राह्मणपाठात् मन्त्रपाठस्य बलीयस्त्वस्य . | ५४६ | ११ |
| ब्राह्मणस्यापीष्टिमात्रे | ५९० | १ |
|  | ६६४ | ११ |

| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्ति। |
|---|---|---|
| वाजपेयपशूनां सर्व्वेषामेकदोपाकरणादिधर्म्मानुष्ठानस्य | ५५० | १ |
| वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताया | ९१ | १२ |
| वारणवैकङ्कतादिपात्राणां क्रत्वङ्गत्वायामगुणताया | २७६ | १२ |
| वारवन्तीयादीनां कर्म्मान्तरताया | १६२ | १ |
| वार्त्रघ्नाद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गताया | २१८ | ६ |
| विकृतमन्त्रदृष्टनामधेयेषु वर्णत्रयाधिकारस्य | ७४० | १ |
| विकृतानामैन्द्राग्नादीनां सद्यस्कालताया | ४६५ | १ |
| विकृतौ क्वचित प्रकृतिधर्म्मानतिदेशस्य | ५४८ | ७ |
| विदेवनस्य क्षत्रराजसूयाङ्गताया | ५१७ | ८ |
| विदेवनादीनामभिषेकपूर्व्वताया | ५६५ | १९ |
| विधिवन्निगदस्य | ५० | १ |
| विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयबर्हिषा कर्त्तव्यताया | ४२९ | ३ |
| विश्वजिति अश्वादीनामदेयताया | ७४४ | ५ |
| विश्वजिति दक्षिणाकाले विद्यमानानामेव सर्व्वेषां देयताया | ७४६ | ८ |
| विश्वजिति दक्षिणादानोत्तराङ्गानामनुष्ठानस्य | ७४७ | १ |
| विश्वजिति द्वादशशतन्यूनधनस्यानधिकारस्य | ७५० | १ |
| विश्वजिति धर्म्मार्थमेवकश्चप्रत्यादेयताया | ७४५ | २१ |
| विश्वजिति पित्रादीनामदेयत्वस्य | ७४२ | १ |
| विश्वजिति पृथिव्या अदेयत्वस्य | ७४३ | १२ |
| विश्वजिति विद्यमानानामेव सर्व्वेषां दानस्य | ७४४ | १५ |
| विश्वजिदादीनां सफलत्वस्य | ४९६ | १ |
| विश्वजिदादीनां स्वर्गफलताया | ५०० | १० |
| विश्वजिदादीनामेकफलताया | ४९९ | १८ |
| वृष्टिकामताया याजमानताया | ४१७ | १ |
| वेदस्य अपौरुषेयताया | ७६ | १ |
| वेदस्य अर्थप्रत्यायकताया | ६९ | ६ |
| वैकृतयूपकर्म्मानापकर्षस्य | ५५१ | २० |
| वैदिकपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानस्य | ६७३ | १८ |
| वैदिकवचनेनानुज्ञापनस्य | ६५८ | १६ |
| वैदिकवाक्येन प्रतिवचनस्य | ६५९ | ९ |

| अधिकरणम्। | पृष्ठा। | पङ्क्ति। |
|---|---|---|
| षष्ठ्यानियतनैमित्तिकत्वस्य | ५११ | ११ |
| षोडशिमस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृत्यनुष्ठानस्य | ७१९ | ५ |
| सव्याहृतकर्म्मभेदस्य | १५२ | ११ |
| सञ्ज्ञाकृतकर्म्मभेदस्य | १५५ | १४ |
| सत्यपि संस्कारयोग्येऽमुख्ये मुख्यस्यैवोपादानस्य | ६७१ | १४ |
| सत्राय प्रवृत्तमात्रस्य विश्वजित | ७११ | ७ |
| सत्रायागूर्य्याप्रवृत्तस्य विश्वजिदावश्यकताया | ६९१ | ६ |
| सत्रे आहिताग्नेरेवाधिकारस्य | ७३७ | १ |
| सत्रे कस्यचित्स्वामिनोऽपचारे प्रतिनिध्यादानस्य | ६६४ | १ |
| सत्र प्रतिनिहितस्य यजमानधर्म्मप्राप्तिमत्त्वस्य | ६६५ | १९ |
| सत्रे प्रतिनिहितस्याखामित्वस्य | ६६४ | १७ |
| सत्रे प्रत्येकस्य सर्व्वस्य फलसम्बन्धस्य | ६२४ | १ |
| सत्रे ब्राह्मणमात्रस्याधिकारस्य | ७३२ | १७ |
| सत्रे विश्वामित्रस्य समानकल्पानामेवाधिकारस्य | ७३५ | १९ |
| सत्रे समानकल्पानां सर्व्वाधिकारस्य | ७३६ | १ |
| सन्तर्दनस्य संस्थानिवेशपक्ष | ७०१ | ६ |
| सन्नयदसन्नयदुभयस्यैवाभ्युदये प्रायश्चित्तस्य | ७१० | १ |
| सप्तदशारत्नितायाः पशुधर्म्मताया | २२१ | १ |
| समाख्यायातकर्तृत्वस्यापि क्वचिद्बाधस्य | ४०७ | ८ |
| समाख्याया विनियोजकताया | ३८४ | ४ |
| समानयनस्याऽन्यधर्म्मप्रयोजकताया | ४१० | १ |
| समिदाद्यपूर्व्वभेदस्य | ७९ | ६ |
| समुच्चितयोरनुवचनप्रैषयोर्मैत्रावरुणकर्त्तृकत्वस्य | ४०८ | ५ |
| सम्मार्जनादीनामप्रधानताया | ११५ | ४ |
| सर्वशब्दैः स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानस्य | २४७ | १० |
| सर्व्वशाखाप्रत्ययैककर्म्मताया | १९७ | ७ |
| सर्व्वार्थे स्विष्टकृदनुष्ठानस्य | ३७८ | १ |
| सर्व्वेषां पश्वादीनां सम्मार्गादे | ३२४ | २० |
| सर्व्वेषामेकानेककामानामग्निष्टोमपूर्व्वकताया | ५८४ | ९ |

# मीमांसा-दर्शनम् ॥

## सभाष्यम् ॥

---

### प्रथमेऽध्याये १ पादः ॥

---

सू. **अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥**

भा. लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि (सति सम्भवे) तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्; नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा। एवं वेदवाक्यान्येवैभिर्व्याख्यायन्ते; इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि, स्वपदार्थाश्च व्याख्येयाः, *प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत। तत्र लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः, नचेह किञ्चिद्वृत्तमुपलभ्यते; भवितव्यन्तु तेन, यस्मिन् सति अनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्पते; तथाहि प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति, तत्तु वेदाध्ययनं, तस्मिन् हि सति साऽवकल्पते। 'नैतदेवं, अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता प्रागपि च वेदाध्ययनात्'। उच्यते,— यादृशान्तु धर्मजिज्ञासां अधिकृत्याथशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः, या वेदाध्ययनमन्तरेण न सम्भवति। कथं?। वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्त्तिष्यते। अपिच नैव वयमिह

---

* व्यथ इतीति पाठो भवितुं युक्तः। प्रयत्न इत्यत्र स्वयत्न इति का० म।

[वेदा]ध्ययनात् पूर्वं धर्मजिज्ञासाया प्रतिषेधं शिष्म, परस्ताच्चा-नन्तर्यम् नचैतदेकवाक्य पुरस्ताच्च वेदाध्ययनात धर्मजिज्ञासा प्रतिषेधिष्यति*, परस्ताच्चानन्तर्यं प्रकरिष्यति, भिद्येत हि तथा वाक्यम अन्या हि वचनव्यक्तिरस्य पुरस्तात् वेदाध्ययनाद्धर्म जिज्ञासा प्रतिषेधत अन्या च परस्तादानन्तर्यमुपदिशत, 'वेदानधीत्य'—इति एकस्या विधीयते अनूद्य आनन्तर्यं, विपरीतमन्यस्याम अर्थैकत्वाच्च एकवाक्यता वक्ष्यति। किञ्चा-धीते वेदे इयमापतति गुरुकुलाच्च समावर्त्तितव्य वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि तत्र 'गुरुकुलान्मा समावर्त्तिष्ट', कथ नु वेदवाक्यानि विचारयेत ? इत्येवमर्थोऽयमुपदेश। 'यद्येव न तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते, एव हि समामनन्ति 'वेदमधीत्य स्नायात्—इति, इह च वेदमधीत्य स्नास्यन धर्म जिज्ञासमान इममाम्नायमतिक्रामेत्। न चाम्नायो नाम अतिक्रमितव्य'। तदुच्यते —अतिक्रमिष्याम इममाम्नाम अनतिक्रामन्तो वेद मर्थवन्त सन्तमनर्थकमवकल्पयेम दृष्टो हि तस्यार्थ कर्माव बोधन नाम। न च तस्याध्ययनमात्रात तत्रभवन्तो याज्ञिका फल समामनन्ति यदपि च समामनन्तीव, तथापि 'द्रव्य सस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवाद स्यात'—इत्यर्थ वादता वक्ष्यति। न च 'अधीतवेदस्य स्नानानन्तर्यमेतत् विधीयते'। नह्यानन्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति ? पूर्व कालतायां क्त्वा स्मर्यते, न आनन्तर्ये। दृष्टार्थता चाध्ययनस्य, आनन्तर्ये चाद्यन्येत। लक्षणया त्वेषोऽर्थ स्यात्, न वेद स्नानमदृष्टार्थं विधीयते, किन्तु लक्षणया अस्नानादिनियमस्य पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाह 'वेदमधीत्य स्नायात, 'गुरुकुलात् मा समावर्तिष्ट'—इति अदृष्टार्थतापरिहारायेव।

* प्रतिषेधयिष्यतीति का० को० ।

भा तस्मात् वेदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिर्वर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य —इति अथशब्दस्य सामर्थ्यम्। नच ब्रूमोऽन्यस्य कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा न कर्तव्येति; किंतु वेदमधीत्य त्वरितेन न स्नातव्यं, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य :—इति अथशब्दस्यार्थः॥

अतःशब्दो वृत्तस्यापदेशको हेत्वर्थः, यथा, क्षेमसुभिक्षोऽयम्, अतोऽहमस्मिन् देशे प्रतिवसामीति, एवं, अधीतो वेदो धर्मजिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इति अतःशब्दस्य सामर्थ्यम्। धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमनधीतवेदो न शक्नुयात्, अतः (एतस्मात् कारणात्) अनन्तरं धर्मं जिज्ञासितुमिच्छेदित्यतःशब्दस्यार्थः॥

धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा, सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा। स कथं जिज्ञासितव्यः?। को धर्मः, कथंलक्षणः, कान्यस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति। तत्र को धर्मः, कथंलक्षणः—इति एकेनैव सूत्रेण व्याख्यातं—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—इति। कानि अस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति शेषलक्षणेन व्याख्यातं, क पुरुषपरत्वं, क वा पुरुषो गुणभूतः?—इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत् सूत्रम् 'अथातो-धर्मजिज्ञासा'—इति। 'धर्मः प्रसिद्धो वा स्यात्, अप्रसिद्धो वा? स चेत्प्रसिद्धः, न जिज्ञासितव्यः; अथाप्रसिद्धः, नतरां; तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणं, अथवाऽर्थवत्?'। धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः,—केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यं; सोऽयमविचार्य प्रवर्तमानः कंचिदेवोपाददानो विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत्, तस्माद्धर्मो जिज्ञासितव्य इति; स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे। तदभिधीयते

सू. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥ २॥

भा. 'चोदना'—इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः, आचार्य-

भा चोदितं करोमीति हि दृश्यते। लक्ष्यते येन तल्लक्षणं धूमो लक्षणमग्नेरिति हि वदन्ति। तया यो लक्ष्यते, सोऽर्थः पुरुष निःश्रेयसेन संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे। चोदना हि भूतं, भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं, व्यवहितं, विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्, नच तथाभूतमर्थ्यं ब्रुवाणा चोदना, यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनं,—नद्यास्तीरे फलानि सन्ति—इति, तत् तथ्यमपि भवति, वितथमपि भवतीति। उच्यते, विप्रतिसिद्धमिदमुच्यते,—'ब्रवीति वितथञ्च' इति, ब्रवीति—इति उच्यतेऽवबोधयति (बुध्यमानस्य निमित्तं भवति) इति, यस्मिंश्च निमित्तभूते सति अवबुध्यते सोऽवबोधयति, यदि च चोदनायां सत्यामग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति गम्यते कथमुच्यते,—न तथा भवतीति अथ न तथा भवतीति, कथमवबुध्यते? असन्तमर्थमवबुध्यते—इति विप्रतिसिद्धम्। नच 'स्वर्गकामो यजेत'—इत्यतो वचनात् सन्दिग्धमवगम्यते,—भवति वा स्वर्गो न वा भवति—इति। नच निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्, यो हि जनित्वा प्रध्वंसते—नैतदेवमिति, स मिथ्याप्रत्ययः, नचैष कालान्तरे, पुरुषान्तरे, अवस्थान्तरे, देशान्तरे वा विपर्य्येति। तस्मादवितथः। यत्तु लौकिकं वचनं, तच्चेत् प्रत्ययितात् पुरुषात्, इन्द्रियविषयं वा, अवितथमेव तत्, अथाप्रत्ययितात् अनिन्द्रियविषयं वा, तावत् पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम् अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुमृते वचनात्। 'अपरस्मात्पौरुषेयाद्वचनात् तदवगतम्'—इति चेत्? तदपि तेनैव तुल्यम्, नैवंजातीयकेष्वर्थेषु पुरुषवचनं प्रामाण्यमुपैति, जात्यन्धानामिव वचनं रूपविशेषेषु 'नच विदुषामुपदेशो नावकल्पते, उपदिष्टवन्तश्च मन्वादयस्तस्मात् पुरुषात् समो विदितवन्तश्च, यथा चक्षुषा रूपमुपलभ्यते इति दर्शनादेवावगतम्'। उच्यते। उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति, असति

भा. व्यामोहे वेदादपि भवन्ति । अपिच पौरुषेयाद्वचनात् 'एवं अयं पुरुषो वेद'—इति भवति प्रत्ययः, न 'एवं अयमर्थः'—इति; विप्लवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृतात् वचनात् प्रत्ययः, नतु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति । 'ननु सामान्यतोदृष्टं पौरुषेयं वचनं वितथमुपलभ्य वचनसामान्यादिदमपि वितथमवगम्यते'। न अन्यत्वात्; न ह्यन्यस्य वितथभावेऽन्यस्य वैतथ्यं भवितुमर्हति, अन्यत्वादेव, न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्यापि श्यामत्वं भवितुमर्हति। अपि च 'पुरुषवचनसाधर्म्यात् वेदवचनं वितथम्'—इति अनुमानं व्यपदेशादवगम्यते, प्रत्यक्षस्तु वेदवचनेन प्रत्ययः, नचानुमानं प्रत्यक्षविरोधि प्रामाण्यं भवति । तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः ।

'एवं तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्यः, किं धर्मजिज्ञासया?'। उच्यते, —य एव श्रेयस्करः, स एव धर्मशब्देनोच्यते । कथमवगम्यताम्?। यो हि यागमनुतिष्ठति, तं 'धार्मिकः'—इति समाचक्षते, यश्च यस्य कर्त्ता, स तेन व्यपदिश्यते, यथा पाचकः, लावक इति; तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देनोच्यते । न केवलं लोके, वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्'—इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति। उभयमिह चोदनया लक्ष्यते, अर्थोऽनर्थश्च इति; कोऽर्थः? यो निःश्रेयसाय, ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय, श्येनो, वज्रः, इषुरित्येवमादिः। तत्र 'अनर्थो धर्म उक्तो मा भूत्' इति अर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः?। हिंसा हि सा; हिंसा च प्रतिषिद्धेति । कथं पुनरनर्थः कर्त्तव्यतयोपदिश्यते?। उच्यते। नैव श्येनादयः कर्त्तव्या विज्ञायन्ते, 'यो हि हिंसितुमिच्छेत्, तस्यायमभ्युपायः'—इति हि तेषामुपदेशः, 'श्येनेनाभिचरन् यजेत'—इति हि समामनन्ति, न 'अभिचरितव्यम्'—इति। ननु 'अशक्तं इदं सूत्रं, इमावर्थावभिवदितुं'—चोदना-

भा लक्षणो धर्मः, न इन्द्रियादिलक्षणः; अर्थश्च धर्मः, न अनर्थ इति; एकं ह्येतद् वाक्यं, तदेवं सति भिद्येत'। उच्यते,—यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते, तत्रैवम्, तत्तु वैदिकेषु, न सूत्रेषु, अन्यतोऽवगतेऽर्थे 'सूत्र एवमर्थमिदम्'—इत्यवगम्यते, तेन च 'एकदेशः सूच्यते'—इति सूत्रं, तत्र भिन्नयोरेव वाक्ययोरिमावेकदेशावित्यवगन्तव्यम्। अथवा अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यते इति एकार्थमेवेति।

सू· तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥ ३ ॥

भा उक्तमस्माभिः 'चोदनानिमित्तं धर्मस्य ज्ञानम्' इति, तत् प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्, इदानीं तस्य निमित्तं परीक्षिष्यामहे,—किं चोदनैवेति, अन्यदपीति, तस्मान्न तावन्निर्णीयते 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'—इति। तदुच्यते

सू सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम् अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ ४ ॥

भा इदं परीक्ष्यते,—प्रत्यक्षं तावदनिमित्तं। किंकारणं?। एवंलक्षणकं हि तत्, सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षं (सति इन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षं), भविष्यन् च एषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति, सतश्चैतदुपलम्भनं, नासतः। अतः प्रत्यक्षमनिमित्तं। बुद्धिर्वा, जन्म वा, सन्निकर्षो चेति नैषा कस्यचिदवधारणार्थमेतत् सूत्रं, सति इन्द्रियार्थसम्प्रयोगे, नासति इत्येतावदवधार्यते, अनेकस्मिन्नवधार्यमाणे भिद्येत वाक्यं। प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति ॥

अभावोऽपि नास्ति यतः

सू॰ औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

भा 'औत्पत्तिकः'—इति नित्यं ब्रूमः, उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया*। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः, औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य (अग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य) निमित्तं प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य। कथं?। उपदेशो हि भवति, 'उपदेशः' इति विशिष्टस्य शब्दस्य उच्चारणं। अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य, न, हि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्य्येति। यच्च नाम ज्ञानं न विपर्य्येति, न तत् शक्यते वक्तुं 'न एतदेवम्'—इति; यथा विज्ञायते, न तथा भवति, यथैतन्न विज्ञायते, तथैतदिति, अन्यदस्य हृदये, अन्यद्वाचि स्यात्, एवंवदतो विरुद्धमिदं गम्यते,—अस्ति नास्ति चेति। तस्मात् तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात्। न ह्येवंसति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यं, पुरुषान्तरं वापि, अयं प्रत्ययोह्यसौ। वादरायणग्रहणं वादरायणस्येदं मतं कीर्त्त्यते वादरायणं पूजयितुं, नात्मीयं मतं प्रत्युदसितुम् ॥

वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार 'तस्य निमित्तपरीष्टिः'—इत्येवमादिं,—न परीक्षितव्यं निमित्तं, प्रत्यक्षादीनि हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि, तदन्तर्गतं च शास्त्रं, अतस्तदपि न परीक्षितव्यम्। 'अत्रोच्यते,—व्यभिचारात् परीक्षितव्यं,—शुक्तिका हि रजतवत् प्रकाशते यतः, तेन प्रत्यक्षं व्यभिचरति, तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि। तच्चापरीक्ष्य प्रवर्त्तमानोऽर्थात् विहन्येत, अनर्थं चाप्नुयात् कदाचित्'। नैतदेवं,—यत् प्रत्यक्षं,

---

* लक्षणया अवियुक्तः, इति वा पाठः ॥

भा न तत् व्यभिचरति, यत् व्यभिचरति, न तत् प्रत्यक्षम्। किं तर्हि प्रत्यक्षम्? 'तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्', यद्विषयं ज्ञानं, तेनैव सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां, पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्, यदन्यविषयज्ञानमन्यसम्प्रयोगे भवति, न तत् प्रत्यक्षम्। कथं पुनरिदमवगम्यते? इदं तत्सम्प्रयोगे, इदमन्यसम्प्रयोगे इति। यत् न अन्यसम्प्रयोगे, तत् तत्सम्प्रयोगे, एतद्विपरीतमन्यसंप्रयोग इति। 'कथं ज्ञेयम्?' यत् शुक्तिकायामपि रजतं मन्यमानो रजतसन्निकृष्टं मे चक्षुरिति मन्यते। बाधकं हि यत्र ज्ञानमुत्पद्यते,—नैतदेवं, मिथ्याज्ञानमिति, तत् अन्यसंप्रयोगे, विपरीतं तत्संप्रयोगे इति। 'प्राग्बाधकज्ञानोत्पत्तेः कथमवगम्यते? यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा कश्चिद्विशेषः'। यदा हि चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः, ततो मिथ्याज्ञानम्, अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम्, इन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षो हि सम्यग्ज्ञानस्य हेतुः, असति तस्मिन् मिथ्याज्ञानम्, तदुभयगतो दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः, दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति। कथमवगम्यते? । दोषापगमे सम्प्रतिपत्तिदर्शनात्। कथं दुष्टादुष्टावगमः? इति चेत्। प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि। तस्मात् यस्य च दुष्टं करणं, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्य इति।

ननु 'सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत्प्रत्ययः, प्रत्ययस्य हि निरालम्बनता—स्वभाव उपलक्षितः स्वप्ने। जाग्रतोऽपि 'स्तम्भः'—इति वा 'कुड्यम्'—इति वा प्रत्यय एव भवति, तस्माज्जाग्रतोऽपि निरालम्बनः'। उच्यते,—'स्तम्भः'—इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता कथं विपर्येष्यतीति?। 'स्वप्नेऽप्येवमेव सुपरिनिश्चिताऽऽसीत्, प्राक्प्रबोधनात् न तत्र कश्चिद्विशेष इति'। न, स्वप्ने विपर्ययदर्शनात्, अविपर्य

भा. याच्च इतरस्मिन्। 'तत्सामान्यादितरत्रापि भविष्यति' इति चेत्। यदि प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावः, जाग्रत्प्रत्ययस्यापि तथा भवितुमर्हति। अथ* 'प्रतीतिस्तथाभावस्य हेतुः'। न शक्यते 'प्रत्ययत्वात्† अयमन्यः'—इति वक्तुं। अन्यतस्तु स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावो विपर्ययादवगतः‡। कुतः?—इति चेत्। सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्यान्निद्रा मिथ्याभावस्य हेतुः स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च। सुषुप्तस्याभाव एव§; अचेतयन्नेव हि 'सुषुप्तः'—इत्युच्यते। तस्माज्जाग्रतः प्रत्ययो न मिथ्येति॥ ननु 'जाग्रतोऽपि करणदोषः स्यात्'। यदि स्यात्, अवगम्येत॥ 'स्वप्नदर्शनकालेऽपि नावगम्यते'—इति चेत्। तत्र प्रबुद्धो ह्यवगच्छति 'निद्राक्रान्तं मे मनः आसीत्'—इति।

'शून्यस्तु। कथं?। अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे। प्रत्यक्षा च नो बुद्धिः, अतस्तद्भिन्नमर्थरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः'। स्यादेतदेवं, यद्यर्थाकारा बुद्धिः स्यात्; निराकारा तु नो बुद्धिः, आकारवान् बाह्योऽर्थः; स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। अर्थविषया हि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्ध्यन्तरविषया; क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यते इति। 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदीपवत् इति'—यत् उच्येत। तन्न। नह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते। ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति, तत्र योगपद्यमनुपपन्नं। ननु 'उत्पन्नायामेव बुद्धौ 'ज्ञातोऽर्थः'—इत्युच्यते, नानुत्पन्नायां, अतः पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, पश्चात् ज्ञातोऽर्थः'। सत्यं, पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न

---

* अत्र 'प्रत्येतीति' इति अधिकं का० सं०।

† 'प्रत्ययात्' इति का० क्री० पाठः।

‡ 'विपर्ययवशादागतः' इति प्रा० पु०।

§ 'स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च विपर्ययदर्शनात् सुषुप्ताभाव एव' इति का० सं०।

भा. तु पूर्वं ज्ञायते। भवति हि कदाचिदेतत्, यत्, ज्ञातोऽप्यर्थः सन् 'अज्ञातः'—इत्युच्यते। नचार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धेः रूपोपलम्भनं। तस्मान्न व्यपदेश्या बुद्धिः, अव्यपदेश्यं च नाप्रत्यक्षं!*। तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः॥ अपिच काममेकरूपत्वे बुद्धेरेवाभावः, नार्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः। नच ऐकरूप्यं, अनाकारामेव हि बुद्धिमनुमिमीमहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः। तस्मादर्थालम्बनः प्रत्ययः॥ अपिच नियतनिमित्तः तन्तुष्वेव उपादीयमानेषु पटप्रत्ययः। इतरथा तन्वादानेऽपि कदाचित् घटबुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात्; नचैवमस्ति, अतो न निरालम्बनः प्रत्ययः। अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षं॥

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः। तत्तु द्विविधं—प्रत्यक्षतोदृष्टसंबन्धं, सामान्यतोदृष्टसंबन्धं च। प्रत्यक्षतोदृष्टसंबन्धं यथा, धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानं। सामान्यतोदृष्टसंबन्धं यथा, देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणं॥ शास्त्रं शब्दविज्ञानात् असन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानं॥ उपमानमपि (सादृश्यं) असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। यथा, गवयदर्शनं गोस्मरणस्य॥ अर्थापत्तिरपि 'दृष्टः, श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते'—इत्यर्थकल्पना। यथा, जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना॥ अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति'—इत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य॥ तस्मात् प्रसिद्धत्वात् न परीक्षितव्यं निमित्तं।

ननु ‡प्रत्यक्षादीन्यन्यानि भवन्तु नाम प्रमाणानि, शब्दस्तु न प्रमाणं। कुतः? 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्' (४।१२)। अनिमित्तं (अप्रमाणं) शब्दः। यो ह्युपलम्भनविषयः

---

* अत्र न प्रत्यक्षमिति पाठो भवितुं युक्तः।

† 'जीवतो देवदत्तस्य' इति का० सं०।

‡ प्रत्यक्षपूर्वकत्वप्रतिपादक सू० १।२९।१७। पङ्क्तौ।

भा. नोपलभ्यते, स नास्ति, यथा शशस्य विषाणं। उपलम्भकानि चेन्द्रियाणि पश्वादीनां, नच, पशुकामेष्ट्यनन्तरं पशवः उपलभ्यन्ते। अतो नेष्टिः पशुफला। कर्मकाले च फलेन भवितव्यं, यत्कालं हि मर्द्दनं, तत्कालं मर्द्दनसुखं। 'कालान्तरे फलन्दास्यति' इति चेत्। न। 'न कालान्तरे फलमिष्टेः'—इत्यवगच्छामः* कुतः?। यदा तावदसौ विद्यमाना आसीत्, तदा फलं न दत्तवती; यदा फलमुत्पद्यते, तदाऽसौ नास्ति; असती कथं दास्यति?†।

प्रत्यक्षं च फलकारणमन्यत् उपलभामहे। नच दृष्टे कारणे सति, अदृष्टं कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणाभावात्। एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे॥ दृष्टविरुद्धमपि भवति किञ्चिद्वचनं,—यागचयनं विधाय आह—"स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति"—इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति, नच तत् स्वर्गं लोकं यातीति, प्रत्यक्षं हि तत् दृश्यते, "नचैष याति" इति विधिशब्दः। एवंजातीयकं प्रमाणविरुद्धं वचनमप्रमाणं; अम्बुनि मज्जन्ति अलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते—इति यथा। तत्सामान्यादग्निहोत्रादिचोदनाप्यनाश्वासः। तस्माच्च चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"॥

'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानं' (७।१)। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः। तस्य (अग्निहोत्रादिलक्षणस्यार्थस्य) ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य। तथा च चोदनालक्षणः सम्यक्संप्रत्ययः इति। पौरुषेये हि शब्दे यः प्रत्ययः, तस्य‡ मिथ्याभाव आशङ्क्येत; परप्रत्ययो

---

* 'कालान्तरे फल मिथ्येत्यवगच्छामः' इति का० सं०।

† 'अपिच तत्काल एव फल श्रूयते, यागः कारणमिति वाक्यादवगम्यते, कारणं चेदुत्पन्नं, कार्य्येण भवितव्यं' इति अधिकं प्रा० पु०।

‡ 'पौरुषेये हि सति सम्बन्धे यदाऽस्य प्रत्ययः, तदा' इति का० सं०।

हि तदा स्यात। अथ शब्दे ब्रुवति कथ मिथ्येति? नहि तदानीं अन्यत पुरुषादवगतिमिच्छाम। ब्रवीतीत्युच्यते—बोधयति (बुध्यमानस्य निमित्त भवति) इति शब्दे च निमित्ते स्वय बुध्यते, कथ विप्रलब्ध ब्रूयात्?—'नैतदेव—इति। नचास्य चोदना 'स्याद्वा न वा' इति—साशयिक प्रत्ययमुत्पादयति। नच 'मिथ्यैतत्—इति कालान्तरे देशान्तरेऽवस्थान्तरे पुरुषान्तरे वा पुनर्व्यपदेश्यप्रत्ययो भवति?। योऽप्यस्य प्रत्ययविपर्य्यास दृष्ट्वा तथापि विपर्यंसिस्यति—इत्यानुमानिक प्रत्यय उत्पद्यते,* सोऽप्यनेन प्रत्यक्षेण प्रत्ययेन विरुध्यमानो बाध्यते। तस्मा चोदनालक्षण एव धर्म ॥

'स्यादेतदेव, नेव शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध, कुतोऽस्य पौरुषेयता अपौरुषेयता वेति। कथ?। स्याच्चेदर्थेन सम्बन्ध, क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्?। यदि संश्लेषलक्षण सम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते। कार्य्यकारण—निमित्तनैमित्तिकाऽऽश्रयाश्रयिभाव—संयोगादयस्तु† सम्बन्धा शब्दस्यानुपपन्ना एवेति ॥

भा उच्यते। यो ह्यत्र व्यपदेश्य सम्बन्ध, तमेक न व्यपदिशति भवान्, प्रत्याय्यस्य, प्रत्यायकस्य च य संज्ञासंज्ञिलक्षण‡ इति। 'आह यदि प्रत्यायक शब्द, प्रथमश्रुत किं न प्रत्याययति?। उच्यते। सर्वत्र नो दर्शनं प्रमाण 'प्रत्यायक—इति हि प्रत्यय दृष्ट्वाऽवगच्छाम 'न प्रथमश्रुत—इति प्रथमश्रवणे प्रत्ययमदृष्ट्वा, यावत्कृत्वश्रुतेन 'इय संज्ञा अयं संज्ञी—इत्यवधारितं भवति, तावत्कृत्वश्रुतादर्थावगम इति। यथा चक्षु दृष्ट न बाह्येन प्रकाशेन विना प्रकाशयतीति अदृष्ट न भवति॥ यदि

---

* 'उत्पाद्यते' इति प्रा० पु०। † 'सौनादयस्तु' इति का० स०।
‡ 'लक्षणः त' इति का० ओ०।

भा. प्रथमश्रुतो न प्रत्याययति, ज्ञातकस्तर्हि शब्दस्यार्थेन संबन्धः। कुतः?। स्वभावतो ह्यसंबन्धावेतौ शब्दार्थौ, मुखे हि शब्दमुपलभामहे, भूमावर्थं, 'शब्दोऽयं न त्वर्थः, अर्थोऽयं न शब्दः'—इति च व्यपदिशन्ति रूपभेदोऽपि भवति। 'गौः'—इतीमं शब्दमुच्चारयन्ति, सास्नादिमन्तमर्थमवबुध्यन्ते इति। पृथग्भूतयोश्च यः सम्बन्धः, स ज्ञातको दृष्टः, यथा रज्जुघटयोरिति॥

अथ 'गौः'—इत्यत्र कः शब्दः?। गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः; श्रोत्रग्रहणे हि अर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः, ते च श्रोत्रग्रहणाः॥ "यद्येवं, अर्थप्रत्ययो नोपपद्यते।। कथं?। एकैकाक्षरविज्ञानेऽर्थो नोपलभ्यते; नचाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम; यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। यदा गकारः, न तदा औकारविसर्जनीयौ, यदौकारविसर्जनीयौ, न तदा गकारः। अतो* गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति,† यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। 'अन्तर्हिते शब्दे स्मरणादर्थप्रतिपत्तिः चेत्'। न, स्मृतेरपि क्षणिकत्वादक्षरैस्तुल्यता"। पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः—इत्यदोषः॥ 'नन्वेवं 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे'—इति लौकिकं वचनमनुपपन्नं स्यात्'। उच्यते। यदि नोपपद्यते, अनुपपन्नं नाम। न हि 'लौकिकं वचनमनुपपन्नं'—इत्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्योऽभ्युपगन्तुं। लौकिकानि वचनान्युपपन्नार्थानि, अनुपपन्नार्थानि च दृश्यन्ते। यथा, 'देवदत्त! गामभ्याज'—इत्येवमादीनि, 'दश दाडिमानि षड् अपूपाः,‡ इत्येवमादीनि च॥

ननु च 'शास्त्रकारा अप्येवमाहुः, पूर्वापरीभूतं भावमाख्याते-

---

* अत्र नकारो ऽस्ति अधिकः का० कौ० पुस्तके॥

† 'गकारादिव्यतिरिक्तः कश्चिदस्ति समुदायः' इति प्रा० पु०।

‡ 'भूजगाजिनं' इति अधिकं प्रा० पु०॥

भा नाचष्टे 'व्रजति, पचति'—इत्युपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तमिति यथा'। न शास्त्रकारवचनमपि अलम् इममर्थमप्रमाणकमुपपादयितुं॥

अपिच नैव एतत् अनुपपन्नार्थं, 'अक्षरेभ्यः संस्कारः, संस्कारादर्थप्रतिपत्तिः'—इति सम्भवति अर्थप्रतिपत्तौ अक्षराणि निमित्तं। 'गौण एवार्थप्रतिपत्तौ शब्दः'* इति चेत्। न गौणी अक्षरेषु निमित्तभावः, तद्भावे भावात्, तदभावे चाऽभावात्॥

अथापि 'गौणः स्यात्'। न, 'गौणः शब्दो माभूत्'—इति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुं। न हि 'अग्निर्माणवकः'—इत्युक्ते अग्निशब्दो, 'गौणो मा भूत्'—इति 'ज्वलन एव माणवकः'—इत्यध्यवसीयते। न च प्रत्यक्षो 'गकारादिभ्योऽन्यो गोशब्दः' इति, भेददर्शनाभावात्, अभेददर्शनाच्च। गकारादीनि हि प्रत्यक्षाणि। तस्मात् 'गौः'—इति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदं अक्षराण्येव। अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तं अन्यत् पदं नामेति॥ ननु 'संस्कारकल्पनायामदृष्टकल्पना'। उच्यते। शब्दकल्पनायां सा च, शब्दकल्पना च। तस्मादक्षराण्येव पदं॥

अथ 'गौः'—इत्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः?। 'सास्नादिविशिष्टा आकृतिः'—इति ब्रूमः॥ ननु 'आकृतिः साध्याऽस्ति वा न वा इति?'। न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति, 'वृक्षः, स्वस्तिकः, वर्द्धमानकः'—इति हि प्रत्यक्षं दृश्यते।' 'व्यामोहः'—इति चेत्। न। न असति प्रत्ययविपर्यासे 'व्यामोहः'—इति शक्यते वक्तुं। 'असत्यप्यर्थान्तरे एवञ्जातीयको भवति प्रत्ययः, 'पङ्क्तिः, यूथ वन'—इति यथा' इति' चेत्। न, असंबद्धमिदं वचनमुपन्यस्तं, किं असति वने वनप्रत्ययो भवति इति?। प्रत्यक्षमेवाच्छिद्यते,—'वृक्षा अपि न सन्ति' इति। यद्येव, प्रत्युत स

* 'गौण एवः शब्दः' इति का॰ सं॰।

भा॰ माहाजानिकः* पक्षः। अथ 'किमाकृतिसद्भाववादी उपालभ्यते, सिद्धान्तान्तरं ते दुष्यति इति वनेऽपि सति वनप्रत्ययः प्राप्नोति—इति'। एवमपि, प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवतस्तत्सिद्धान्तान्तरदूषणे निग्रहस्थानमापद्यते, असाधकत्वात्। स हि वक्ष्यति—दुष्यतु, यदि दुष्यति; किं तेन दुष्टेन, अदुष्टेन वा प्रकृतं त्वया साधितं भवति, मदीयो वा पक्षो दूषितो भवति? इति। न च 'वृक्षव्यतिरिक्तं वनं यस्मात् न उपलभ्यते, अतो 'वनं नास्ति' इत्यवगम्यते'। यदि वने अन्येन हेतुना सद्भावविपरीतः प्रत्यय उत्पद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्ययः—इति; ततो 'वनं नास्ति' इत्यवगच्छामः। नच गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति। अतो वैधर्म्यं। अथ वनादिषु नैव विपर्येति, न 'ते न सन्ति'—इति। तस्मात् असंबद्धः पंक्तिवनोपन्यासः। अत उपपन्नं जैमिनिवचनं "आकृतिः शब्दार्थः" इति। यथाच आकृतिः शब्दार्थः, तथोपरिष्टात् (१ अ॰। ३ पा॰) निपुणतरमुपपादयिष्याम इति॥

अथ 'संबन्धः कः?' इति। यत्, शब्दे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते, स तु 'ज्ञातकः'—इति पूर्वं (१३।१) उपपादितं। तस्मात् मन्याभहे—'केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह संबन्धं कृत्वा संव्यवहर्त्तुं वेदाः प्रणीताः' इति। तदिदानीं उच्यते—अपौरुषेयत्वात् सम्बन्धस्य सिद्धं इति। कथं पुनरिदमवगम्यते 'अपौरुषेयः एषः सम्बन्धः'—इति?। पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्। कथं संबंधा नास्ति?। प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषां। ननु 'चिरवृत्तत्वात् प्रत्यक्षस्याविषयो भवेत् इदानीन्तनानां'। न हि चिरवृत्तः सन् न स्मर्य्येत†। न च हिमवदादिषु कूपारामादिवत् अस्मरणं भवितुमर्हति॥ पुरुषवियोगो

* 'महायानिकः' इति बहुषु दृश्यते॥

† सतीत्यत्र 'ते हि' इति प्रा॰ पु॰॥

मा हि तेषु भवति, देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा। न च, शब्दार्थव्यवहारवियोगो पुरुषाणामस्ति॥ स्यादेतत् 'सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्तृस्मरणमनाद्रियमाणा विस्मरेयुः' इति। तन्न। यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत, व्यवहारकालेऽवश्यं स्मर्तव्यो भवति। सम्प्रतिपत्तौ हि कर्तृव्यवहर्त्रर्थं सिध्यति, न विप्रतिपत्तौ। नहि वृद्धिशब्देन पाणिनेर्व्यवहारात् प्रागेव प्रतीयेरन्* पाणिनिकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तथा प्रकारेण पिङ्गलस्य न सर्वगुरुस्त्रिक प्रतीयेत, पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तेन कर्तृव्यवहर्तारौ सम्प्रतिपद्येते। तेन वेदे व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्ता स्यात्, व्यवहारस्य च। न हि "वृद्धिरादैच् (पाणि० १ सू०) इत्यस्य सूत्रस्य कर्तरि 'वृद्धिर्यस्याचामादि' (पा० १ अ० १ पा० । ७३ सू०) इति किञ्चित् प्रतीयेत॥

तस्मादकरणादवगच्छाम—न, कृत्वा संबन्धं व्यवहारार्थं केनचिद्वेदा प्रणीता—इति। यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत, तथापि न प्रमाणमन्तरेण संबन्धारं प्रतिपद्येमहि, यथा, विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन शशविषाणं प्रतिपद्यामहे॥ तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्ध इति॥ ननु 'अर्थापत्त्या संबन्धारं प्रतिपद्येमहि न ह्यकृतसंबन्धाञ्छब्दान् प्रतिपद्यमानान् उपलभामहे।। प्रतिपद्येरन् असम्बन्धेऽपि प्रतिपद्येरन्, तदनुपलम्भनादवश्यं भवितव्यं संबन्धा' इति चेत्। न, सिद्धवदुपदेशात्। यदि संव्यवहारकाले नियोक्तारो नाम्नां उपलभ्येरन् ततोऽर्थापत्त्या

---

* 'प्रतिपादयेरन्' इति का० मी० पु०।

† 'मा [illegible]' इति [illegible] '[illegible]' इति [illegible] [illegible]।

भा. संबन्धारमवगच्छामः। अस्ति तु अन्यः प्रकारः; 'वृद्धानां स्वार्थेन संव्यवहरमाणानां* उपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते। तेऽपि वृद्धा यदा बाला आसन्, तदाऽन्येभ्यो वृद्धेभ्यः; तेऽप्यन्येभ्यः'—इति नास्त्यादिः—इत्येवं वा भवेत्, अथ वा; 'न कश्चिदेकोऽपि शब्दस्यार्थेन संबन्धः आसीत्, अथ केनचित् संबन्धाः प्रवर्त्तिताः'—इति; अथ वृद्धव्यवहारे सति नार्थादापद्येत संबन्धस्य कर्त्ता॥ अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्ति इतरे संबन्धारं; न च, प्रत्यक्षे प्रत्यर्थिनि कल्पना साध्वी! तस्मात् संबन्धुरभावः।

'अव्यतिरेकश्च' (७।२) यथा अस्मिन् देशे, सास्नादिमति गोशब्दः, एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि; बहवः संबन्धारः कथं सगंस्यते? एको न शक्नुयात्, अतो नास्ति संबन्धस्य कर्त्ता॥ (अपर आह 'अव्यतिरेकश्च' न हि, संबन्धव्यतिरिक्तः कश्चित्कालोऽस्ति' यस्मिन् न कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन संबद्ध आसीत्। कथं?। संबन्धक्रियैव हि नोपपद्यते,—अवश्यमनेन संबन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्त्तव्यः; येन क्रियेत, तस्य केन ज्ञातः? अथान्येन केनचिज्ज्ञातः; तस्य केनेति, तस्य केनेति? नैवावतिष्ठते। तस्मादवश्यमनेन संबन्धं कुर्वता अज्ञातसंबन्धाः केचन शब्दाः वृद्धव्यवहारसिद्धाः अभ्युपगन्तव्याः। अस्ति चेत् व्यवहारसिद्धिः, न नियोगतः संबन्धा भवितव्यमिति अर्थापत्तिरपि नास्ति)।

स्यादेतत्, 'अप्रसिद्धसंबन्धाः बालाः कथं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यन्ते?' इति। नास्ति दृष्टेऽनुपपन्नं नाम; दृष्टाः हि बालाः वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यमानाः; न च प्रतिपन्नसंबन्धाः संबन्धस्य कर्तुः। तस्मादिदमदुष्टम्।

'अर्थेऽनुपलब्धे' (७।२) अनुपलब्धे च देवदत्तादावर्थेऽनयकं

---

* 'व्यवहरमाणा' इति प्रा० पु०।

भा संज्ञाकरणं, व्यवहारार्थं च। विशेषान् प्रतिपत्तुं हि संज्ञाः क्रियन्ते विशेषार्थोऽस्ति; तद्विशेषेष्वज्ञायमानेषु उभयमप्यनवक्लृप्तं। तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन संबन्धः। अतश्च 'तत् प्रमाणं' (७।२) 'अनपेक्षत्वात्' (७।२) न च, एवं सति पुरुषान्तरं प्रत्ययान्तरञ्च अपेक्ष्यते।। तस्माच्चोदनालक्षणः एव धर्मो नान्यलक्षणः। बादरायणग्रहणमुक्तं (७।२५)* ॥

अथ, यदुक्तं (१०।२४) 'अनिमित्तं शब्दः कर्मकाले फलादर्शनात् कालान्तरे च कर्माभावात्प्रमाणं नास्ति'—इति। तदुच्यते—न स्यादप्रमाणं, यदि प्रत्यक्षैव प्रमाणान्यभविष्यन्; येन येन हि प्रमीयते तत्तत् प्रमाणं, शब्देनापि प्रमीयते; ततः शब्दोऽपि प्रमाणं, यथैव प्रत्यक्षं। न च, 'प्रमाणेनावगतं प्रमाणान्तरेणानवगतं'—इत्येतावता अनवगतं भवति।। न चैवं श्रूयते—'कृते कर्मणि तावत्येव फलं भवति; किन्तु 'कर्मणः फलं प्राप्यते'—इति, यच्च (११।८) 'कालान्तरे फलस्यान्यत्प्रत्यक्षं कारणमस्ति'—इति। नैष दोषः, तथैव हि तत्र कारणं, शब्दश्चेति ॥

यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धं वचनमुपन्यस्तं (११।११) "स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति"—इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति—इति। तदुच्यते, शरीरसंबंधात्, यस्य तच्छरीरं, सोऽपि तेनायुधेन 'यज्ञायुधी'—इत्युच्यते। 'आह—कोऽसावन्यो?' नैनमुपलभामहे'। प्राणादिभिरेनमुपलभामहे, योऽसौ प्राणिति, अपानिति, उच्छ्वसिति, निमिषति, इत्यादि चेष्टमानः, सोऽन्य शरीरे 'यज्ञायुधी'—इति। ननु 'शरीरमेव प्राणिति अपानिति च'। न, प्राणादयः शरीरगुणविधर्माणोऽन्या-यच्छरीरभावित्वात्, यावच्छरीरं, तावदस्य गुणाः रूपादयः। प्राणादयस्तु सत्यपि शरीरे न भवन्ति। सुखादयश्च स्वयमुप-

* इतिकारभ्रम प्रमाद।

भा. लभ्यन्ते, न रूपादयः इव शरीरगुणाः परेणापीति । तस्मा-च्छरीरगुणवैधर्म्यादन्यः शरीरात् यज्ञायुधीति ।

आह,—"कुतः एषः संप्रत्ययः ?—सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वान् अस्तीति, न हि सुखादिप्रत्याख्यानेन तस्य स्वरूपमुपलभामहे । तस्मात् शशविषाणवत् असौ नास्ति । अथोच्यते, 'तेन विना कस्य सुखादयः ?' इति । 'न कस्यचिदपि'—इति वक्ष्यामः । न हि यो यः* उपलभ्यते, तस्य तस्य संबन्धिना भवितव्यं । यस्य संबन्धोऽप्युपलभ्यते, संबंधी च 'तस्यायं संबन्धी'—इति गम्यते । न हि, चन्द्रमसं, आदित्यं वा उपलभ्य संबन्ध्यन्वेषणा भवति—'कस्यायं' —इति । 'न कस्यचिदपि' इत्यवधार्यते । तस्मान्न सुखादिभ्योऽन्यः तद्वान् अस्तीति । अथ 'उपलब्धस्यावश्यं कल्पयितव्यः संबन्धी भवति' । ततः आत्मानमप्यनेन प्रकारेणोपलभ्य, 'कस्यायं' ?—इति संबन्ध्यन्तरमन्विष्येम† । 'तमपि कल्पयित्वा, अन्यमपि कल्पयित्वा, अन्यं'- इत्यव्यवस्थैव स्यात् । अथ कश्चित् कल्पयित्वा न संबन्ध्यन्तरमपि कल्पयिष्यसि, तावत्येव विरंस्यसि, तावता च परितोष्यसि ; ततो विज्ञाने एव परितुष्य तावत्येव विरंतुमर्हसि" ।

अत्रोच्यते । यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कस्तर्हि 'जानाति' —इत्युच्यते ? । ज्ञानस्य कर्त्तुरभिधानं अनेन शब्देनोपपद्यते । 'तद्देयः शब्दोऽर्थवान् कर्त्तव्यः'—इति ज्ञानाद्व्यतिरिक्तमात्मानं कल्पयिष्यामः इति ।

आह 'वेदाः‡ एनं शब्दमर्थवन्तं कल्पयिष्यन्ति, यदि कल्पयितव्यं प्रमंस्यन्ते । बहवः खल्विह जनाः 'अस्ति आत्मा, अस्ति आत्मा'—इति—आत्मसत्तावादिनः एव शब्दस्य प्रत्ययघवक्तारो

---

* अत्र 'योऽय' इति का० क्री० 'यो य' इति प्रा० पु० ।

† 'अन्विच्छेम' इति का० क्री० । ‡ 'देवाः' इति का० सं० ।

भा. अत्राह 'स्मृतिरपि इच्छावत् पूर्वज्ञानसदृशं विज्ञानं, पूर्वविज्ञानविषयं वा 'स्मृतिः'—इत्युच्यते; नेव द्रष्टरि विनष्टेऽपि अपरेद्युरुत्पद्यमानं नानुपपन्नं, प्रत्यक्षावगतत्वादेव। अन्यस्मिन्* स्कन्धघनेऽन्येन स्कन्धघनेन यत् ज्ञातं, तत्संततिजेनान्येनोपलभ्यते, नातत्संततिजेनान्येन। तस्माच्छून्याः स्कन्धघनाः इति। अथास्मिन्नर्थे-(बृ० उ० ६ अ। ५ ब्रा०) ब्राह्मणं भवति, "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति।

उच्यते नैतदेवं; अन्येद्युर्दृष्टेऽपरेद्युः 'अहमिदमदर्शम्'—इति भवति प्रत्ययः; प्रत्ययात्मनि चैतद्भवति, न परत्र, अपरोक्षसौ अन्येद्युर्दृष्टवान्†। तस्मात् तद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ति, यत्रायं 'अहं'—शब्दः॥

आह—'परत्राप्यहंशब्दो भक्त्या दृश्यते; यथा अहमेव पुत्रः, अहमेव देवदत्तः, अहमेव गच्छामि' इति। अत्रोच्यते, न वयं 'अहं'—इतीमं शब्दं प्रयुज्यमानमन्यस्मिन्नर्थे हेतुत्वेन व्यपदिशामः; किं तर्हि शब्दादर्थातिरिक्तं प्रत्ययं प्रतीमो वयं, 'इममर्थं वयमेवान्येद्युरुपलभामहे, वयमेवाद्य स्मरामः' इति। तस्माद्वयमिममर्थमवगच्छामः,—'वयमेव ह्यः, वयमेवाद्य' इति। ये ह्यः,‡ अद्य च न ते विनष्टाः। अथाप्यस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति,—(बृ०§ उ० ४ अ। ५ ब्रा) "स वा अयमात्मा"—इति प्रकृत्य आमनन्ति "अशीर्यो न हि शीर्यते" इति, तथा (बृ० उ०। ६ अ। ब्रा० ५।) "अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा" इति। विनश्वरं च विज्ञानं। तस्मादविनश्वरादन्यः स इत्य-

* 'एकस्मिन्' इति का० स०।

† 'परोक्षसौ, योऽन्येद्युर्दृष्टवान्' इति प्रा० पु०।

‡ 'ये चामी ह्यः' इति का० कौ०।

§ वृहच्छब्दस्य वर्ग्यबकारोऽपि कस्यचित् सम्मतः।

भावगच्छाम। न च शक्यमेवमवगन्तु—यथोपलभ्यन्ते अर्था न तथा भवतीति यथा तु खलु नोपलभ्यन्ते तथा भवन्तीति। तथा हि सति शशो नास्ति शशस्य विषाणमस्तीत्यवगम्येत॥ नच अहम्प्रत्ययो व्यामोह—इति शक्यते वक्तुं बाधकप्रत्ययाभावात्। तस्मात् सङ्घातादिभ्य व्यतिरिक्तोऽस्ति। एवञ्चेत स एव 'यज्ञायुधी'—इति व्यपदिश्यते।

आह— यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातृ विज्ञानमपास्य तन्निदर्श्यतां—'इद तत् ईदृश च'—इति न च तत् निदर्श्यते। तस्मान्न ततोऽन्यदस्ति' इति। उच्यते स्वसंवेद्य स भवति नासावन्येन शक्यते द्रष्टुं कथमसौ निदर्श्येत? इति यथा च कश्चित् चक्षुष्मान स्वय रूप पश्यति न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्यन्धाय तत् निदर्शयितु। न च तत् न शक्यते निदर्शयितु—इत्येतावता नास्ति'—इत्यवगम्यते।। एवमसौ पुरुष स्वयमात्मानमुपलभते न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितु अन्यस्य इन्द्रियस्य पुरुष प्रति दर्शनशक्त्यभावात सोऽप्यन्य पुरुष स्वयमात्मानमुपलभते, न च परात्मानं। तेन सर्वे स्वेन स्वेनात्मना आत्मानमुपलभमाना सन्तेरव (यद्यपि परपुरुषं नोपलभन्ते) इति। अथास्मिन्नर्थे ब्राह्मण (बृ० उ० ६ अ ३ ब्रा) भवति— अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किं ज्योतिरेवायं पुरुष आत्मज्योति सम्राडिति होवाच * इति। 'परेण नोपलभ्यते—इत्यथापि ब्राह्मण (बृ० उ० ५ अ। ९ ब्रा) भवति— अगृह्यो नहि गृह्यते" इति। परेण न गृह्यते—इत्येतदभिप्रायमेतत्। कुत ?। स्वयंज्योतिष्ट्ववचनात्। अथापि ब्राह्मण (बृ० उ० ६। ब्रा० ७) भवति अत्रायं पुरुष स्वयंज्योतिर्भवति इति। 'केन पुनरुपायेनायमन्यस्मै कथ्यते—इति?। तत्राप्युपाये

* मुद्रितपुस्तके उद्धृतब्राह्मणांशो पाठभेदेनाप्यस्ति।

भा. ब्राह्मणं (बृ० उ० ६ अ ३ ब्रा) भवति, "स एष 'न'—इति, 'न' —इति आत्मेति होवाच" इति। 'असौ एवंरूपः'—इति न शक्यते निदर्शयितुं। यच्च परः पश्यति, तत्प्रतिषेधस्तस्य उपदेशोपायः; शरीरं परः पश्यति, तेनात्मा उपदिश्यते, —'शरीरं नात्मा, अस्ति शरीरादन्यः इति, स आत्मा'—इति—शरीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते। तथा प्राणादयो नात्मानः, तत्प्रतिषेधेन तेभ्योऽन्यः उपदिश्यते। तथा परस्थाः सुखादयः परेण लिङ्गैरुपलभ्यते, 'तेऽपि नात्मानः'—इति—तत्प्रतिषेधेनान्यः उपदिश्यते। 'यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुषः' —इत्येतदपि पुरुषप्रवृत्त्यानुमीयते,—यदाऽसौ पुरुषः पूर्वेषुः सामिकृतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानुष्ठाने च यतते, अतः प्रवृत्याऽवगम्यते—'नूनमसावनित्यान् नित्यमवगच्छति' इति॥

उपमानाच्चोपदिश्यते, यादृशं भवान् स्वयमात्मानं पश्यति, अनेनोपमानेनावगच्छ—'अहमपि तादृशमेव पश्यामि'—इति। यथा कश्चिदात्मीयां वेदनां परस्मै आचक्षीत,—दह्यमानस्येव मे भवति, यात्यमानस्येव मे भवति, रुद्धमानस्येव मे भवतीति। अतः स्वयमवगम्यमानत्वादस्ति तद्व्यतिरिक्तः पुरुषः इति॥

यदुच्यते—"विज्ञानमपास्य तत् निदर्श्यताम्" (२२। १६) इति। यदुपायमेव निषेधसि, न शक्यमुपायमन्तरेणोपेयमुपेतुं; अयमेवाभ्युपायो ज्ञातव्यानामर्थानां—'यो यथा ज्ञायते स तथा' इति। तत् यथा, कः शुक्लो नाम?। यत्र शुक्लत्वमस्ति। किं शुक्लत्वं नाम?। यत्र शुक्लशब्दप्रवृत्तिः। क्व तस्य प्रवृत्तिः?। यच्छुक्लशब्दे उच्चरिते प्रतीयते। तस्मान्न विज्ञानं प्रत्याख्याय कस्यचिद्रूपं निदर्शयितुं शक्यं। न च, नियोगतः प्रत्यये प्रतीते प्रत्ययार्थः प्रतीतो भवति। अप्रतीतेऽपि हि प्रत्यये सति अर्थः प्रतीयते एव। न हि, विज्ञानं प्रत्यक्षं। विज्ञेयोऽर्थः प्रत्यक्षः इति। एतत् पूर्वमेवोक्तं (९। १५)।

भा क्षेपकत्वे कामं विज्ञानमपकुर्येत। नार्थं इत्येतदुक्तमेव (१०।४)। तस्मादस्ति सुखादिभ्योऽन्यो नित्यः पुरुष इति॥

अथ यदुक्तं (२१।११) "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति"—इति। अत्रोच्यते। 'अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमपीपदत्'* इति—परिचोदनोत्तरकाले अपकृत्य मोहाभिप्रायमस्य वर्णं तवान्— 'न वा अरे मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' (बृ० उ० ६ अ। ५ ब्रा) इति। तस्मान्न विज्ञानमात्रं, तस्मादेषोऽन्यः॥ यदुक्तं (११।१४) 'नचैष याति'—इति विधिशब्द इति। मा भूद्विधिशब्दः "स्वर्गकामो यजेत"—इति वचनान्तरेणावगतमनुवदिष्यते। तस्मादविरोधः॥

सू कर्मैके तत्र दर्शनात्॥ ६॥ (पू० १)

भा उक्तं (७।४) 'नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्ध' इति। तदनुपपन्नं, शब्दस्यानित्यत्वात् विनष्टे शब्दे, पुनरस्य क्रियमाणस्यार्थेन अकृतकः सम्बन्धो नोपपद्यते, न हि प्रथमश्रुताच्छब्दात् कश्चिदर्थं प्रत्येति॥ 'कथं पुनरनित्यः शब्दः?'। प्रयत्नादुत्तरकालं दृश्यते यतः। अतः प्रयत्नानन्तर्यात् तेन क्रियते—इति गम्यते। ननु 'अभिव्यज्येत स यत्नेन'। नेति ब्रूमः। नह्यस्य प्राक् अभिव्यंजनात् सद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्ति॥ सतश्च अभिव्यज्यते, नासतः (पू० १)॥

सू अस्थानात्॥ ७॥ (पू० २)

भा नो खल्वप्युच्चरितं मुहूर्तमप्युपलभामहे†। अतो 'विनष्ट'—इत्यवगच्छामः। नच सन् न उपलभ्यते। अनुपलम्भकारणाना

* 'अपीपिपत्' इति का० को०। † 'नचैनमुच्चरित' इति का० को०।

भा. अवधानादीनामभावेऽप्यनुपलंभनात्; न च, असौ विषयमप्राप्तः। आकाशविषयत्वात्; कर्णच्छिद्रेऽप्यनुपलंभनात् (पृ० २) ॥

सू. करोतिशब्दात् ॥ ८ ॥ (पृ० ३)

भा. अपि च 'शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः'—इति—व्यवहारः प्रयुंजते, न ते नूनमवगच्छंति—'स एवायं शब्दः'—इति (पृ० ३) ॥

सू. सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥ ९ ॥ (पृ० ४)

भा. नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे, तत् एकस्य नित्यस्यानुपपन्नमिति। असति विशेषे नित्यस्य न अनेकत्वं; कार्याणान्तु बहूनां नानादेशेषु क्रियमाणानामुपपद्यतेऽनेकदेशसंबंधः, तस्मादप्यनित्यः (पृ० ४) ॥

सू. प्रकृतिविकृत्योश्च ॥ १० ॥ (पृ० ५)

भा. अपि च 'दध्यत्र'—इत्यत्र 'इकारः प्रकृतिः, यकारो विकृतिः'—इत्युपदिशंति; यद्विक्रियते, तदनित्यं; इकारसादृश्यं च यकारस्योपलभ्यते, तेनापि तयोः प्रकृतिविकारभावो लक्ष्यते (पृ० ५) ॥

सू. वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥ ११ ॥ (पृ० ६)

भा. अपि च बहुभिरुच्चारयद्भिर्महान् शब्दः श्रूयते; स यदि अभिव्यज्यते, बहुभिरल्पेऽप्युच्चार्यमाणस्तावानेवोपलभ्येत।। अतो मन्यामहे,—नूनमस्य एकैकेन कश्चिदवयवः क्रियते, यत्प्रचयादयं महान् उपलभ्यते (पृ० ६) ॥

सू समं तु तत्र दर्शनम् ॥ १२ ॥ (उ० १)

भा तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्त्तते। यदुक्तं (पू० ६) 'प्रयत्नादुत्तर-कालें दर्शनात् कृतकोऽयं'—इति। यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्ष्यामः; ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् 'प्रयत्नेनाभिव्यज्यते'—इति भविष्यति; यदि प्रागुच्चारणा-दनभिव्यक्तः प्रयत्नेनाभिव्यज्यते। तस्मादुभयोः पक्षयोः सम-मेतत् (उ० १) ॥

सू सतः परम् अदर्शनं विषयानागमात् ॥ १३ ॥ (उ० २)

भा यदपरं कारणमुक्तं (पू० २) 'उच्चरितप्रध्वंसः'—इति। अत्रापि यदि शक्ष्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टं वक्तुं, ततो नित्य-प्रत्ययसामर्थ्यात् कदाचिदुपलंभं, कदाचिदनुपलंभं दृष्ट्वा किञ्चि-दुपलम्भस्य निमित्तं कल्पयिष्यामः. तच्च संयोगविभागसद्भावे सति भवतीति 'संयोगविभागावेवाभिव्यञ्जकौ'—इति वक्ष्यामः। 'उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयते' इति चेत्। नैतदेवं। न नूनमुपरमंति संयोगविभागाः, यतः उपलभ्यते शब्दः—इति, न हि ते प्रत्यक्षाः इति ॥

"यदि शब्दं संयोगविभागाः एवाभिव्यञ्जन्ति, न कुर्वन्ति, आकाशविषयत्वाच्छब्दस्य, आकाशस्यैकत्वात्, यः एवायमत्र श्रोत्राकाशः, स एव देशान्तरेष्वपीति शुघ्नस्थैः संयोगविभागैर-भिव्यक्तः पाटलिपुत्रेऽप्युपलभ्येत।। यस्य पुनः कुर्वन्ति, तस्य वायवीयाः संयोगविभागाः वाय्वाश्रितत्वादायुष्वेव करिष्यंति। यथा, तन्तवः तन्तुष्वेव पटं, तस्य पाटलिपुत्रेष्वनुपलंभो युक्तः, शुघ्नस्थत्वात्तेषां। 'यस्याप्यभिव्यञ्जन्ति, तस्याप्येष न दोषः, दूरे यस्याः कर्णशष्कुल्याः अनुपकारकाः संयोगविभागाः, तेन दूरे पक्षोऽर्थं, तेन नोपलभ्यते' इति। नैतदेवं, प्रमाणाभावात्

भा. संयोगविभागाः श्रोत्रस्योपकुर्युः; सन्निकृष्टविप्रकृष्टदेशस्थौ युगपच्छब्दमुपलभेयातां! न च युगपदुपलभेते। तस्मान्नाभाताः उपकुर्वन्ति; न चेदुपकुर्वन्ति, तस्मादनिमित्तं शब्दोपलंभने संयोगविभागौ इति"।

नैतदेवं, अभिघातेन हि प्रेरिताः वायवस्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्पादयंति, यावद्वेगमभिप्रतिष्ठंते। ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात् (संयोगविभागाः) नोपलभ्यन्ते। अनुपरतेष्वेव तेषु शब्दः उपलभ्यते, नोपरतेषु। अतो न दोषः। अत एव चानुवातं दूरादुपलभ्यते शब्दः (उ० २) ॥

सू प्रयोगस्य परम् ॥ १४ ॥ (उ० ३)

भा. यदपरं कारणमुक्तं—'(पू० ३) 'शब्दं कुरु, मा कार्षीः'—इति व्यवहर्त्तारः प्रयुञ्जते'। यद्यसंश्रयं नित्यः शब्दः, शब्दप्रयोगं कुर्वंति भविष्यति; यथा गोमयात् कुर्विति संहारे* (उ० ३) ॥

सू आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥ १५ ॥ (उ० ४)

भा यत्तु (पू० ४।) 'एकदेशस्य सतो नानादेशेषु युगपद्दर्शनमनुपपन्नं'—इति। आदित्यं पश्य देवानांप्रिय!† एकः सन् अनेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते। 'कथं पुनरवगम्यते 'एकः आदित्यः'—इति?'। उच्यते, प्राङ्मुखो देवदत्तः पूर्वाह्णे संप्रति पुरस्तादादित्यं पश्यति; तस्य दक्षिणतोऽवस्थितो न द्वौ पश्यति, आत्मनश्च संप्रति न तिरश्चीनं‡ देवदत्तस्यार्जवे।

---

* 'सवाहे' इति का० को०। † 'देवानां प्रियो यः' इति का० सं०।
‡ 'आत्मनश्च सप्रतिस्थिते तिरश्चीनं' इति का० सं०। आत्मनश्च संप्रति मततिरश्चीनं' इति तु का० को०।

भा. तस्मादेक आदित्य इति। दूरत्वादस्य देशो नावधार्यते; अतो व्यामोहः। एवं शब्देऽपि व्यामोहादनवधारणं देशस्य। यदि श्रोत्रं संयोगविभागदेशमागत्य शब्दं गृह्णीयात्, तथापि तावदनेकदेशता कदाचिदवगम्येत, न च, तत् संयोगदेशमागच्छति!। सत्यत्वा हि कर्णशष्कुली तद्देशा गृह्यते; वायवीयाः पुनः संयोगविभागाः अप्रत्यक्षस्य वायोः, कर्णशष्कुलीप्रदेशे प्रादुर्भवन्तो नोपलभ्यन्ते—इति नानुपपन्नं। अत एव व्यामोहः,—यत्, नानादेशेषु शब्दः इति। आकाशदेशश्च शब्दः—इति, एकं च पुनराकाशं, अतोऽपि न नानादेशेषु। अपि च एकत्वे सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्ना, न तु शब्दः। तस्मादयमप्यदोष. (उ० ४)॥

सू. वर्णान्तरमविकारः॥ १६॥ (उ० ५)

भा. न च, 'दध्यत्र'—इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः (पू० ५)। वर्णान्तरं इकारात् यकारः। न हि, यकारं प्रयुञ्जाना इकारमुपाददते! यथा, कटं चिकीर्षन्तो वीरणानि। न च, सादृश्यमात्र दृष्ट्वा प्रकृतिः, विकृतिर्वा उच्यते'। न हि, दधिपिटकं दृष्ट्वा कुन्द*पिटकं च, प्रकृतिविकारभावोऽवगम्यते!। तस्मादयमप्यदोषः (उ० ५)॥

सू. नादवृद्धिपरा॥ १७॥ (उ० ६)

भा. यदेतत् 'बहुभिर्भेरीमाध्मनद्भिः शब्दमुच्चारयद्भिर्महान् शब्दः उपलभ्यते, तेन प्रतिपुरुषं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते' (पू० ६)। नैवं; निरवयवो हि शब्दः, अवयवभेदानवगमात्, निरवयवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः,—अतो न वर्द्धते शब्दः। मृदुदेशेन,

* 'कटु' इति पा० सं०।

भा. बहुभिश्चोच्चार्यमाणे तान्येवाक्षराणि (कर्णशष्कुलीमण्डलस्य सर्वा नेमिं व्याप्नुवद्भिः संयोगविभागैर्नैरन्तर्येण अनेकशो ग्रहणात्) महान् इव, अवयववान् इवोपलभ्यंते ; संयोगविभागाः नैरन्तर्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यंजन्तो नादशब्दवाच्याः । तेन नादस्यैषा वृद्धिः, न शब्दस्येति (उ० । ६) ॥

सू. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥ १८ ॥ (सि०)

भा. नित्यः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः? 'दर्शनस्य परार्थत्वात्' दर्शनमुच्चारणं, तत् परार्थं, (परं अर्थं प्रत्याययितुं,) उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यान् अर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात्; अतः न परार्थमुच्चार्येत ॥ अथ न विनष्टः, ततो बहुशः उपलब्धत्वादर्थावगमः—इति युक्तं। 'अर्थवत्सादृश्यादर्थावगमः' इति चेत्। न कश्चिदर्थवान्, सर्वेषां नवत्वात्। 'कस्यचित्पूर्वस्य छायिमः संबन्धो भविष्यति' इति चेत्। तदुक्तं 'सदृशः' इति चावगते व्यामोहात्प्रत्ययो व्यावर्तेत; मालाशब्दात् मालाप्रत्ययः इव। 'यथा गावीशब्दात् सास्नादिमति प्रत्ययस्यानिष्पत्तिः, तद्वद्भविष्यति' इति चेत्। न हि, गोशब्दं तथोच्चारयितुमिच्छा; नेहान्यशब्दोच्चिचारयिषा। न चैकेनोच्चारणायत्नेन संव्यवहारश्चार्थसंबन्धश्च शक्यते कर्तुं। तस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वात् नित्यः शब्दः ॥

सू. सर्वत्र यौगपद्यात् ॥ १९ ॥

भा. गोशब्दे उच्चरिते सर्वगवीषु युगपत् प्रत्ययो भवति। अतः आकृतिवचनोऽयं। न चाकृत्या शब्दस्य संबंधः शक्यते कर्तुं, निर्दिश्य हि आकृतिं कर्ता संबध्नीयात्; गोपिंडे च बहूनामाकृतीनां सद्भावाच्छब्दमन्तरेण गोशब्दवाच्यां विभक्तामाकृतिं केन प्रकारेणोपदेक्ष्यति ?। नित्ये तु सति गोशब्दे बहुकृत्वः

भा उच्चरितः श्रुतपूर्वश्चान्यास्तु गोव्यक्तिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् इतिवचनमवगमयिष्यति ; तस्मादपि नित्यः ॥

सू　　संख्याभावात् ॥ २० ॥

भा 'अष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः' इति वदन्ति, नाष्टौ गोशब्दा इति। 'किमतः? यद्येवं'। अनेन वचनेनावगम्यते,—प्रत्यभिजानन्तीति ; वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न नः करणदौर्बल्यात् ; एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति—स एवायमिति। प्रत्यभिजानाना* वयमिवान्येऽपि 'नान्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति ॥ अथ 'मतं, अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः 'सः'—इति वक्ष्यन्ति'। तन्न, न हि ते 'सदृशः'—इति प्रतियन्ति, किं तर्हि 'स एवायं'—इति। विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे, व्यामोहः—इति गम्यते। न च, 'अयमन्यः' इति प्रत्यक्षं, अन्यद्वा प्रमाणमस्ति ॥

स्यादेतत् 'बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञायेते, ते अपि नित्ये प्राप्नुतः'॥ नैष दोषः। न हि ते प्रत्यक्षे, अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव। 'उच्चरितस्य शब्दस्य विनाशात् अन्योऽनुच्चरितः'—इति चेत्। नैष विनष्टः, यतः एनं पुनरुपलभामहे; न हि, प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्तमदृष्ट्वा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्तो विनष्टं परिकल्पयन्ति। परिकल्पयन्तो द्वितीयदर्शने मातरि, जायायां, पितरि वा नाश्वस्युः॥ न हि अनुपलभ्यमानेन 'नास्ति'—इति अवगम्य, नष्टः—इत्येव—कल्पयन्ति॥ अप्रमाणतायां विदितायां 'नास्ति'—इत्यवगच्छामः। न हि, प्रमाणे प्रत्यक्षे सति, अप्रमाणता स्यात्॥ अस्तीति पुनः व्यामोहेऽनवगम्यमाने न क्वचिदप्यभावः, न चासिद्धेऽभावे व्यामोहः, न च सिद्धोऽभावः॥ तस्मादसति व्यामोहे, नाभावः। तदे-

---

* 'प्रत्यभिजानन्ति चेत्' इति पाठश्च का० सं०।

भा तदानुपूर्व्या सिद्धं। तस्मात्पुरस्तादनुच्चरितं अनुपलभमाना अपि न विनष्टः—इत्यवगन्तुमर्हन्ति। यथा, गृहान्निर्गताः सर्वगृहजनमपश्यंतः पुनः प्रविश्य उपलभमाना-अपि न (प्राक् प्रवेशात्) विनष्टः—इत्यवगच्छन्ति; तद्वत् एनमपि न 'अन्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति। येऽपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्ति, तेऽपि न शक्नुवन्ति शब्दस्य वदितुं, अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते, न च शब्दस्यान्तः, न च क्षयो लक्ष्यते। क्षः—इति प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सदृशः—इत्यानुमानिकः, न च, प्रत्यक्षविरुद्धं अनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति। तस्मान्नित्यः॥

सू. अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

भा येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, (येषां विनाशकारणमुपलभ्यते), यथा, अभिनवं पटं दृष्ट्वा; न चेनं क्रियमाणमुपलब्धवान्। अथ वा अनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा,—तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयं तन्तुव्यतिषङ्गविनाशात् तन्तुविनाशाद्वा विनश्यति—इत्यवगच्छति। नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते। यद्विनाशाद्विनंक्ष्यतीत्यवगम्यते॥

सू प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

भा इदं परेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं। 'ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुरुद्भूतः संयोगविभागैः शब्दो भवतीति, तथा च शिक्षाकाराः आहुः 'वायुरापद्यते शब्दतां' इति'। नैतदेवं, वायवीयश्चेत् शब्दो भवेत्, वायोः सन्निवेशविशेषः स्यात्! न च, वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः! यथा, पटस्य तन्तुमयान्। नचैवं भवति। स्याच्चेदेवं, स्पर्शने

भा उच्चरितः श्रुतपूर्वश्चान्यासु गोव्यक्तिषु अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। प्रतिवचनमवगमयिष्यति ; तस्मादपि नित्यः ॥

सू       संख्याभावात् ॥ २० ॥

भा. 'अष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः' इति वदन्ति, नाष्टौ गोशब्दाः इति। 'किमतः ? यद्येवं'। अनेन वचनेनावगम्यते,—प्रत्यभिजानन्तीति; वयं तावत्प्रत्यभिजानीमो न नः करणदौर्बल्यात्; एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति—स एवायमिति। प्रत्यभिजानाना* वयमिवान्येऽपि 'नान्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति ॥ अथ 'मतं, अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः 'सः'—इति वक्ष्यन्ति'। तन्न, न हि ते 'सदृशः'—इति प्रतियन्ति, किं तर्हि 'स एवायं'—इति। विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे, व्यामोहः—इति गम्यते। न च, 'अयमन्यः' इति प्रत्यक्षं, अन्यद्वा प्रमाणमस्ति।॥

स्यादेतत् 'बुद्धिकर्म्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञायेते, ते अपि नित्ये प्राप्नुतः'। नैष दोषः। न हि ते प्रत्यक्षे, अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव। 'अद्यतनस्य शब्दस्य विनाशात् अन्योऽद्यतनः'—इति चेत। नैष विनष्टः, यतः एनं पुनरुपलभामहे; न हि, प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्त्तमदृष्ट्वा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्तो विनष्टं परिकल्पयन्ति।। परिकल्पयन्तो द्वितीयसंदर्शने मातरि, जायायां, पितरि वा नाश्वस्युः।। न हि अनुपलम्भमात्रेण 'नास्ति'—इति अवगम्य, नष्टः—इत्येव—कल्पयन्ति।। अप्रमाणतायां विदितायां 'नास्ति'—इत्यवगच्छामः। न हि, प्रमाणे प्रत्यक्षे सति, अप्रमाणता स्यात्।। अस्तीति पुनः अव्यामोहेनावगम्यमाने न कश्चिदप्यभावः, न चासिद्धेऽभावे व्यामोहः, न च सिद्धोऽभावः।। तस्मादसति व्यामोहे, नाभावः। तदे-

---

* 'प्रत्यभिजानन्ति चेत्' इति अधिकः का० स०।

भा. तदानुपूर्व्या सिद्धं । तस्मात्पुरस्तादनुच्चरितं अनुपलभमाना अपि न विनष्टः—इत्यवगन्तुमर्हन्ति। यथा, गृहान्निर्गताः सर्वगृहजनमपश्यंतः पुनः प्रविश्य उपलभमाना अपि न (प्राक् प्रवेशात्) विनष्टः—इत्यवगच्छन्ति; तद्वत् एनमपि न 'अन्यः'—इति वक्तुमर्हन्ति। येऽपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्ति, तेऽपि न शक्नुवन्ति शब्दस्य वदितुं, अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते, न च शब्दस्यान्तः, न च क्षयो लक्ष्यते। सः—इति प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सदृशः—इत्यानुमानिकः, न च, प्रत्यक्षविरुद्धं अनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति॥ तस्मान्नित्यः॥

सू. अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

भा. येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव एव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनित्यता गम्यते, (येषां विनाशकारणमुपलभ्यते), यथा, अभिनवं पटं दृष्ट्वा; न चैनं क्रियमाणमुपलब्धवान्!। अथ वा अनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा,—तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयं तन्तुव्यतिषङ्गविनाशात् तन्तुविनाशाद्वा विनश्यति—इत्यवगच्छति। नैवं शब्दस्य किञ्चित्कारणमवगम्यते। यद्विनाशाद्विनंक्ष्यतीत्यवगम्यते॥

सू. प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

भा इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं। 'ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुरुद्भूतः संयोगविभागैः शब्दो भवतीति, तथा च शिक्षाकाराः आहुः 'वायुरापद्यते शब्दतां' इति'। नैतदेवं, वायवीयश्चेत् शब्दो भवेत्, वायोः सन्निवेशविशेषः स्यात्! न च, वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः! यथा, पटस्य तन्तुमयान्। नचैवं भवति'। स्याचेदेवं, स्पर्शने-

भा नोपलभेमहि। न च, वायवीयानवयवान् शब्दगतान् स्पृशाम.। तस्मान्न वायुकारणक। अतो नित्य ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २३ ॥

भा लिङ्गं चैव भवति, 'वाचा विरूपनित्यया' इति, अन्यपरं हीदं वाक्य वाचो नित्यतामनुवदति। तस्मान्नित्य शब्द ॥

सू उत्पत्तौ वाऽवचना.* स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥ २४ ॥ (पू०)

भा यद्यप्यौत्पत्तिक (नित्य) शब्दोऽर्थसबन्धश्च, तथापि न चोदनालक्षणो धर्म, चोदना हि वाक्य, न हि, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम —इत्यतो वाक्यादन्यतमस्मात्पदात 'अग्निहोत्रात् स्वर्गो भवति'—इति गम्यते। गम्यते तु पदत्रये उच्चरिते। न चात्र चतुर्थं शब्दोऽस्ति अन्यत अत। (पदत्रय समुदायात) न चाय समुदायोऽस्ति लोके। यतोऽस्य व्यवहारा दर्थोऽवगम्यते। पदानि अमूनि प्रयुक्तानि, तेषा नित्योऽर्थ, अप्रयुक्तश्च समुदाय, तस्मात् समुदायस्यार्थं हाचिमो व्यामोहो वा। न च पदार्था एव वाक्यार्थं सामान्ये हि पद प्रवर्त्तते, विशेषे वाक्य अन्यच्च सामान्य, अन्यो विशेष। न च, पदार्थाद्वाक्यार्थावगति, असम्बन्धात्। अस्ति चेत सबन्धे, कस्मिंश्चित्पदार्थेऽवगतेऽर्थान्तरमवगम्येत, एकस्मिन्नवगते सर्वं मवगत स्यात्।। न चैतदेव भवति। तस्मादन्यो वाक्यार्थ ॥

स्यादेतत्, 'अप्रयुक्तादपि वाक्यादर्थ सति सबन्धे स्वभावादर्थावगम —इति। यदि कल्प्येत—'शब्दो धर्ममात्मीय व्युत्क्रामेत्! नचेष शब्दधर्म, यत्, अप्रयुक्तादपि शब्दादर्थ प्रतीयते, न हि,

* 'वाऽवचनानि' इति क्वचित् पाठः।

भा प्रथमश्रुतात् कुतश्चिच्छब्दात् केचिदर्थं प्रतियन्ति"। तदभिधीयते—पदधर्मोऽयं न वाक्यधर्मः; वाक्याद्धि प्रथमावगतादपि प्रतियन्तोऽर्थं दृश्यन्ते"॥ नैतदेवं, यदि प्रथमश्रुतादवगच्छेयुः, अपि तर्हि सर्वेऽवगच्छेयुः। (पदार्थविदोऽन्ये च) न त्वपदार्थविदोऽवगच्छन्ति। तस्मान्नैतदेवं॥ ननु 'पदार्थविद्भिरप्यवगच्छद्भिरहत एव वाक्यार्थसंबन्धो भविष्यति, पदार्थवेदनेन हि संस्कृताः अवगमिष्यन्ति, यथा तमेव पदार्थं द्वितीयादिश्रवणेन' इति। नेति ब्रूमः; यदि वाक्येऽन्त्यो वर्णः पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं प्रत्याययति, उपकारस्तु तदानीं पदार्थज्ञानादवकल्प्यते। तस्मात् शब्दिमो वाक्यार्थप्रत्ययो व्यामोहो वा, न पदार्थद्वारेण संभवति वाक्यार्थज्ञानमिति॥

ननु 'एवं भविष्यति—सामान्यवाचिनः पदस्य 'गौः'—इति वा 'अश्वः'—इति वा, विशेषकं 'शुक्लः'—इति वा 'कृष्णः' —इति वा पदं अन्तिकादुपनिपतति यदा, तदा वाक्यार्थोऽवगम्यते'। तन्न; न हि, कथमिव, गौरिति वा अश्वः—इति वा सामान्यवाचिनः पदात् सर्वगवीषु सर्वाश्वेषु च बुद्धिरुपसर्पन्ती श्रुतिजनिता, वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्त्तेत†। न च, शुक्लः—इत्यादेर्विशेषवचनस्य कृष्णादिनिवृत्तिर्भवति शब्दार्थः†। न च, अनर्थको मा भूदित्यर्थपरिकल्पना शक्या‡। अतो न पदार्थजनितो वाक्यार्थः। तस्मात् शब्दिमः। पदसंघाताः खल्वेते, संघाताश्च पुरुषकृता दृश्यन्ते, यथा, "नीलोत्पलवनेष्वद्य चरन्तश्चारुसंरवाः। नील*कौशेयसवीताः प्रणश्यन्तीव कादवाः"‡। अतो वैदिका अपि पुरुषकृता इति॥ (पू०)॥

---

* 'रामाः' इति प्रा० पु० 'समाः' इति का० मी०।

† 'प्रश्नवन्तीव' इति का० सं०।

‡ एवमेव सर्वत्र पाठः।

सू तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्त-
त्वात् ॥ २५ ॥ (उ०)

भा तेष्वेव (पदार्थेषु) 'भूतानां' वर्त्तमानानां (पदानां) क्रियार्थेन समुच्चारणम्। न, अनपेक्ष्य पदार्थान्, पार्थगर्थ्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धं। कुतः?। प्रमाणाभावात्, न किंचन प्रमाणमस्ति, येन प्रतिमिमीमहे; न हि, अनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्णस्य पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽर्थान्तरे वर्त्तितुं। इति॥

ननु 'अर्थापत्तिरस्ति, यत्, पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः, न च शक्तिमन्तरेण तदवकल्पते' इति। तन्न। 'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्,' भवेदर्थापत्तिः, यद्यसत्यामपि शक्तौ नान्यन्निमित्तमवकल्प्येत; अवगम्यते तु निमित्तं। किं?। पदार्थाः; पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि; अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति। कथं?। यत्र हि 'शुक्लः'—इति वा 'कृष्णः'—इति वा गुणः प्रतीतो भवति, भवति खल्वसावस्य गुणवति प्रत्ययमाधातुं; तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं गुणवचनमुच्चारयन्ति,* अवगच्छन्ते एषां यथासंकल्पितोऽभिप्रायः, भविष्यति विशिष्टार्थसंप्रत्ययः, विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थः,—एवं चेत्, अवगम्यते प्रत्यत एव वाक्यार्थः; को जातुचित् 'अदृष्टा पदसमुदायस्य शक्तिः, अर्थात् अवगम्यते'—इति वदिष्यति?। अपि च अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिदमवगम्यते, भवति हि कदाचिदियमवस्था,—मानसादभ्याघातात् यत्, उच्चरितेभ्यः पदेभ्यो न पदार्था अवधार्यन्ते, तदानीं नियोगतो वाक्यार्थं नावगच्छेयुः। यद्यपि

* 'उच्चारयिष्यन्ति' इति का० सं०।

भा-अपार्थगव्यंमभविष्यत्,* नियोगतस्तु नावगच्छन्ति। अपि च अन्तरेणापि पदोच्चारणं, यः श्रोत्रमवगच्छति, अवगच्छत्येवासौ मुक्तगुणकं। तस्मात्पदार्थप्रत्यये एव वाक्यार्थः। नास्य पद-समुदायेन संबन्धः। यत्तु (३३। १७) 'श्रौतः पदार्थो न वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्त्तितुमर्हति' इति। सत्यं, एवमेतत्; यत्र 'केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावा-दनर्थकः संजायते'—इत्यवगतं भवति, तत्र वाक्यार्थोऽपि नावद्भवत्विति विशिष्टार्थताऽवगम्यते; न सर्वत्र। एवं च सति, 'गुणान्तरप्रतिषेधो न शब्दार्थः'—(३३। १८)—इत्येतदपि परिहृतं भवति। अपि च प्रातिपदिकात् उच्चरन्ती† द्वितीयादि-विभक्तिः 'प्रातिपदिकार्थो विशेषकः'—इत्याह; सा च विशेष-श्रुतिः सामान्यश्रुतिं बाधेत। यच्च (३३।२९) 'एते पदसंघाताः पुरुषद्धाता दृश्यन्ते'—इति। परिहृतं तत् अस्मरणादिभिः (२५। २४)। अपि च एवंजातीयकेऽर्थे वाक्यानि संहर्तुं न किञ्चन पुरुषाणां बीजमस्ति॥ (उ०)॥

सू. लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्॥ २६॥ (सि०)

भा. लौकिकेषु पुनरर्थेषु प्रत्यक्षेणार्थमुपलभ्य 'सन्नियमः,' संनि-बन्धनं शक्यं तत्र संहर्तुं, एवञ्जातीयकानि वाक्यानि 'नीलोत्-पलवनेष्वद्य' (३३। २९) इति। तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—इत्येतेभ्य एव पदेभ्यो ये अर्था अवगताः, तेभ्यः एवैतदवगम्यते,—अग्निहोत्रात्स्वर्गो भवतीति। पदेभ्य एव पदार्थप्रत्ययः, पदार्थेभ्यो वाक्यार्थ इति॥ (सि०)॥

---

* 'यदस्य पारार्थ्यमभविष्यत्' इति का० सं०।

† 'उच्चारिता' इति प्रा० पु०।

सू वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७ ॥ (पृ० १)

भा उक्तं (१।१।२)—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति, यतो न पुरुषकृतः शब्दस्यार्थेन संबन्धः'। तत्र पदवाक्याश्रय आक्षेपः परिहृतः। इदानीमन्यथाऽऽक्षेप्स्यामः—पौरुषेयाश्चोदना इति वदामः',—संनिहितकालाः कृतका वेदा इदानीन्तनाः, ते च चोदनानां समूहाः, तत्र पौरुषेयाश्चेद्वेदाः, असंशयं पौरुषेयाश्चोदनाः। 'कथं' पुनः 'कृतका वेदाः'—इति केचिन्मन्यन्ते। यतः 'पुरुषाख्याः', पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः,—काठकं कालापकं पैप्पलादकं मौद्गलमिति, न हि संबन्धादृते समाख्यानम्, न च पुरुषस्य शब्देन अस्ति संबन्धः, अन्यतः 'कर्ता पुरुषः, कार्यं शब्दः'—इति। ननु 'प्रवचनलक्षणा'* समाख्या स्यात्'। नेति ब्रूमः, असाधारणं हि विशेषणं भवति, एक एव हि कर्ता बहवोऽपि प्रब्रूयुः, अतोऽस्मर्यमाणोऽपि चोदनायाः कर्ता स्यात्। तस्मादप्रमाणं 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति॥ (पृ० १)॥

सू अनित्यदर्शनाच्च ॥ २८ ॥ (पृ० २)

भा जननमरणवन्तश्च वेदार्थाः श्रूयन्ते—'बबरः† प्रावाहणिरकामयत' 'कुसुरुविन्द‡ औद्दालकिरकामयत'—इत्येवमादयः। उद्दालकस्यापत्यं गम्यते औद्दालकिः, यद्येवम्, प्राक् औद्दालकिजन्मनः, नायं ग्रन्थो भूतपूर्वः, एवमप्यनित्यता॥ (पृ० २)॥

---

* 'पुरुषवचना' इति का० मी० पु०।

† 'बबरः' इति का० मी०।

‡ 'कुसुरुविन्द' इति का० मी०। 'कारणि' इति का० मी०।

सू  उक्तन्तु शब्दपूर्व्वत्वम् ॥ २९ ॥ (सि०)

भा  उक्तं (१० । २४) अस्माभिः शब्दपूर्वत्वमध्येतृणां। केवलं आक्षेपपरिहारो वक्तव्यः, सोऽभिधीयते ॥ (सि०) ॥

सू  आख्या प्रवचनात् ॥ ३० ॥ (उ० १)

भा  यदुक्तं (२ पू०) कर्तृलक्षणा समाख्या काठकादीति। तदुच्यते। नैयमर्थापत्तिः, अकर्तृभिरपि ह्येनामाचक्षीरन्, प्रकर्षेण वचनं (अनन्यसाधारणं) कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्, तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति। स्मर्यते च,—वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी, कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति। स बहुशाखाध्यायिनां सन्निधावेकशाखाध्यायी अन्यां शाखामनधीयानः, तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणं ॥ (उ० १) ॥

सू  परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ ३१ ॥ (उ० २)

भा.  यच्च (२ पू०) प्रावाहणिरिति। तत्र, प्रवाहणस्य पुत्रस्यासिद्धत्वात् न प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणिः। प्रशब्दः प्रकर्षे सिद्धः, वहतिश्च प्रापणे, (नत्वस्य समुदायः क्वचित्सिद्धः*) इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः, तथा क्रियायामपि कर्त्तरि; तस्मात् यः प्रवाहयति, स प्रावाहणिः। 'बबरः' इति †शब्दानुकृतिः। तेन यो नित्योऽर्थः, तमेवेतौ शब्दौ वदिष्यतः। अत उक्तं—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रं' इति ॥ (उ० २) ॥

सू  कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥ ३२ ॥

भा.  अथ 'कथमवगम्यते—नायमुन्मत्तबालवाक्यसदृश इति ?। तथा

---

* 'क्वचित् सिद्ध' इति का० स० ।

† 'वाय्वादीरितशब्दानुकृतिः' इति प्रा० पु० ।

भा. हि पश्यामः,—'वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत' इति, यथा, 'जरद्गवो गायति मत्तकानि', कथं नाम जरद्गवो गायेत्?। कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासीरन्निति'। उच्यते,— विनियुक्तं हि दृश्यते, परस्परेण संबन्धार्थं। कथं?। 'ज्योतिष्टोमः'—इत्यभिधाय 'कर्त्तव्यः'—इत्युच्यते। केन?—इत्याकाङ्क्षिते 'सोमेन' इति। किमर्थं?—इति, 'स्वर्गाय' इति। कथमिति?। इत्थं, (अनया इतिकर्त्तव्यतया) इति। एवमव गच्छन्तः, पदार्थै रेभिः संस्कृतं पिंडितं वाक्यार्थं कथमुन्मत्तबालवाक्यसदृशं—इति पश्यामः?॥

ननु 'अनुपपन्नमिदं दृश्यते,—'वनस्पतयः सत्रमासत' इत्येवमादि'। नानुपपन्नं;—न, अनेन 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' —इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः स्युः। अपि च 'वनस्पतयः सत्रमासत'—इत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः,—स्तुतयो ह्येताः सत्रस्य, वनस्पतयो नामाऽचेतना इदं सत्रमुपासितवन्तः, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणाः?। तद्यथा लोके,—सन्ध्यायां मृगा अपि न चरन्ति, किं पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा इति। अपि च अविगीतः सम्बद्धुपदेशः* सुप्रतिष्ठितः कथमिवाशङ्क्येत—उन्मत्तबालवाक्यसदृशः— इति?। तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति सिद्धं॥

इति श्रीमच्छबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्य अध्यायस्य प्रथमः पादः॥ तर्कपादोऽयं॥ * * ॥

---

* 'शुद्ध उपदेशः' इति प्रा० पु०॥

## द्वितीयः पादः ॥

**सू. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ॥ १ ॥ (पृ० १)**

भा. "'सोऽरोदीत्, यदरोदीत्, तत् रुद्रस्य रुद्रत्वं' (१) 'प्रजापतिः आत्मनो वपामुदखिदत्,'* (२) 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्'—(३)—इत्येवमादीनि समाम्नातारः समामनन्ति वाक्यानि। तानि किं कञ्चित् धर्मं प्रमिमते† उत न? इति भवति विचारणा। तदभिधीयते,—क्रिया कथमनुष्ठेया‡? इति तां वदितुं समाम्नातारो वाक्यानि समामनन्ति। तत्, यानि वाक्यानि क्रियां नावगमयन्ति, क्रियासंबद्धं वा किञ्चित्; एवमेव भूतमर्थमन्वाचक्षते—रुदितवान् रुद्रः, (१) वपामुच्चिखेद प्रजापतिः, (२) देवा वै दिशो न प्रजज्ञिरे§ (३)—इत्येवंजातीयकानि, तानि कं धर्मं प्रमिमीरन्?। अथोच्येत,—'अध्याहारेण वा विपरिणामेन वा व्यवहितकल्पनया वा व्यवधारण—कल्पनया वा गुणकल्पनया वा कश्चिदर्थः कल्पयिष्यते'—इति। स कल्प्यमानः कः कल्प्येत‖? रुद्रः किल ररोद, अतोऽन्येनापि रोदितव्यं, (१) उच्चिखेद आत्मवपां प्रजापतिः, अतोऽन्योऽप्युत्खिदेदात्मनो वपां, (२) देवा वै देवयजनकाले दिशो न प्रज्ञातवन्तः, अतोऽन्योऽपि दिशो न प्रजानीयात् (३)—इति, तच्चाशक्यं,—इष्टवियोगेनाभिघातेन वा यत् बाष्पनिर्मोचनं, तत् रोदनमित्युच्यते, न च, तत् इच्छातो भवति। (१)। न च, कश्चि-

---

* 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्' इति मुद्रित तैत्तिं सं० २ का० १ प्र० १अ० अत्र उदखिदत् इति पाठः साधुः। †'प्रमिमीरन्' इति का० सं०। ‡ 'मनुष्ठीयेत' इति का० सं०। § 'प्राजानन्' इति अा० सो०। ‖ 'कल्प्यमान एव एष कः कल्प्येत' इति का० सं०।

भा द्वात्मनो वपामुत्खिद्य तामग्नौ प्रहृत्य तत उत्थितेन यूपरेण* पशुना यष्टुं शक्नुयात्' (२)। न च, देवयजनाध्यवसानकाले केचित् दिवो मुह्येयु' (३)। अत एषामानर्थक्य। तस्मादेवं जातीयकानि वाक्यानि 'अनित्यानि'—इत्युच्यन्ते (यद्यपि च नित्यानि, तथापि न नित्यमर्थं कुर्वन्ति) इति। स एष वाक्यैकदेशस्याक्षेप, न इत्स्नस्य वाक्यस्य। ननु 'एकदेशादिना वाक्यात्त पदसमूहो न पर्याप्त स्वस्मै प्रयोजनाय, अत आक्षिप्त एव' इति। नैष, भवति हि कश्चित् पदसमूह योऽर्थवादेभ्यो विनापि विदधाति कंचिदर्थं, यानि पुन ते सह संयुज्य अर्थान्तरे वर्तन्ते तान्येकदेशाक्षेपेणाक्षिप्यन्ते॥ (सू॰ १)॥

सू　　　　शास्त्रदृष्ट-विरोधाच्च । २ ॥ (पू॰ २)

भा 'स्तेन मन (१) 'अनृतवादिनी वाक्' (२)—इत्येवजातीयकाना धर्मं प्रति अप्रामाण्य भूतानुवादात। विपरिणामादिभिरपि कल्प्यमाने स्तेय स्त्रयोद्यम् कर्तव्यमित्यापतति, तथा प्रत्य स्तेयानृतवादप्रतिषेधप्रयाधमानेनानुष्ठातुं। न च विकल्प, वैषम्यात, एक कल्प्यो विधि, एक प्रत्यक्ष †॥

अथ दृष्टविरोध ‡—'तस्मात् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चि। तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूम'—इति 'अस्माल्लोकादुत्क्रम्याग्निरादित्य गत, रात्रौ§ आदित्यस्त इत्येतदुपपादयितुमिद, उभयमपि दृष्टविरुद्धमुच्यते। तस्माच्छ्रेयोऽवधारणा सिध्यति इति (१)। अपरो दृष्टविरोध,—'नचैतद्विद्मो वय

* 'उद्धरद्वितेनेति माधवः॥　　† 'मत्रः' इति का॰ स॰।
‡ 'प्रत्यक्षविरोधश्च' इति का॰ स॰। § 'रात्रौ' इति का॰ स॰ नास्ति।
'तस्मात' इति अधिक का॰ सो॰।

भा. ब्राह्मणा वा स्मः, अब्राह्मणा वा' इति अक्रियार्थत्वादनर्थकं। अथायमर्थः—नैवैतत् ज्ञायते किं वा ब्राह्मणा वयं उताब्राह्मणा एवेति, प्रत्यक्षविरुद्धमप्रमाणं (२)। अपरः शास्त्रदृष्टेन विरोधः —'को हि तद्वेद, यत् अमुष्मिन्लोकेऽस्ति वा, न वा' इति, यदि प्रश्नोऽयं, अक्रियार्थत्वादनर्थकः। अथानवक्लृप्तिः, शास्त्रदृष्टेन विरोधः। अतः प्रत्यक्षविरुद्धमप्रमाणं (३) ॥ (पू० २) ॥

सू. तथाफलाभावात् ॥ ३ ॥ (पू० ३)

भा. गर्गत्रिरात्रब्राह्मणं प्रकृत्योच्यते 'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद' —इति यदि भूतानुवादः, अनर्थकः। अथाध्ययनफलानुवादः, ततोऽसदनुवादः। 'कालान्तरे फलं भविष्यतीति' चेत्। न हि अत्र प्रमाणमस्ति। 'विधिः स्यादिति' चेत्। नैव विधिपरः; 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु' (३ अ० २ पा०) इति चिन्तयिष्यति एतदुपरिष्टात्—किं फलविधिरुतार्थवादः ?—इति। इह तु किं भूतानुवादः, क्रियार्थो वा ?—इति* ॥ 'आऽस्य† प्रजायां वाजी जायते य एवं वेद' इति चोदाहरणं ॥ (पू० ३)॥

सू. अन्यानर्थक्यात् ॥ ४ ॥ (पू० ४)

भा. 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' (१), 'पशुबन्धयाजी सर्वान् लोकानभिजयति' (२), 'तरति मृत्युं, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद' (३) इति, यदि भूतानुवादमात्रमनर्थकं। अथ फलविधिः, इतरेषां आनर्थक्यं, —न हि, अकृत्वा पूर्णाहुतिं, अग्निहोत्रादयः क्रियन्ते। न

---

* 'तेन न फलविधित्वात् निराकृतस्य इह अनर्थकोऽर्थवादविचारः' इति अधिकं पा० सं० ॥

† 'अस्य' इति क्वचित् ॥

भा च, अनिष्ट्वा अग्नीषोमीयेन, सोमेन यजन्ते !। न च, अनधीत्य, अश्वमेधेन यजन्ते '। तद्यथा, पथिजाते अर्के मधु उत्सृज्य, तेनैव पथा मध्वर्थिनः पर्वतं न गच्छेयुः, तादृशं हि तत्। अपि चाहुः —"अर्के चेन्मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ?। इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्" इति॥ (पू० ४)॥

सू　　　अभागि-प्रतिषेधाच्च ॥ ५ ॥ (पू० ५)

भा. 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि'—इत्यप्रतिषेधभागिनमर्थं प्रतिषेधन्ति। विज्ञायते एवैतत्,—अन्तरिक्षे, दिवि चाग्निर्न चीयते—इति। पृथिवीचयनप्रतिषेधार्थं च यदाक्यं, भवेत् चयनप्रतिषेधार्थमेव तत्। अप्रामाणं, नैष विरोधो भवति। कथं तत् प्रमाणं?, यत् विध्यन्तरमाकुलयेत्, स्वयं चाकुलं स्यात्,—न चेतव्यं, हिरण्यं निधाय चेतव्यमिति।' (पू० ५)॥

सू.　　　अनित्यसंयोगात् ॥ ६ ॥ (पू० ६)

भा अनित्यसंयोगश्च (वेदप्रमाण्ये सति) "परन्तु श्रुति—सामान्यमात्रं" (१ अ० १ पा० २९ सू०) इति परिहृतः। इदानीं वेदैकदेशानामाधिमानां पुनरपोद्वलक उत्तिष्ठति,—'बबरः प्रावाहणिरकामयत'—इति॥ (पू० ६)॥

सू विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥ ७ ॥ (सि०)

भा. इद समाम्नायते,—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयति'—इति। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—इत्यतो यद्यपि क्रिया नावगम्यते, क्रियासंबद्धं वा किञ्चित्; तथापि विध्युद्देशे-

भा नेकवाक्यत्वात् प्रमाणं; 'भूतिकामः'—इत्येवमन्तो विध्युद्देशः, तेनैकवाक्यभूतो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—इत्येवमादिः। 'कथमेकवाक्यभावः?'। पदानां साकाङ्क्षत्वाद्विधेः स्तुतेश्चैकवाक्यत्वं भवति,—भूतिकाम आलभेत, (कस्मात्?) यतो वायुः क्षेपिष्ठेति। नायमभिसंबन्धो विवक्षितः,—'भूतिकामेनालब्धव्यमिति। कथं तर्हि आलभेत?। यतः, ततो भूतिः'—इति, भिन्नाविमावर्थौ, उभयाभिधाने वाक्यभिद्येत!॥

'किमर्था स्तुतिरिति' चेत्। कथं रोचेत?, नोऽनुष्ठीयेत*!—इति। 'ननु प्राक् स्तुतिवचनात्, अनुष्ठानं भूतिकामान्तात्सिद्धं, स्तुतिवचनमनर्थकं!'। न हि; यदा स्तुतिपदाऽसन्निधानं, तदा पूर्वेणैव विधिः; यदा स्तुतिपदसंबन्धः, न तदा भूतिकामस्यालम्भो विधीयते। यथा, पटो भवति—इति, पट उत्पद्यते इत्यर्थः, निराकाङ्क्षं च पदद्वयं। यदा च तस्मिन्नेव 'रक्तः'—इत्यपरं† श्रूयते, तदा रागसंबन्धो भवतीत्यर्थः, भवति च रक्तं प्रत्याकाङ्क्षा। एवं यदा न स्तुतिपदानि, विधिशब्देनैव तदा प्ररोचना, यदा स्तुतिवचनं, तदा स्तवनेन॥ ननु 'एवं सति, किं स्तुतिवचनेन?, यस्मिन् सति अविधायकं, मा भूत् तत्, तदभावेऽपि पूर्वविधिनैव प्ररोचयिष्यते'—इति। सत्यं, विनाऽपि तेन, सिध्येत् प्ररोचनं; अस्ति तु तत्, तस्मिन् विद्यमाने योऽर्थो वाक्यस्य, सोऽवगम्यते स्तुतिप्रयोजनं, तयोः तस्मिन् अविद्यमाने विधिना प्ररोचनमिति॥

ननु "सत्स्वपि स्तुतिपदेषु पूर्वस्य विधिस्वरूपत्वाद्विधिरभिप्रेतः स्यात्!, न विवक्ष्येत स्तुतिपदसंबन्धः!'। 'आह—स्तुतिपदानि ह्यनर्थकान्यभविष्यन् साकाङ्क्षाणि'। भवन्त्वनर्थकानि"—इति चेत्। न, गम्यमानेऽर्थे अविवक्षितार्थानि भवितुमर्हन्ति।

---

* 'ततोऽनुष्ठीयेत?' इति पा० सं०। † 'परो शुक्लः' इति पा० सं०।

भा योऽसौ विध्युद्देश स शक्नोति निरपेक्षोऽर्थं विधातु शक्नोति च स्तुतिपदाना वाक्यशेषो भवितु मत्यचस्य वाक्यशेषभाव। अतोऽस्मादिधे स्तुतिमवगच्छाम ॥

ननु 'निरपेक्षादपि विधिमवगमिष्याम । भवतु एव नैव सति कश्चिद्विरोध किन्तु अवश्य स्तुतिपदसवन्धे सति विधर्थो विवक्षितुं वाक्य हि सवन्धस्य विधायकं द्वौ चेत्सबन्धौ विद ध्यात्—भूतिकाम आलभेत (१) आलम्भेन च एष गुणो भविष्यति (२) इति भिद्येत तर्ह्येव सति वाक्य। ॥ अथ यदुक्त (१९। ८) 'न क्रिया गम्यते, न तत्सबद्ध वा किञ्चित'—इति। स्तुत्यर्थेन विधीना स्यु स्तुतिपदा स्तुवन्त क्रिया प्ररोचयमाणा अनुष्ठातॄणामुपकरिष्यन्ति क्रियाया। एव मिमानि सर्वाण्येव पदानि कञ्चिदर्थं स्तुवन्ति विदधति। अत प्रमाण एव—जातीयकानि वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'— इति ॥ (सि०) ॥

सू तुल्य च साम्प्रदायिक ॥ ८ ॥ (उ० १)

भा अथोच्येत— प्राक् स्तुतिपदेभ्य निराकाङ्क्षाणि विधाय कानि विधिस्वरूपत्वात स्तुतिपदानि तु प्रमादपाठ इति। तत् न एव अर्थावगमात्, तुल्यश्च साम्प्रदायिक सप्रदाय (प्रयोजन) येषा धर्माणा * सर्वे ते विधिपदाना अर्थवादपदाना च तुल्या —अध्यायानध्यायतो† गुरुमुखात्प्रतिपत्ति नियमोपा ध्यायता च सर्वस्मिन्नेवजातीयके अविघ्नार्थे तुल्यमाद्रियन्ते स्मरणं च दृष्ट। अतो न प्रमादपाठ इति ॥ (उ० १) ॥

---

* 'भावाना इति का० स०।

† 'अध्यायान ध्यायता इति का० स०। 'अध्यायानध्ययने इति भा० मो०।

सू. अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छ-
ब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ ९ ॥ (उ० २)

भा. अपि च, या एषा अनुपपत्तिरुक्ता (४०।१९) "शास्त्रदृष्ट-विरोधात्"—इत्येवमाद्या, सा 'सोऽरोदीत्'—इत्येवमादिषु न प्राप्नोति। कुतः?। प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने विरोधः स्यात्, शब्दार्थस्तु अप्रयोगभूतः, तस्मादुपपद्येत 'स्तेनं मनः, अनृतवादिनी वाक्'—इति ॥ (उ० २)॥

सू. गुणवादस्तु ॥ १० ॥ (उ० ३)

भा. 'यदुक्तं—(४२।७) 'विधेयस्य प्ररोचनार्था स्तुतिः' इति; तदिह कथमवकल्प्येत?, यदान्यद्विधेयं, अन्यच्च स्तूयते, यथा, 'वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति'—इति वेतसावके विधीयेते, आपश्च स्तूयन्ते,—'आपो वै शान्ताः'—इति'। तदुच्यते,—'गुणवादस्तु,' गौण एष वादो भवति, यत् संबन्धिनि स्तोतव्ये संबन्ध्यन्तरं स्तूयते। अभिजनो ह्येष वेतसावकयोः, ततस्ते जाते। अभिजनसंस्तवेन चाभिजातः स्तुतो भवति। यथा, अस्माकाभिजनो देवदत्तोऽस्माकेषु स्तूयमानेषु स्तूतमात्मानं मन्यते, एवमत्रापि द्रष्टव्यं॥ (१ आ०)॥

'अथ 'सोऽरोदीत्'—इति कस्य विधेः शेषः?'। 'तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयं'—इत्यस्य। कुतः?। साकाङ्क्षत्वात्पदानां, 'सोऽरोदीत्, यदरोदीत्, तत्, रुद्रस्य रुद्रत्वमित्यत्र सः'—इति प्रकृतापेक्षः, तत्प्रत्ययात्। 'तस्य यदश्रु अशीर्यत'—इति 'तस्य'—इति पूर्वप्रकृतापेक्ष एव। उपपत्तिश्चोपरितनस्य, यो बर्हिषि रजतं दद्यात्, पुराऽस्य संवत्सरात्, गृहे रोदनं भवतीत्यस्य हेतुत्वेनायं प्रतिनिर्दिश्यते,—'तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयं'—इति; एवं सर्वाणि साकाङ्क्षाणि॥ 'कथं विधरुपकुर्वन्तीति?'।

भा. गुणवादेन,—रोदनप्रभवं रजतं बर्हिषि दद्तो रोदनमापद्यते। तत् प्रतिषेधस्य गुणः; यत् अरोदनमिति॥ 'कथं पुनररुदति 'अरोदीत्'—इति भवति? (१)। कथं वा अनश्रुप्रभवे रजतेऽश्रुप्रभवमिति वचनं? (२)। पुराभ्य संवत्सरादृषति रोदने, कथं रोदनं भवतीति? (३)'। तदुच्यते,—'गुणवादस्तु,' गौणा एते शब्दाः,—रुद्रः—इति रोदननिमित्तस्य शब्दस्य दर्शनात् 'यदरोदीत्' इत्युच्यते (१)। वर्णसारूप्यात् निन्दन् अनश्रुप्रभवमश्रुप्रभवमित्याह (२)। निन्दैव च धनत्यागे दुःखदर्शनात्पुराभ्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवतीत्याह (३)॥ (२ भा०)॥

तथा, 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात्, स एतं प्राजापत्यं तूपर*मालभेत' इति, आकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषोऽयं,—'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्'—इति। 'कथं गुणवादः? इत्थं नाम न आसन् पशवः, यत्, आत्मनो वपामुदक्खिददिति'। एतच्च कर्मणः सामर्थ्यं, यत्, अग्नौ प्रहृतमात्रायां वपायामजस्तूपर उदगात्, इत्थं बहवः पशवो भवन्तीति†। 'कथं पुनरनुत्खिन्नायां वपायां प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्—इत्याह?'। उच्यते,—असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं, स्तुत्यर्थेन प्रशंसया गम्यमानत्वात्। वृत्तान्वाख्याने वर्त्तमाने, द्वय निष्पद्यते,‡—यच्च वृत्तान्तज्ञानं, (१) यच्च कस्मिंश्चित्प्ररोचना, द्वेषो वा (२)। तत्र वृत्तान्तान्वाख्यानं§ न प्रवर्त्तकं, न निवर्त्तकं च इति प्रयोजनाभावात् अनर्थकं—इति अविवक्षितं; प्ररोचनया तु प्रवर्त्तते, द्वेषात् निवर्त्तते इति तयोर्विवक्षा। वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्ता दोषो वेदस्य प्रसज्येत।। 'कथं

---

* तूपुरः श्वङ्गरहित इति माधव। † 'भूता इति' इति का० सं०।
‡ 'व्याप्रति' इति का० सं०। § 'ज्ञानं' इति का० सं०।

भा. पुनरिदं निरालम्बनमन्वाख्यायते? इति। उच्यते,—नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात्,—वायुः, (१) आकाशः, (२) आदित्यो वा (३)। 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्'—इति इष्टिं (१) वायुं (२) रश्मिं वा (३); तामग्नौ प्रागृह्णात्, वैद्युते (१) आर्चीसे (२) लौकिके वा (३)। ततोऽजइत्यन्नं, (१) वीजं,' (२) विरुत् (३) वा* तमालभ्य (तमुपयुज्य) प्रजाः पशूनमाप्नोतीति गौणाः शब्दाः॥ (३ व्या०)॥

'आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्य उदयनीयश्चरुः'—इत्यस्य विधेः शेषो 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्'—इति, आकाङ्क्षितत्वात्। सर्वथामोहानामादित्यश्चरुर्नाशयिता, अपि दिङ्मोहस्येति स्तुतिः। 'कथमसति दिङ्मोहे दिङ्मोहशब्दः' इति। उच्यते,—अमाज्ञतस्य बहोः कर्मसमूहस्योपस्थितत्वात् गौणो मोहशब्दोऽवधारणावकाशदानादिभिः शमयतीति गौणता (४ व्या०)॥ (उ० ३)॥

सू. रूपात्प्रायात्॥ ११॥ (उ० ४)

भा. 'हिरण्यं हस्ते भवति, अथ गृह्णाति'—इति, साकाङ्क्षत्वादस्य विधेः शेषः—'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्'—इति। निन्दावचनं हिरण्यस्तुत्यर्थेन, यथा, किं चर्यिणा, देवदत्त एव भोजयितव्यः। 'कथं पुनरस्तेनं मनः निन्दितुमपि स्तेनशब्देनोच्यते, वाचं चानृतवादिनीं अपि 'अनृतवादिनी'—इति ब्रूयात्?'। गुणवादस्तु 'रूपात्,' यथा, स्तेनाः प्रच्छन्नरूपाः, एवं च मनः इति गौणः शब्दः। 'प्रायात्' च, अनृतवादिनी वागिति॥ (उ० ४)॥

---

* 'विरुदिति गौणाः शब्दाः' इति तु व्या० मो०।

सू दूरभूयस्त्वात् ॥ १२ ॥ (उ० ५)

भा दृष्टविरोधे उदाहरणं, (४०।१७) 'तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे, नार्चिः, तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे, न धूम —इति, 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा—इति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा—इति प्रातः,—इति मिश्रलिङ्ग मन्त्रयोर्विधानस्याकाङ्क्षितत्वाच्छेषः। उभयोर्देवतयोः सन्निधाने होमः—इति स्तुतेरुपपत्तिः। 'दूरभूयस्त्वात्,' धूमस्याग्नेरदर्शने गौणः शब्दः ॥ (उ० ५) ॥

सू अपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनं ॥ १३ ॥ (उ० ६)

भा दृष्टविरोधे एव उदाहरणं (४०।२१) 'न चैतद्विद्म —इति, ततः 'प्रवरे प्रवियमाणे देवाः पितर इति ब्रूयात्—इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषः। अब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणः प्रवरानुमन्त्रणेन स्यादिति स्तुतिः। दुर्ज्ञानत्वादज्ञानवचनं गौणं स्त्र्यपराधेन कर्तुश्च पुत्रदर्शनेन, 'अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेन—इत्यादिना दुर्ज्ञानं ॥ (उ० ६) ॥

सू आकालिकेप्सा ॥ १४ ॥ (उ० ७)

भा प्राप्तदृष्टविरोधे उदाहरणं (४१।३) 'को हि तद्वेद —इति 'हिरण्यवती कामानं करोति—इति साकाङ्क्षत्वादस्य विधेः शेषः। प्रत्यक्षफलत्वेन स्तुतिः। अनवक्लृप्तिवचनं विप्रकृष्टकालफल त्वाद्गौणं ॥ (उ० ७) ॥

सू विद्याप्रशंसा ॥ १५ ॥ (उ० ८)

भा 'तथाफलाभावात् (२ पा० २ सू०) इत्यत्र उदाहृतं— 'शोभतेऽस्य मुखं—इति गर्गत्रिरात्रविधेराकाङ्क्षितत्वाच्छेषः।

भा. वेदानुमवणस्य च 'श्रास्य प्रजायां वाजी जायते'—इति शेषः। मुखशोभा वाजिमत्त्वं च गुणवचनत्वाद्गौणः शब्दः, शोभते इव शिष्येरुदीक्ष्यमाणं; कुले सन्तताध्ययनश्रवणान्मेधावी जायते—इति स प्रतिग्रहादन्नं माप्नोतीति॥ (उ० ८)॥

सू. सर्व्वत्वमाधिकारिकं ॥ १६ ॥ (उ० ९)

भा. अन्यानर्थक्यवाक्ये उदाहरणं,—'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'—इति, 'पूर्णाहुतिं जुहोति'—इत्याकाङ्क्षितत्वादस्य विधेः शेषः। 'य उ चैनमेवं वेद'—इति, 'तरति मृत्युं'—इत्यस्याकाङ्क्षितत्वाच्छेषः। फलवचनं स्तुतिः, सर्वकामफलस्य निमित्ते सर्वकामावाप्तिवचनं गौणं। असर्वेषु सर्ववचनं अधिकृतापेक्षं। (उ० ९)॥

सू. फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यात्॥ १७॥ (उ० १०)

भा. अन्वाहार्य्य वचनमिदं (४९ । ६) यद्यपि विधिः, तथापि अर्थवत्ता परिमाणतः सारतो वा फलविशेषात्॥ (उ० १०)॥

सू. अन्त्ययोर्यथोक्तं ॥ १८ ॥ (उ० ११)

भा. 'अभागिप्रतिषेधात्'—इत्यादावुदाहृतं—'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि'—इति, 'हिरण्यं निधाय चेतव्यं'—इत्याकांक्षितत्वात् अस्य विधेः शेषः। पृथिव्यादीनां निन्दा हिरण्यस्तुत्यर्था। असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः। यच्च (९ पृ०) अनित्यदर्शनं 'बबरः प्रावाहणिरकामयत'—इति, तत् परिहृतं, अर्थवादाक्षेपेण पुनरुत्थितं, इदानीमर्थवादप्रामाण्ये तेनैव परिहारेण परिहरिष्यते—इति॥ (उ० ११)॥
(इति अर्थवादाधिकरणं, १ अ० । २ पा० । १ अधि०)॥

॥

अथ विधिवन्निगदाधिकरणम् ।

सू. विधिर्वा स्यादपूर्व्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकं ॥ १९ ॥ (पू०)

भा. इह ये विधिवत् निगदा अर्थवादाः, ते उदाहरणं,—'औदुंबरो यूपो भवत्यूर्ग्वा उदुंबर ऊर्क्पशव ऊर्ज्जैवास्मा ऊर्जं पशूनाप्नोति ऊर्जोऽवरुध्यै'—इति। किमस्य विधिः कार्यं, उताऽस्यापि स्तुतिरिति? । किं तावत्प्राप्तं?—'विधिर्वा स्यादपूर्व्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकं'। विधिर्वाऽयमेवंजातीयकेषु प्रत्यविधिः स्यात्, फलं ह्यवगम्यते, तथा हि अपूर्वं अर्थं विधास्यति, इतरथा स्तुतिवादमात्रं अनर्थकं स्यात्, स्तुतस्य अस्तुतस्य तावानेव सोऽर्थः। अपि च 'ऊर्जो*ऽवरुध्यै'—इति प्रयोजनं श्रूयते; न च, 'प्रशस्तोऽयमर्थः'—इति कश्चिच्छब्दोऽस्ति। लक्षणया तु स्तुतिर्गम्यते, श्रुतिश्च लक्षणायाः ज्यायसीति॥ (पू०) ॥

सू. लोकवदिति चेत् ॥ २० ॥ (पूर्व्वपक्षे आशङ्का ॥)

भा. इति चेत् मन्यसि,—'स्तुतिरनर्थिका, न च शब्देनावगम्यते'—इति। लौकिकानि वाक्यानि भवन्तो विदाङ्कुर्व्वन्तु। तत् यथा, 'इयं गौः क्रेतव्या देवदत्तीया, एषा हि बहुक्षीरा अप्यपरया अनष्टप्रजा च' इति। 'क्रेतव्या'—इत्यप्युक्ते गुणाभिधानात् प्रवर्त्तन्तेतरां क्रेतारः; बहुक्षीरेति च गुणाभिधानमेव गम्यते; तद्वत् वेदेऽपि भविष्यति॥ (पू० आ०) ॥

सू　　न पूर्व्वत्वात् ॥ २१ ॥ (आशङ्का-निरासः ॥)

भा. नैतदेवं, लोके विदितपूर्व्वा अर्था उच्यन्ते बहुक्षीरादयः,

* ऊर्क् सामर्थ्यं इति माधवः ।

भा. तेषां विज्ञानमेव न प्रयोजनं, अतः प्रशंसा गम्यते। अविदितवादे न श्रद्दधीरन्! पूर्ववचनादिव। विदितत्वादेव च प्ररोचयन्ते; वैदिकेषु पुनर्यदि विधिशब्देन न प्ररोचयन्ते, न—तरामर्थवादेन! जाताशंको हि विधिशब्दे स तदानीं। अथ विधिशब्देन प्ररोचितः, किं अर्थवादशब्देन?। अपि च वेदे धक्रमसंवादः,—'ऊर्जोऽवरुद्ध्यै' इति अप्रसिद्धं वचनं, 'ऊर्ग्वा उदुम्बरः'—इति हेतुत्वं चाप्रसिद्धं,—यस्मात् ऊर्गुदुम्बरः, तस्मात् तन्मयो यूपः कर्त्तव्य इति; 'ऊर्गुदुम्बरः'—इति—अनृतवचनात् 'अन्यदप्यानृतं'—इति परिकल्प्येत!॥ (आ० नि०) ॥

सू. उक्तन्तु वाक्यशेषत्वं ॥ २२ ॥ (सि०)

भा. उक्तं (४२।१८) अस्माभिर्वाक्यशेषत्वं,—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्—इति। 'ननूक्तं (५०।१०) फलवचनं इह गम्यते, न स्तुतिः' इति। यत् इह फलवचनं, तत् औदुंबरस्य यूपस्य, न च, अविहित औदुंबरो यूपोऽस्ति। तत्र फलवचनमेवानर्थकं। 'स्तुतिवचनः शब्दो नास्ति' इति चेत्। इह फलवचने फलवत्ता प्रतीयते, फलवांश्च प्रशस्त इति, तत्र फलवत्तायामानर्थक्यमिति यो द्वितीयोऽर्थः, प्रशंसा नाम स गम्यते। लक्षणेति चेत्। न, लक्षणायामपि अर्थवत्ता भवत्येव लक्षणाऽपि हि लौकिकी। 'ननूक्तं (५१।६) असंवादो वेदे, न ह्यूर्गुदुंबर इति'। गुणवादेन प्ररोचनार्थतां ब्रूमहे,—गौणत्वात्संवादः। किं?। सादृश्यं,—यथाऽन्नं प्रीतेः साधनं, एवमिदमपि प्रीतिसाधनशक्तियुक्तं

भा. प्रशंसितुं प्रशंसावाचिना *शब्देन उच्यते, शक्यते हि तत् पक्वफलसंबन्धादूर्गिति वक्तुं॥ (सि०)॥

* अत्र 'प्रीतिसाधन'—इति अधिक पा० सो० ॥

सू विधिस्त्वानर्थकः क्वचित्, तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्-सामान्यादितरेषु तथात्वं ॥ २३ ॥ (सि॰ युक्ति॰ १ ॥)

भा 'अग्नयोनिर्वा अश्वो अप्सुजो वेतस'—इति, अग्नयोनिरश्व कर्त्तव्य —इति—विधेरशक्यत्वादानर्थक्यं तत्रावश्यं स्तुति कल्पयितव्या,—शमयित्रीभिरद्भिरश्वस्य अवकाना च सम्बन्धो यजमानस्य कष्टं शमयतीति। 'तत्सामान्यादितरेषु तथात्वं,' तथेति यावत, तावत् तथात्वमिति। किं तत् सामान्यं?। विध्यसम्भवं स्तुतिसम्भवश्च ॥ (सि॰ यु॰ १) ॥

सू प्रकरणे सम्भवन् अपकर्षो न कल्प्येत, विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥ २४ ॥ (सि॰ यु॰ २)

भा इतश्च पश्याम स्तुतिरिति। कुत?। इद समामनन्ति,—'यो विदग्ध, स नैर्ऋत, योऽशृत, स रौद्र, य शृत, स दैवत, तस्मादविदहता श्रपयितव्य, स दैवतत्वाय'—इति, यदि स्तुति, दर्शपूर्णमासयोरेव शृत एतावियते। तथा सम्भवन् अपकर्षो न कल्प्येत, (अपकृष्यते इत्यपकर्ष)। विधिपक्षे तु यत नैर्ऋत, तत्र विदग्धता नीयेत' तथा सति प्रकरण बाधितं भवेत्। दर्शपूर्णमासकर्म प्रति नैर्ऋताभावात विदग्धविधान अनर्थक स्यात, तस्मात् स्तुतिरेव॥ (सि॰ यु॰२) ॥

सू •विधौ च वाक्यभेद स्यात् ॥ २५ ॥ (सि॰ यु॰ ३)

भा 'औदुम्बरो यूपो भवति'—इति—'विधावतस्मिन्नाम्नीयमाणे

भा 'ऊर्गाऽवरुद्ध्यै'—इत्येतस्मिश्च वाक्यं भिद्येत'। इत्थं औदुम्बरो यूप प्रशस्त म योर्गाऽवरुद्ध्यै—इति। तस्मात् विधिवन्निगदानामपि स्तुतिरेव कार्य्यमर्थवादता—इति॥ (सि॰ यु॰ ३)॥

• (इति विधिवन्निगदाधिकरणं। १ अ॰। २ पा॰। २ अ॰) ॥

अथ हेतुवन्निगदाधिकरणं ॥

सू. हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्यां ॥ २६ ॥ (पू०)

भा. अथ ये हेतुवन्निगदाः—'सूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते'—इत्येवमादयः; तेषु सन्देहः,—किं स्तुतिस्तेषां कार्यं, उत हेतुः?—इति। किं प्राप्तं?—हेतुः स्यादन्नकरणं होमस्य। ननु 'अप्रसिद्धे कार्यकारणभावे न हेतूपदेशः'। सत्यमेवं लोके, विधायिष्यते तु वचनेन वेदे,—सूर्पेण होमे कर्त्तव्ये अन्नकरणं हेतुरित्युपदिश्यते। किं प्रयोजनं?। अन्यदपि दर्विपिठरादि अन्नकरणं यत्, तेनापि नाम कथं होमः क्रियेत?—इति। कुतः?। तस्याप्यन्नक्रियायामर्थवत्ता, शक्यते च तेनाप्यन्नं कर्त्तुं, एतद्धि 'क्रियते' (५३। ४)—इत्युच्यते। न हि, वर्त्तमानकालः कश्चिदस्ति? यस्यायं प्रतिनिर्द्देशः। हेतौ च श्रुतिः शब्दः, स्तुतौ लक्षणा। यदि च, 'दर्विपिठरादि न साक्षादन्नं करोतीति नान्नकरणं—इत्युच्यते'। अर्थे तस्मिन् सूर्पस्तुतिरनर्थिका स्यात्? सूर्पमपि हि न साक्षादन्नं करोतीति तेन विनाऽर्थेन सूर्पस्य स्तुतिर्नोपपद्यते ॥ (पू०) ॥

सू. स्तुतिस्तु, शब्दपूर्व्वत्वात्, अचोदना च तस्य ॥ २७ ॥ (सि०)

भा. न तु एतदस्ति, शब्दपूर्वकोऽयमर्थः,—अन्नकरणं हेतुः—इति, शब्दश्च 'अन्नकरणं सूर्पहोमे हेतुः'—इत्याह, न च दर्विपिठरहोमे; तेन शब्दपूर्वं सूर्पं, न च दर्विपिठरादेश्चोदना ॥ (सि०) ॥

सू. व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत्* ॥ २८ ॥ (सि० आ०)

भा. इति पुनर्यदुक्तं, (५३। १४) तत् परिहर्त्तव्यं ॥ (सि० आ०) ॥

* का० सं० पुस्तके नेदं सूत्रं सूत्रतया उद्धृतं, किन्तु भाष्यरूपेणैव

सू॰ अर्थस्तु, विधिशेषत्वात्, यथा लोके ॥ २९ ॥ (आ॰ नि॰)

भा॰ अस्मत्पक्षेऽर्थोऽस्ति, वाक्यशेषो हि स विधेस्तदा भवति। संवादश्च स्तुतिवचनत्वेन,—यथा वयं शूर्पेण अन्नं क्रियमाणं जानीमः, तथा शूर्पेणान्नं क्रियते—इत्येव गम्यते; तदा च अवर्तमानं स्तोतुं वर्तमानमित्युपदिशति। त्वत्पक्षे एष दोषः, यस्य ते हेतुविधिः; विधौ हि न परः शब्दार्थः प्रतीयते; न च, वर्तमानं उपदिशन् वेदः अन्यमर्थं विदध्यात्॥ अस्मत्पक्षे तु एष परशब्दः परत्र वर्तते; यथा लोके, बलवान् देवदत्तो यज्ञदत्तादीन् प्रसहते—इति प्रशस्तबलोऽपि बलवच्छब्दो वर्तमानो न सिंहं शार्दूलं वा अपेक्ष्य प्रयुज्यते; ये देवदत्तात्तु निकृष्टबलाः, तान् अपेक्ष्य भवति। एवं, 'तेन ह्यन्नं क्रियते'—इति प्रशस्तान्नकरणेन संस्तवः शूर्पस्य, निकृष्टानि अन्यानि अन्नकरणानि अपेक्ष्य भविष्यति॥ (आ॰ नि॰)॥

सू॰ यदि च हेतुः, अवतिष्ठेत निर्देशात्, सामान्यादिति चेत्, अव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥ ३० ॥ (सि॰ यु॰)

भा॰ यद्यपि च भवेदन्नकरणं हेतुः दर्विपिठरप्रकाराणां, तथापि शूर्पं एवावतिष्ठेत, शब्दात् 'अन्नकरणं हेतुः'—इति विज्ञायते, शब्दश्च शूर्पस्याह, न दर्विपिठरादीनां; तद्धि निर्दिश्यते,—यस्मात् शूर्पेणान्नं क्रियते, तस्मात् शूर्पेण जुहोति—इति। यथा, यस्मात् बलवदुपध्मातोऽग्निः, तेन मे गृहं दग्धमिति, न, 'अनग्निरपि बलवदुपध्मातो दहति'—इति गम्यते। अथ 'मतं,—येन येन अन्नं क्रियते प्रणाड्या, शूर्पादन्येनापि तेन तेनापि होमः क्रियते' इति। 'अव्यवस्था विधीनां स्यात्,' न केनचित्। प्रणाड्याऽन्नं क्रियते, तत्र यावदुक्तं स्यात्, जुहोति—इति तावदेवान्नकरणेन जुहोति—इति। अस्मत्पक्षे पुनः शूर्पं

भा. स्तूयते ; 'तेन ह्यन्नं क्रियते'—इति वृत्तान्तान्वाख्यानं न च वृत्तान्तज्ञापनाय, किं तर्हि प्ररोचनायैव। तस्माद्धेतुवन्निगदस्यापि स्तुतिरेव कार्य्यं इति ॥ (सि॰ यु॰) ॥ . (इति हेतुवन्निगदाधिकरणं। १ अ॰। २ पा॰। ३ अ॰) ॥

---

अथ मन्त्रलिङ्गाधिकरणम्।

सू. तदर्थशास्त्रात् ॥ ३१ ॥ (पू॰ १)

भा. अथ इदानीं, किं विवक्षितवचना मन्त्राः, उताविवक्षितवचनाः? (१)। किमर्थप्रकाशनेन यागस्य उपकुर्वन्ति, उत उच्चारणमात्रेण? (२) इति ;—यद्युच्चारणमात्रेण, तदा न नियोगतो 'बर्हिर्देवसदनन्दामि'—इत्येष बर्हिर्लवने विनियुज्येत।। अभिधानेन चेत्, प्रकरणेन विज्ञाताङ्गभावो नान्यत्रोपकर्त्तुं शक्नोति—इत्यन्तरेणापि वचनं, बर्हिर्लवन एव विनियुज्येत! —इति ॥ तदेवमवगच्छामः,—उच्चारणमात्रेणैवोपकुर्वन्तीति। कुतः?। 'तदर्थशास्त्रात्,' यदभिधानसमर्था मन्त्रः, तत्रैवैनं शास्त्रं निबध्नाति,—'उरुप्रथा उरु प्रथस्व—इति पुरोडाशं प्रथयति' —इति, वचनमिदं अनर्थकं, यदि अर्थाभिधानेनोपकुर्वन्ति; अथोच्चारणमात्रेण, ततो वक्तव्यो विनियोगः, उक्तश्च। अतो नार्थाभिधानेन; यथा, याचः पुरुषः परेण चेद्यीयते, नूनमक्षिभ्यां न पश्यति—इति गम्यते।

'नन्वर्थवादार्थं भविष्यतीति' चेत्। न हि, येन विधीयते, तस्य वाक्यशेषोऽर्थवादः—इत्युक्तं। न च, निरपेक्षेण विहिते अर्थवादेन किञ्चिदपि प्रयोजनं क्रियते!। अतो नार्थवादार्थं वचनं (१)।

तथाऽभ्यादानसमर्था मन्त्राः उदाहरणं। लिङ्गादेव आदाने प्राप्ता वचनेन विधीयन्ते,—'तां चतुर्भिरादत्ते'—इति। 'चतुःसंख्यार्थमिति' चेत्। न, समुच्चयशब्दाभावात् (२)।

भा तथा 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य—इत्यश्वाभिधानीमादत्ते—इत्युदाहरणं,—रशनादाने प्राप्तस्य रशनादाने एव प्राप्त विनियोजकं तत् विवक्षितार्थत्वे न घटेत'—इति।

ननु 'गर्दभरशना परिस्रक्ष्यति'। न शक्नोति परिस्रष्टुं, परिस्रस्थाणो हि स्वार्थं च जह्यात् परार्थंच कल्पेत, प्राप्तं च बाधेत। (३)।

तस्मात् न विवक्षितवचना मन्त्रा, अतो न प्रमाणं, 'बर्हिर्देव सदनं दामि'—इत्यस्य रूप बर्हिर्लवने विनियोगस्य॥ (पू०)॥

## सू वाक्यनियमात्॥ ३२॥ (पू० २)

भा नियतपदक्रमा हि मन्त्रा भवन्ति—'अग्निर्मूर्द्धा दिव'—इति न विपर्ययेण। यद्यर्थप्रत्यायनार्था, विपर्ययेणाप्यर्थं प्रतीयते,—इति नियमोऽनर्थकः स्यात्। अथ उच्चारणविशेषार्था, विपर्यये अन्यदुच्चारण—इति नियम आश्रीयते। तेन यतरस्मिन् पक्षे नियमो ऽर्थवान् स नूनं पक्ष इति। ननु 'अर्थवत्स्वपि नियमो दृश्यते—यथा, 'इन्द्राग्नी'—इति'। युक्तं तत्र तत् विपर्ययेऽर्थ प्रत्ययाभावात्॥ (पू० २)॥

## सू बुद्धशास्त्रात्॥ ३३॥ (पू० ३)

भा बुद्धे खल्वपि पाठादर्थे तदभिधानसमर्थो मन्त्रो भवति 'अग्नीद् अग्नीन् विहर' इति। स बुद्धे किं बोधयेत्?। अथ नु उच्चारणविशेषार्थो, बुद्धेऽप्युच्चारणविशेषोऽवकल्प्यतेति। ननु 'पुनःसेवनात् संस्कारविशेषो भविष्यति'। एवं, 'अप्रत्यक्षमेवाग्नि तोऽसि' वचनमुच्चारणं तद्धि शक्यते कर्तुं नार्थप्रत्यायनं, तत् प्रतीतेऽप्यर्थे यथा, सोपानत्के पादे द्वितीयामुपानहमप्रयच्छन्स्वाप्नोपादत्ते॥ (पू० ३)॥

सू. **अविद्यमानवचनात् ॥ ३४ ॥ (पू० ४)**

भा. यज्ञे साधनभूतः प्रकाशयितव्यः, न च, तादृशोऽर्थोऽस्ति। यादृशमभिदधति*, यथा 'चत्वारि शृङ्गा'—इति। न हि, चतुःशृङ्गं त्रिपादं द्विशिरस्कं सप्तहस्तं किञ्चित् यज्ञसाधनमस्ति।। तद्वाभिधानार्थः किमभिदध्यात्?। उच्चारणार्थे त्ववकल्प्यते। तथा 'मा मा हिंसीः'—इत्यसत्यामपि हिंसायां किमभिदध्यात्?॥ (पू० ४)॥

सू. **अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥ ३५ ॥ (पू० ५)**

भा. अचेतनेऽर्थे खल्वर्थं निबध्नन्ति,—'ओषधे त्रायस्वैनं'—इति, अभिधानेनोपकुर्वन्त एवंजातीयका ओषधिं पशुत्राणाय प्रतिपादयेयुः, न च, असावचेतना शक्या प्रतिपादयितुं।। उच्चारणार्थे तु नैष दोषो भवति। तस्मात् उच्चारणार्थाः। 'शृणोत ग्रावाणः' इति च उदाहरणं॥ (पू० ५)॥

सू **अर्थविप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥ (पू० ६)**

भा. अर्थविप्रतिषेधोऽपि भवति,—'अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं'—इति, सैव द्यौः, तदेवान्तरिक्षं—इति को जातुचिदवधारयेत्?। अनवधारयंश्च किमभिधानेनोपकुर्यात्?। उच्चारणमात्रे तु नैष विरोधो भवति। तस्मात् उच्चारणार्था मन्त्राः। 'एको रुद्रः, न द्वितीयोऽवतस्थे, असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां'—इति चोदाहरणं॥ (पू० ६)॥

---

* 'अभिवदन्ति केचित् मन्त्राः' इति का० स० 'अभिवदन्त्येते मन्त्रा इति' इति च क्वचित् पाठः।

सू स्वाध्यायवदवचनात् ॥ ३७ ॥ (पू० ७)

भा स्वाध्यायकाले पूलिकाम्बहन्ति करोति, माणवकोऽग्वहन्तिमध मधीते, नासौ तेन मन्त्रेण तदभिधानमभ्यस्यति, अक्षरानुपूर्व्या अवधारणे एव यतते, येन च नाम प्रयोजनं, तदभ्यसितव्य, अत उच्चारणाभ्यासात् उच्चारणेन प्रयोजन इत्यवगच्छाम' ॥ (पू० ७) ॥

सू अविज्ञेयात् ॥ ३८ ॥ (पू० ८)

भा अपि च केषाञ्चिन्मन्त्राणा अशक्य एवार्थो वेदितु यथा, 'अम्यक सात इन्द्र ऋष्टिरस्मे' इति, 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू' इति, 'इन्द्र सोमस्य काणुका' इति च, एते कि मत्याययेयु ?। उच्चारणार्थे तु न दोष । तस्मात उच्चारणार्था मन्त्रा इति ॥ (पू० ८) ॥

सू अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यं ॥ ३९ ॥ (पू० ५)

भा अनित्यसंयोग खल्वपि भवेत् मन्त्रेष्वभिधानार्थेषु, यथा, 'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गाव'—इति कीकटा नाम जनपदा (१)। 'नैचाशाख नाम नगरं प्रमङ्गदो राजा—इति, यद्यभिधानार्था, माक प्रमङ्गदात् नायं मन्त्रोऽनुभूतपूर्व इति (२) गम्यते। मदेतैस्तदर्थमागादिभि कारणैर्मन्त्राणा अविवक्षितवचनता ॥ (पू० ५) ॥

सू अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ ४० ॥ (सि०)

भा अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थं स यथैव लोके विवक्षित, तथैव वेदेऽपि भवितुमर्हति ॥ 'नैवं, लोके मेदर्दर्शनबुद्धे संव्यवहार, इह देवताभिरमत्यर्थाभि

भा. यज्ञाङ्गैश्चाचेतनैः संलापे न कश्चित् यज्ञस्योपकारः। यद्दृष्टं परिकल्प्येत, उच्चारणादेव तद्भवितुमर्हति। यद्धि कर्त्तव्यं, तत् प्रयोजनवत्, उच्चारणं च न कथञ्चित् न कर्त्तव्यं, यद्यपूर्वाय। यद्यर्थाय, यद्यर्था न प्रत्याय्यते, न किञ्चित् अनर्थकं, यदि न प्रयुज्यते, समाम्नानानर्थक्यं। तस्मात् उच्चारणादपूर्वं, तथा च तदर्थशास्त्रादि (पू०) उक्तं। तदुच्यते,—अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे प्रयोच्चारणं। यदुक्तं—'न देवताभिर्यज्ञाङ्गैश्च संलापे प्रयोजनमस्ति'—इति, यज्ञे यज्ञाङ्गप्रकाशनमेव प्रयोजनं। कथं?। न हि, अप्रकाशिते यज्ञे यज्ञाङ्गे च यागः शक्योऽभिनिर्वर्त्तयितुं।। तस्मात्तन्निर्देश्यर्थमर्थप्रकाशनं महानुपकारः कर्मणः, तच्च करोतीत्यवगम्यते। तस्मादस्त्यस्य प्रयोजनं। तच्च दृष्टं न शक्यमपवदितुं,—'न अर्थाभिधानं प्रयोजनं'—इति। ननु 'अर्थाभिधानेनोपकुर्वन्तु 'तां चतुर्भिरादत्ते'—इत्येवमादि अनर्थकं भवति'। काममनर्थकं भवतु, न जातुचित् अपजानीमहे दृष्टं अर्थाभिधानस्योपकारकत्वं॥ (सि०)॥

अथ किं तच्छास्त्रं अनर्थकमेव?। न हि,

सू. गुणार्थेन पुनः श्रुतिः॥ ४१॥ (उ० १)

भा. यदुक्तं (५९।४) 'तां चतुर्भिरादत्ते'—इति समुच्चयशब्दाभावात् न समुच्चयार्थं' इति। 'चतुःसंख्याविशिष्टमादानं कर्त्तव्यं'—इति वाक्यादवगम्यते, तदेकेन मन्त्रेण गृह्णन् न यथाश्रुतं गृह्णीयादिति॥ (उ० १)॥

सू. परिसंख्या॥ ४२॥ (उ० २)

भा. 'परिसङ्ख्याणे च 'इमामगृभ्णन्नित्यश्वाभिधानीमादत्ते' इति पयो दोषाः (५९।४) प्रादुःष्युः'—इति। नैवं संबन्धः,—इत्यादत्ते—इति। कथं तर्हि?। 'इत्यश्वाभिधानीं'—इति।

भा लिङ्गाद्ग्रहणाभावे, शब्दात्तु विशेषे अश्वाभिधान्यां इति, सति च वाक्ये लिङ्गं विनियोजकं तचास्य प्रकरणाम्नानानुमितं वाक्यं नास्ति। कुतस्तत्? । एतेन मन्त्रेणादानं कुर्य्यादिति, (यस्मिन् सति ग्रहणमात्रे लिङ्गात् प्राप्नोति)। अश्वाभिधान्यान्तु प्रत्यक्षमेव वचनं, अस्मिन् सति तत् आनुमानिकं नास्ति। तेन गर्दभरशनाया न प्राप्तिरेवेति ॥ (उ० २) ॥

सू　　　अर्थवादो वा ॥ ४३ ॥ (उ० ३)

भा 'उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति'—इति अर्थवादार्थेन पुनः श्रुतिः,—यज्ञपतिमेव तत् प्रथयति—इति। ननु 'नायं मन्त्रस्य वाक्यशेषः, न च मानस्य स्तुत्या प्रयोजनं। सत्यं, नायं मन्त्रस्य विधिः, न संस्तवः, प्रथनमेव तत्र स्तूयते। अत्र पुनः रूपादेव प्राप्तं इहानूद्यते प्रथनं स्तोतुं,—इत्थं प्रथनं प्रशस्तं, यत् क्रियमाणं एवंरूपेण मन्त्रेण क्रियते। कस्तदा भवति गुणः?। यज्ञपतिमेव तत् प्रजया पशुभिः प्रथयति। किमेतदेवास्य फलं भवति?। नेति ब्रूमः, स्तुतिः कथं भविष्यति? —इति एवमुच्यते। कथमसति प्रथने प्रथयतीति शब्दः?। मन्त्राभिधानात्—मन्त्रेण पुरोडाशं अध्वर्युः प्रथस्वेति ब्रूते, यद्येव प्रथस्वेति ब्रूते, स प्रथयति, यथा यः कुर्विति ब्रूते, स कारयति॥ (उ० ३) ॥

सू　　　अविरुद्धं परं ॥ ४४ । (उ० ४)

भा　यदुक्तं—(२ पू०)—'यदनियमवत्त्वार्थवत्त्वादविवक्षितार्था मन्त्रा इति। काममनर्थको नियमः, न दृष्टमप्रामाण्यं'। 'नियतोच्चारणमदृष्टाय—इति चेत् अविरुद्धाऽदृष्टकल्पना अप्रत्यक्षेऽपि एवं प्रत्याय्यमानमभ्युदयकारि भवति—इति॥ (उ० ४) ॥

सू. संप्रैषे कर्मगर्हानुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥ ४५ ॥ (उ० ५) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—(२ पू०)—'प्रोक्षणीरासादयेति—वृद्धबोधनमशक्यं, अत उच्चारणादृष्टं'—इति। तत्र, कर्त्तव्यं—इत्यपि विज्ञाते अनुष्ठानकाले स्मृत्या प्रयोजनं, उपायान्तरेणापि सा प्राप्नोति,—अतोऽनेनोपायेन कर्त्तव्येति—नियमार्थमाम्नानं, संस्कारत्वात् ॥ (उ० ५) ॥

सू. अभिधानेऽर्थवादः ॥ ४६ ॥ (उ० ६)

भा. 'चत्वारि शृङ्गा' (४ पू०) इत्यसदभिधाने गौणः शब्दः, गौणीकल्पनाप्रमाणवत्त्वात्; उच्चारणादृष्टमप्रमाणं। चतस्रो होत्राः शृङ्गाणीवाऽस्य। 'त्रयोऽस्य पादाः'—इति सवनाभिप्रायं। 'द्वे शीर्षे'—इति पत्नीयजमानौ। 'सप्त हस्तास' इति छन्दांसि अभिप्रेत्य। 'त्रिधा बद्धः' इति त्रिभिर्वेदैर्बद्धः। 'वृषभः कामान् वर्षतीति रोरवीति शब्दकर्मा महो देवो मर्त्यान् आविवेश'—इति मनुष्याधिकाराभिप्रायं। तत् यथा, 'चक्रवाकस्तनी हंसदन्तावली काशवस्त्रा शैवालकेशी नदी'—इति नद्याः स्तुतिः।

यज्ञसम्बद्धये साधनानां चेतनसादृश्यं उपपादयितुकाम आमन्त्रणशब्देन लक्षयति,—'ओषधे! त्रायस्वैनं'—इति (५ पू०) 'शृणोत ग्रावाणः' इति, अतः परं प्रातरनुवाकानुवचनं भविष्यति, यत्राचेतनाः सन्तो ग्रावाणोऽपि शृणुयुः, किं पुनर्विद्वांसोऽपि ब्राह्मणाः—इति, इत्थं च अचेतना अपि ग्रावाण आमन्त्र्यन्ते ॥ (उ० ६) ॥

सू. गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ॥ ४७ ॥ (उ० ७)

भा. 'अदितिर्द्यौः'—इति (६ पू०) गौण एषः शब्दः, अतो

भा विप्रतिषेध। यथा त्वमेव माता, त्वमेव पितेति, तथैकरुद्रदैवत्ये एको रुद्र, शतरुद्रदैवत्ये शतं रुद्रा इति अविरोध ॥ (उ० ७) ॥

सू विद्यावचनमसंयोगात् ॥ ४८ ॥ (उ० ८)

भा यत्तु (पू० ७)—'अकर्मकाले*ऽवहन्तिमन्त्रेण माणवको न पूर्णिकाऽवहन्ति प्रकाशयितुमिच्छति'—इति। अयज्ञसंयोगात्, न यज्ञोपकारायैतत् प्रकाशयितुमिच्छति। ननु 'प्रकाशनानभ्यासोऽक्षराभ्यासश्च परिचोदित'। उच्यते,—सौकर्यात् प्रकाशनानभ्यास, दुर्ग्रहत्वाच्चाक्षराभ्यास ॥ (उ० ८) ॥

सू सतः परमविज्ञानम् ॥ ४९ ॥ (उ० ९)

भा विद्यमानोऽप्यर्थं प्रमादालस्यादिभिर्नोपलभ्यते, निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थं कल्पयितव्य, यथा, 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू†—इत्येवमादीनि (८ पृ०) अश्विनोरभिधानानि द्विवचनान्तानि लक्ष्यन्ते। अनेन 'अश्विनौ कामप्रा'—इत्याश्विनं सूक्तमवगम्यते। देवताभिधानानि च भवन्ति, जर्भरीत्येवमादीनि, अवयवप्रसिद्ध्या च लौकिकेनार्थेन विशेष्यन्ते एव सर्वत्र ॥ (उ० ९) ॥

सू उक्तश्चानित्यसंयोगः ॥ ५० ॥ (उ० १०)

भा 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्र (१ अ० । १ पा० । ३१ सू०) इत्यत्र इति ॥ (उ० १०) ॥

---

* 'कर्मकाले' इति क्वचित्।

† 'जर्भरी भर्तारौ इत्यर्थः, तुर्फरीतू हन्तारौ इत्यर्थः' इति ऋग्वेदटीकायां माधवः।

सू. लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् ॥ ५१ ॥ (सि० यु० १)

भा. 'आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते'—इति विधानात, विवक्षितार्थानामेव मन्त्राणां भवति लिङ्गेणोपदेशः, यदि तेऽग्निप्रयोजनाः, ततस्ते आग्नेय्याः, नाग्निशब्दसन्निधानात् ॥ (सि० यु० १) ॥

सू. ऊहः ॥ ५२ ॥ (सि० यु० २)

भा. ऊहदर्शनं च विवक्षितार्थानामेव भवति। किमूहदर्शनं?। 'न पिता वर्द्धते, न माता'- इति; अन्ये वर्द्धन्ते इति गम्यते, मन्यन्ते कौमारयौवनस्थाविरैः* वर्द्धन्ते मात्रादयः, शब्दो न वर्द्धते—इति ब्रूते। का पुनः शब्दस्य वृद्धिः?। यद्विवचन—बहुवचनसंयोगः ॥ (सि० यु० २) ॥

सू विधि-शब्दाश्च ॥ ५३ ॥ (सि० यु० ३)

भा. विधिशब्दाश्च विवक्षितार्थानेव मन्त्राननुवदन्ति,—'शतं हिमाः शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येतदेवाह'—इति ॥ (सि० यु० ३) ॥ इति मन्त्रलिङ्गाधिकरणं। १ अ०। २ पा०। ४ अ० ॥

इति श्रीमदाचार्य्ये—श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्य द्वितीयः पादः ॥ अर्थवादपादोऽयं ॥ * * ॥

---

* 'यौवनावस्थाभिरेव' इति धा० सो०। का० क्री० पु० ॥

## तृतीय पाद ॥

### अथ स्मृतिप्रामाण्याधिकरणं ॥

**सू धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात् ॥ १ ॥ (पू०)**

भा एवन्तावत्कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाण्यमुक्तं, अथ इदानीं यत्र न वैदिकं शब्दं उपलभेमहि, अथ च स्मरन्ति,—एवमयमर्थोऽनुष्ठातव्य, एतस्मै च प्रयोजनाय—इति, किं असौ तथैव स्यात्, न वा? इति। यथा 'अष्टका कर्त्तव्या' 'गुरुरनुगन्तव्य' 'तडागं खनितव्य' 'प्रपा प्रवर्त्तयितव्या' 'शिखाकर्म कर्त्तव्य'—इत्येवमादय ॥ तदुच्यते,—'धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्—इति। शब्दलक्षणो धर्म—इत्युक्तं 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म—इति, अतो निर्मूलत्वान्नापेक्षितव्यमिति। ननु 'ये विदु,—इदं असौ पदार्थ कर्त्तव्य इति, कथमिव ते वदिष्यन्ति—अकर्त्तव्य एवाय—इति?। स्मरणानुपपत्त्या, न हि अननुभूतोऽश्रुतो वाऽर्थः स्मर्यते, न च, अस्यावैदिकस्य लौकिकस्य च स्मरणमुपपद्यते। पूर्वविज्ञानकारणाभावादिति, यो हि बन्ध्या स्मरेत,—इदं मे दौहित्रशतमिति, न मे दुहिताऽस्ति—इति मत्वा, न जातुचिदसौ प्रतीयात्,—सम्यगेतत् ज्ञान—इति। 'एवमपि यथैव पारम्पर्येणाविच्छेदात् 'अयं वेद'—इति प्रमाणमेषा स्मृति, एव इयमपि प्रमाणं भविष्यति'—इति। नैतदेव, प्रत्यक्षेणोपलब्धत्वात्ग्रन्थस्य, नानुपपन्नं पूर्वविज्ञानं, अष्टकादिषु त्वदृष्टार्थेषु पूर्वविज्ञानकारणाभावात् व्यामोहस्मृतिरेव गम्यते, तत् यथा, कश्चित् जात्यन्धो वदेत्,—स्मराम्यहं अस्य रूपविशेषस्य—इति, कुतस्ते पूर्वविज्ञानं?—इति च पर्यनुयुक्तो जात्यन्धमेवाऽपरं विनिर्दिशेत्, तस्य

भा. कुतः? जात्यन्धान्तरात्,—एवं जात्यन्धपरम्परायामपि सत्यां नैव जातुचित्संप्रतीयुर्विद्वांसः सम्यग्दर्शनमेतत्—इति। अतो न आदर्त्तव्यमेवंजातीयकमनपेक्ष्यं स्यादिति॥ (पू०)॥ •

सू. अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्॥ २॥
(सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्त्त्यते। प्रमाणं स्मृतिः, विज्ञानं हि तत्, किमिति अन्यथा भविष्यति? 'पूर्वविज्ञानमस्य नास्ति, कारणाभावात्'—इति चेत्। अस्या एव स्मृतेर्दृढिम्नः कारणं अनुमास्यामहे; तत्तु न अनुभवनं, अनुपपत्तया, न हि, मनुष्या इहैव जन्मनि एवंजातीयकमर्थमनुभवितुं शक्नुवन्ति। जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यते; ग्रन्थस्तु अनुमीयेत, कर्तृसामान्यात् (स्मृतिवैदिकपदार्थयोः)। तेन उपपन्नो वेदसंयोग स्त्रैवर्णिकानां।

ननु 'नोपलभन्ते एवंजातीयकं ग्रन्थं'। अनुपलभमाना अप्यनुमिमीरन्, विस्मरणमप्युपपद्यते—इति, तदुपपन्नत्वात् पूर्वविज्ञानस्य त्रैवर्णिकानां स्मरतां, विस्मरणस्य च उपपन्नत्वात् ग्रन्थानुमानमुपपद्यते—इति प्रमाणं स्मृतिः।

अष्टकालिङ्गाश्च मन्त्रा वेदे दृश्यन्ते,—'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति'—इत्येवमादयः॥ तथा प्रत्युपस्थितनियमानामाचाराणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यं,—गुरोरनुगमात् प्रीतो गुरुः अध्यापयिष्यति, ग्रन्थ' ग्रन्थिभेदिनश्च न्यायान् परितुष्टो वक्ष्यति—इति; तथा च दर्शयति,—'तस्मात् श्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति'—इति। प्रपास्तडागानि च परोपकाराय, न धर्माय,—इत्येवावगम्यते। तथा च दर्शनं,—'धन्वन्निव प्रपा

* 'ग्रन्थं' इति का० सं पुरातनपुस्तके।

भा. असि'—इति, तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति'—इति च। गोत्रचिह्नं शिखाकर्म, दर्शनञ्च,—'यत्र बाणाः सम्पतन्ति'*—इति। तेन ये दृष्टार्थाः, ते तत एव प्रमाणं, ये त्वदृष्टार्थाः, तेषु वैदिकशब्दानुमानमिति॥ (इति स्मृतिप्रामाण्याधिकरणं।१।३।१।)॥

---

अथ श्रुतिप्राबल्याधिकरणम्।

सू. विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात्, असति ह्यनुमानं॥ ३॥

भा. अथ यत्र श्रुतिविरोधः, तत्र कथं?। यथा, औदुंबर्याः सर्ववेष्टनं 'औदुंबरी स्पृष्ट्वोद्गायेत्'—इति श्रुत्या विरुद्धं (१)। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणं 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत'—इत्यनेन विरुद्धं (२)। क्रीतराजको भोज्यान्नः—इति 'तस्मात् अग्नीषोमीये संस्थिते यजमानस्य गृहेऽशितव्यं'—इत्यनेन विरुद्धं (३)। तत् प्रमाणं, कर्तृसामान्यात्,—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—अशक्यत्वाद्व्यामोहः,—इत्यवगम्यते। कथमशक्यता?। स्पर्शविधानात् न सर्वा शक्या वेष्टयितुं, उद्गायता स्प्रष्टव्य। तामुद्गायता स्प्रष्टव्यामवगच्छन्तः केनेमं संप्रत्ययं बाधेमहि सर्ववेष्टनस्मरणेन?—इति ब्रूमः।

ननु 'निर्मूलत्वाद्व्यामोहः तत् स्मरणं—इति वैदिकं वचनं मूलं भविष्यति'—इति। भवेद्वैदिकं वचनं मूलं, यदि स्पर्शनं व्यामोहः; अव्यामोहे त्वशक्यत्वात् अनुपपन्नं। यथा, अनुभवनं अनुपपन्नं—इति न कल्प्यते, तथा वैदिकमपि वचनं। कथं तर्हि सर्ववेष्टनस्मरणं?। व्यामोहः। कथं व्यामोहकल्पना?। श्रौतविज्ञानविरोधात्। अथ 'किमर्थं' नेमौ विधी विकल्प्येते

---

* अत्र 'कुमारा विशिखा इव' इति अधिक का० स० पु० पु०।

भा. ते व्रीहियववत् दृष्टद्वयान्तरवद्वा ?'। नास्ति व्यामोहविज्ञाने विकल्पो भवति,—यदि सर्ववेष्टनविज्ञानं प्रमाणं, स्पर्शनं व्यामोहः, यदि स्पर्शनं प्रमाणं, स्मृतिर्व्यामोहः। विकल्पन्तु वदन् स्पर्शनस्य पक्षे तावत्प्रमाण्यमनुमन्यते, तस्य च मूलं श्रुतिः, सा चेत्प्रमाणमनुमता, न पाक्षिकी। पाक्षिकं च सर्ववेष्टनस्मरणं पक्षे तावन्न शक्नोति श्रुतिं परिकल्पयितुं, स्पर्शविज्ञानेन बाधितत्वात्। ततश्च अव्यामोहे च तस्मिन्न शक्या श्रुतिः कल्पयितुं। न चाऽस्यावव्यामोहः पक्षे, पक्षे व्यामोहो भविष्यति—इति, यदेव हि तस्यैकस्मिन् पक्षे मूलं, तदेवेतरस्मिन्नपि, एकस्मिंश्चेत्पक्षे न व्यामोहः, श्रुतिप्रामाण्यतुल्यत्वादितरत्राप्यव्यामोहः; न च, असावेकस्मिन् पक्षे श्रुतिनिबद्धाक्षरा हि सा 'न प्रमादपाठः' —इति शक्या गदितुं।। तेन, न एतत्पक्षे विज्ञानं व्यामोहात् पक्षान्तरं संक्रामं—इत्यवगम्यते। तत्र दुःश्रुतस्वप्नादिविज्ञानमूलत्वं तु सर्ववेष्टनस्य—इति विरोधात् कल्प्यते; न हि, तस्य सति विरोधे प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यं—इति किञ्चिदस्ति प्रमाणं।। तस्मात् यथैवैकस्मिन् पक्षे न शक्या श्रुतिः कल्पयितुं, एवं अपरस्मिन्पक्षे, तुल्यकारणत्वात्।

अपि चेतरेतराश्रयेऽन्यतःपरिच्छेदात्। केयमितरेतराश्रयता ?। प्रमाणायां स्मृतौ स्पर्शनं व्यामोहः, स्पर्शने प्रमाणे स्मृतिर्व्यामोहः, तदेतदितरेतराश्रयं भवति। तत्र स्पर्शनस्य क्लृप्तं मूलं, कल्प्यं स्मृतेः, सोऽसावन्यतःपरिच्छेदः, कल्प्यमूलत्वात् स्मृतिप्रामाण्यमनवक्लृप्तं; तदप्रामाण्यात् स्पर्शनं न व्यामोहः, तदव्यामोहात् स्मार्त्तश्रुतिकल्पनाऽनुपपन्ना प्रमाणाभावात्। ननु 'एवं सति व्रीहिसाधनत्वविज्ञानस्यापि अव्यामोहात् यवश्रुतिर्नोपपद्येत!'। सत्यं नोपपद्यते, यद्यप्रत्यक्षा स्यात्, प्रत्यक्षा त्वेषा, न हि, प्रत्यक्षमनुपपन्नं नामास्ति' द्वयोस्तु भावात्, द्वे ह्येते वाक्ये, तत्रैकेन केवलयवसाधनता

भा एकेन केवलव्रीहिसाधनता। न च, वाक्येनावगतोऽर्थोऽपह्नूयते॥ तस्मात् व्रीहियवयोरुपपन्नो विकल्पः, दृष्टद्रव्यन्तरयोश्च। तस्मात् उक्तं श्रुतिविरुद्धा स्मृतिरप्रमाणं—इति। अतश्च सर्ववेष्टनादि नादरणीयं॥ (इति श्रुतिप्राबल्याधिकरणं। १ अ०। ३ पा०। २ अ०)॥

---

अथ दृष्टमूलकस्मृत्यप्रमाण्याधिकरणं॥

सू हेतु-दर्शनाच्च॥ ४॥

भा लोभाद्वास आदित्समाना औदुंबरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः केचित्, तत् स्मृतेर्बीजं (१)। बुभुक्षमाणाः केचित क्रीतराजकस्य भोजनमाचरितवन्त' (२)। अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः (३)। तत एषा स्मृतिः —इत्यवगम्यते।

अधिकरणान्तरं वा, 'वैसर्जनहोमीयं वासोऽध्वर्युर्गृह्णाति'— इति, 'यूपहस्तिनो दानमाचरन्ति'—इति, तत कर्तृसामान्यात प्रमाणं—इति प्राप्तेऽप्रमाणं स्मृति', अथान्यन्मूलं,—लोभादाचरितवन्तः केचित्, तत एषा स्मृतिः। उपपन्नतरश्चैतत् वैदिकवचनकल्पनात्॥ (इति दृष्टमूलकस्मृत्यप्रामाण्याधिकरणं। १। ३। ३।)॥

---

अथ पदार्थप्राबल्याधिकरणम्।

सू शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्॥ ५॥ (पूर्वपक्षे पू०)

भा 'आचामेन कर्त्तव्यं' 'यज्ञोपवीतिना कर्त्तव्यं' 'दक्षिणाचारेण कर्त्तव्यं'—इत्येवंलक्षणानि उदाहरणानि। किमेतानि श्रुति विरुद्धानि न कर्त्तव्यानि, उताविरुद्धानि कार्याणि?—इति।

भा. इति चेत् पर्य्यास,—तैरप्यनुष्ठीयमानैर्वैदिकं किञ्चिन्न कुप्यति; तस्मात् अविरुद्धानि—इति ॥ (पू० । पू०) ॥

सू न, शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥ ६ ॥ (पू०)

भा. नैतदेवं, शास्त्रपरिच्छिन्नं हि क्रमं बाधेरन्। कथं?। 'वेदं कृत्वा वेदिं कुर्वीत'—इतीमां श्रुतिमुपरुन्धरात्! अन्तरा वेदं* वेदिं च, अनुष्ठीयमानमाचमनादि। दक्षिणेन चैकहस्तेनानुष्ठीयमानेषु पदार्थेषु कदाचित् प्रधानं स्वकालं अतिक्रामेत्, उभाभ्यां हस्ताभ्यां अनुतिष्ठन् प्रधानकालं संभावयिष्यति ॥ (पू०) ॥

सू अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥ ७ ॥ (सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षव्यावृत्तिः। अगृह्यमाणकारणा एवंजातीयकाः प्रमाणं। ननु 'क्रमकालौ विरुद्धन्ति'। विरुद्धन्तु, नैष दोषः,—आचमनं पदार्थः, पदार्थानां च गुणः क्रमः, न च, गुणानुरोधेन पदार्थो न कर्त्तव्यो भवति'। अपि च प्राप्तानां पदार्थाना उत्तरकालं क्रम आपतति, यदा पदार्थः प्राप्नोति, तदा क्रम एव नास्ति, केन सह विरोधो भविष्यति?—इति। तथा यदि दक्षिणेन नाचर्यते, कालो मा विरोधीत्—इति, तत्र कालानुरोधेन पदार्थो नाऽन्यथात्वमभ्युपगच्छेत्। प्रयोगाङ्गं हि कालः पदार्थानामुपकारकः, अतो न कालानुरोधेन व्ययितव्यः पदार्थः। अपि च शौचं दक्षिणाचारता यज्ञोपवीतित्वं च—एवंजातीयका अर्थाः व्यवधातारो न भवन्ति, सर्वपदार्थानां

---

* 'वेदो नाम दर्भमयः संमार्जनसाधन, वेदिराहवनीयगार्हपत्यमध्यवर्त्तिनी चतुरङ्गुलखाता भूमिरिति माधवः ।

भा. शेषभूतत्वात्। तस्मात् आचमनादीनां प्रामाण्यम्॥ (इति पदार्थप्राबल्याधिकरणं। १। ३। ४।)॥

---

शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणम्।

सू. तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्॥ ८॥ (पू०)

भा. 'यवमयश्चरुः' 'वाराही उपानहौ' 'वेतसे कटे प्राजापत्यान् सचिनोति'—इति यववराहवेतसशब्दान् समामनन्ति। तत्र केचिद्दीर्घशूकेषु यवशब्दं प्रयुञ्जते, केचित् प्रियङ्गुषु, वराहशब्दं केचित् शूकरे, केचित् कृष्णशकुनौ; वेतसशब्दं केचित् वञ्जुलके, केचित् जम्ब्वा, तदोभयथा पदार्थावगमाद्विकल्पः॥ (पू०)॥

सू. शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्॥ ९॥ (सि०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। यवशब्दो यदि दीर्घशूकेषु, सादृश्यात् प्रियङ्गुषु भविष्यति, यदि प्रियङ्गुषु, सादृश्यात् यवेषु। किं सादृश्यं?। पूर्वसस्ये क्षीणे भवन्ति दीर्घशूकाः प्रियङ्गवश्च, एतत् तयोः सादृश्यं। कः पुनरत्र निश्चयः?। यः शास्त्रस्थानां, स शब्दार्थः। के शास्त्रस्थाः?। शिष्टाः, तेषामविच्छिन्ना स्मृतिः शब्देषु वेदेषु च; तेन शिष्टा निमित्तं श्रुतिस्मृत्यवधारणे। ते चैवं समामनन्ति,—यवमयेषु करम्भपात्रेषु विहितेषु वाक्यशेषं,—'यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते, अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति'—इति, दीर्घशूकान् यवान् दर्शयति वेदः। वेदे दर्शनात् अविच्छिन्नपारम्पर्यो दीर्घशूकेषु यवशब्दः—इति गम्यते। तस्मात् प्रियङ्गुषु गौणः, तस्मात् दीर्घशूकानां पुरोडाशः कर्त्तव्य। 'तस्माद्वराहं गावोऽनुधावन्ति'—इति शूकरे वराहशब्दं दर्शयति, 'अप्सुजो वेतसः'—इति वञ्जुले वेतसशब्दं।

भा. सूकरं हि गावोऽनुधावन्ति, वञ्जुलोऽस्तु जायते, जम्बूरुचः स्थले गिरिनदीषु वा॥ (इति शास्त्रप्रसिद्धपदार्थप्रामाण्याधिकरणं। १।३।५)॥

---

अथ म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं॥

सू. चोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन ॥ १० ॥

भा. अथ यान् शब्दान् आर्या न कस्मिंश्चिदर्थे आचरन्ति, म्लेच्छास्तु कस्मिंश्चित् प्रयुञ्जन्ते, यथा पिक-नेम-सत-तामरसादिशब्दाः, तेषु सन्देहः,—किं निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः, उत यत्र म्लेच्छा आचरन्ति, स शब्दार्थः?—इति॥ शिष्टाचारस्य प्रामाण्यं उक्तं, नाशिष्टस्मृतेः; तस्मान्निगमादिवशेनार्थकल्पना, निगमादीनां चैवं अर्थवत्ता भविष्यति। अनभियोगश्च शब्दार्थेष्वशिष्टानां, अभियोगश्चेतरेषां। तस्माद्धातुतोऽर्थः कल्पयितव्यः—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—चोदितमशिष्टैरपि शिष्टानवगतं प्रतीयेत, यत् प्रमाणेनाविरुद्धं, तत् अवगम्यमानं न न्याय्यं त्यक्तुं। यत्तु शिष्टाचारः प्रमाण—इति, तत् प्रत्यक्षानवगतेऽर्थे। यत्तु अभियुक्ताः शब्दार्थेषु शिष्टाः—इति, तदुच्यते,—अभियुक्ततराः पक्षिणां पोषणे बन्धने च म्लेच्छाः। यत्तु निगमनिरुक्तव्याकरणानामर्थवत्तेति, तत्रेषामर्थवत्ता भविष्यति, न यत्र म्लेच्छैरप्यवगतः शब्दार्थः। अपि च निगमादिभिरर्थे कल्प्यमानेऽव्यवस्थितः शब्दार्थो भवेत, तत्र अनिश्चयः स्यात्। तस्मात् पिक—इति कोकिलो ग्राह्यः, नेमोऽर्द्धं, तामरसं पद्मं, सत—इति दारुमयं पात्रं, परिमण्डलं शतच्छिद्रं॥ (इति म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरणं। १।३।६)॥

---

अथ कल्पसूत्राणां प्रामाण्याधिकरणम्॥

सू प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥ ११ ॥ (पू॰)

भा इह कल्पसूत्राण्युदाहरणम्,—'माशकं, हास्तिकं, कौण्डिन्यकम्' —इति, एवंलक्षणकानि किं प्रमाणमप्रमाणं वा ?—इति यदि प्रमाणानि। किं मार्गं ?—प्रयोगस्य शास्त्रं प्रमाणमेवंजातीयकम्—इति ब्रूमः। सत्यवाचामेतानि वचनानि। कथमवगम्यते ?। वैदिकैरेषां संवादो भवति, य एव हि वेदे यज्ञाः, त एवेह; या एव वेदे इष्टकाः*, ता एवेह। तस्मात् सत्यवाच आचार्याः, 'आचार्यवचनं प्रमाणम्'—इति च स्मृतिः। प्रत्यक्षतः प्रामाण्यमनवगतम्—इति यद्युच्येत प्रमाणान्तरेण वचनेनावगतम्—इति न दोषः। वेदवाक्यैश्चैषां तुल्य आदरः, तस्मात् प्रमाणम्॥ (पू॰)॥

सू न, असन्नियमात् ॥ १२ ॥ (सि॰)

भा नैतदेवं, असन्नियमात् न एतत्सम्यङ्निबन्धनं, सूत्राभावात्॥ (सि॰)॥

सू अवाक्यशेषाच्च ॥ १३ ॥ (सि॰ यु॰)

भा 'ऋत्विजो वृणीते, वृता यजन्ति देवयजनमध्यवस्यन्ति'—इति नात्र विधिर्गम्यते वर्तमानकालप्रत्ययनिर्देशात्, न चात्र वाक्यशेष एतावत्कोऽस्ति, तस्मात् अप्रमाणम्। यश्च आदरः उक्तः स नान्तरीयकत्वात् वेदवाक्यैश्च समाम्नानात्। यत्तु स्मृतिः—इति, नैतत् अर्थवादत्वात्। कथमर्थवादः ?। विधिमार्गे हि श्रुतिः—'आग्नेयोऽष्टाकपालः'—इति। अत्राचार्यो वेदोऽभिहितः, 'आचिनोत्यस्य बुद्धिम्'—इति। यदा आचार्यवचनं

* 'इष्टका' इति का॰ सं॰ पु॰ पाठः।

प्रमाणं तदपेक्षम्। कतरत्तत्?। यत् प्रमाणगम्यम्॥ (सि॰ यु॰)॥

यच्चोक्तं,—सत्यवाचामेतानि वचनानि—इति; तन्न,

सू॰ सर्व्वंत्र च प्रयोगात् सन्निधान-शास्त्राच्च ॥ १४ ॥ (उ॰)

भा॰ आचार्यवचनं हि भवति पूर्वपक्षे 'सर्वास्तु तिथिष्वमावास्या' —इति, संनिहितश्च शास्त्रं,—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेत'—इति, तेन श्रुतिविरुद्ध-वचनान्न सत्यवाचः, तस्मात् अप्रमाणं॥ (उ॰)॥ (इति कल्प-सूत्राद्यतःप्रामाण्याधिकरणम् ।१।३।७।)॥

अथ होलाकाधिकरणम् ॥

(सामान्यश्रुतिकल्पनाधिकरणम्)॥

सू॰ अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात्॥ १५ ॥ (पू॰)

भा॰ अनुमानात् स्मृतेराचाराणां च प्रामाण्यमिष्यते, येनैव हेतुना ते प्रमाणं, तेनैव व्यवस्थिताः प्रामाण्यमर्हन्ति। तस्मात् होलाकादयः प्राच्यैरेव कर्त्तव्याः, आह्नीनैबुकादयो दाक्षिणात्यैरेव, उद्वृषभयज्ञादयो उदीच्यैरेव; यथा शिखाकल्पो व्यवतिष्ठते,—केचित् त्रिशिखाः, केचित् पञ्चशिखाः—इति॥ (पू॰)॥

सू॰ अपि वा सर्व्वधर्मः स्यात्, तन्न्यायत्वाद्विधानस्य॥ १६ ॥ (सि॰)

भा॰ अपि वा—इति पक्षव्यावृत्तिः, एवंजातीयकः सर्वधर्मः स्यात्। कुतः?। 'तन्न्यायत्वात् विधानस्य,' (विधीयतेऽनेन—इति) विधानं शब्दः, सोऽनुमीयते स्मृत्या; न च तस्याऽप्राच्यवचनता न्याय्या, न च प्राच्यवचनता, न सर्वेषामनुष्ठातॄणां यद्यैकं

सामान्यं, तस्य वाचकः कश्चित् शब्दोऽस्ति, योऽनुमीयेत। तस्मात् सर्वधर्मता विधेर्न्याय्या। कुतः? पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति प्रमाणमस्ति, व्यवस्थायान्तु न किञ्चित् प्रमाणमस्ति॥ (सि०)॥

अथ यदुक्तं, —यथा शिखाकल्पो व्यवतिष्ठते—इति,

सू दर्शनादिविनियोगः स्यात् ॥ १७ ॥ (उ० १)

भा. गोत्रव्यवस्थया शिखाकल्पव्यवस्थायां दर्शनं स्पष्टं॥ (उ० १)॥

सू लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ॥ १८ ॥ (सि० यु०)

भा इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रं। कानि तानि पदानि? 'अथ किमर्थं न लिङ्गाद्व्यवस्था? यथा, ऋत्विजो लोहितोष्णीषाः'—इति। नास्ति तत् नित्यमेषां लिङ्गं, यत् यथादर्शनमनुवर्त्तते। येऽपि श्यामा इत्यपि लोहिताक्षाः, तेऽपि न सर्वे आक्रीनैबुकादीन् कुर्वते। अनेवंलिङ्गा अपि चानुतिष्ठन्ति। तस्मान्न व्यवस्था; ऋत्विजो लोहित—इति तु मत्यक्षा श्रुतिः॥ (सि० यु०)॥

सू आख्या हि देशसंयोगात् ॥ १९ ॥ सि० आ० नि०)

भा अथ 'कस्मान्न समाख्यया नियमः?—ये 'दाक्षिणात्याः'—इति समाख्याताः, ते आक्रीनैबुकादीन् करिष्यन्ति, ये 'उदीच्याः'—इति समाख्याताः, ते उदृषभयज्ञादीन्, ये 'प्राच्याः'—इति, ते होलाकादीन्, यथा, 'राजा राजसूयेन'—इति। नैतदेवं, देशसंयोगात् आख्या भवति, दक्षिणदेशान्निर्गतः प्राक्षु वा उदक्षु वाऽवस्थित आक्रीनैबुकादीन् करोत्येव। उदीच्याश्च देशान्तरे उदृषभयज्ञादीन्, प्राच्याश्च होलाकादीन्, अन्यदेशश्च देशान्तरगतो न नियोगतः परपदार्थान् करोति। तस्मान्न व्यवस्था। 'राजा राजसूयेन'—इति तु नियता जातिः॥ (सि० आ० नि०)॥

सू. न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ॥ २० ॥ (सि० आ०)

भा. इति चेत् मन्यसि,—यदि देशसंयोगात् आख्या भवेत्, देशान्तरस्थस्य न भवेत्! भवति च देशान्तरस्थस्य 'माथुरः'—इत्यसंबद्धस्यापि मथुरया; तस्मान्न देशसंयोगात् आख्या ॥ (सि० आ०) ॥

सू. स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ॥ २१ ॥ (आ० नि०)

भा. देशसंयोगनिमित्तायामप्याख्यायां देशान्निर्गतस्य तदाख्या न विरुद्धा, यत एषा योगाख्या (योगमात्रापेक्षा), न भूतवर्त्तमान—भविष्यत्संबन्धापेक्षा, यतो दृश्यते,—मथुरामभिप्रस्थितो 'माथुरः'—इति, मथुरायां वसन्, माथुराया निर्गतश्च। यस्य तु अतोऽन्यतमः संबन्धो नास्ति, न स माथुरः, तस्मान्न समाख्यया व्यवस्था ॥ (आ० नि०) ॥

सू. कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ॥ २२ ॥ (आ०)

भा. अथ कस्मान्न कर्माङ्गं देशः?—यः प्राच्यस्त्तिकामायः, स आर्कीनेबुकादीनां, यथा 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत'—इति ॥ (आ०) ॥

सू. तुल्यन्तु कर्तृधर्मेण ॥ २३ ॥ (आ० नि०)

भा. यथा कर्त्तरि अव्यवस्थितं लिङ्गं श्यामादि न पदार्थैः संवादमुपैति, तद्वत् देशलिङ्गं अव्यवस्थितं; प्राच्यस्त्तिकामायेऽप्यन्ये न कुर्वन्ति, तथा अन्यलिङ्गेऽपि कुर्वन्ति; तस्माच्च देशतो व्यवस्था। प्राचीनप्रवणन्तु श्रुत्या नियतं वैश्वदेवस्य॥ (इति होलाकाधिकरणं। १ अ०। ३ पा०। ८ अ०) ॥

———

अथ साधुपदप्रयुक्त्यधिकरणम् ॥

सू प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ॥ २४ ॥ (पू०)

भा 'गौ गावी गोणी गोपोतलिका'—इत्येवमादय शब्दा उदाहरणम्। गोशब्दो यथा सास्नादिमति प्रमाणं, किं तथा गाव्यादयोऽपि, उत न?—इति सन्देह, किमनेक शब्दोऽविच्छिन्नपारम्पर्योऽर्थाभिधायी, इतरे अपभ्रंशा, उत सर्वे एवमादय?। सर्वे—इति ब्रूम। कुत?। प्रत्ययात्, प्रतीयते हि गाव्यादिभ्य सास्नादिमानर्थ- तस्मात् इतो वर्षशतेभ्य स्यार्थस्य सम्बन्ध आसीदेव तत परेण, ततश्च परतरेणेति अनादिता, कर्त्ता चाऽस्य सम्बन्धस्य नास्ति—इति व्यवस्थित मेव। तस्मात् सर्वे साधव, सर्वैर्भाषितव्य सर्वे हि साधयन्त्यर्थं, यथा, हस्त कर पाणि —इति।

अर्थाय ह्येते उच्चार्यन्ते, न अदृष्टाय, न हि, एषामुच्चारणे आम्नानमस्ति॥ तस्मान्न व्यवतिष्ठेत,—कश्चिदेक एव साधु, इतरेऽसाधव—इति॥ (पू०)॥

सू शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ॥२५॥ (सि०)

भा महता प्रयत्नेन शब्द उच्चरन्ति,—वायुर्नाभेरुत्थित, उरसि विस्तीर्ण, कण्ठे विवर्तित, मूर्द्धानमाहत्य, परावृत्त, वक्त्रे विचरन् विविधान् शब्दानभिव्यनक्ति। तत्रापराधेनाऽपि उच्चारयिता, यथा शुष्के पतिष्यामि—इति कर्दमे पतति, सकृत् उपस्प्रक्ष्यामि—इति द्वि उपस्पृशति। ततोऽपराधात् प्रवृत्ता गाव्यादयो भवेयु, न नियोगतोऽविच्छिन्नपारम्पर्या एव—इति॥ (सि०)॥

सू. अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ॥ २६ ॥ (सि॰ यु॰)

भा. न चैष न्यायः,—यत्, 'सदृशाः शब्दाः एकमर्थं अभिनिविशमानाः, सर्वेऽविच्छिन्नपारम्पर्या एव'—इति, प्रत्ययमात्रदर्शनादभ्युपगम्यते, सादृश्यात् साधुशब्दे*ऽप्यवगते प्रत्ययोऽवकल्प्यते। तस्मात् अमीषामेकोऽनादिः, अन्येऽपभ्रंशाः। हस्तः करः पाणिः—इत्येवमादिषु तु अभियुक्तोपदेशात् अनादिरमीषामर्थेन संबन्धः—इति॥ (सि॰ यु॰)॥

सू. तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात् स्यात् ॥ २७ ॥ (आ॰ नि॰)

भा. कथं पुनः तत्र तत्त्वं शक्यं विज्ञातुं?। शक्यं—इत्याह, अर्थिनो हि अभियुक्ता भवन्ति, दृश्यते चाभियुक्तानां गुणवतामविस्मरणं उपपन्नं। प्रत्यक्षमेतत् गुण्यमानं न भ्रश्यते—इति। तस्मात् यमभियुक्ता उपदिशन्ति,—एष एव साधुः—इति, साधुः—इत्यवगन्तव्यः॥ (आ॰ नि॰)॥

सू. तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ॥ २८ ॥ (उ॰ १)

भा. अथ यदुक्तं,—(७६।८) 'अर्थोऽवगम्यते गाव्यादिभ्यः, अतः एषामप्यनादिरर्थेन संबन्धः'—इति, तदशक्तिरेषां गम्यते,—गोशब्दमुच्चारयितुकामेन केनचित् अशक्त्या गावी—इत्युच्चारितं, अपरेण ज्ञातं,—सास्नादिमान् अस्य विवक्षितः, तदर्थं गौः—इत्युच्चारयितुकामो गावी—इति उच्चारयति, ततः शिक्षित्वा अपरेऽपि सास्नादिमति विवक्षिते गावी—इति उच्चारयन्ति;

---

* 'चसाधुशब्दे' इति का॰ सं॰ पु॰ पु॰।

तेन गाव्यादिभ्यः सास्नादिमान् अवगम्यते, अनुरूपो हि गाव्यादिर्गोशब्दस्य। (उ० १)॥

सू एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात्॥ २९॥ (उ० यु०)

भा अत एव हि विभक्तिव्यत्ययेऽपि प्रत्ययो भवति — अश्मकैरागच्छामि — इति अश्मकशब्दैकदेशे उपलब्धे अश्मकेभ्य — इत्येव शब्दः स्मर्यते, ततः अश्मकेभ्य — इत्येषोऽर्थ उपलभ्यते — इति, एवं गाव्यादिदर्शनात् गोशब्दस्मरणं, ततः सास्नादिमान् अवगम्यते॥ (उ०। यु०)। (इति साधुपदप्रयुक्त्यधिकरणं। १ अ०। ३ पा०। ८ अ०)॥

---

अथ लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणम्।

आकृतिशक्त्यधिकरणमारभ्यते॥

सू प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्॥ ३०॥ (पू० १)

भा अथ गौः — इत्येवमादयः शब्दाः किमाम्नाते प्रमाणम् उत लोके? — इति सन्देहः। उच्यते, इदं तावत् परीक्ष्यताम् — किं य एव लौकिकाः शब्दाः, त एव वैदिकाः उतान्ये? — इति, यदा त एव तदापि किं त एवैषामर्थाः, ये लोके उतान्ये? — इति संशयः। तत्रान्ये लौकिकाः शब्दाः, अन्ये वैदिकाः, अन्ये चैषामर्थाः — इति ब्रूमः। कुतः?। व्यपदेशभेदात् रूपभेदाच्च इमे लौकिकाः, इमे वैदिकाः — इति व्यपदेशभेदः। 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्' — इत्यन्यत् इदं रूपं लौकिकात् अग्निशब्दात्, शब्दान्यत्वाच्च न त एवार्थाः। अपि च समामनन्ति — 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति' — इति ये देवानां गावः त उत्ताना वहन्ति — इत्युभे गम्यते एव, — ये उत्ताना वहन्ति ते गोशब्देन उच्यन्ते

—इति। तस्मात् अन्यो वैदिकगोशब्दस्यार्थः। तथा 'देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थं'—इति, हिरण्यपर्णो देवो वनस्पतिर्वेदे ; 'एतत् वै दैव्यं मधु, यत् घृतं'—इति वेदे घृते मधुशब्दः तस्मादमीषामन्येऽर्थाः—इति प्राप्ते,

ब्रूमः,—य एव लौकिका शब्दाः, त एव वैदिकाः, त एवैषामर्थाः —इति। कुतः?। 'प्रयोगचोदनाभावात्,' एवं, प्रयोगचोदना संभवति, यदि त एव शब्दाः; त एवार्थाः, इतरथा शब्दान्यत्वेऽर्थो न प्रतीयेत! तस्मादेकशब्दत्वमिति। उच्यते प्रयोजनमिदं, हेतुर्व्यपदिश्यतां?—इति, ततो हेतुः उच्यते,—'अविभागात्'—इति, न तेषां एषाञ्च विभागं उपलभामहे। अत एव एकशब्दत्वं, तांश्च तांश्चार्थान् अवगच्छामः; अतो नान्यत्वञ्च वदामः। यच्चोक्तं (७८।२२) ये उत्ताना वहन्ति, ते देवगवाः, यत् घृतं, तन्मधु, यो हिरण्यपर्णः, स वनस्पतिः—इति; नास्ति वचनं, यत् उत्तानानां वहतां गोत्वं ब्रूयात्, ये गावः, ते उत्ताना वहन्ति—इत्येवं तत्; यदि च अनेन वचनेन गोत्वं विधीयते, 'उत्ताना वहन्ति'—इत्यनुवादः स्यात्; न च, उत्ताना वहन्तः प्रसिद्धाः केचित्! ते नियोगतो विधातव्याः, तेषु विधीयमानेषु न शक्यं गोत्वं विधातुं, भिद्यते हि तथा वाक्यं। यदि चान्ये वैदिकाः, तत उत्तानादीनामर्थो न गम्येत, तत्र नतरां शक्येताऽविज्ञातलक्षणं गोत्वं विज्ञातुं! न चोत्तानवहनवचनमप्यनर्थकं, स्तुत्यर्थेनार्थवत् भविष्यति—इति। एवं घृतस्य मधुत्वं, हिरण्यपर्णता च वनस्पतेः। तस्मात् त एव शब्दा अर्थाश्च॥ (इति लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणं। १ अ०। ३ पा०। १० अ०। अन्तर्गतं)॥

यदि, लौकिकास्त एवार्थाः, तदा सन्देहः,—किमाकृतिः शब्दार्थोऽथ व्यक्तिः?—इति। (का पुनराकृतिः, का व्यक्तिः?—इति। द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यमात्रमाकृतिः, असाधारणविशेषा

व्यक्तिः)) कुतः संशयः ?। गौः—इत्युक्ते सामान्यप्रत्ययात्, व्यक्तौ च क्रियासम्बन्धात्।

तदुच्यते,—व्यक्तिः शब्दार्थः—इति। कुतः ?। 'प्रयोगचोदनाभावात्' आलम्भनप्रोक्षणविशसनादीनां प्रयोगचोदना आकृत्यर्थे न सम्भवेयुः। 'यत्नोच्चारणानर्थक्यं तत्र व्यक्त्यर्थं, अतोऽन्यदाकृतिवचनं—इति चेत्। उक्तं (३३।१) 'अन्यायश्चानेकार्थत्वं—इति। कथं सामान्यावगतिः ?—इति चेत्। व्यक्तिपदार्थकस्याकृतिश्चिह्नभूता भविष्यति,—य एवमाकृतिकः, स गौरिति, यथा यस्य दण्डोऽस्ति, स दण्डी—इति, न च दण्डवचनो दण्डिशब्दः, एवं इहापि॥ (पू०)॥

सू अद्रव्यशब्दत्वात्॥ ३१॥ (पू० २)

भा द्रव्याश्रयस्य शब्दो द्रव्यशब्दः, न तथा द्रव्याश्रयवचनः शब्दो भवेत् यद्याकृतिः शब्दार्थो भवेत्—'षड् देया द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्देया—इति, न हि, आकृतिः षडादिभिः संख्याभिः युज्यते। तस्मान्नाकृतिवचनः॥ (पू० २)॥

सू अन्यदर्शनाच्च॥ ३२॥ (पू० ३)

भा 'यदि पशुरुपाकृतः पलायेत अन्यं तद्वर्णं तद्वयसमालभेत'—इति यद्याकृतिवचनः शब्दो भवेत, अन्यस्यालम्भो नोपपद्येत। अन्यस्यापि पशुद्रव्यस्य सैवाकृतिः तस्मात् व्यक्तिवचनः इति॥ (पू० ३)॥

सू आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्॥ ३३॥ (सि०)

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। आकृतिः शब्दार्थः। कुतः ?। क्रियार्थत्वात् 'श्येनचितं चिन्वीत'—इतिवचनमाकृतौ सम्भवति यद्याकृत्यर्थः श्येनशब्दः, व्यक्तिपक्षे तु न चयनेन श्येनव्यक्तिः

भा. रुत्पादयितुं शक्यते—इति अशक्यार्थवचनात् अनर्थकः। तस्मात् आकृतिवचनः।

ननु 'श्येनव्यक्तिमिश्चयनमनुष्ठास्यते'। न साधकतमः श्येन-शब्दार्थः, ईप्सिततमो ह्यसौ श्येनशब्देन निर्दिश्यते ; अतश्चय-नेन श्येनो निवर्त्तयितव्यः, स आकृतिवचनत्वेऽवकल्प्यते।

ननु उभयत्र क्रियाया असम्भव एव व्यपदिश्यते,—नाकृतिः शब्दार्थः, कुतः? क्रिया न सम्भवेदाकृतौ शब्दार्थे 'व्रीहीन् प्रोक्षति'—इति। तथा न व्यक्तिः शब्दार्थः, क्रियेव न सम्भवेत् व्यक्तेः शब्दार्थत्वे 'श्येनचितं चिन्वीत'—इति। यदप्युच्येत,—'व्रीहीन्प्रोक्षति'—इति व्यक्तिलक्षणार्था आकृतिः—इति ; शक्य-मन्यत्रापि 'श्येनचितं चिन्वीत'—इति वदितुम् आकृतिलक्ष-णार्था व्यक्तिः—इति। किं पुनरत्र ज्यायः?।

आकृतिः शब्दार्थः इति; यदि व्यक्तिः शब्दार्थो भवेत्, व्यक्त्यन्तरे न प्रयुज्येत! अथ व्यक्त्यन्तरे प्रयुज्यते, न तर्हि व्यक्तिः शब्दार्थः, सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ता हि व्यक्तिरिति। 'उच्यते,—नैष दोषः,—व्यक्त्यन्तरे सर्वसामान्यविशेषविनिर्मुक्ते एव प्रव-र्त्तिष्यते'। यदि व्यक्त्यन्तरे सर्वसामान्यविशेषवियुक्ते प्रवर्त्तिष्यत,* सामान्यमेव तर्हि तत्। 'न—इत्युच्यते,—यो हि अर्थः सामा-न्यस्य विशेषाणाञ्चाश्रयः, सा व्यक्तिः, व्यक्तिवचनश्च शब्दो न सामान्ये, न विशेषे वर्त्तते ; तेषां त्वाश्रयमेवाभिदधाति, तेन व्यक्त्यन्तरे वृत्तिरदोषः, न हि तत् सामान्यम्'।

यदि व्यक्त्यन्तरेष्वपि भवति, सर्वसामान्यविशेषवियुक्ताया अश्वव्यक्तौ गोशब्दः किमिति न वर्त्तते?। 'आह,—येष्वेव प्रयोगो दृष्टः, तेषु वर्त्तिष्यते, न सर्वत्र; न च, अश्वव्यक्तौ गोशब्दस्य प्रयोगो दृष्टः। तस्मात्तत्र न वर्त्तिष्यते'। यदि यत्र

---

* 'यदि सर्वसामान्यविशेषवियुक्तम्,' इति का० स० पु० इयम्।

भा प्रयोगो दृष्टः, तत्र इति, अद्यजातायां गवि प्रथमप्रयोगो न प्राप्नोति। तत्रादृष्टत्वात् सामान्यप्रत्ययश्च न प्राप्नोति—इयमपि गौः—इति इयमपि गौः—इति। इयं वा गौः—इति इयं वा गौः—इति स्यात्। भवति तु सामान्यप्रत्ययः अदृष्टपूर्वायामपि गोव्यक्तौ, तस्मान्न 'प्रयोगापेक्षो गोशब्दो व्यक्तिवचनः—इति शक्यते आश्रयितुम्। एवं तर्हि शब्दस्य स्वभाव एषः,—यत् कस्याञ्चित् व्यक्तौ वर्त्तते, कस्याञ्चिन्न, यथा, अग्निरुष्णः उदकं शीतम्, एवमेतत् भविष्यति'—इति। नैवं सिध्यति न हि, एतत् गम्यते कस्याञ्चिदसौ वर्त्तते, कस्याञ्चित् न—इति।

'सत्यमेतत्, गोत्वं लक्षणं भविष्यतीति, यच्च गोत्वं तस्यां व्यक्ताविति'। एवं तर्हि विशिष्टा व्यक्तिः प्रतीयेत। यदि च विशिष्टा पूर्वतरं विशेषणं अवगम्येत। न हि, अप्रतीते विशेषणे विशिष्टं केचन प्रत्येतुमर्हन्ति।—इति। 'अस्तु विशेषणत्वेनाकृतिं पश्यति विशेष्यत्वेन व्यक्तिं, न हि आकृतिपदार्थकस्य व्यक्तिर्न पदार्थः, व्यक्तिपदार्थकस्य वा न आकृतिः। उभयमुभयस्य पदार्थः कस्यचित् किञ्चित्प्राधान्येन विवक्षितं भवति तेन अस्माकं आकृतिर्गुणभावेन व्यक्तिः प्रधानभावेन विवक्ष्यते—इति।

नैतदेवम्, उभयोरुच्चमानयोर्गुणप्रधानभावः स्यात्। यदि चाकृतिः प्रतीयते शब्देन, तदा व्यक्तिरपि पदार्थः—इति न शक्यते वदितुम्। कुतः?। आकृतिर्हि व्यक्त्या नित्यसम्बद्धा, सम्बन्धिन्यां च तस्यामवगतायां सम्बन्ध्यन्तरमवगम्यते तदेतत् आत्मप्रत्यक्षं—यत् शब्दे उच्चरिते व्यक्तिः प्रतीयते—इति किं शब्दात् उत आकृतेः?—इति विभागो न प्रत्यक्षः सोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामवगम्यते—अन्तरेणापि शब्दं य आकृतिमवबुध्येत, अवबुध्येतैवासौ व्यक्तिं यस्तु उच्चरितेऽपि शब्दे मानसादपचारात् कदाचिदाकृतिं नोपलभेत, न जातुचिदसौ इमां व्यक्तिमवगच्छेत्। 'ननु व्यक्तिविशिष्टायां आकृतौ वर्त्तते।

भा. व्यक्तिविशिष्टायाश्चेत् वर्त्तते, व्यक्त्यन्तरविशिष्टा न प्रतीयेत। तस्मात् शब्द आकृतिप्रत्ययस्य निमित्तं, आकृतिप्रत्ययो व्यक्तिप्रत्ययस्य—इति।

'ननु गुणभूता प्रतीयते इत्युक्तं (८२।१७)'। न गुणभावोऽस्तत्पक्षस्य बाधकः, सर्वथा तावत् प्रतीयते, अर्थात् गुणभावः प्रधानभावो वा, स्वार्थं चेत् उच्चार्यते, प्रधानभूता, अथ न स्वार्थं, परार्थमेव; ततो गुणभूता, न तत्र शब्दव्यापारोऽस्ति।

'ननु च दण्डी—इति न तावत् दण्डिशब्देन दण्डोऽभिधीयते, अथ च दण्डविशिष्टोऽवगम्यते, एवमिहापि न तावदाकृतिरभिधीयेत, अथ चाकृतिविशिष्टा व्यक्तिर्गम्येत—इति नैतत् साधु उच्यते'। सत्यं दण्डिशब्देन दण्डो नाभिधीयते, नत्वप्रतीते दण्डे दण्डिप्रत्ययोऽस्ति, अस्ति तु दण्डिशब्दैकदेशभूतो दण्डशब्दः, येन दण्डः प्रत्यायितः; तस्मात् साधु एतत्, यत्,—प्रतीते विशेषणे विशिष्टः प्रतीयते—इति।

'ननु गोशब्दावयवः कश्चिदाकृतेः प्रत्यायकः, अन्यो व्यक्तेः; यत उच्चेरत, तत आकृतिरवगता; न गोशब्द आकृतिवचनः'—इति। न च, यथा दण्डिशब्दो न दण्डे प्रयुक्तः, एवं गोशब्दो न आकृतौ; तदर्थमेव निदर्शितं, (८०।१२)—केवलाकृत्यभिधानः श्येनशब्दः—इति, तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां अचति श्येन व्यक्तिसंबन्धे श्येनशब्दोच्चारणात् आकृतिवचन इति गम्यते; न तु व्रीह्याकृतिसंबन्धमन्तरेण व्रीहिव्यक्तौ शब्दस्य प्रयोगो दृष्टः। तस्मात् आकृतिवचनः शब्दः—इत्येतदन्याय्यः॥ (सि०)॥

सू. न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत्॥ ३४॥ (उ० १)

भा. अथ यदुक्तं—न क्रिया सम्भवेत्,—'व्रीहीन् प्रोक्षति'—इति

भा. (१ पू०); न द्रव्यशब्दः स्यात्,—'षड् देया'—इति (२ पू०); अन्यदर्शनवचनञ्च न स्यात्—'अन्यं तद्रूपं'—इति (३ पू०)। तत् परिहर्त्तव्यम्॥ (उ० १)॥

६६ तदर्थत्वात् प्रयोगस्याविभागः ॥ ३५ ॥ (उ० २)

भा. आकृत्यर्थत्वात् शब्दस्य, यस्याः व्यक्तेराकृत्या संबन्धः, तत्र प्रयोगः, प्रोक्षणं हि द्रव्यस्य कर्त्तव्यतया श्रूयते, कतमस्य? यत् यज्ञसाधनम्। अपूर्वप्रयुक्तत्वात्तस्य, न आकृतेः, अशक्यत्वात्। तत्र व्रीहिशब्द आकृतिवचनः प्रयुज्यते प्रोक्षणाश्रयविशेषणाय; स हि आकृतिं प्रत्याययिष्यति, आकृतिः प्रतीता सती प्रोक्षणाश्रयं विशेष्यति—इति, तेनाकृतिवचनं न विरुध्यते—इति। एवं 'षड् देया गावो दक्षिणा'—इति दक्षिणाद्रव्ये संख्याया प्रयोक्तव्ये गाव इत्याकृतिवचनो विशेषकः। तथा 'अन्यं'—इति भिन्नस्य प्रतिनिधेरन्यत्वसंबन्धः, तत्र पशुशब्द आकृतिवचनः, आकृत्या विशेष्यति—इति। तस्माद्गौरश्वः—इत्येवमादयः शब्दाः आकृतेरभिधायका इति सिद्धम्॥ (उ० २) (इति आकृतिशब्दाधिकरणम्। १ अ०। ३ पा०। १० अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामि—कृतौ मीमांसाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः॥ स्मृतिपादोऽयम्॥ * * ॥

## चतुर्थः पादः ॥

अथ उद्भिदादिशब्दानां यागनामताधिकरणम् ॥

सू. उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्व्वं तदर्थं स्यात् ॥ १ ॥ (पू०)

भा. 'उद्भिदा यजेत' 'बलभिदा यजेत' 'अभिजिता यजेत' 'विश्वजिता यजेत'—इति समामनन्ति; तत्र सन्देहः,—किं उद्भिदादयो गुणविधयः, आहोस्वित् कर्मनामधेयानि?—इति। कुतः संशयः?। उभयथाऽपि प्रतिभातो वाक्यात्,—उद्भिदा—इत्येष शब्दो यजेत—इत्यनेन संबध्यते, स किं वैयधिकरण्येन संबन्धमुपैति,—उद्भिदा द्रव्येण यागमभिनिर्वर्त्तयेदिति, उत सामानाधिकरण्येन,—उद्भिदा यागेन यजेत—इति द्वेधाऽपि एतस्मिन् प्रतिभाति वाक्ये, सम्भवति संशयः।

किं तावत् प्राप्तम्?—उक्तमस्माभिः,—समाम्नायस्यैदमर्थ्यं,—कश्चिदस्य भागो विधिः, योऽविदितमर्थं वेदयति, यथा 'सोमेन यजेत'—इति; कश्चिदर्थवादः, यः प्ररोचयन् विधिं स्तौति, यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—इति; कश्चिन्मन्त्रः, यो विहितमर्थं प्रयोगकाले प्रकाशयति, यथा 'बर्हिर्देवसदनन्दामि'—इत्येवमादि; तस्मादुद्भिदादयोऽमीषां प्रयोजनानामन्यस्मै प्रयोजनाय भवेयुः; तत्र तावन्नार्थवादः, वाक्यशेषो हि स भवति विधातव्यस्य; न च मन्त्रः, एवंजातीयकस्य प्रकाशयितव्यस्य अभावात्, पारिशेष्यात् गुणविधिः,—उद्भिद्गुणता यागस्य विधीयते। कुतः?। प्रसिद्धेरनुग्रहात्, गुणविधेरर्थवत्त्वात्, प्रवृत्तिविशेषकरत्वाच्च। न च, एषां यागार्थता लोकेऽवगम्यते! न च, वेदेन परिभाष्यते! अतो गुणविधयः। 'यदि गुणविधिः, न तर्हि कर्म विधीयते, अविहिते च कर्मणि तत्र गुणविधान-

भा. मनर्थकं। न—इति ब्रूमः,—प्रवृत्ती ज्योतिष्टोमे गुणविधानमर्थवद्भविष्यति, यदि नामधेयं स्यात्,—यावदेव यजेत—इति, तावदेव उद्भिदा यजेत—इति, न प्रवृत्ती कश्चित् गुणविशेषः स्यात्। गुणविधौ च गुणसंयोगात् अभ्यधिकमर्थं विदधत उद्भिदादयः शब्दा अर्थवन्तो भविष्यन्ति; तस्मात् गुणविधय इत्येवं प्राप्तम्। (पू०)॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,

सू. अपि वा नामधेयं स्यात् यदुत्पत्तावपूर्व्वमविधायकत्वात्॥ २॥ (सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो विपरिवर्त्तते। नामधेयं स्यात् इति प्रतिजानीमहे, स्वयमविहितमर्थं विधास्यति ज्योतिष्टोमात् यागान्तरं, श्रुतिश्चैवं यागमभिधास्यति; इतरथा श्रुतिरुद्भिदादीन् वदन्ती उद्भिदादिमती लक्षयेत्। उद्भिदा यागेन कुर्यादिति। यागेन कुर्यात्—इति 'यजेत'—इत्यस्यार्थः, करणं हि यागः, उद्भिदापि तृतीयानिर्देशात् करणं, तत्र उद्भिदा यागेन—इति कर्मनामधेयत्वेन सामानाधिकरण्यसामञ्जस्यं, द्रव्यवचनत्वे मत्वर्थलक्षणया सामानाधिकरण्यं स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्ज्यायसी। तस्मात् कर्मनामधेयम्। 'ननु प्रसिद्धं द्रव्यवचनत्वमपह्नूयेत, अप्रसिद्धं कर्मवचनत्वं प्रतिज्ञायेत'। उच्यते,—तृतीयानिर्देशात कर्मवचनता। कुतः?। करणवाचिनो हि प्रातिपदिकात् तृतीया भवन्ति, करणं च यागः, तेन यागवचनमिममनुमास्यामहे।

"नैतद्युक्तं,—यदि तृतीयानिर्देशे सति उद्भिदादिशब्देभ्यो यागे बुद्धिरुत्पद्येत, स्यादेतदेवं; न हि नो बुद्धिरुत्पद्यते, तस्मात् अयुक्तं। 'तृतीयावचनं अन्यथा नोपपद्यते' —इति चेत्। कामं नोपपादि, न जातुचित् अनवगम्यमाने-

भा. ऽपि यागवचनो भविष्यति, तस्मात् गुणविधयः। लक्षणेति चेत्, वरं लक्षणा कल्पिता, न यागाभिधानं, लौकिकी हि लक्षणा, ह्ठोऽप्रसिद्धकल्पनेति। अपि च यदि नामधेयं विधीयते, न यागः; अथ यागः, न नामधेयम्; उभयविधाने वाक्यभेदः"—इति। उच्यते, न नामधेयं विधायिष्यते, अनुवादा हि उद्भिदादयः। कुतः प्राप्तिः?—इति चेत्। ततोऽभिधीयते,—उच्छब्दसामर्थ्यात् भिच्छब्दसामर्थ्याच्च उद्भिच्छब्दः क्रियावचनः,—उद्भेदनं प्रकाशनं पशूनामनेन क्रियते—इत्युद्भित् यागः, एवमाभिमुख्येन जयात् अभिजित्, विश्वजयात् विश्वजित्, एवं सर्वत्र। अतः कर्मनामधेयम्। यत्त्वप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः—इति, नामधेयमपि गुणफलोपबन्धेनार्थवत्, तस्मात् कर्मनामधेयान्येवंजातीयकानि—इति सिद्धम्॥ (सि०)॥ (इति उद्भिदादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम्। १।४।१ अ०)॥

---

अथ चित्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम्॥

सू. यस्मिन् गुणोपदेशः प्राधानतोऽभिसंबन्धः॥ ३॥

भा. 'चित्रया यजेत पशुकामः' 'त्रिवृद्बहिष्पवमानं' 'पञ्चदशान्याज्यानि' 'सप्तदश पृष्ठानि'—इत्युदाहरणं। किं चित्राशब्दः, पवमानशब्दः, आज्यशब्दः, पृष्ठशब्दश्च गुणविधयः, उत कर्मनामधेयानि?—इति संशयः। प्रसिद्धेः, अर्थवत्त्वात्, प्रवृत्तिविशेषकरत्त्वाच्च गुणविधयः, न चेते कर्मणि प्रसिद्धाः, न चामी यौगिकाः। जातिशब्दा ह्येते, चित्रा—इति च गुणशब्दः; चित्रया यजेत—इति च यागानुवादः, विज्ञातत्वात् न यागविधिः। गु फलकल्पनायां यजतेर्न विवक्षा, तथा आज्यानि भवन्ति, पृष्ठानि भवन्ति—इति च। गुणविधिकल्पनायामपि न लक्षणा; तस्मात् गुणविधयः—इत्येवं प्राप्तम्।

भा एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यस्मिन् गुणविधिर्नामधेयम्—इति संदिग्धे गुणोऽपरः उपदिश्यते, प्रधानेन कर्मणा तस्य संबन्धः, कर्मनामधेयम्—इत्यर्थः। गुणविधौ हि सति वाक्यम् भिद्येत। पुंपशौ प्राप्ते स्त्रीपशुः, पशवः फलं, चित्रो गुणः—इति न शक्यमेकेन वाक्येन विधातुम्। चित्रो गुणो विधीयमानः स्त्रियां विधीयेत, नासावग्नीषोमीये पशुकामे च विधीयेत, सोऽपि नाग्नीषोमीये। तथा पञ्चदशानि आज्यानि भवन्तीति आज्येषु पञ्चदशता, न चाविहितानि स्तोत्रेष्वाज्यानि भवन्ति, न चान्यद्विधायकं वाक्यं, तचैतदाज्यानि विदध्यात्, विहितेषु च पञ्चदशता। गम्यते च पञ्चदशताया आज्यानां च संबन्धः; स्तोत्रसंबन्धश्चाज्यानामविज्ञातः पञ्चदशतासंबन्धश्च, द्वावेतावर्थावेकवाक्यतयाशक्यौ विधातुम्। अथ तु कर्मनामधेयं, नेष विरोधो भवति, सैवैकं संख्यासंबन्धस्तदानीं विधीयते। अपि चाज्यानि स्तोत्राणीत्यनेन शब्देन लक्षणयैव गुणो विधीयेत। अतः कर्मणां नामधेयानि (वाक्यान्तरैः 'आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते'—इत्येवमादिभिर्विहितानाम्)। यत्तु 'अप्रसिद्धं कर्मणां नामधेयम्'—इति, अवयवप्रसिद्ध्या आजिगमनादाज्यानि। कथमाजिगमनम्?—इति। अर्थवादवचनात्,—'यदाजिमीयुस्तदाज्यानामाज्यत्वम्'—इति। स्पर्शवचनात्पृष्ठानि। पवमानार्थप्रकाशकत्वाद्बहिःसंबन्धाच बहिःपवमानम्। 'दधि मधु पयो घृतं धानास्तण्डुला उदकम्*'—इति नानाविधद्रव्यवाचित्वा। तस्मादेवंजातीयकानि कर्मनामधेयानि—इति। 'अथ कस्माद्ध पञ्चदशसंख्याविशिष्टानि आज्यानि स्तोत्रकर्मसु विधीयन्ते?'। विशिष्टानां वाचकस्य शब्दस्याभावात्।

'ननु पदद्वयमिदं वाचकं भविष्यति,—पञ्चदशान्याज्यानि—

---

* अत्र 'तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इति अधिकं का० सं० प्रा० पु०।

भा. इति विशिष्टानां, तद्देतेषु स्तोत्रेषु विधास्यति'। न एतत्पद-द्वयमपि विधायकम्,—एकमत्र विधायकं, एकमुद्देशकम्, उभयस्मिन्विधायके परस्परेण संबन्धो न स्यात्; अविधायके स्तोत्र-संबन्धो न विधीयते, न च, अत्रैकं पदं विशेषणं प्रति उद्देशकं, स्तोत्रं प्रति विधायकं भवितुमर्हति। वचनव्यक्तिभेदाद्दतोऽयमसमाधिः॥ (१।४।२ अ०)॥

---

अथ अग्निहोत्रादिशब्दानां यागनामधेयताधिकरणम्। (तत्प्रख्यन्यायः)

सू. तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम्॥ ४॥

भा. 'अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः'—इति 'आघारमाघारयति'—इति च समामनन्ति; तत्र संशयः,—किं अग्निहोत्रशब्दः आघारशब्दश्च गुणविधी, उत कर्मनामधेये?—इति। गुणविधी—इति ब्रूमः। कुतः?। गम्यते हि अग्नये होत्रमस्मिन्—इति, तथा चरणसमर्थं द्रव्यं घृतादि आघारमाघारयति—इति,—प्रसिद्धिरेवमनुग्रहीष्यते। गुणविधिश्च दधिहोमे, आघारश्चोपांसुयाजे, तत्रैतयोरर्थवत्ता प्रवृत्तिविशेषकरत्वञ्च। न च 'गुणविधिपक्षे लक्षणा भवति, यथोद्भिदा यजेत'—इति। अग्निहोत्रे समासेन अवगतं गुणविधानं; आघारेऽपि 'आघारं निर्वर्त्तयति'—इति—श्रुत्यैव गुणो विधीयते। तस्मात् गुणविधी—इत्येवं प्राप्ते

ब्रूमः,—'तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रं', यौ गुणवेताभ्यां विधीयेते—इत्याशंक्यते, तावन्यत एव अवगतौ, 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'—इति देवताविधानं; 'चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्तस्याघारमाघार्यो'—इति आघारे च द्रव्यविधिः; अविदितवेदनञ्च विधिः—इत्युच्यते, विदितं चात्रान्यतो गुणविधानं; तस्मान्न गुणविधी, कर्मनामधेये तु सम्भवतः, यच्चाग्नये होत्रं

भा होमो भवति तदग्निहोत्र दीर्घधारा क्षरणक्रिया प्रसिद्ध एवा घार तस्मात् कर्मनामधेये प्रसिद्ध्यादयश्चोतोत्तरा (१।४।१ अ० २ अ०)। प्रजापतिनिवृत्त्यर्थमग्निविधान भविष्यति—इति चेत्। नैतदेवम् अग्नि हि एष विधातु शक्नोति न प्रजापति प्रतिषेद्धु प्रतिषिध्यमानस्य च प्रजापतेर्विधानमनर्थक स्यात् प्रजापतिर्देवता—इति गम्यते गम्यमानं च न शक्य निषेधेति कल्पयितुम् अतोऽयमसमाधि । उच्यते — आघार माघारयति—इति द्रव्यपरा चोदना येस्तु द्रव्य चिकीर्ष्यते—इति द्रव्य छनया क्रियया चार्यते चारित च याग साधयति तत्कस्य प्रधानस्य कर्मणो नामधेयम्?—इति। उच्यते एत दवाघारए प्रधानकर्म। नन्वस्य द्रव्यदेवत नास्ति। अस्ति —इति ब्रूम तस्याघारमाघार्या—इति आज्य द्रव्य मान्त्र वर्णिको देवता इन्द्र ऊर्ध्वाध्वर—इत्याघारमाघारयति—इति मन्त्रो हि अभिदधत् कर्म तत्साधन वा कर्मणि समवैति एष च मन्त्र इन्द्रमभिधातु शक्नोति स यदि इन्द्र तत्साधनं भवेत् एव अनेन मन्त्रेणाघार शक्यते कर्तुम तस्मात इन्द्रो देवता द्रव्यदेवतासयुक्त आघारए तस्मात् यजति तस्य यजतेर्नामधेयम—इति॥ (१।४।२ अ०)॥

---

अथ श्येनादिशब्दानाम यागनामधेयताधिकरणम्। (तद्व्यपदेशन्याय)

सू तद्व्यपदेशं च॥ ५॥

भा अथैष श्येनेन अभिचरन्यजेत' अथष सन्दंशेन अभिचरन्य जेत' 'अथैष गवाऽभिचरन्यजेत—इति समाम्नायन्ते तत्र गुणविधि, कर्मनामधेयम—इति सन्देह। प्रसिद्ध्यादिभि पूर्व पक्ष, उद्भिदादीनामिव ते नूद्भिदादय क्रियानिमित्ता शक्नुवन्ति याग वदितुम, इमे पुनर्जातिनिमित्ता न शक्नुवन्ति

भा. तेन गुणविधयः—इत्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तद्व्यपदेशञ्च,' तेन श्येनादिना (प्रसिद्धेन) यस्य व्यपदेशः, तच्च कर्मनामधेयं, श्रुतिर्हि नामधेयत्वे, लक्षणा गुणविधौ। यत्तु 'जातिशब्दा इमे न यागमभिवदन्ति'—इति, सादृश्यव्यपदेशादभिवदिष्यन्ति, एवं हि व्यपदेशो भवति,—यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते, यमभिचरन्ति श्येनेन—इति, निपत्यादत्ते—इत्यनेन सादृश्येन श्येनशब्दो यागे; यथा सिंहो देवदत्तः—इति, तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥ सन्दंशे सन्दंशेन यथा दुरादानमादत्ते—इति, गवि यथा गावो गोपायन्ति—इति, तस्मात् सन्दंशशब्दोऽपि कर्मनामधेयं, गोशब्दोऽपि ॥ (१।४।४ सू०)॥

---

अथ वाजपेयादिशब्दानां नामधेयताधिकरणम् ३

सू. नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानम्—इति चेत् ॥ ६ ॥ (पू०)

भा. 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—इति श्रूयते; तत्र किं गुणविधिः, कर्मनामधेयम्—इति सन्देहः। एवं चेत् सन्देहः, दृश्यते गुणविधिः, न सन्देहः, श्रूयते हि गुणः, सोऽवगम्यमानो न शक्यो नास्ति—इति वदितुं, तस्मात् गुणविधिः॥ (पू०)॥

सू. तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥ ७ ॥ (सि०)

भा. नैतदेवं, तुल्ये हि इमे क्रिये स्यातां,—या च वाजपेयक्रिया, या च दर्शपूर्णमासक्रिया, उभयत्र दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तः स्यात्, तथा च दीक्षाणामुपसदाञ्च दर्शनं नावकल्पेत! 'सप्तदशदीक्षो वाजपेयः'—इति, 'सप्तदशोपसत्को वाजपेयः'—इति।
अथ वा 'तुल्यत्वात् क्रिययोर्न'—इति यदि न गुणविधिः, ततस्तुल्यैव वाजपेयक्रिया ज्योतिष्टोमक्रियया; तत्र दीक्षाणा-

भा. मुपसदाञ्च दर्शनमुपपन्नं; तस्मात् कर्मनामधेयमिति, लिङ्गं त्वेतत्प्राप्तिः पुनरुत्तरसूत्रेण ॥ (सि०) ॥

सू. - ऐकशब्द्ये परार्थवत् ॥ ८ ॥ (सि० यु०)

भा. यदि गुणविधिः स्यात्, स्वार्थवत् परार्थवच्चाभिधानं विप्रतिषिध्येत यजेतेत्यस्य शब्दस्य। यदि 'स्वाराज्यकामो यजेत'—इति स्वाराज्यकामस्य यागं विधातुं स्वार्थमुच्यते, न तर्हि वाजपेयेन गुणेन संबद्धुं परार्थमनूद्येत। यागेन वाजपेयगुणकेन—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यं। 'ननु द्वे एवैते वाक्ये प्रत्यक्षमुपलभामहे,—'स्वाराज्यकामो यजेत'—इत्येतदेकं प्रत्यक्षं पदद्वयं, 'यजेत वाजपेयेन'—इत्येतदपि प्रत्यक्षमेव'। नैतदेवम्, एवं सति चत्वारि पदान्युपलभेमहि, त्रीणि चैतान्युपलभ्यन्ते। "उच्यते,—यजेत—इत्येतदुभाभ्यां संभंत्स्यते। 'कथं सकृदुच्चारितं संबन्धमुभाभ्यामेष्यति?'—इति। रूपाभेदात्, ईदृशमेवास्य रूपं स्वाराज्यकामेन संबध्यमानस्य, ईदृशमेव वाजपेयेन, अतः तन्त्रेणोभाभ्यां सम्भंत्स्यते"—इति। नैतदस्ति,—ईदृशेनैव रूपेण—इति यद्यज्ञातः, ततो विधिः, यदि ज्ञातः, ततोऽनुवादः, न च ज्ञातोऽज्ञातश्च युगपत् सम्भवति—इति। 'आह,—'यदिदमुक्तं,—गुणविधिपक्षेऽनुवादो यजेत—इति। यद्ययमनुवादः, केन—इदानीं गुणो विधीयते?। वाजपेयशब्देन—इति मावोचः, न ह्याख्यातमन्तरेण द्रव्यं वा नाम शब्दार्थस्य व्यापारो विधीयते। यश्चाख्यातशब्दो यजेत—इति, सोऽनुवादः—इत्युक्तं; केन इदानीं तस्य व्यापारो विधीयते?। अतः स्वाराज्यकामं गुणं च प्रति यजेत—इति विधिः; तस्मादुभाभ्यां संबध्यते'—इति। यद्युभयत्र विधिः वाजपेयो न स्वाराज्यकामस्य यागेन सबध्येत। द्वे ह्येते तदा वाक्ये, न स्वाराज्यकामस्य यागेन सह गुणविधेरेकवाक्यता।

भा. 'प्रकरणात् संबन्धः स्वाराज्यकामस्य यागेन'—इति चेत्, न, वाक्येन यागमात्रे विधानात्। 'अस्तु यागमात्रेण संबन्धः'—इति चेत्, न, स्वाराज्यकामस्य यागेन सह एकवाक्यताया गम्यमानत्वात्, तदेवं प्रकरणस्य वाक्यस्य च बाधो युज्यते, यदि कर्मनामधेयं, गुणविधिपक्षे हि सर्वे इमे वाक्यभेदादयो दोषाः प्रादुर्भवेयुः; तस्मात् कर्मनामधेयं वाजपेयशब्दः—इति सिद्धम्॥ (सि० यु०)॥ (१।४।५ अ०)॥

---

आग्नेयादीनामनामताधिकरणम् ॥

सू. तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः ॥ ९ ॥

भा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'—इत्येवमादयः श्रूयन्ते, तत्र सन्देहः,—किं 'आग्नेयो-ऽग्नीषोमीयः'—इत्येवमादयो गुणविधयः, कर्मनामधेयानि?—इति। किं तावत् प्राप्तं?—गुणविधौ सत्यनेको गुणो विधीयेत, अग्निपुरोडाशाष्टाकपालाः—इति, तस्मान्न गुणविधयः—इत्येवं प्राप्ते

ब्रूमः,—तत्र कर्म, गुणास्त्वस्य विधीयेरन्, अविभक्ता हि ते कर्मणो विधानार्थे तद्धितान्ते शब्दे; तत्र हि अष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते, स एष एवमाग्नेयो भवति, यद्यग्नये संकल्प्य दीयते, तेनायं अनेन प्रकारेण यागो विहितो भवति, स एवंविधीयमानो न शक्योऽग्निमष्टाकपालं चाविधाय विधातुम्, संबन्धो हि विधीयमानो न शक्यते सबन्धिनावविधाय विधातुम —इति यक्तुम्। तस्मात् गुणविधयः, अष्टसु कपालेषु संस्क्रियमाणो व्रीहिमयो यवमयो वा पुरोडाश एव भवति, सोऽनुवादः, सिद्धत्वादष्टाकपाल उच्यते, 'कपालेषु श्रपयति'—इति वच

भा नात् नान्येन अर्पितं गृह्णन्ति, तेनास्मिन्पक्षे न वाक्यभेदो भवति, 'न चेदन्येन शिष्टाः', यत्र पुनरन्येन वचनेन शिष्टा गुणा भवन्ति भवति तत्र नामधेयं, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति'—इति॥ (१।४।६ अ०)॥

---

बर्हिरादिशब्दानां जातिवाचित्वाधिकरणम् ३

सू बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ॥ १० ॥

भा बर्हिराज्ययोः पुरोडाशे च सन्देहः,—किमेते संस्कारशब्दाः, उत जातिशब्दाः ?—इति। संस्कारशब्दाः—इति ब्रूमः—संस्कृतेषु तृणेषु बर्हिःशब्दमुपचरन्ति सर्वत्र नासंस्कृतेषु, संस्कृते च घृते आज्यशब्दं, तथा संस्कृते पिष्टे पुरोडाशशब्दम्। ननु 'असंस्कृतेऽपि कस्मिंश्चिद्देशे उपचर्यते, यथा बर्हिरादाय गावो गताः—इति भवन्ति वक्तारः, तथा आज्यं क्रय्यम्—इति, पुरोडाशेन मे माता प्रहेणकं ददाति—इति। सादृश्यात्तेषु प्रयोगः, यथोपशये* यूपशब्दः। कुत एतत्? यत एकदेशे हि शब्दप्रयोगः तस्मात् संस्कारशब्दाः—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—बर्हिरादिष्वसंस्कृतेष्वपि शब्दलाभात् न संस्कारशब्दाः। ननु 'उक्तं सादृश्यादेकदेशे भविष्यन्ति'। तत्र प्रसिद्धे हि संस्कारशब्दत्वे 'सादृश्यात्'—इति शक्यते वक्तुं, तदप्रसिद्धं। कथं? बर्हिरादिशब्दैरभिहिताः संस्कारा विधीयन्ते तेन सत्सु शब्देषु संस्कारैर्भवितव्यं सति च संस्कारे शब्दलाभः—इति इतरेतराश्रयं भवति। न च अविहिताः संस्काराः भवन्ति। यानालोच्य लोकः प्रयुञ्जीत। तस्माल्लोका असंस्कृतेषु बर्हिरादीन् प्रयुञ्जते, तत एकदेशेऽपि जाति

---

* तक्षणादसंस्कृतो यज्ञीयस्तम्भविशेष उपशयः।

भा. निमित्ता दृष्टाः सर्वत्र जातिनिमित्ता भवितुं अर्हन्ति। न च, अलौकिकानां सतां वेदादेव पूर्वोत्तरपदसंबन्धमनपेक्ष्य शक्यते-र्थोऽध्यवसातुम्! पूर्वोत्तरपदे अनर्थके माभूताम्—इत्येवं स परिकल्प्येत, अशक्यस्त्वनवगम्यमानः परिकल्पयितुम्, अर्थवती च ते पदे पूर्वोत्तरे लौकिकेनासंस्कृतप्रयोगेन भविष्यतः। तस्मात् जातिशब्दा एवंजातीयकाः। प्रयोजनं,—'बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति'—इति संस्कृतैरेव स्तरितव्यं, यदि पूर्वः पक्षः, विपरीतं सिद्धान्ते॥ (१।४।७ अ०)॥

---

प्रोक्षण्यादिपदानां यौगिकताधिकरणम्।

सू. प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात्॥ ११॥

भा. 'प्रोक्षणीरासादय'—इति श्रूयते; तत्र प्रोक्षणीशब्दं प्रति सन्देहः,—किं संस्कारनिमित्तः, उत जातिनिमित्तः, उत यौगिकः?—इति। तत्र संस्कारेषु सत्सु दर्शनात् संस्कारशब्दतायामवगम्यमानायां असंस्कृते शब्दस्याभावाज्जातिशब्दः, असंस्कृतास्वेवाप्सु 'प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्मः'—इति कस्मिंश्चिद्देशे भवन्ति वक्तारः, तेन जातिशब्दः—इति प्राप्ते

यौगिकः—इत्युच्यते। कुतः?। अर्थसंयोगात्। प्रोक्षण्यः—इत्युपसर्गधातुप्रत्ययसमुदायस्य जातिनिमित्तता प्रयोगादनुमीयते, सेचनसंयोगात्तूपसर्गधातुकरणप्रत्ययसान्निध्यतोऽस्तु प्रवर्त्तते—इति प्रसिद्धिरनुगृहीता भविष्यति। यदाऽन्यदपि सेचनं प्रोक्षणशब्देन उच्यते, तदा तत्संयोगादेवाप्सु भविष्यति—इति न समुदायार्थः कल्पयितुं शक्यते। तस्मात् यौगिकः। प्रयोजनं,—घृतं प्रोक्षणं भवतीति; यदि संस्कारशब्दः, 'प्रोक्षणीरासादय'—इति प्रैषः; यदि जातिशब्दः, घृतमासादय—इति; यदि यौगिकः, प्रोक्षणमिति॥ (१।४।८ अ०)॥

अथ निमन्थ्यशब्दस्य यौगिकत्वाधिकरणम् ।

सू० तथा निर्मन्थ्ये ॥ १२ ॥

भा० 'निर्मन्थ्येनेष्टका पचन्ति—इति संस्कृते दर्शनात् संस्कार शब्दो निर्मन्थ्य—इति। असंस्कारेऽपि दृश्यते,—निर्मन्थ्य मानय, ओदनं पक्ष्याम—इति, निर्मन्थनयोगात् पूर्ववत् यौगिक—इति संस्थितं। प्रयोजनं,—संस्कारनिमित्ते संस्कृतेन इष्टका पक्तव्या, जातिशब्दे यथोपपन्नेन, यौगिके अचिर निर्मथितेन, यथा नावनीतेन भुङ्क्ते—इत्यचिरनिर्दग्धेन—इति गम्यते ॥ (१।४।८ अ०) ॥

---

अथ वैश्वदेवादिशब्दानां नामधेयताधिकरणम् ।

सू० वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥ १३ ॥ (पू० १)

भा० चातुर्मास्येषु प्रथमे पर्वणि वैश्वदेवे सन्देहः,—'वैश्वदेवेन यजेत—इति किं वैश्वदेवशब्दो गुणविधिः, उत कर्मनामधेयम्? —इति। इति यदि सन्देहो न सन्देहः, 'वैश्वदेवे विकल्पः,' गुणविधिर्वैश्वदेवशब्दः, गम्यते हि गुणविधानं, विश्वेदेवा विधीयन्ते आग्नेयादिषु यागेषु तत्राग्न्यादीनां विश्वेदेवैर्विकल्पः, एवं प्रासङ्गिरर्थवती भविष्यति ॥ (पू० १) ॥

सू० न वा, प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥ १४ ॥ (सि०)

भा० नैतदेवम्, प्रत्यक्षश्रुतिविहिता अग्न्यादयः तेषां यागानां, विश्वेदेवा वाक्येन, प्रकरणात्तेनैव नान्येन—इति गम्यते, न च इयं विषमशिष्टो विकल्पो भवितुमर्हति, न हि प्रकरणं श्रुतस्य द्रव्यस्य बाधने समर्थम्। तस्मात् कर्मनामधेयम् ॥ (सि०) ॥

सू. मिथश्चानर्थसंबन्धः ॥ १५ ॥ (आ० नि०)

भा. अथोचेत,—'वैश्वदेवः—इत्यनेन शब्देन प्रत्यक्षं अग्न्यादि-गुणविशिष्टो यागगणो लक्ष्यते, वैश्वदेवी हि तत्रामिक्षा समवैति'। यदि वैश्वदेवशब्देन यागगणो लक्ष्यते, न तर्हि विश्वेदेवा विधीयन्ते, कथं सहचरितो वैश्वदेवशब्दो यागगणं लक्षयिष्यति, विश्वांश्च देवान्विधास्यति?—इति नायं वैश्वदेवशब्दस्य विश्वेदेवैर्मिथःसंबन्धो घटते। तस्मात् कर्मनामधेयमेव, न गुणविधिः—इति ॥ (आ० नि०)॥

सू. परार्थत्वात् गणानाम् ॥ १६ ॥ (सि० यु०)

भा. परार्थाश्च गुणाः, ते न शक्नुवन्ति प्रधानमावर्त्तयितुम्, तेन सहत्यागः कर्त्तव्यः, न गुणानुरोधेनावर्त्तितुमर्हति। संभतिपन्नदेवतत्वाच न विरोधः, तत्रैकस्याप्रधानाकृतौ त्रिंशदाकृतयो श्रूयन्ते—इति त्रिंशत्संख्यासंपत्तिराहवनीयाकृतीनां न अवकल्पते। तस्मात् कर्मनामधेयमिति सिद्धम् ॥ (सि० यु०)। (१।४।१० अ०) ॥

---

वैश्वानरेऽष्टत्वाद्यर्थवादताधिकरणम् ॥

सू. पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥ १७ ॥ (पू०)

भा. 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते'—इति श्रूयते, तत्र 'यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति'—इत्येवमादयः कपालविकल्पाः श्रूयन्ते; तेष सन्देहः,—किमष्टत्वादयो गुणविधयः, उतार्थवादाः?—इति। तत्र गुणविधयः—इत्येव ब्रूमः। कथं?। ये हि पूर्ववन्तो (विदित

भा मभिवदन्ति) ते अविधानार्था, तदेतत् अस्य वाक्यस्य समाम्नाये सामर्थ्यं, यदविहितपूर्वकाभिधानम्। किं तत्?। विधान-सामर्थ्यम्, एवमविहितमर्थं विधास्यति, इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थका स्युः। न च, द्वादशकपालस्य शेषभावमुपगन्तु मर्हति। अन्यथा ह्यष्टाना कपालाना स्तुति, परोक्षा द्वादशा नाम्, प्रत्यक्षाभावे च परोक्षा स्यात्। तस्मात् गुणविधय ॥ (पू०)॥

सू गुणस्य तु विधानार्थेऽतद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥ १८ ॥ (सि०)

भा नैतदस्ति गुणविधय — इति, गुणस्य विधानार्था एते सन्त पुरोडाशस्य कपालेषु सख्या विदध्यु, न शक्नुवन्ति यागप्रयोगस्य विधातुम्, द्वादशकपालता हि यागस्य वाक्येन, अष्टाकपाला इव प्रकरणेन, तेन ते यागे न भविष्यन्ति। अपि च अष्टत्वादय पुरोडाशेनैकवाक्यभूता प्रकरण बाधित्वा न यागस्य भविष्यन्ति, यागासम्बन्धे च अनर्थका, पुरोडाशसम्बन्धे फला भावात्; अर्थवादत्वेन तु वैश्वानरयागस्य स्तुतिरुपपद्यते। तस्मात् अर्थवादा — इति॥ (सि०)॥

सू तच्छेषो नोपपद्यते ॥ १९ ॥ (उ० आभास०)॥

भा इति यदुक्तं, तत्परिहर्तव्यम् — इत्याभाषान्तं सूत्रम्॥ (उ० आभास)॥

सू अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् ॥ २० ॥ (उ०)

भा यदा तु अष्टाकपालादिप्ररोचनार्था अनर्थका — इत्यवगतं, तदा लक्षणया द्वादशकपालस्य स्तुतिर्वैश्वानरयागप्ररोचनार्था भविष्यति सन्ति हि द्वादशसख्यायामष्टत्वादय सख्याविशेषा

भा. अविभक्ताः, अतो द्वादशकपालस्य स्तुत्यर्थत्वेनावयवस्तुतिरूपः पद्यते ; यथा शोभनमस्य चक्रस्य नेमितुम्बारं, शोभनमस्याः सेनायाः हस्त्यश्वरथपादातमिति। तस्मात् उपपन्ना स्तुतिः—इति ॥ (उ०) ॥

सू. कारणं स्यात्? इति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०)

भा. इति चेत् भवान् पश्यति,—अर्थवादाः—इति, कारणमष्टत्वादीनां ब्रह्मवर्चसादि कस्मान्न भवति ?—ब्रह्मवर्चसकामस्याष्टाकपालः, एवमुत्तरेषु *यथाकामम्। किमेवं भविष्यति ? । पुरोडाशस्य गुणविधानेऽप्यानर्थक्यं न भविष्यति, न च लक्षणया द्वादशकपालस्य स्तुतिः कल्पिता भविष्यति। तस्मात् कामेभ्यो विधयो भविष्यन्ति ॥ (आ०) ॥

सू. आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते ॥ २२ ॥ (आ० नि०)

भा. यदि कामाय विधयः, भिन्नानि वाक्यानि भवेयुः ; एकं चेदं वाक्यं 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इत्येवमुपक्रान्तं, 'यत् द्वादशकपालो भवति, जगत्येवास्मिन्पशून्दधाति, यस्मिन्जाते एतां इष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति—इत्येवमन्तं; तस्य मध्येऽष्टत्वादयः श्रूयमाणाः यदि न संबध्येरन् ततो वाक्यान्तराणि भवेयुः ;

* 'यदष्टाकपालो भवति'—इत्यादिश्रुतेरुत्तरवाक्येन 'यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिंस्तेजोदधाति, यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति, यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निन्द्रियं दधाति, यद्द्वादशकपालो भवति जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति, यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति'—इत्यादिः। विहितेषु।

भा० कर्तुर्हि कारणानि पूतत्वादीनि भवेयु। स एष गुणार्थोऽत्र विधीयते वैश्वानरयागे 'पूत एव'—इत्येवमादि, तेन चैतेऽष्टत्वादय साक्षाद्धेतुत्वेन सम्बध्यन्ते,—यस्मात गायत्र्यैवैन ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, तेन पूत एव स, यस्मात्त्रिवृतैवाऽस्मिंस्तेजो दधाति, तेन तेजस्वी, यस्मात् विराजैवाऽस्मिन्नन्नाद्य दधाति, तेनान्नाद, यस्मात्त्रिष्टुभैवाऽस्मिन्निन्द्रिय दधाति, तेन इन्द्रियावी, यस्माज्जगत्यैवाऽस्मिन्पशून्दधाति तेन पशुमान—इति। तत कामाय विधयोऽसम्भवन्तो यद्यर्थवादा अपि न भवेयु, आनर्थक्यमेवैषा स्यात्। तस्मात् अकारणं ब्रह्मवर्चसत्वादयोऽष्टत्वादीनाम्, तस्मादष्टत्वादयोऽर्थवादा —इति॥ (१।४।११ अ०)॥

---

अथ यजमानशब्दस्य प्रस्तरादिस्तुत्यर्थताधिकरणम्।

सू० तत्सिद्धि॥ २३॥

भा० 'यजमान प्रस्तर' 'यजमान एककपाल'—इत्यादि समाम्नायते, तत्र सन्देह,—किं 'यजमान प्रस्तर'—इत्येष गुणविधि, किमर्थवाद?—इति, तथा 'यजमान एककपाल'—इति। किं तावत् प्राप्तं?—गुणविधि—इति। किमेवं भविष्यति?। एवमपूर्वमर्थं विधास्यति, इतरथाऽर्थवादोऽनर्थक स्यात, अर्थवत्त्वञ्च न्याय्य, तस्मात विधि।

नैतदेवं, यदि विधि स्यात् तत प्रस्तरकार्ये यजमानो नियुज्येत, यजमानकार्ये वा प्रस्तर, प्रस्तरे जुहूमासादयति, सर्वा वा स्रुच—इति यजमाने जुह्वाद्यासादयेत्। सर्वा वा स्रुच—इति, तथा सति न याजमानं शक्यते कर्तुम् 'दक्षिणतो ब्रह्मयजमानावासाते कर्मण क्रियमाणस्य'—इति, न च प्रस्तरो याजमानं शक्नोति कर्तुम्। तथा, यदि यजमान एककपालकार्ये विनियुज्येत सर्वहुत क्रियेत। तत्र सर्वतनुपरित्याग

भा. स्यात्। न च, एककपालो याजमानं शक्नोति कर्तुम्। तस्मान्न विधिः। विध्यन्तरं चास्ति, 'प्रस्तरमुत्तरं बर्हिषः सादयति,' 'एककपालं सर्वहुतं करोति'—इति; तस्मादपि न विधिः। किं तर्हि?। अर्थवादः,—यजमानो ज्ञायत एव प्रस्तरः, एककपालः- इति च।

'कथं पुनरनयोः सामानाधिकरण्यं ज्ञायते? न हि प्रस्तर एककपालो वा यजमानः, न च यजमानः एकस्मिन् कपाले संस्कृतः पुरोडाशः, प्रथमो वा कुशमुष्टिलवनः, कथं परशब्दः परत्र वर्त्तते? किमर्थं वा ज्ञायमानस्य संकीर्त्तनम्?'—इति।

उच्यते,—ज्ञायमानः संकीर्त्यते स्तोतुम्,—प्रस्तर, उत्तरो बर्हिषः सादयितव्यो यजमानत्वात्; तथा यजमान एक कपालः सर्वहुतः कर्त्तव्यः, स्वर्गं आहवनीयस्तत्र प्रतिष्ठापितो भवति—इति।

कथं परत्र वर्त्तते परशब्दः?—इति। गुणवादस्तु,—गुणादेष वादः। कथमगुणवचनो गुणं ब्रूयात?। स्वार्थाभिधानेन—इति ब्रूमः,—सर्वे एवैते गौणाः शब्दाः न स्वार्थं हित्वा गुणेषु वर्त्तन्ते, प्रसिद्धहानिर्हि तथा स्यात्, अप्रसिद्धकल्पना च, न च सर्वे गुणसमुदायवचनाः, गुणहीनेऽपि तथादर्शनात्, अप्रसह्य कार्यऽपि हि कदाचिद्रोगेणोपहतः सिंहः पुनः सिंह एव, समुदायवाची च नावयवे प्रवर्त्तितुमर्हति, सर्वसिंहव्यक्तिषु यत् सामान्यं तद्वचनः शब्दः—इति स्थितो न्यायः प्रत्युषिधेत; न च, असति सिंहे परिकल्पनया प्रवर्त्तेत। कल्पनाया अशक्यत्वात्। कथं नु स्वार्थाभिधानेन प्रत्ययव्यवस्था?—इति चेत्। अर्थसंबन्धात्,—सिंह—इति निर्ज्ञाते प्रसह्यकारिता तत्र प्रायेण—इति प्रसह्यकारी—इति गम्यते, अर्थप्रत्ययसामर्थ्यात, यो हि मन्यते,—प्रसह्यकारिणं प्रत्याययेयम्—इति, स यदि सिंहशब्दमुच्चारयति, सिद्धत्यस्याभिमतं,—सिंहार्थः प्रतीतः प्रसह्य-

भा. कारी—इतिसंबन्धादितरमर्थं प्रत्याययति ; एवं स्वार्थाभिधानेन तद्गुणसंबन्धः प्रतीयते ।

इह तु यजमानः प्रस्तरः, यजमान एककपालः—इति—कीदृशो गुणसंबन्धः प्रतीयते ? । तत्सिद्धिकरः—इति, सर्वो ह्यात्मनः कार्यसिद्धिं करोति, अन्योऽपि यः तस्य कार्यसिद्धिं करोति, स तस्मिन् उच्चरिते हृदयमागच्छति, यथा राजा पत्तिगणकः—इति, पत्तिगणको राज्ञः कार्यं साधयति, स राजशब्दे उच्चरिते प्रतीयते, एवमिहापि यजमानकार्यं प्रस्तरैककपालौ साधयतः, तौ यजमाने प्रतीते प्रतीयेते, तस्मात्तौ यजमानशब्देन प्रत्याय्येते । कथं ? । स्तुतौ स्यातां वर्हिष उपरिसादने सर्वहोमे च—इति । तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधयः—इति ॥ (१ । ४ । १२ अ०) ॥

---

आग्नेयादिशब्दानां ब्राह्मणादिस्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥

सू जातिः ॥ २४ ॥

भा 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः, ऐन्द्रो राजन्यः, वैश्यो वैश्वदेवः'—इत्येवमादयः श्रूयन्ते, तत्र किं गुणविधयः, अर्थवादाः ?—इति सन्देहः । गुणविधयः—इति ब्रूमः,—एवमपूर्वमर्थं विधास्यन्ति, इतरथा अर्थवादाः सन्तोऽनर्थकाः स्युः । न विधिः, विध्यन्तरस्य भावात्, तस्मात् संवादः, तस्य संकीर्त्तनं विधिस्तुत्यर्थम् । अनाग्नेयादिषु आग्नेयादिशब्दाः केन प्रकारेण ? । गुणवादेन । को गुणवादः ? । अग्निसंबन्धः । कथं ? । एकजातीयकत्वात् । किमेकजातीयकत्वं ? । 'प्रजापतिरकामयत,—प्रजाः सृजेयम्—इति, स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत, तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत, गायत्री छन्दः, रथन्तरं साम, ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनां ; तस्मात्ते मुख्याः, मुखतो हि असृज्यन्त । उरसो

भा वाङ्भ्यां पञ्चदशं निरमिमीत, तं इन्द्रो देवताऽन्वसृज्यत, त्रिष्टुप्छन्दः, बृहत् साम, राजन्यो मनुष्याणाम्, अविः पशूनां ; तस्मात्ते वीर्यवन्तः, वीर्याद्धि असृज्यन्त। ऊरुभ्यां मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत, तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त, जगती छन्दः, वैरूपं साम, वैश्यो मनुष्याणाम्, गावः पशूनाम्'—एवमुक्ते सति एकस्मिन्नेवंजातीयके विज्ञाते अन्योऽपि तज्जातीयको हृदयमागच्छति। तस्मादर्थवादशब्दाः॥ (१।४।२३ अ०)॥

---

अथ यूपादिशब्दाना यजमानतुल्यर्थताधिकरणम् ॥

सू सारूप्यात् ॥ २५ ॥

भा. 'यजमानो यूपः,' 'आदित्यो यूपः'—इत्यादि श्रूयते, तत्र गुणविधिः, अर्थवादः ?—इति सन्देहः। अर्थवत्त्वात् गुणविधिः। अशक्यत्वात् यूपकार्यसाधने यजमानस्य, यजमानकार्यसाधने वा यूपस्य, विधानारम्भात्र न विधिः, विधिस्तुत्यर्थं संवादः ; गुणवादात् सामानाधिकरण्यम्। को गुणः ?। सारूप्यम्। किं सारूप्यम् ?। ऊर्द्धता, तेजस्विता च। तस्मादेवंजातीयका अर्थवादाः॥ (१।४।२४ अ०)॥

---

अथापश्वादिशब्दाना गवादिप्रशंसार्थताधिकरणम् ॥

सू प्रशंसा ॥ २६ ॥

भा 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो गोऽश्वाः,' 'अयज्ञो वा एष योऽसामा,' 'असत्रं वा एतत् यदच्छन्दोमम्'—इति श्रूयते। तत्र विध्यर्थवादसन्देहे अर्थवत्त्वाद्विधयः—इति प्राप्ते, अभिधीयते,—यदि विधयो भवेयुः, गोऽश्वा एव पशवः स्युः, सामवानेव यज्ञः, छन्दोमवदेव सत्रम् ; अन्येषां पशूनां, यज्ञानां,

भा. मन्त्राणां चोत्पत्तिरनर्थिका स्यात्' विध्यन्तरञ्च नावकल्पेत। अतः स्तुत्यर्थं संवादः, गोश्वान् प्रशंसितुमन्येषां पशूनां निन्दा, सामवतः प्रशंसितुमसाम्नां निन्दा, छन्दोमवन्ति प्रशंसितुमच्छन्दोमकानि निन्द्यन्ते; यथा, यत् अघृतं, अभोजनं तत्, यन्मलिनं, अवासस्तत्—इति॥ (१।४।२५ अ०)॥

---

अथ बाहुल्येन सृष्टिव्यपदेशाधिकरणम्। (भूमाधिकरणम्)।

सू. भूमा॥ २७॥

भा. 'सृष्टीरुपदधाति'*—इति श्रूयते; तत्र गुणविधिः, अर्थवादः?—इति सन्देहे अपूर्वत्वात् विधिः,—इति प्राप्ते उच्यते,—यदि विधिः, सृष्टिमन्त्रका उपदधातीष्टकाः—इत्यर्थः, तत्र न इष्टकानां विशेषः कश्चिदाश्रीयते,—एवंरूपाः सृष्टिमन्त्रकाः, नैवंरूपाः—इति; तत्र सर्वासां सृष्टिलिङ्गा मन्त्राः प्राप्नुयुः। अन्येषामसंयुक्तानां मन्त्राणामानर्थक्यं स्यात्। तस्मात् अनुवादः,—मन्त्रसमाम्नानात् प्राप्तानामुपधाने मन्त्राणां; सृष्टीनां संकीर्त्तनं सर्जनार्थवादार्थम्। अपि च विधित्वे लक्षणा, 'एकया स्तुवते'—इत्यत्र या अवष्टम्भता लक्षयेत्। ननु 'अनुवादेऽपि लक्षणा'। नानुवादपक्षे लक्षणायां दोषः। कथन्तु असृष्टिषु सृष्टिषु च सृष्टिशब्दः—इति। भूम्ना,—बहवस्तत्र सृष्टिलिङ्गा मन्त्राः, अल्पशो विलिङ्गाः—इति॥ (१।४।२६ अ०)॥

---

* सृष्टिशब्दोपेतामन्त्रा यासामिष्टकानां उपधाने विनियुक्ते ता इष्टका सृष्टय उच्यन्ते इति माधवः।

अथ प्राणभृदादिशब्दानां स्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥

सू. लिङ्गसमवायात् ॥ २८ ॥

भा. 'प्राणभृत उपदधाति,' 'आज्यानीरुपदधाति'—इति, विधित्वे प्राणभृन्मन्त्रकासूपधीयमानासु विलिङ्गानां मन्त्राणामानर्थक्यम्; तस्मात् अनुवादः। लिङ्गसमवायात् परशब्दः परत्र वर्त्तते; यथा, छत्रिणो गच्छन्ति—इति, एकेन छत्रिणा सर्वे लक्ष्यन्ते; न च अयं प्राणभृच्छब्दः इष्टिशब्दस्य जहत्स्वार्थं मन्त्रगणं लक्षयेत्, यद्गणे च इष्टिप्राणभृच्छब्दौ समवेतौ, तावपि परिगृह्येते; यथा, छत्रिशब्देन स्वार्थलक्षणार्थेन सोऽपि छत्री गृह्यते—इति। (१। ४। १७ अ०)॥

---

अथ वाक्यशेषेण सन्दिग्धार्थनिरूपणाधिकरणम् ॥

सू सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥ २९ ॥

भा 'अक्ताः शर्करा उपदधाति, तेजो वै घृतम्'—इति श्रूयते; तत्र सन्देहः,—किं घृततैलवसानामन्यतमेन द्रव्येणाञ्जनीयाः शर्कराः, उत घृतेनैव?—इति। कथं सन्देहः?। अञ्जनसामान्येन वाक्यस्योपक्रमः, घृतेन विशेषेण निगमनं, यथोपक्रमं निगमयितव्यम् एकस्मिन् वाक्ये; तत्र यद्वा सामान्यमादौ विशेषोपलक्षणार्थं विवक्ष्यते, यद्वा निगमने विशेषः सामान्यलक्षणार्थः? तदारम्भनिगमनयोः किं समञ्जसं?—इति संशयः। एवं—सन्दिग्धेषु उपक्रमे सामान्यवचने विरोधाभावात् न विशेषः परिकल्प्यः, निगमने तु उपजातः सामान्यप्रत्ययः—इति विरोधात् लक्षणार्थं घृतवचनं; यथा इष्टिष्वनिष्टिषु च इष्टिशब्दः, एवं घृतमघृतं च घृतं—इत्युच्यते।

भा सन्दिग्धेषु एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सामान्यवचनेन विशेषापेक्षिणा उपक्रमो वाक्यस्य, विशेषे निगमनवशेन। कुतः?। न हि, सामान्यं विहितं। येन विरोधो निगमनस्य। कथमविहितं?। सन्दिग्धेषु विधानशब्दाभावात्, न हि, विधानशब्दोऽस्ति। 'अक्ता शर्करा उपदधाति'—इति वर्त्तमानकालनिर्देशात्, नापि सामान्यस्य साक्षात्स्तुतिः, प्रत्यक्षन्तु घृतस्य स्तवनं, श्रुत्या घृतस्य स्तुतिः, लक्षणया सामान्यस्य, श्रुतिश्च लक्षणाया ज्यायसी। तस्मात् घृतविधानम्। एवं 'वासः परिधत्ते, एतद्वै सर्वदेवत्यं वासः, यत् क्षौमम्'—इति। तथा 'इमां स्पृष्ट्वोद्गायेत्, इमां हि औदुम्बरीं विश्वाभूतान्युपजीवन्ति'—इति॥ (१। ४। २८ अ०)॥

---

अथ सामर्थ्यानुसारेण पाश्ववद्दिताना व्यवस्थाधिकरणम्।

सू अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्॥ ३०॥

भा 'स्रुवेणावद्यति, स्वधितिनावद्यति, हस्तेनावद्यति'—इति श्रूयते, तत्र सन्देहः,—किं स्रुवेणावदातव्यं सर्वस्य (द्रवस्य संहतस्य मांसस्य च) तथा स्वधितिना*, हस्तेन च, उत यथासामर्थ्यं व्यवस्था (द्रवाणां स्रुवेण, मांसानां स्वधितिना संहतानां हस्तेन)?—इति। अविशेषाभिधानादव्यवस्था—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'अर्थाद्वा कल्पना', सामर्थ्यात् कल्पना—इति,—स्रुवेणावद्येत्, यद्या शक्नुयात्, यद्वा यस्य शक्नुयात् तस्य च—इति, आख्यातशब्दानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी

* स्वधितिरस्त्रविशेषः।

भा एवं चेत यथाशक्ति व्यवस्था भवितुमर्हति। तथा 'अञ्जलिना सक्तून्प्रदाव्ये जुहोति'—इति, द्विहस्तसयोगोऽञ्जलिः, स व्याकोशोऽर्थात् कर्त्तव्य., तथा हि शक्यते होमो निर्वर्त्तयितुम, तत् यथा, कटे भुंक्ते कास्यपात्र्या भुंक्ते—इत्यर्थात् कल्प्यते,—कटे समासीनः कास्यपात्र्यामोदनं निधाय भुंक्ते—इति॥ (१।४। २९ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामि—कृतौ मीमासाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः॥, समाप्तोऽयं प्रथमाध्यायः॥

अथापूर्वव्याख्यातपदप्रतिपाद्यत्वाधिकरणम् ।

सू भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ॥ १ ॥ (सि०)

भा. प्रथमेऽध्याये प्रमाणलक्षणं वृत्तम्, तत्र विध्यर्थवादमन्त्रस्मृतय तत्त्वतो निर्णीताः, गुणविधिर्नामधेयञ्च परीक्षितं, सन्दिग्धानामर्थानां वाक्यशेषादर्थाध्यवसानमुक्तम्; तत्र प्रमाणार्थम्। अनन्तरं प्रधानाप्रधानानि परीक्षिष्यन्ते, भिन्नान्यभिन्नानि,च —इति, एष एवार्थो वर्णनीयो नान्यः, एष एव चाध्याय संबन्धः। तदिह षड्विधः कर्मभेदो वक्ष्यते,—शब्दान्तरं, अभ्यासः, संख्या, गुणः, प्रक्रिया, नामधेयम्—इति वक्ष्यमाणमनुसंकीर्त्यते; प्रदर्शितमुच्यमानं सुखं ग्राहयिष्यते—इति श्रोतुर्बुद्धिः समाधीयते, तदेतन्नानाकर्मलक्षणम्—इत्यध्याय नाचक्षते, एतत्तात्पर्य्येण अतोऽन्यदुपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तं च —इति।

तत्र प्रथमं तावदिदं चिन्त्यते,—प्रथमेऽध्याये इदमुक्तम्,—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—इति, चोदना च क्रियाया अभिधायकं वाक्यम्, वाक्ये च पदानामर्थाः, तत्र किं पदेन पदेन धर्म उच्यते, उत सर्वैरेक एव?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—प्रति पदं धर्मः—इति।

एवं प्राप्ते उच्यते,—यदा एकस्मादपूर्वं, तदाऽन्यत् तदर्थं

भा भविष्यति, एवमल्पीयसी अदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भविष्यति, तस्मादेकमपूर्वम्।

यदा एकं, तदा सन्देहः—किं,—भावशब्देभ्यः, उत द्रव्यगुणशब्देभ्यः?—इति। (कः पुनर्भावः? के ते पुनर्भावशब्दाः?—इति। यजतिददातिजुहोति—इत्येवमादयः। 'ननु यागदानहोमशब्दाः एते, न भावशब्दाः'। नैतदेवं,—यागादिशब्दाश्च एते भावशब्दाश्च, यज्याद्यर्थश्चातोऽवगम्यते, भावयेत्—इति च (तथा यतेत, यथा किञ्चित् भवति—इति); तेनैते भावशब्दाः, द्रव्यगुणशब्देभ्यो द्रव्यगुणप्रत्ययौ न भावनायाः। अतस्ते न भावशब्दाः—इति)। किं तावत्प्राप्तम्?—अविशेषेण—इति।

तत उच्यते,—भावार्थाः कर्मशब्दाः, तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, यजेत—इत्येवमादिभ्यः। कुतः?। भावार्थत्वादेव, य आह किमपि भावयेत्—इति, ते स्वर्गकामपदसंबन्धात् स्वर्गं भावयेत्—इति ब्रूयुः; तस्मात्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत, फलस्य क्रिया करणं निष्पत्तिरिति; ते च यागदानहोमसंबद्धाः स्वर्गस्योत्पत्तिं वदन्ति। कुतः?। एष ह्यर्थो विधीयते, यथा, यागादिना स्वर्गकामः केन भावयेत स्वर्गं?—यागादिना—इति; यस्य च शब्दस्यार्थेन फलं साध्यते, तेनापूर्वं कृत्वा, नान्यथा—इति, ततोऽपूर्वं गम्यते, अतो यः तस्य वाचकः शब्दः, ततोऽपूर्वं प्रतीयते—इति, तेन भावशब्दा अपूर्वस्य चोदकाः—इति ब्रूमः, न तु कश्चिच्छब्दः साक्षादपूर्वस्य वाचकोऽस्ति; भावार्थैः किमपि भावयितव्यं, स्वर्गकामस्य च केनापि भाव्यता—इति, तयोर्नष्टाश्वदग्धरथवत् संप्रयोगः, यजेत—इत्येवमादयः साकाङ्क्षाः,—'यजेत' किं केन कथं?—इति, 'स्वर्गकामः'—इत्यनेन प्रयोजनेन निराकाङ्क्षाः, नैवं द्रव्यगुणशब्दाः। तस्मात् भावार्थाः कर्मशब्दा अपूर्वं चोदयन्ति—इति। अथ 'कस्मात् उभयं

भा सूचितम्,—भावार्थाः कर्मशब्दाः'—इति । उच्यते,—भवन्ति केचित् कर्मशब्दाः न भावार्थाः,—यथा, श्येनेकचिकादयः, केचित् भावार्था न कर्मशब्दाः,—यथा, भवनं भावो भूतिरिति। किं पुनरिहोदाहरणम्? । 'श्येनेनाभिचरन् यजेत', 'चित्रया यजेत पशुकामः'—इति; किं श्येनेनाभिचरन्, उत यजेताभिचरन्—इति? तथा चित्रया पशुकामः, उत पशुकामो यजेत?—इति स्थिते एतस्मिन्नधिकरणे गुणविधिः, नामधेयम्—इति विचारो भविष्यति। तथा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति, दर्शः कालः, पूर्णमासः—इति च. किं ताभ्यां स्वर्गकाम', उत स्वर्गकामो यजेत?—इति, दर्शपूर्णमासाभ्यामिति च श्येनेनेति च चित्रया—इति च नैते भाववचनाः; न च एषामर्थेना कश्चित्संबन्धोऽस्ति, विविभक्तिकत्वात्। तस्मान्न द्रव्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायकाः—इति॥ (सि०)॥

सू सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्॥ २॥ (आ०)

भा एव चेत् भवान् पश्यति,—अ-भावशब्दत्वात् न द्रव्यगुणशब्दा अपूर्वस्य विधायकाः—इति, सर्वथा भावोऽर्थः, स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्याम—इत्येतयोः संबन्धं यजेत—इति वक्ष्यति, श्येनेन अभिचरन्—इत्येतयोश्च, तथा चित्रया पशुकामः—इति; तस्मादेतेऽपि साकाङ्क्षत्वात् भाववचनाः, सर्वेषु भाववचनेषु नास्ति विनिगमनाया हेतुः,—कर्मशब्दा एवापूर्वस्य विधायकाः, न द्रव्यगुणशब्दाः—इति॥ (आ०)॥

सू येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि, तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात् स्वे प्रयोगे॥ ३॥ (आ० नि० १)॥

भा येषां शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ स्वे अर्थे प्रयुज्यमानानां रूप-

भा. मुपलभ्यते, यत् सद्यादुत्पन्नं कालान्तरन्तिष्ठति, न क्रियेवोत्पन्नमात्रं विनश्यति—इत्यर्थः, तानि नामानि, ते द्रव्यगुणशब्दाः, ईदृशो द्रव्यगुणशब्दानामर्थः। ('ते द्रव्यगुणशब्दाः'—इति वक्तव्ये "तानि नामानि"—इति सूचितम्, अतो नामानि—इति एषां पर्यायशब्दः। कथं गम्यते?। यत एषां विभक्तयो नामिक्य उच्चरन्ते। कतमास्ताः?। वृत्तः वृक्षौ वृत्ताः, शुक्लः शुक्लौ शुक्लाः—इत्येवमादयः; तस्मात् सम्यक् सूचितम्)। यत एषां न क्षणिकोऽर्थः, ततः 'तेभ्यः पराकाङ्क्षा' प्रधानाकाङ्क्षा न विद्यते—इति नैषां उत्पत्तिः कर्त्तव्या, 'भूतत्वात् स्वे प्रयोगे स्वप्रयोगकाले विद्यमानत्वात्—इत्यर्थः॥ (आ० नि० १)॥

सू. येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्यातानि; तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वात् प्रयोगस्य॥ ४॥ (आ० नि० २)॥

भा. येषां तु शब्दानामुच्चारणोत्पत्तौ 'स्वे अर्थे प्रयोगो न विद्यते' (प्रयोगकाले येषामर्थो नोपलभ्यते—इत्यर्थः), 'तान्याख्यातानि'—इति भावशब्दान् पर्यायशब्देनोपदिशति। कथं पर्यायशब्दता भावशब्दानाम्?। यत एषां विभक्तय आख्यातिक्यः—इत्युच्यन्ते। कतमास्ताः?। पचति पचतः पचन्ति—इत्येवमादयः। तस्मात्तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयेत; भव्यार्थास्ते भूतार्थैः समुच्चरिताः; भूतस्य भव्यार्थतायां दृष्टार्थता,—भव्यार्थस्य प्रयोजनवत उत्पत्तिरर्थवती, सा च भूतेन क्रियते—इति दृष्टोऽर्थः; भव्यस्य पुनर्भूतार्थतायां न किञ्चित् दृश्यते, कल्प्यतेचादृष्टम्। तस्मान्न यागो द्रव्यार्थः।

किञ्च 'आश्रितत्वात् प्रयोगस्य' एतेषां प्रयोगः पुरुषेणाश्रितो भवति, पुरुषसंबद्धा भावना उच्यते, पुरुषं हि वदति,—भावयेत्—इति, तेन 'स्वर्गकामो यजेत'—इति पुरुषोऽपि प्रतीयते,

भा. यागोऽपि* संबन्धोऽपि; स्वर्गकामो द्रव्येण—इति द्रव्ये प्रतीयते पुरुषस्य, न तु संबन्धः॥ ननु 'एतदुक्तम्भवति, अर्थिनश्च द्रव्यस्य च संबन्धं 'यजेत'—इति वक्ष्यति,—द्रव्येण भावयेत्—इति; अतो द्रव्येण अर्थस्य भावना गम्येत, आकाङ्क्षा च—इति। सत्यं गम्यते,—द्रव्येण भावयेत्—इति तु वाक्येन, यागेन भावयेत्—इति तु श्रुत्या; यदा तु, यागेन भावयेत्—इति याग संबन्धो विधीयते, न तदा, द्रव्येण भावयेत्—इति द्रव्यसंबन्धः; न च द्रव्यसंबन्धे विधीयमाने यजेत—इत्यनेन संबन्धः; अनूद्यमाने तु सम्भवति, न च, यौगपद्येन विध्यनुवादौ सम्भवतः। तस्मात् श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्बलीयसी, तेनार्थिना न द्रव्यसंबन्धः; तत्र द्रव्यमसति स्वर्गकामसंबन्धे स्वर्गार्थं भविष्यति—इत्यनुपपन्नम्, एष विनिगमनायां हेतुः, येन भावशब्दा एवापूर्वस्य चोदकाः, न द्रव्यगुणशब्दाः—इति, यदा, यागेन कुर्यात्—इति, तदा, यागवचनमेव भवति; दर्शपूर्णमासाभ्याम्—इति लक्षणया, दर्शे च पूर्णमासे च यागो विहितः—इति॥ (भा० नि० २)। (२।१।१ अ०)॥

---

अथ अपूर्वस्याख्तिताधिकरणम् ६

कथं पुनरिदमवगम्यते? अस्ति तदपूर्वम्—इति। उच्यते

सू चोदना पुनरारम्भः ॥ ५ ॥

भा चोदनेत्यपूर्वं ब्रूमः,—अपूर्वं पुनरस्ति, यत आरम्भः शिष्यते,—स्वर्गकामो यजेत—इति, इतरथा हि विधानं अनर्थकं स्यात्, भङ्गित्वात् यागस्य, यदि अन्यदनुत्पाद्य यागो विनश्येत्,

---

* 'पुरुषोऽपि प्रयोगोऽपि' इति का० सं० पु०।

भा. फलं असति निमित्ते न स्यात्! तस्मात् उत्पादयति—इति। 'यदि पुनः फलवचनसामर्थ्यात्तदेव न विनश्यति—इति कल्प्यते'। नैवं शक्यम्,—न हि कर्मणोऽन्यत् रूपमुपलभामहे, यत् आश्रयं देशान्तरं प्रापयति, तत् कर्मेत्युच्यते, न तत आत्मनि समवेतं, सर्वगतत्वादात्मनः, सर्वत्र कार्य्योपलम्भः सर्वत्र भावे लिङ्गम्, नतु तदेव देशान्तरादागमनस्य, न हि असति आगमने किञ्चिदिदं दृश्यते; यत्र समवेतमासीत्, तद्विनष्टं द्रव्यं, तस्य विनाशात्तदपि विनष्टम्—इत्यवगम्यते। आश्रयोऽप्यविनष्टः—इति चेत्। न, भस्मोपलम्भनात्। सत्यपि भस्मन्यस्ति—इति चेत्। न विद्यमानोपलम्भनेऽपि अदर्शनात्। फलक्रिया लिङ्गम्—इति चेत्। एवं सत्यदर्शने समाधिर्वक्तव्यः। सौक्ष्मादीनामन्यतमत् भविष्यति—इति यदि चिनयते, कल्पितमेवं सति किञ्चित् भवति—इति। 'तत्रापूर्वं वा कल्प्येत, तदा?'—इति। अविशेषकल्पनायामस्ति हेतुः, न विशिष्टकल्पनायाम्। अनाश्रितं कर्म भविष्यति—इति चेत्। तदपि तादृशमेव। स्वभावान्तरकल्पनेन देशान्तरं न प्रापयिष्यति—इति। तादृशमेव। तस्मात् भङ्गी यजिः, तस्य भङ्गित्वात् अपूर्वमस्ति—इति॥ किं चिन्तायाः प्रयोजनम्?। यदि द्रव्यगुणशब्दाः अप्यपूर्वं चोदयन्ति, द्रव्यगुणापचारे न प्रतिनिधिरुपादातव्यः, यथा तर्हि पूर्वः पक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः, द्रव्यं गुणं वा प्रतिनिधाय प्रयोगोऽनुष्ठातव्यः—इति॥ (२।१।२ अ०)॥

---

अथ कर्मणां गुणप्रधानभावविभागाधिकरणम् ॥

सू. तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥

भा. अवगतमेतत्,—भावशब्दाः कर्मणो वाचकाः—इति, बहुप्रकाराश्च भावशब्दाः,—यजति, जुहोति, ददाति—इति, एव-

भा प्रकारा,—दोग्धि, पिनष्टि, विलापयति—इत्येवमादयश्च, तेषु सन्देह,—किं सर्वे प्रधानकर्मणो विधायका, उत केचित् सस्कारकर्मण ?—इति। भावार्थत्वाविशेषात् सर्वे प्रधानकर्मणो वाचका,—इति प्राप्त, ततो ब्रूम,—तानि द्वैध भवितुमर्हन्तीति द्विप्रकाराणि,—कानिचित् प्रधानकर्मणो वाचकानि, कानिचित् सस्कारकर्मण, एवमपि सर्वाण्यर्थवन्ति, अर्थवत्त्वे सति सर्वेभ्य न प्रत्ययमपूर्वं कल्पयितुम। अतो न सर्वाणि प्रधानकर्मणो वाचकानि॥

---

अथ प्रधानकर्मलक्षणम्।

सू येर्द्रव्य न चिकीर्ष्यते, तानि प्रधानभूतानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ ७॥

भा 'एव सति अल्पीयसी अदृष्टकल्पना न्याय्या, न तु विनिगमनाया हेतुरवगच्छाम,—कुतोऽपूर्वम्, कुतो न'—इति। तदुच्यते,—यैर्भावकर्मभिर्न द्रव्य सस्कर्तुमिष्यते, उत्पादयितुम् वा, तानि प्रधानभूतानि (प्रधानकर्मणो वाचकानि), द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्, द्रव्य हि गुणभूत, कर्मनिर्वर्त्तेरीप्सिततमत्वात्॥

---

अथ गुणकर्मलक्षणम्।

सू यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्य-प्रधानत्वात्॥ ८॥

भा यैस्तु द्रव्य चिकीर्ष्यते, गुण तत्र प्रतीयेत कर्म। कुत ?। तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्। यत्पद 'यजेत'—इत्येवमादिभिर्द्रव्य न चिकीर्ष्यते, तस्मात्तानि प्रधानकर्मणो वाचकानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्, पिनष्टि—इत्येवमादिभिर्द्रव्य सस्क्रियते, तस्मात्तानि

भा. गुणकर्मवचनानि ; एष एव विनिगमनायां हेतुः ॥ प्रयोजनन्तु पूर्वस्मिन् पक्षे प्रेयङ्गवेऽपि चरौ व्रीह्य उत्पाद्या अवधातार्थत्वेन ; सिद्धान्ते नोत्पाद्याः ॥ (२।१।३ अ०)॥

---

अथ संमार्जनादीनामप्रधानताधिकरणम् ।

सू. धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ॥ ९ ॥ (पू० १)

भा. 'स्रुचः संमार्ष्टि, अग्निं संमार्ष्टि, परिधिं संमार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—इति श्रूयते ; तत्र सन्देहः,—किं पर्यग्निकरणं, संमार्जनं च प्रधानकर्म उत गुणकर्म?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?। तत उच्यते,—कर्ममात्रं एवंजातीयकं अपर्याप्तं यत् प्रयोजनस्य दृष्टस्य, तद्धर्ममात्रम्—इति ब्रूमः, तत्र प्रधानकर्मत्वं स्यात्। कस्मात्?। अनिर्वृत्तेरुपकारस्य, न हि एवंजातीयकं द्रव्यस्योपकारकं, द्रव्यं त्वेवंजातीयकं अभिनिर्वर्त्तयद्गुणभूतं ; तस्य गुणभूतत्वादिदं प्रधानभूतम् ॥ (पू० १)॥

सू. तुल्यश्रुतित्वाद्वा इतरैः सधर्मः स्यात् ॥ १० ॥ (सि०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। इतरैर्गुणकर्मभिः सधर्मः स्यादेवंजातीयकः, यथा व्रीहीनवहन्ति, तथा। कुतः?। तुल्यश्रुतित्वात्, तुल्या हि द्वितीया श्रुतिरेषां द्रव्येषु,—यथा 'व्रीहीनवहन्ति' —इति, एवम् 'अग्निं संमार्ष्टि, पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—इति। 'किं गुणकर्मणि 'द्रव्ये द्वितीया दृष्टा'—इति? यतो द्वितीयादर्शनादिहापि सामान्यतो दृष्टेन गुणकर्मता'। नेति ब्रूमः,— द्वितीया विभक्तिः कर्त्तुरीप्सिततमे स्मर्य्यते, सा चेह द्वितीया विभक्तिः, तत एव तदीप्सिततममिति गम्यते, तच्चेदीप्सिततमं, कर्म गुणभूतम्। यद्यपि प्रत्यक्षादिभिर्गुणभावो न गम्यते,

भा. प्रमाणान्तरेण शब्देन गम्यते, तस्माद्गुणभूतमेवंजातीयकम्—इति॥ (सि०)॥

सू. द्रव्योपदेश इति चेत्॥ ११॥ (आ०)

भा. इति चेत् पश्यसि,—द्वितीयादर्शनात् प्रधानभूतमत्र द्रव्यमिति; नैतदेवं, गुणभूतेऽपि द्वितीया भवति, तथाहि दृश्यते,—'सक्तून् जुहोति, माषतं जुहोति, एककपालं जुहोति'—इति॥ (आ०)॥

सू. न, तदर्थत्वात् लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात्॥ १२॥ (आ० नि०)॥

भा. न गुणभूतेऽपि द्वितीया, एवं हि अभियुक्ता उपदिशन्ति,—'कर्मणि द्वितीया (२। ३। २। पा०), कर्तुरीप्सिततमं कर्म (१। ४। ४९। पा०)—इति, न च लोके गुणभूते क्वचित् द्वितीयां पश्यामः। यदपि च तण्डुलानोदनं पचेति, ओदनार्थं तण्डुलान् संस्कुरु—इति ईप्सिता एव तण्डुलाः; यवपिष्टान् शिखण्डकान् कुर्विति, यवपिष्टा एव तेनाकारेण संबद्धा ईप्सिताः—इति तत्राभिप्रायः, लौकिकश्च प्रयोगः शब्दार्थपरिच्छेदे हेतुर्न वैदिकः। यत्तु लौकिके जुहोतीति—प्रयोगे द्वितीया, मन्यते तत्र यजुर्मीप्सिततमे एव स प्रयोगः—इति, तण्डुलानग्नौ जुहुधि, तण्डुलानग्नौ होमेन संबन्धय—इति लोके भवति हि बहुप्रकारा विवक्षा; अन्याय्यश्चानेकार्थत्वं, तेन प्रधानभावेन सिद्धा सती द्वितीया गुणभावेन कल्प्येत। 'वेदे तु कथं द्वितीयानिर्दिष्टे गुणभावः—इति'। द्वितीयानिर्देशात् प्राधान्यमेवावगच्छामः, एवमवगते प्राधान्ये बलीयसा हेतुना नास्ति प्राधान्यम्—इत्यवगम्यते। कुतः?। न होमस्य केनचित् प्रकारेण सक्त्वर्थताऽवकल्प्यते कुतः?। सक्तूनां

भा॰ निष्प्रयोजनत्वात्, न सक्तूनामन्यत्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा, यदि वा होमस्तदर्थो होमोऽपि निष्प्रयोजनः, अथारादुपकारको होमः, ततः प्रयोजनवान्, ज्योतिष्टोमप्रकरणे पाठात् गम्यते प्रयोजनवत्ता, नाप्रयोजनः—इति शक्यते वक्तुम्, प्रयोगवचनेन हि स आकाङ्क्ष्यते। 'ननु सक्तूनामपि प्रकरणपाठात्प्रयोजनवत्त्वं भविष्यति'। को वा ब्रूते न—इति, प्रयोजनवत्त्वेव, प्रयोजनवत्त्वन्तु होममभिनिर्वर्त्तयताम्, नान्येन प्रकारेण। 'ननु तेऽपि प्रयोगवचनेनाकाङ्क्ष्यन्ते'। तदुच्यते, न इत्थं तेनाकाङ्क्ष्यते, इति कर्त्तव्यता हि स आकाङ्क्षति, होमश्च इतिकर्त्तव्यता, न इत्थं। 'ननु होमे कृते सक्तुभ्योऽदृष्टं निष्पत्स्यते'। नास्त्यत्र प्रमाणम् 'ननु द्वितीया विभक्तिः प्रमाणम्'। न हि द्वितीया विभक्तिर्होमस्य सक्त्वर्थताम् आपयति। 'न सक्तवः प्रयोजनवन्तः—इति भवेत् होमः सक्त्वर्थः, होमसंबद्धाः सक्तवः स्युरिति, भवन्ति होमे कृते सक्तवो होमसंबद्धाः'। न होमस्य सक्त्वर्थता निष्प्रयोजनेषु सक्तुषु घटते, सक्त्वर्थतावचनन्तु न पुरुषस्योपकारकं न क्रतोः, तदनर्थकमेव स्यात्। यतो न तद्वचनाच्छक्य मन्यतरत् कल्पयितुम्। स एष द्वितीयान्तः सक्तूना होमस्य च सबन्धं करोति, संबन्धे च सति द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्धः—इति भूतत्वात्, गुणभावे च तृतीया, तेनोच्यते,—तृतीयायाः स्थाने द्वितीया—इति, तेन 'तदर्थत्वात्' होमार्थत्वात् सक्तूनां न प्राधान्यं द्वितीयासंयोगेऽपि। एवं सत्यर्थवद्वचनम्, न चार्थवत्त्वे सति आनर्थक्यम्—इत्युच्यते। 'तस्य च' पुरोडाशादेर्यागादिषु शेषभावः, तेन प्रयोजनवन्तः, तत्र संस्कारो नानर्थकः। न स दृष्टोपकाराय—इति चेत्। अदृष्टार्थो भविष्यति, अदृष्टोऽपि संस्कारोऽस्ति—इति अवगम्यते लोके, यथा ग्रामान्तरादागतानां पुरुषाणां पयश्रिकरणेनादृष्ट उपकारः क्रियते इत्युच्यते, लोके च नानुपपत्तिः।

भा. प्रयोजनं च वरुणप्रघासेषु श्रूयते, 'शमीमय्यः स्रुचो भवन्ति हिरण्मय्यो वा'—इति, प्रघातौ नानात्वस्रुक्सम्मार्गसाधनपूर्वम्—इति, नानात्वस्रुच उत्पादयितव्याः संमार्गार्थत्वेन यथा पूर्वपक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः, 'शमीमय्य एव हि हिरण्मय्यो वा संमार्ष्टव्याः। तथा यत्र वाणवन्तः परिधयस्तत्रापि पालाशा उत्पादयितव्याः पूर्वपक्षे; सिद्धान्ते वाणवन्त एव संमार्ष्टव्याः। अवभृथे च पूर्वपक्षे उत्पादयितव्योऽग्निः सम्मार्गाय, सिद्धान्ते चापः संमार्जनीयाः। तथा 'षट्त्रिंशत्संवत्सरेतरसमयाः पुरोडाशाः चयनीयाः'—इति श्रूयते; तत्रापि पिष्टमयः पुरोडाश उत्पादयितव्यः पर्यग्निकरणार्थत्वेन पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते मांसमया एव पर्यग्निकर्त्तव्याः—इति ॥ (प्रा॰ नि॰) (२।१।४ अ॰)॥

---

कौनादिप्राधान्याधिकरणम्॥

सू स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवताभिधानत्वात्॥ १३॥ (पू॰)

भा. 'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति,* आज्यैस्तुवते, पृष्ठैस्तुवते' —इति गुणवचनं स्तवनं शंसनञ्च, यथा 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्'—इति, यदेतद्गुणवचनं श्रूयते, किमेतद्गुणभूतं देवतां प्रति, उत प्रधानम्?—इति; तत्रोच्यते,—स्तुतशस्त्रे संस्कारकर्मणी—इति। कुतः?। देवताभिधानत्वात्, गुणवचने निर्वर्त्तमाने गुणिनो देवता संकीर्त्यते, नान्यथा तद्गुणवचनं भवति, तत्र प्रत्यक्षं देवताभिधानं गम्यते, देवताप्रकाशनेन च प्रत्यक्ष

---

* प्रउगनिष्केवल्यशब्दौ शस्त्रविशेषनामनी, अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रं, प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः स्तोत्रमिति माधवः॥

भा. उपकारो यागसिद्धिः। तस्मात् संस्कारकर्मणी याज्यावत्, यथा 'याज्यामन्वाह, पुरोनुवाक्यामन्वाह'—इति स्तुतिवचनं देवताप्रकाशनेनार्थवत्, तद्वदेतदपि—इति ॥ (पू०) ॥

सू. अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥ १४ ॥ (सि०)

भा. यदि संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे, अर्थेनापकृष्येत देवतानाम्नश्चोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्, देवतार्थस्य गुणभूतो मन्त्र —इति तत्प्रधानभावे यत्र प्रधानं तत्र नीयेत, तत्र क्रमसन्निधी उपरुध्येयाताम्; तस्मादेष दुष्टः पक्षः—इति पर्युदसितव्यः। कतमः पुनरसौ मन्त्रः?। अभित्वा शूरेत्यैन्द्रः प्रगाथो माहेन्द्रस्य ग्रहयजेः सन्निधावाम्नातो यत्र इन्द्रस्तत्रापकृष्येत ॥ (सि०) ॥

सू. वशावद्वा गुणार्थं स्यात् ॥ १५ ॥ (आ०)

भा. न पर्युदसिष्यामः इमं पक्षं, संस्कारकर्म्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे, देवताभिधानत्वादेव, यदुक्तं,—प्रगाथस्योत्कर्षः—इति, तन्न, इन्द्रशब्देन महेन्द्रोऽभिधायिष्यते, स एवेन्द्रो महत्त्वेन गुणेन महेन्द्र इत्युच्यते, प्रत्यक्षं हि इन्द्रशब्दं देवतावचनमुपलभामहे, महत्त्ववचनं च महच्छब्दं, यथा राजा महाराजः, ब्राह्मणो महाब्राह्मणः—इति, वशावत्,—यथा 'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजावशा, वायव्यामालभेत'—इत्यजावशाशब्देन चोदिते कर्मणि छागशब्देन निगमा भवन्ति, तद्वत्सगुणे चोदिते निर्गुणेनाभिधानं भविष्यति; तेन न भविष्यत्युत्कर्षः—इति ॥ (आ०) ॥

सू. न, श्रुतिसमवायित्वात् ॥ १६ ॥ (नि०)

भा. नैतदेवं, इन्द्रोऽस्य ग्रहस्य देवतेति तद्धितसंयोगेन विज्ञायेत,

भा न चास्य महत्त्वमपेक्षमाणस्य तद्धितसंयोग उपपद्यते, तद्धित-संयोगापेक्षस्य वा महत्त्वसंबन्धात्समासकल्पना। न च तद्धितार्थे वृत्तस्य महत्त्वसंबन्धः, न च समासार्थे वृत्तस्य तद्धितसंबन्धः। न चास्मिन्नेव प्रयोगे समासार्थे वृत्तिरिष्यते, एतस्मिन्नेव तद्धितार्थे। न चायमिन्द्रशब्दोऽविहितवत्स्वार्थं तद्धितार्थेन संबध्येत, विहितवच्च परार्थं महत्त्वेन संबद्धमनूद्येत। विस्पष्टश्चायमन्योऽर्थो महेन्द्रो भवति,—महानिन्द्रो भवतीति महेन्द्रः, अन्यश्चेन्द्रो हविषो देवता भवतीति सकृदुच्चारणे च नोभयं शक्येत। तस्माच्चेन्द्रो देवता महत्त्वविशिष्टः, महेन्द्र शब्दात्तु तद्धित उत्पन्नः, तस्मात्तत्प्रातिपदिकमर्थं वदतीति गम्यते, न त्ववयवसंबन्धेन; तस्माद्देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः, तेनैन्द्रस्य प्रगाथस्योत्कर्षः प्राप्नोति, अतः पर्युदसितव्यः एष पक्षः। यदभ्युच्यते,—इन्द्रस्य वृत्रवधोत्तरकालं महेन्द्रत्वं दर्शयति, 'महान् वाऽयमभूत् यो वृत्रमवधीत्'—इति, तथा वेदस्यादिमत्तादोषः प्रसज्येत अतोऽन्य इन्द्रो महेन्द्रात्॥ (नि०)॥

सू व्यपदेशभेदाच्च* ॥ १७ ॥ (यु० १)

भा. व्यपदेशभेदश्च भवति, 'यऌद्दधीन्द्राय देवेभ्यो हविः'—इति, 'यऌद्दधि महेन्द्राय देवेभ्यो हविः'—इति, अतोऽपि देवतान्तरम्, एकदेवतात्वे प्रयविकल्पः स्यात्॥ (यु० १)॥

सू गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥ १८ ॥ (यु० २)

भा. यदा विधिशब्दादवगतमेतद्भवति,—इन्द्रो देवतेति, तदाऽस्य गुणाभ्याख्याने किं प्रयोजनं, महत्त्वं नाम इन्द्रस्य गुणो भवति—इति देवताभिधानं। कथं नाम्ये देवतायै दीयते?—इति।

* अपित् व्यपदेशाच्चेति सूत्रम्।

भा. गुणेऽपि हि विहिते सति तस्यै एव देवतायै दीयते, अविहितेऽपि; तस्माद्गुणविधानमनर्थकम्। अथोच्येत,—'योऽस्मिन् यज्ञे इन्द्रः स महान्'—इति। नैवं,—यज्ञसम्बन्धस्यामसिद्धत्वात् विशेषणं नात्र कल्प्यते, गुणसम्बन्धस्य चामसिद्धत्वात् गुणेन विशेषणमनवक्लृप्तम्; तस्मादपि देवतान्तरम्॥ (यु० २)॥

सू. तथा याज्यापुरोरुचोः॥ १९॥ (यु० ३)

भा. एवं सति याज्यापुरोनुवाक्ययोर्भेदेन दर्शनमुपपद्यते, 'एन्द्र सानसिं रयिम्'—इत्यैन्द्रयाज्यापुरोनुवाक्याद्वयं, 'महान् इन्द्रो य ओजसा'—इति भेदेन माहेन्द्रं दर्शयति, तदेकत्वे विकल्पेत। तत्र, पक्षे बाधः स्यात्॥ (यु० ३)॥

सू. वशायामर्थसमवायात्॥ २०॥ (उप०)

भा. यदुक्तम्,—अजावशाशब्देन चोदिते कर्मणि छागशब्देन निगमा भवन्ति—इति, तत् युक्तम्, वशायामर्थसमवायित्वं वयं प्रत्यक्षमवगच्छामः, 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि'—इति यैव वशा सैव छागेति। तस्मात् प्रगाथस्योत्कर्षः संस्कारपक्षे, अतः प्रधानकर्मणी—इति॥ (उप०)॥

सू. यचेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात्॥ २१॥ (आ०)

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, संस्कारकर्मणी एव स्तोत्रशस्त्रे, यचैतत्,—प्रगाथस्योत्कर्षः—इति, उत्कृष्यतां यत्र इन्द्रस्तत्र प्रगाथः, लिङ्गेन हि क्रमश्रुती बाधितव्यो एव॥ (आ०)॥

सू. न त्वाम्नातेषु॥ २२॥ (आ० नि०)

भा. अपरेषां मन्त्राणामुत्कृष्टानामन्यत्रार्थवत्ता नास्ति, तेषामानर्थक्यं स्यात्, यथा, याज्याः शंसन्ति, शिपिविष्टवतीं पित-

देवत्या आग्निमारुते*, कुपुम्भकसूक्तं, अक्षसूक्तं, मूषिकासूक्तमित्येवमादीनाम्॥ (आ॰ नि॰)॥

सू दृश्यते॥ २३॥ (आ॰)

भा तदुच्यते,—सर्वेषामर्थवत्ताऽस्ति, मण्डूकसूक्तस्याग्नौ, अक्षसूक्तस्य राजसूये, मूषिकासूक्तस्यैकादशिन्यां, सर्वेषां वाचस्तोमे, 'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे, पारिप्लवं अश्वमेधे शंसति'—इति, तथा 'यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नोदियादपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्'—इति, तस्मादस्त्यर्थवत्ता उत्प्रासानाम्; अतः संस्कारकर्मणी स्तोत्रशस्त्रे—इति॥ (आ॰)॥

सू अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्॥ २४॥ (आ॰ नि॰)

भा. अपि वा प्रधानकर्मणी स्तोत्रशस्त्रे स्यातां। कुतः?। श्रुतिसंयोगात्, सप्तमीश्रुतिसंयोगो हि भवति, 'कवतीषु स्तुवते, शिपिविष्टवतीषु स्तुवते'—इति, यदि स्तुतिः, ततः कवत्यक्षरेषु आश्रिता; यदि प्रकाशनं, ततो देवतायां, तत्र करणत्वस्य तृतीययाऽश्रोष्यत्, न सप्तम्या।

अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति,—'प्रउगं शंसति, निष्केवल्यं शंसति'—इति; अतः स्तुतिरभिनिर्वर्तयितव्या तेन मन्त्रेण, गुणवचनः शब्दः स्तुतिनिर्वर्तनार्थोऽदृष्टमर्थं करिष्यति; तस्मात् प्रधानकर्मणी।

* 'याम्याः शंसति, शिपिविष्टवतीः शंसति, मित्रदेवत्याः शंसति, अग्निमारुते' इत्यपि क्वचित् पाठः।

भा. अपि च, श्रुतिसंयोगो भवति (षष्ठीविभक्तिसंयोगः), यथा 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्'—इति ; तेन देवताशब्दः स्तुतिसंबन्धार्थ इत्युच्यते, देवताभिधानार्थे प्रातिपदिकार्थत्वात्प्रथमा स्यात्। 'अथ यत्प्रथमान्तं, तद्देवतार्थं भवितुमर्हति, यथा, इन्द्रो यातो वसितस्य राजेति'। नेत्युच्यते, तदपि वाक्यसंयोगात् स्तुत्यर्थमेव। 'ननु वाक्याल्लिङ्गं बलीयः'। सत्यम्, एतदपि लिङ्गं, यत् स्तुतिवाक्यस्य साकाङ्क्षस्य निराकाङ्क्षीकरणसामर्थ्यं। 'तथाप्युभयथा लिङ्गेऽनुगृह्यमाणे कुतो निर्णयः?'। वाक्यशेषादेव न देवताभिधानार्थः—इति ; देवताभिधानार्थं इत्येतस्मिन् पक्षे स्तुत्यर्थं साकाङ्क्षवचनमनर्थकमेव स्यात्। तस्मात् अदृष्टार्थत्वात् स्तुतिवचनस्य प्रधानकर्मणी स्तोत्रशस्त्रे।

अपिच, स्तौतिशंसतीति साक्षाद्गुणवचनौ लक्षणया अभिधानार्थौ स्यातां, तस्मात् क्रियोत्पत्तिं (अपूर्वोत्पत्तिं) विदध्यातामिति। (आ॰ नि॰)॥

सू. शब्दपृथक्त्वाच्च ॥ २५ ॥ (यु॰ १)

भा. शब्देन पृथक्त्वमेव गम्यते,—'द्वादशस्तोत्रशस्त्रोऽग्निष्टोमः', इतरथा हि द्वादशत्वं न स्यात्। स्तोत्राणां शस्त्राणां च एकमेव शंसनं स्तवनं च, अथ भेद आश्रीयते, ततो न द्वादशत्वेऽवतिष्ठते॥ (यु॰ १)॥

सू. अनर्थकं च तद्वचनम् ॥ २६ ॥ (यु॰ २)

भा. अग्निष्टुति श्रूयते,—'आग्नेया ग्रहा भवन्ति'—इति, तत्र पुनरुच्यते, आग्नेयीषु स्तुवन्ति, आग्नेयीषु शंसन्ति'—इति, तन्न विधातव्यमेव यदि संस्कारकर्म ; तस्मादपि प्रधानकर्मणी—इति॥ (यु॰ २)॥

सू. अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥ २७ ॥ (यु० ३)

भा. 'संबद्धे वे स्तोत्रशस्त्रे वा'—इति, यद्यन्यत्स्तोत्रमन्यच्छस्त्रं, तत स्तयोः संबन्धः; यदि वा 'अपूर्ववचने ततोऽन्यत्स्तोत्रमन्यच्छस्त्रं, इतरथा यदेव स्तोत्र तदेव शस्त्रं स्यात्' ॥ (यु० ३) ॥

सू. अभिधानं च कर्म्मवत् ॥ २८ ॥ (यु० ४)

भा. प्रधानकर्मण इव चाभिधानं भवति द्वितीयासंयोगेन,—प्रउगं शंसतीति निष्केवल्यं शंसतीति ॥ (यु० ४) ॥

सू. फलनिर्वृत्तिश्च ॥ २९ ॥ (यु० ५)

भा. फलनिर्वृत्तिदर्शनं च भवति,—स्तुतस्य स्तुतमसीत्येवमादि, 'इन्द्रवन्तो मनेमहि भक्षीमहि प्रजामिषं सा मे सत्याशीर्देवस्य भूयात्'—इति स्तोत्रफलमनूद्यते, न देवतायाः; तस्मात्प्रधानकर्मणी स्तोत्रशस्त्रे ॥ अन्यत्र सूत्रबद्धं प्रयोजनं, दशमेऽध्याये ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः प्रधानकर्मत्वादधिकारः स्यात् ॥ (२ । १ । ५ अ०) ॥

---

अथ मन्त्राविधायकत्वाधिकरणम् ।

सू. विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥ ३० ॥ (पू०)

भा. इदं समाम्नायते,—'न ता नशन्ति, न दभाति, तस्करो नासाम् आ मित्रोव्यथिरा दधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते, ददाति च ज्योग् इत्ताभिः स च ते गोपतिः सह'—इति; यजते ददातीत्युदाहरणम, किं यद्ब्राह्मणे भावशब्दो विधायकस्तद्वत मन्त्रेऽपि, उत मन्त्रेऽभिधायकः ?—इति। किं तावत्प्राप्तम्,—विधौ मन्त्रे चाम्नायमानस्य भावशब्दस्य एक एवार्थः स्यात्, ऐक-

शब्दात्, स एवायमेकः शब्दो ब्राह्मणगतो विधास्यति, मन्त्रगतो न शक्नोति विधातुमित्यनुपपन्नं, तस्मात् विधायकः ॥ (पू०) ॥

सू. अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०)

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्त्त्यते, एवंजातीयको मन्त्रो अभिधानवचनः स्यात्, प्रयोगसामर्थ्यात्, प्रयोगे क्रियमाणे अस्य सामर्थ्यं विद्यते, गोदानं गोयागञ्च प्रत्याययितुम्, न विधातुम्। कुतः? विहितत्वात् गोदानस्य दक्षिणाविधाने, गोयागस्य त्वनुबन्ध्यायां। कर्मान्तरं भविष्यति—इति चेत्। न, असत्यप्युच्चमाने, तत्प्रत्ययादेव। स्तुत्यर्थकल्पनायामप्यानर्थक्यं, परिसमाप्तेन वार्थवादकेन वाक्येन विहितत्वात् यागस्य। तस्मान्न मन्त्रगतो भावशब्द एवंजातीयको विधायकः—इति ॥ (२।१।६ अ०) ॥

---

अथ मन्त्रनिर्वचनाधिकरणम् ।

सू. तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥ ३२ ॥

भा. मन्त्रगतो भावशब्दो विधायको न—इति परीक्षितं। कोऽयं मन्त्रो नाम?—इति उच्यते। (अज्ञाते मन्त्रे तद्गतो भावशब्दः कथं विचारितः?—इति, इदमर्थतोऽधिकरणम् पूर्वं द्रष्टव्यं।) कथंलक्षणो मन्त्रः?—इति, तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, अभिधानस्य चोदकेष्वेवंजातीयकेष्वभियुक्ता उपदिशन्ति,—मन्त्रानधीमहे, मन्त्रानध्यापयामः, मन्त्रा वर्त्तन्ते—इति। प्रायिकमिदं लक्षणं, अनभिधायका अपि केचित् मन्त्रा इत्युच्यन्ते, यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'—इति, न शक्यं पृष्ठाकोटेन तत्र तत्रोपदेष्टुमिति लक्षणमुक्तम्, ["ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति

पृथक्त्वम् । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चित"]। उदाहरणम्,—'मेधोऽसि'—इत्येवमादयोऽस्यन्ताः, 'इषे त्वा'—इत्येवमादयस्त्वान्ताः, 'आयुर्दा असि'—इत्याशीः, 'अग्निर्मूर्द्धा'—इति स्तुतिः, सङ्ख्या 'एको मम'—इति, प्रलपितं 'अक्षी ते इन्द्रपिङ्गले कुलेरिव'—इति, परिदेवनं 'अम्बे अम्बिके'—इति प्रैषः 'अग्नीदग्नीन्'—इति, अन्वेषणं 'कोऽसि कतमोऽसि'—इति पृष्टं 'पृच्छामि त्वा'—इति आख्यानं 'इयं वेदिः'—इति अनुषङ्गः 'अच्छिद्रेण पवित्रेण'—इति, प्रयोगः 'चेतयं चातुर्मास्यं', सामर्थ्यमभिधानम्, तथैवदृत्तिकारेणोदाहरणोपदेशे नाख्यातम्। एतदपि प्रायिकमेव, अभिमन्था अपि च मन्त्रा भवन्ति—'ईडयश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्'—इति, त्वामन्ताः 'तत्त्वा यामि'—इति। आशीर्ब्राह्मणमपि, 'सोऽकामयत प्रजाः सृजेय'—इति, स्तुतिरपि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—इति प्रलापो 'न चैतद्विद्मो यदि ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा स्मो वा'—इति, परिदेवनम् 'ये मामधुक्षन्त ते मां प्रत्यमुचन्'—इति, प्रैषः 'अमुतः सोममाहर'—इति, अन्वेषणम् 'इह वा स इह वा'—इति, प्रश्नः 'वेद कर्णवतीं सूर्मिम्'—इति प्रतिवचनम् 'विद्मो वा'—इति, अनुषङ्गः 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः'—इति, प्रयोगः 'चैत्रस्यं चातुर्मास्यं'—इति, सामर्थ्यं 'स्रुवेण अवद्यति द्रवेषु'—इति॥ लक्षणकर्मणि प्रयोजनं प्रसिद्धत्वात् न वक्तव्यं, लघीयसी प्रतिपत्तिर्लक्षणेन 'आक्षेपेष्वपवादेषु प्राप्तयाम् लक्षणकर्मणि। प्रयोजनं न वक्तव्यं यच्च कृत्वा प्रवर्त्तते, आक्षेपेषु पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनं अपवादेषु उत्सर्गस्य, प्राप्तयामुत्तरविवक्षा, कृत्वाचिन्तायां पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनं। अस्ति वेदे मन्त्रशब्दो यस्यायमर्थं स्तौति, 'अहेबुध्नियमन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयीविदा विदुः ऋचः सामानि यजूंषि'—इति॥ (२।१।७ अ०)॥

अथ ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम् ॥

सू. शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥

भा. अथ किंलक्षणम् ब्राह्मणम्?। मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः, तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयं, मन्त्रलक्षणवचनेनैव सिद्धम्,—यस्यैतल्लक्षणं न भवति, तद्ब्राह्मणम्—इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्। वृत्तिकारस्तु शिष्यहितार्थं प्रपञ्चितवान्—इतिकरणबहुलं, इत्याहोपनिबद्धं, आख्यायिकास्वरूपं, हेतुः ('शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते'—इति), निर्वचनं, ('तत् दध्नो दधित्वं'), निन्दा ('उपवीता वा एतस्याग्नयः'), प्रशंसा ('वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'—इति), संशयः ('होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्'—इति), विधिः ('यजमानसम्मिता उदुम्बरी भवति'), परकृतिः (माषानेव मह्यं पचति—इति), पुराकल्पः (उल्मुकैर्हस्म पूर्वे समाजग्मुः'—इति), व्यवधारणकल्पना ('यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्'—इति); ["हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना। उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु। एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्"]। एतदपि प्रायिकम्,—इतिकरणबहुलो मन्त्रोऽपि कश्चित्,—'इति वा इति मे मनः', इत्याहोपनिबद्धश्च, भगं भक्षीत्याह', आख्यायिकास्वरूपश्च 'उग्रो ह भुज्युम्'—इति, हेतुः 'इदं वो वासुशक्ति द्धि', निर्वचनं 'तस्मादापोनुस्थना' इति, निन्दा 'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः'—इति, प्रशंसा 'अग्निर्मूर्द्धा'—इति, संशयः—अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्' इति, विधिः—'पृणीयादिन्नाधमानाय'—इति, परकृतिः—'सहस्रमयुतादृदत्', पुराकल्पः—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'—इति॥ (१।२।८ अ०)॥

---

ऊहाद्यमन्त्रताधिकरणम्।

सू अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः॥ ३४॥

भा ऊहप्रवरनामधेयेषु संशयः,—मन्त्राः उत न?—इति; अभिधायकत्वान्मन्त्राः—इति प्राप्ते ब्रूमः,—अनाम्नातेषु मन्त्रत्वं न स्यादभिधायकेष्वपि, नाभिधायकत्वं मन्त्रत्वे हेतुः, किं तर्हि अभियुक्तप्रयोगः, ये अभियुक्तैर्मन्त्राः—इति नोच्यन्ते, न ते मन्त्राः, नचैवमादयो मन्त्रसमाम्नाये सन्ति, तस्मात् अमन्त्राः॥ प्रयोजनं,—मन्त्रे दुष्टे यत् प्रायश्चित्तममन्त्रेषु तन्न॥ (२।१। ९ अ०)॥

---

ऋग्लक्षणाधिकरणम्।

सू. तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ ३५॥

भा. ऋच इत्यस्ति वेदे,—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः ऋचो यजूंषि सामानि'—इति। कथंलक्षणिका ऋचः?। 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था', यत्र पादकृता व्यवस्था स मन्त्र ऋगाम्नाता, यथा 'अग्निमीळे'—इति, एवंजातीयकेषु मन्त्रेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति, ऋचोऽधीमहे, ऋचोऽध्यापयामः, ऋचो वर्तन्ते—इति। यदर्थवशेन—इत्युच्यते, यत्र वृत्तवशेन तत्र न प्राप्नोति, 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः'—इति, यतो न 'अर्थवशेन'—इति वृत्तादिप्रव्यावृत्त्यर्थं, किं तर्हि अनुवाद एष प्रदर्शनार्थः; अवश्यमेतदेवं विज्ञेयं, वृत्तादि निवृत्तार्थे सति वाक्यं भिद्येत। तस्मात् यत्र पादकृता व्यवस्था, सा ऋगिति॥ (२।१।१० अ०)॥

---

सामलक्षणाधिकरणम् ॥

सू. गीतिषु सामाख्या ॥ ३६ ॥

भा. अथ साम्नः किं लक्षणं?। विशिष्टा काचिद्गीतिः सामेत्युच्यते, प्रगीते हि मन्त्रवाक्ये सामशब्दमभियुक्ता उपदिशन्ति,—सामान्यधीमहि, सामान्यध्यापयामः, सामानि वर्त्तन्ते—इति, अभियुक्तोपदेशश्च नः प्रमाणं; यथा अम्लं दधि, मधुरो गुडः—इति, गीतिविशिष्टे तावन्मन्त्रे गीतिशब्दः, गीतिसंबन्धान्मन्त्रे संप्रत्ययः—इत्यवगन्तव्यम् ॥ (२।१।११ अ०) ॥

---

यजुर्लक्षणाधिकरणम् ॥

सू. शेषे यजुःशब्दः ॥ ३७ ॥

भा. अथ यजुषः किं लक्षणम्?—इति। यजुषो लक्षणं न वक्तव्यं, ऋगलक्षणसामलक्षणाभ्यामेव यजुर्विज्ञास्यते वैपरीत्येन, या न गीतिर्न च पादबद्धं, तत् प्रश्लिष्टपठितं यजुः—इति ॥ (२।१।१२ अ०) ॥

---

निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम् ॥

अथ निगदो नाम किं यजूंषि उत यजुषोऽन्यः?—इति,

सू. निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥ ३८ ॥ (पू०)

भा. निगदाः* न यजूंषि। कुतः?। धर्मविशेषात्, 'उच्चैः ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा, उच्चैर्निगदेन'—इत्येष धर्मविशेषः, उच्चैर्निगदेन—इत्यनूद्यते, यदि यजुषो निगदत्वं

---

* परसम्बोधनार्था मन्त्रा निगदाः ॥

भा. स्यात्, न च तस्योच्चैस्त्वं धर्मो दृश्येत! दृश्यते तु; तस्माच्चतुर्थं मन्त्रजातं निगदो नाम ॥ (पू०)॥

सू. व्यपदेशाच्च ॥ ३९ ॥ (यु०)

भा. व्यपदेशोऽपि भवति,—यजूंषि वर्त्तन्ते, न निगदाः; निगदा वर्त्तन्ते, न यजूंषि- इति; तस्मादपि मन्त्रान्तरम् ॥ (यु०)॥

सू. यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ॥ ४० ॥ (सि०)

भा. यजूंष्येव वा निगदाः। कुतः?। 'तद्रूपत्वात्', तदेवैषां रूपं, यत् यजुषां प्रश्लिष्टपाठः, ऋक्सामलक्षणविलक्षणता च॥ (सि०)॥

सू. वचनाद्धर्मविशेषः ॥ ४१ ॥ (उप०)

भा. 'वचनात्' प्रत्यायनसामर्थ्यात्, अस्ति हि पुरुषान्तरप्रत्यायनसामर्थ्यं केषाञ्चित् यजुषाम् ॥ (उप०)॥

सू. अर्थाच्च ॥ ४२ ॥ (यु० १)

भा. अस्ति च तैः पुरुषान्तरैः प्रत्यायितैः प्रयोजनं, नोपांशूच्चार्यमाणाः पुरुषान्तरं प्रत्याययेयुः; तस्मात् धर्मविशेषोऽर्थवान्; यानि च यजूंषि उच्चैरुच्चार्यन्ते ते निगदाः। कुतः?। निगद; प्रकर्षस्य वक्ता, यथा प्रकर्षेण रक्तं नितरां रक्तम्—इत्युच्यते; गदतिर्गदनार्थः पाठवचनः; एष एव हि प्रकर्षो यदुच्चैस्त्वाच्चिस्पष्टत्वं। 'ननु वाचनिको गुणो यजुषामुपांशुत्वं'। नेति ब्रूमः,—गुणो नाम स भवति, यः स्वकार्यं कुर्वतामुपकारे वर्त्तते, न च परसंबोधनार्थानां यजुषामुपांशुत्वं साहाय्ये वर्त्तते, तद्धि स्वकर्मक्रियाविघातं करोति, तेन पुरुषान्तरसम्बोधनार्थमुच्चैस्त्वं गुणः। इतरार्थन्तु वचनं भविष्यति, इतराणि यानि

भा यजूंषि न पदसम्बोधनार्थानि, तेषु उपांशुत्वं निवेद्यते ॥ (यु० १) ॥

सू गुणार्थो व्यपदेशः ॥ ४३ । (उप०)

भा अथ यदुक्तं व्यपदेशः—इति, स चैकत्वेऽपि गुणतो भवति, यथा इतो ब्राह्मणा भोज्यन्ताम्, इतः परिव्राजकाः—इति, एवमुच्चैस्त्वेन गुणेन तान्येव यजूंषि व्यपदिश्यन्त,—निगदाः—इति ॥ (उप०) ॥

सू सर्व्वेषामिति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०)

भा. यदि य उच्चैर्गद्यते स निगदः, ऋगपि निगदः प्राप्नोति ॥ (आ०) ॥

सू न, ऋग्व्यपदेशात् ॥ ४५ ॥ (नि०)

भा न ऋचो निगदाः व्यपदिश्यन्ते, 'अयाज्या वै निगदा ऋचैव यजन्ति'—इति पृथक्त्वनिमित्ता हि व्यपदेशा भवन्ति। 'उच्यते, व्यपदेशो लिङ्गं, मास्मिन्नुच्यताम्'—इति। अपादबद्धे गदति-र्वर्त्तते, अपादबद्धो हि गद्य—इत्युच्यते ॥ (नि०) (२ । १ । १३ अ०) ॥

---

एकवाक्यत्वलक्षणाधिकरणम् ।

सू अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् ॥ ४६ ॥

भा अथ प्रश्लिष्टपठितेषु यजुःषु कथमवगम्येत इयदेकं यजुरिति?। यावता पदसमूहेनेज्यते, तावान् पदसमूहः एव यजुः। कियता चेज्यते?। यावता क्रियाया उपकारः प्रकाश्यते तावत् प्रकाश्यत्वात् वाक्यम्—इत्युच्यते। तेनाभिधीयते,

भा. 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्'—इति, एतस्माच्चेत् कारणादेकवाक्यता भवति; तस्मादेकार्थः पदसमूहो वाक्यं, यदि च विभज्यमानं साकाङ्क्षं पदं भवति। किं उदाहरणम्?। 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे'—इति। 'ननु पदं पदमनेकार्थम्'। सत्यं, न तु तद्विभागे साकाङ्क्षं। 'न तर्ह्यर्थैकत्वमुपपद्यते! बहुत्वात्पदार्थानाम्, पदसमुदायस्य च पृथगर्थो नास्ति—इत्युक्तम् (१।१।२४ एवं २५ सू०)। भेदः संसर्गो वा वाक्यार्थः—इति यदुच्यते, तथाप्येकार्थता न स्यात्, बहुपदे भेदानां संसर्गाणां च बहुत्वात्'। एकप्रयोजनत्वादुपपन्नम्, यथा तावत् 'देवस्य त्वा'—इति निर्वापप्रकाशनं, तस्य विशिष्टस्य वाचक एतावान् पदसमूहः, तत् वाक्यम्। 'नन्वेच 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे निर्वपामि'—इत्येकं वाक्यं, 'अश्विनो बाहुभ्यां निर्वपामि'—इत्यपरम्, एवं बहूनि वाक्यानि'। यदि निर्वपामि—इत्यनुषङ्गः, ततो बहूनि वाक्यानि, न त्वेवमनुषङ्गो भवति, यदि गुणभूतो निर्वपामीति, तदा प्रतिप्रधानं भिद्येत! न च निर्वापो देवस्य त्वेत्येवमादीनामर्थेनोच्यते, साधनप्राधान्ये हि अदृष्टार्थता वचनस्य स्यात्। निर्वापे पुनः प्रधाने दृष्टं कार्यं निर्वापप्रकाशनं, तत् सर्वैर्विशेषणैर्विशिष्टमुच्यते; तस्मात् अविरोधः। यथा च पदं पदेन विशिष्यते तथोक्तं (१।१।२५ सू०) तद्भूतानामिति: तस्मादेकं वाक्यम्।

अथ किमर्थमुभयं सूचितम्,—अर्थैकत्वात्—इति च विभागे साकाङ्क्षत्वात्—इति च, उच्यते,—भवति किञ्चिदेकार्थं, न तु विभागे साकाङ्क्षं, यथा 'भगो वां विभजतु, अर्यमा* वां विभजतु'—इति एकार्थाः सर्वे विभागमभिदधति। 'ननु भगविशिष्टाद्विभागादर्यमविशिष्टोऽन्यो विभागः'। न—इत्युच्यते,

* पूषा इति क्वचित् पाठः।

भा.—विभागसामान्येनास्य प्रयोजनं, न विशेषेण, सामान्ये हि दृष्टोऽर्थो भवति, न विशेषे, विभागे तु न साकाङ्क्षम्; तस्माद्भिन्नमिदं वाक्यं विभागे विकल्प्यते। तथा 'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि; तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेधः सुमनस्यमानः'—इति विभागे साकाङ्क्षं, द्वे तु प्रयोजने क्रियेते,—सदनकरणं पुरोडाशप्रतिष्ठापनञ्च। तस्मात् भिन्ने वाक्ये, पूर्वं सदनकरणे विनियुज्यते, उत्तरं पुरोडाशप्रतिष्ठापने; तस्मात्सम्यक् सूचितं, न सूचोपालम्भो भवति॥ (२।१।१४ अ०)॥

---

वाक्यभेदाधिकरणम्॥

सू. समेषु वाक्यभेदः स्यात्॥ ४७॥

भा. 'इषे त्वा, ऊर्जे त्वा'—इति, तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—इति; अत्र सन्देहः,—किमेवमादिषु भिन्नं वाक्यमुतैकमिति?। एकमिति ब्रूमः,—इषे त्वेत्येवमुक्ते न किञ्चित् दृष्टं प्रयोजनं, तथा 'ऊर्जे त्वेत्यपि च, वचनसामर्थ्याददृष्टं, तदुभाभ्यामेकं कल्पयितुं न्याय्यम्, एवमल्पीयसी अदृष्टानुमानकल्पना भविष्यति; तस्मादेकं वाक्यम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'समेषु वाक्यभेदः स्यात्', समेषु परस्परानाकाङ्क्षेषु वाक्यं भिद्यते,—इषे त्वेत्यनेन एकोऽर्थः क्रियते, ऊर्जे त्वेत्यनेनापरः। 'ननु इदानीमेवोक्तं नात्र दृष्टोऽर्थः'—इति। यद्यपि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन नोपलभ्यते, श्रुत्या तु गम्यते, 'इषे त्वा—इति छिनत्ति, ऊर्जे त्वा—इत्यनुमार्ष्टि'—इति। तथा 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्'—इत्यायुःक्लृप्तिरन्या प्राणक्लृप्तिः। 'ननु सामान्यमात्रमिदं तत् न विशेषणभेदात् भेदमर्हतीति, यथा 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'—इति

भा निर्वाप एकस्तस्य विशेषाः 'सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्याम्'—इति, न तेषां भेदान्निर्वापस्य भेदइष्यते, एवमिहापि क्लृप्तिनामेकोऽर्थः, नानावायुरादिभिर्विशेषैर्भिन्नो भविष्यतीति'। उच्यते,—इह 'क्लृप्तीर्वाचयति'—इति बह्वः क्लृप्तयः सूयन्ते, ताश्च वक्तव्याः, तत्रैकामायुःक्लृप्तिम् 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्'—इत्येष मन्त्रः शक्नोति वदितुं, प्राणो यज्ञेन कल्पतामित्ययमपि प्राणक्लृप्तिमपराम्, एवन्तु सर्वे क्लृप्तिविशेषवचना,, तत्र दृष्टं प्रयोजनं ; तस्मादनेकार्थत्वात्तथापि वाक्यभेदः—इति। 'ननु सामान्यवचनादेकत्वं यथा विभागे'। नैतदेवं, विभागे दृष्टार्थं सामान्यमिह न। अपिच क्लृप्तीर्वाचयतीति विहितम्, आयुर्यज्ञेन कल्पतामिति चायुःक्लृप्त्यभिधानम् अभिनिवर्त्स्यते प्रत्यक्षं, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्—इति च प्राणक्लृप्तेः; तस्माद्वाक्यभेदः॥ (२।१।१५ अ०)॥

---

अनुषङ्गाधिकरणम्।

सू. अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्॥४८॥

भा. 'याते अग्नेऽयाशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा, उग्रं वचो अपावधीत्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा, याते अग्ने रजाशया, याते अग्ने हराशया'—इति अत्र सन्देहः,—तनूर्वर्षिष्ठेति किं सर्वेष्वनुषक्तव्यम्, आहोस्वित् लौकिको वाक्यशेषः कर्त्तव्यः?—इति। किं प्राप्तं?—याते अग्ने रजाशयेत्येतस्य तनूर्वर्षिष्ठेति न वाक्यशेषः, न ह्ययमस्मात्परः प्रयुज्यते।। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः स्यात्तनूर्वर्षिष्ठेति, यद्येव ह्ययं याते अग्नेऽयाशयेत्येतस्यानन्तरं, एवं याते अग्ने रजाशया, याते अग्ने हराशयेत्येनयोरपि। 'हराशयेत्येतस्य व्यवहितः'—इति चेत्। न, समुदायस्याव्यवधानात्. अव्यवहितो रजाशयेति समुदायः

भा समुदायेन च वाक्यशेषस्य सम्बन्धाभावात्समुदायिभ्यां सम्बन्धः, समुदायिसम्बन्धे च न गम्यते विशेषः; तस्मात्सर्वत्रानुषङ्गः।

अपि च साकाङ्क्षस्य सन्निधौ परस्तात्पुरस्ताद्वा परिपूरणसमर्थः श्रूयमाणो वाक्यशेषो भवति। कियांस्तु कालः सन्निधिरिति?। उच्यते,—यावति शक्नोत्युभावप्यपेक्षितुं। कश्चासौ?। आनन्तर्यं सम्बन्धिपदव्यवायो वा, तावति हि शक्नोत्युभावप्यपेक्षितुं, संबन्धिपदव्यवाये हि संबन्धादेव पूर्वसंस्कारो नापैति; यत्राप्यपरेण साकाङ्क्षेण व्यवायस्तत्राप्यस्ति संबन्धः, द्वयोरपि हि कार्यं वक्तव्यमिति, परः पूर्वमपेक्षते, अनपेक्षमाणेऽन्यतरः प्रमादपाठः स्यात्, शक्यते चासावपेक्षितुं, तस्मात् यथैवायमेकस्य सन्निधावेवमपरस्य, द्वयोरप्यसम्बद्धैः पदैरव्यवहितत्वात्, द्वयोरप्याकाङ्क्षतोरेतावच वाक्यशेषसंबन्धे कारणं, नानन्तर्यं, अव्यवधाने विच्छेदेऽपि भवति संबन्धः; तस्मादनुषङ्गः।

"अथेह कथं भवितव्यं? यत्र निराकाङ्क्षाणां सन्निधौ परिपूरणसमर्थः श्रूयते, यथा 'चित्पतिस्त्वा पुनातु, वाक्पतिस्त्वा पुनातु, देवस्य त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः'—इति, अत्र हि पुनात्वन्तानि परिपूर्णानि न किञ्चिदाकाङ्क्षन्ति। 'ननु अच्छिद्रेणेत्येतदाकाङ्क्षिष्यति'। सत्यमाकाङ्क्षति, आकाङ्क्षदप्येतदेकमाकाङ्क्षेत्, एकेनैव एतत् निराकाङ्क्षं संपद्यते—इति, एकेन हि निराकाङ्क्षीकृतो नेतरावाकाङ्क्षिष्यति, अनर्थकत्वादाकाङ्क्षति, एकेन च संबद्धो नानर्थको भवति; तस्माचेतरावाकाङ्क्षति—इति, इतरावपि परिपूर्णत्वात् न तमाकाङ्क्षतः। 'ननु एतस्य वाक्यशेषस्य एकमप्याकाङ्क्षतो न गम्यते विशेषः, केन निराकाङ्क्षीक्रियते, केन वा न?—इति, तेनानवगम्यमाने विशेषे सर्वैः सह संभन्त्स्यते'। आह, नैतदेवं, येनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्यमुपलभामहे तेन सह संभन्त्स्यते—इति गम्यते विशेषः, तस्मात्तेनानन्तरेण सह संभ-

भा. नुष्यते—इति नास्ति सर्वत्रानुषङ्गः—इति"। आह,—नैतदेवं, —पुनातुशब्देनास्य प्रत्यक्षमानन्तर्यमुपलभामहे, पुनातुशब्द-स्यापि चित्पतिस्त्वेत्येवमादिभिः, एकस्थाने पुनातुशब्दः पुनः-पुनरुच्चरितः, तेनावगच्छामः,—यत्र पुनातुशब्दः प्रयुक्तः, तत्र तेनैकवाक्यत्वादच्छिद्रेणेत्ययमपि प्रयोक्तव्यः, तथा च सति चित्-पतिस्त्वा—इत्येवमादयो विना पुनातुशब्देन, साकाङ्क्षाः, ते च पुनातुशब्दमाकाङ्क्षन्ति, स च पुनातुशब्दोऽच्छिद्रेणेत्यनेन विशिष्टः, तेन पुनातुशब्देन सानुषङ्गेण नियोगतः सर्वे निरा-काङ्क्षीकर्त्तव्याः। तस्मात्सर्वेषु तुल्यप्रयोगाः—इति वाक्यपरि-समाप्तिरनुषज्यते॥ (२।१।१६ अ०)॥

---

व्यवेतानुषङ्गाधिकरणम्।

सू. व्यवायान्नानुषज्येत॥ ४९॥

भा. 'सं ते वायुर्वातेन गच्छतां, सं यजत्रैरङ्गानि, सं यज्ञपति राशिषा'—इति; वायुर्वातेन गच्छतामित्येव सं यजत्रैरङ्गानि —इति बहुवचनान्तेन व्यवहितत्वात् सं यज्ञपतिराशिषेत्यत्र नानुषज्यत, एकेन साकाङ्क्षेण व्यवेतो गच्छतामितिशेष', ततो बहुवचनान्तेन सं यजत्रैरङ्गानीत्येतेन सम्बन्धमनुपेत्य व्यवेत-त्वात्परेण न सम्बध्यते. गम्यते हि तदा विशेषः,—एकेन व्यवेतः —इति, गम्यमाने विशेषे न तत्र भावो वाक्यशेषस्योपपद्यते; तस्माद्बहुवचनान्तस्य परस्य च तदव्यवेतस्य लौकिको वाक्यशेषः कर्त्तव्यः—इति॥ (२।१।१७ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः॥ उपोद्घातपादोऽयम॥ * * ॥

## द्वितीयः पादः ॥

### शब्दापूर्व्वभेदाधिकरणम् ।

सू शब्दान्तरे कर्म्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥ १ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमस्तत्र श्रूयते,—सोमेन यजेत, दाक्षिणानि जुहोति, हिरण्यमात्रेयाय ददाति*—इति, यजति—ददाति—जुहोतयस्ते किं संहत्य कार्य्यं कुर्व्वन्ति, उत वियुत्य?—इति संशयः, साधकाः संहत्यापि साधयन्तो दृश्यन्ते, वियुत्यापि; संहत्य तावत्, त्रयो ग्रावाण एकामुखां धारयन्तो दृश्यन्ते, नागदन्तकास्तु वियुत्यापि, एकैकस्मिन् हि शक्यते शिक्यमवलम्बयितुम्; अतो यजति—ददाति—जुहोतयः संहत्य साधयेयुर्वियुत्य वा?—इति जायते संशयः।

किं तावत्प्राप्तं, संहत्य—इति। कुतः?। अदृष्टार्थानामुपकारकल्पनाऽल्पीयसी न्याय्या—इति। कथं?।

अदृष्टो योऽश्रुतो वार्थः, स नास्तीत्यवगम्यते।
तस्मिन्नसति दृष्टश्चेत् श्रुतो वा न विरुध्यते॥
विरुध्यमाने कल्प्यः स्याज्ज्ञायते तेन योऽर्थवान्।
विशेषश्चेन्न गम्येत, ततो नैकोऽपि कल्प्यते॥

गम्यते च विशेषः,—बहुभ्य एकमपूर्वम्—इति; तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः, ततो ह्यदृष्टे कल्प्यमाने, अवयवानां समुदायं प्रति अर्थवत्त्वादेकमपूर्वं समुदायात् कल्पितम् भविष्यति। न च, अशब्दः समुदायः, अवयवशब्दैरेव समुदायस्योक्तत्वात्। तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः। अथ वा, यजेतेत्येतस्य पूर्वो भागो

* अत्र, हिरण्यमात्रेयाय ददाति, दाक्षिणानि जुहोति—इति क्रमेण पाठो युक्तः।

भा- यजत्यर्थं ब्रवीति, उत्तरो भावयेत्—इति, तथा ददाति—इति पूर्वो भागो ददात्यर्थम्, उत्तरस्तमेव (भावयेत्—इति) अनुवदति, एवं जुहोति—इति पूर्वो भागो जुहोत्यर्थम्, उत्तरस्तमेवानुवदति, तेनैकस्यां भावनायां त्रयो यजत्यादय उपाया विधीयन्ते श्रुत्या। तस्माद्देतैर्यागदानहोमैर्विशिष्टाः पूर्वस्य भावना प्रतीयते, अत उच्यते,—संहत्यैकमपूर्वं साधयन्ति—इति। यदा यजतिशब्देन विहितम् दानं दानहोमशब्देनानूद्यते गुणसम्बन्धार्थम्, तस्मादेकमपूर्वमिति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रतिशब्दं अपूर्वभेदः—इति, 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्', यजेतेत्यनेन केवलस्य यागस्य कर्तव्यतोच्यते, न तु जुहोतिशब्दाभिहितस्य ददातिशब्दाभिहितस्य वा, शब्दान्तरत्वात्; प्रयोगवाक्यमेपभावेन हि समुदायस्य सत्तासम्बन्धो गम्यते, श्रुत्या अवयवस्य, यजेत—इति सन्निहितयोरपि वाक्येन दानहोमयोः, श्रुत्या यागस्यैव सत्तासम्बन्धो गम्यते, न दानहोमयोः; श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्मान्न समुदायः शब्दः, कल्प्यमानो हि प्रयोगवचनेन एकवाक्यताम् नीयेत कल्प्येत, शब्दान्तरञ्च यजतेर्ददातिः; तत्र यद्यपि परो भागो भावनावचनः सर्वेषु समानः, तथाप्येकैकस्य पूर्वाऽवयवोऽन्यः, अन्यश्च तेन समुदायः शब्दान्तरम् अन्यस्मात् समुदायात्, तथायागात् यागम्, दद्यात्—इति (दानेन साधयेत्—इति) केवलमेव दानं करणं भावनायाः प्रतीयते, न यागहोमौ सहायौ अपेक्षते। तथा जुहोति—इति होमसाधनां भावनामाह, न दानयागावपेक्षते। तच्चैतत्फलशब्देनावगतं,—दानेन केवलेन सिध्यति—इति जुहोतीत्यपि होमेन केवलेन सिध्यतीति, न तु दानेन केवलेन सिध्यतीति विज्ञानं निवर्तते। ददातिर्हि स्वेन कारकग्रामेण कृतानुबन्धो न यागं होमं वा अनुबन्धमपेक्षते। तस्माद्विधानि वाक्यानि, प्रतिशब्दमपूर्वभेदः

भा—इति। न च दानस्य यजतिजुहोतिभ्यामनुवादो यागहोमयोरविवक्षाप्रसङ्गात्। न च दानमितरयोरनुवादः, परस्वत्वार्थत्वात् ददातेः, इतरयोश्च त्यागार्थत्वात्। प्रयोजनं पूर्वपक्षे समुदायादपूर्वं, सिद्धान्ते तु यागस्य फलवत्त्वादितरयोर्गुणभावः॥ (२।२।१ अ०)॥

---

समिदाद्यपूर्व्वभेदाधिकरणम्॥

सू एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्॥२॥

भा. 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति'*—इत्येवमादिः पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजतिशब्दः किमेकमपूर्वं चोदयति, किं प्रत्यभ्यासमपूर्वभेदः?—इति। शब्दान्तरे कर्मभेद उक्तः, इह स एव शब्दः पुनःपुनरुच्चार्य्यते; तस्मादेकमेव अत्रापूर्वम्। ननु 'अपूर्वान्तरमविदधदनर्थको भवति'। सत्यमेवाप्रयोजनो भवति, सकृदुच्चरितोऽपि चोच्चार्यमाणो नान्यार्थो भवति, यत्प्रथमे उच्चारणे गम्यते, शततमेऽपि तदेव गम्यते। तस्मात् पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजतिशब्द एकमपूर्वं चोदयति। न चाभ्यासोऽनर्थको भविष्यति, तनूनपादादीन्देवता विधास्यति, तस्मादेकमपूर्वम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'एकस्यैवं पुनःश्रुतिः' 'स्यात्,' कर्मभेदं कुर्य्यादित्यर्थः। तावत्येव विधीयमानेऽसति कस्मिंश्चिद्विशेषे पुनःश्रुतिरनर्थिका भवेत्। 'ननूक्तं न शक्नोत्यर्थान्तरम् विधातुम्'—इति। उच्यते,—समिधो यजति—इत्यपि प्रथमोऽनुवाद एव, दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत—इति यागः प्राप्त एव; तत्र देवता न शक्या विधातुम्, श्रुतिप्राप्ता हि तत्र देवता, इयं वाक्यात्प्रकरणाद्वा, तयोर्विकल्पो न न्याय्यः, स एष देवतायागस——ने

---

* इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजतीति शेषः॥

भा. विधीयमानः अक्रियमाणे यागे न शक्यः कर्त्तुमित्यनर्थकः स्यात्। क्रियमाणे तु शक्यते। तस्मादभ्यसितव्यो यागः, अतश्चाभ्यासद्वादृष्टभेदः—इति, न च यत् समिस्सम्बन्धेन क्रियते, तत् तनूनपात्सम्बन्धेन, भिन्नत्वात् तयोः, अतो न विकल्पः। प्रयोजनं पूर्वपक्षे सकृत्प्रयोगः—इति, सिद्धान्ते पुनःपुनःप्रयोग' इति॥ (२।२।२ अ०)॥

---

आघाराद्याग्नेयादीनामङ्गाङ्गिभावाधिकरणम्।

सू. प्रकरणन्तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥ ३ ॥ (सि०)

भा. एवं हि समामनन्ति,—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति, तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नौ उपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति, ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्, ऐन्द्रं दधमावास्यायाम् ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्'—इति। तथा 'आघारमाघारयति, आज्यभागौ यजति, स्विष्टकृते समवद्यति, पत्नीसंयाजान् यजति; शंयिड यजुर्जुहोति'। तथा 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजते'—इति। तत्र सन्देहः,—सर्वाण्येतानि समप्रधानानि, उत आग्नेयादीनि षडेव प्रधानानि, आघारादीनि आरादुपकारकाण्यङ्गानि?। तथा, य एवं विद्वानित्येवंसंयुक्तौ प्रकृतानां कर्मणामनुवदितारौ, अथ वा 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजते'—इत्यपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तत्र इतरे गुणविधयः?—इति।

किं प्राप्तम्,—अन्यार्थत्वादश्रवणाच्च समप्रधानानि—इति प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रकरणन्तु पौर्णमास्यां, प्रकृतानामाग्नेयादीनामनुवदितारौ पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ। कुतः?। 'रूपावचनात्', य एवं विद्वान् पौर्णमासीमित्यपूर्वं यागं यजते—इति न सर्वं याग

भा उच्यन्ते, यः पौर्णमासीसंज्ञकः स विधीयते, नचैतदेवमवगच्छामः,—कीदृशमेवंसंज्ञकस्य यागस्य रूपम्—इति, ते न किञ्चित् प्रतिपद्येमहि, अतो ब्रूमः,—यद्यपूर्वस्य विधातारौ अनर्थकौ—इति; अथ नु प्रज्ञातानामनुवदितारौ, ततः सन्निहिताः पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्ता यागाः—इति गम्यते रूपम्, तचार्थवत्ता वचनस्य। 'कथं पुनरेकवचनान्तौ बहूनां वाचकौ भविष्यति?—इति यदि उच्यते'। समुदायशब्दतयाऽवकल्पिष्यते, रूपवन्तो हि पूर्वप्रज्ञाता यागाः, तेषां च प्रचयशिष्टः समुदायोऽप्यस्ति तदपेक्षोऽयमरूपशब्द, तस्मादेकवचनान्तता न दोषः, भवति हि बहूनामेकवचनान्तः शब्दः समुदायापेक्षः, यथा, यूथं वनं कुलं परिषत्—इति। यदा आग्नेयादीनां समुदायवचनावेतौ, तदा दर्शपौर्णमासशब्देन एते एव अभिधीयन्ते; तत एषा फलसम्बन्धः, फलवत्सन्निधेस्तु आघारादीनि आरादुपकारकाणि—इति ॥

सू विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां* समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥ ४ ॥ (यु०१).

भा यदि च सर्वाणि समप्रधानानि अभविष्यन्, न विज्ञातौ प्रयाजा दृश्येताम्। दृश्यन्ते तु,—'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति'—इति, असत्याग्नेयगुणत्वे प्रयाजस्य तन्नोपपद्यते। अतो न सर्वाणि समप्रधानानि ॥

सू गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥ ५ ॥ (पू०)

भा नेतदस्ति,—पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ समुदायशब्दौ—इति, किन्तु अपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तथा न लक्षणशब्दौ

* पूर्व्वेषामिति का० सं० ।

भा भविष्यति। 'ननु रूपं नास्ति'। वाक्यान्तरेण रूपमवगमिष्यामः; पौर्णमास्यामाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति—इति यदेतत् पौर्णमासी नाम कर्म, तस्य एतद्रूपम्,—अग्निर्देवता, पुरोडाशो द्रव्यमिति। अत आग्नेयादिभिर्गुणो विधीयते—इति ॥

सू. चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ॥ ६ ॥ (उ०)

भा कर्मचोदना वा आग्नेयादयः स्युः। कुतः?। गुणानां युगपच्छासनात्, एकेनैव वाक्येनानेको गुणो विधातुमिष्यते भवता, न च, शब्दान्तरेण चोदिते कर्मणि अनेको गुणः (परस्परसम्बन्धे च असति) शक्यते विधातुम्॥ कथं?। यदि तावत् पौर्णमास्याम् अष्टाकपालो भवति—इति सम्बन्धो विवक्षितः, न तदाऽयमर्थोऽष्टाकपालः सत्या अभिसम्बध्यते—इति, कस्तर्हि? अष्टाकपालः पौर्णमास्याऽभिसम्बध्यते—इति? तत्र तदा भवतिर्वर्तते, तदा 'नैमाग्नेय'—इत्ययमस्यान्तिकादप्युपनिपतितो भवतिसम्बन्धाभावात् नानेन सम्बन्धमर्हति,—अष्टाकपाल आग्नेयो भवति—इति। 'अथाग्नेयः पौर्णमास्यां भवति—इति विवक्ष्यते'। तदाग्नेयपुरोडाशयोरसम्बन्ध एव स्यात्। 'अथ पौर्णमास्यामष्टाकपालस्याग्नेयता विधीयते'। वक्तव्यं,—केन तस्यामष्टाकपालो विहित.?—इति। 'अथ तस्यामाग्नेयस्याष्टाकपालता'। तथापि एष दोषः। 'अथ पौर्णमासीति उभाभ्यां सम्बध्येत'। परस्परेण द्रव्यदेवतयोरसम्बन्ध एव स्यात्। अथ 'द्रव्यदेवते परस्परेण विशिष्टे सत्यौ पौर्णमास्या सम्बध्येयाताम्'—इत्युच्यते। 'आग्नेयोऽष्टाकपालो यः', स पौर्णमास्यां भवति—इति. तस्य अप्रसिद्धत्वादेतदप्ययुक्तम्। 'अथ केनचिदग्नये सङ्कल्पित. पौर्णमास्यां विधीयते'। तथापि देवताया अविधानाद्रूपाभाव एव। 'अथाग्निर्देवता भविष्यति,—इति कश्चित् ब्रूयात्'। स

भा वक्तव्यः,—मिथ्यानर्थसम्बन्धः—इति, न हि आग्नेयशब्दोऽनुवादो विधिश्च भवति—इति। 'कल्पयिष्यामो देवताम्'—इति चेत्। न, असति विधाने देवताया अभावात्, सम्बन्धिशब्दोऽयं देवता—इति स एवाग्निरष्टाकपालस्य देवता, नान्यस्य। तस्मादवश्यमाग्नेयाष्टाकपालसम्बन्धो विधातव्यः, स एष यागो भवति—इति, तेन पौर्णमासीयागस्यापरो यागः सम्बन्धी विधीयते, न द्रव्य देवता वा, न च यागस्य यागान्तरं रूपं भवति; अतो रूपावचनात् पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ नापूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ। यत्तु उक्तम,—'पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ लक्षणया सज्ञातान् यागाननुवदितुं शक्नुतो नाञ्जस्येन'—इति। नैष दोषः, यदा आञ्जस्येन शब्दार्थो नावकल्पते, तदा लक्षणयाऽपि कल्प्यमानः साधुर्भवति, यथा, अग्नौ तिष्ठति, अवटे तिष्ठति, (अग्निसमीपे अवटसमीपे तिष्ठति—इति) भवति संव्यवहारः, लक्षणापि हि लौकिक्येव—इति॥

सू व्यपदेशश्च तद्वत् ॥ ७ ॥ यु० १)

भा 'उपांशु ह वा एतानि हवींषि अमावास्याया सन्निधियन्ते, आग्नेय प्रथममैन्द्रे उत्तरे'—इति समुच्चयं दर्शयति, आग्नेयादीनां गुणत्वे विकल्पः स्यात्। तत्राग्नेयं प्रथमम, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे—इति व्यपदेशो नावकल्पेत, विकल्पे सम्भारपौर्वापर्यानुपपत्तिः—इति॥ (यु० १)॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ८ ॥ (यु० २)

भा लिङ्गं च दृश्यते,—'चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्'—इति॥ (२।२।२ अ०)॥

उपांशुयाजापूर्वताधिकरणम् ।

सू. पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥ ९ ॥ (पू०)

भा 'जामि वा एतद्यज्ञस्य* क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति'—इति, 'विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय'—इति; तत्र सन्देहः,—उपांशुयाजमन्तरा यजति—इति किं विष्ण्वादिगुणकानां प्रकृतानां यागानां समुदायस्य वाचकः, अथ वा अपूर्वस्य यागस्य?—इति। तत्र उच्यते,—पौर्णमासीवदुपांशुयाजो भवितुमर्हति। कुतः?। नामसम्बन्धात्, नामसम्बद्धो हि विशिष्टो यागः श्रूयते,—उपांशुयाजसंज्ञकः, न च द्रव्यदेवते रूपं, प्रकृताश्चोपांशुगुणका यागा विद्यन्ते; तस्मात् समुदायशब्दः—इति।

'ननु उपांशुगुणकं यागान्तरम् उपांशुत्वेन रूपेण रूपवत् विधीयते'। न एवंजातीयकः शब्द उपांशुविशिष्टं यागं प्राप्नोति वक्तुम्, उपांशुयागः—इति हि तस्य वक्ता, "चजोः कु घिण्यतोः," (७।३।५२ सू० पा०)—इति कुत्वेन भवितव्यम्, अव्युत्पन्नः पुनरुपांशुयाजशब्दः; तस्माच्च रूपवत् यागान्तरम्। यद्यपि नामसंयुक्तं यजतिसामान्यमेव, तथाप्यनुपदिष्टदेवता-द्रव्यरूपं न यागान्तरं प्रतिपद्येमहि। 'नन्वेवं सति प्रकृतानामप्यवाचकः प्राप्नोति'। मा भूदुपांशुयाजशब्दः, यजतिशब्दो भविष्यति, तथा सति उपांशुयाजशब्देऽप्यनुवादत्वादनाम्न्येऽपि न दोषः॥

---

* यज्ञे—इति का० प्री० ।

सू चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥ १० ॥ (सि०)

भा कर्मान्तरस्य वाचकः स्यात्, 'उपांशुयाजं यजति'—इति। कुतः?। प्रकृतानां यागानामभावात्, न चेत्प्रकृता विद्यन्ते, कस्य समुदायं वक्ष्यति?। 'ननु इदानीमेवोक्ता विष्ण्वादिगुणकाः प्रकृता यागा विद्यन्ते'—इति। न विद्यन्ते, न हि, ते विधयो 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः'—इत्येवमादयः। अर्थवादा हि ते। कथम्?। अस्मिन् वाक्ये विध्यन्तरस्य भावात्, उपांशुयाजमन्तरा यजति—इति एतदेतस्मिन् वाक्ये विधीयते; यदि इमेऽपि विधीयेरन्, भिद्येत तर्हि वाक्यम्। अपि च, यागस्य विष्ण्वादीनाञ्च सम्बन्धोऽत्र गम्यते वाक्ये, न च यागस्य विधानम्। 'ननु च, उपांशुयाजमन्तरा यजतीत्यत्रापि अन्तरालसम्बन्धोऽवगम्यते'। बाढं, स तु विधीयते उपांशुत्वादिसम्बन्धः; एकं हि इदं वाक्यं न अनेकं विधातुमर्हति। कथं?। 'जामि वा एतत् यज्ञस्य क्रियते'—इत्येवमुपक्रममेतद्वाक्यम् 'अजामित्वाय'—इत्येवमन्तम्, तस्य मध्ये समाम्नातं विष्ण्वादिवाक्यं तेन सम्बध्यमानं न वाक्यान्तरं भवितुमर्हति; तस्मात् 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः'—इत्येवमादयो न विधयः, किं तर्हि अर्थवादाः। कः पुनरर्थवादः?। आग्नेयाग्नीषोमीययोर्निरन्तरं क्रियमाणयोर्जामितादोष उक्तः, तं भियजितुं, उपांशुयाजमन्तरा यजति —इति विहितम्। कथं तेन भिषजिष्यते?। तस्मिन् क्रियमाणे ज्ञायत एव, यथा विष्णुर्यष्टव्यः प्रजापतिरग्नीषोमौ चेति, ततश्च व्यवधानादजामिताऽवगम्यत एव, तेनाजामितार्थवादं वक्ष्यामि—इति विष्ण्वादिसम्बन्धोऽनूद्यते, न त्वन्तरालसम्बन्धस्यान्यत्प्रयोजनमस्ति श्रुतो विधानात्। कथं विष्ण्वादयो यष्टव्याः—इत्येतदवगम्यते?। यष्टव्यान् अयष्टव्यान् वा विष्ण्वादीनुपांशुयाजाभिष्टवाय सङ्कीर्त्तयति—इति गम्यते।

भा तत्र केचित्तावदाहुः,—प्राप्त एव—इति। कुतः?। शाखान्तरे विधानात्—इति। यद्यप्यप्राप्तिः, तथाप्युपांशुत्वसामान्यात् प्रजापतिर्देवता विष्णुश्चेत्यनुवादावेव, उपांशुधर्माणौ हि विष्णुप्रजापती, तस्मात् यत्किञ्चित् प्राजापत्यं यज्ञे क्रियते, तत् उपांश्वेव क्रियते—इत्येवमादिसङ्कीर्त्तनात् मन्त्रसमाम्नानात् विष्णुम् अप्राप्तमपि प्राप्तमिव वदेत्। अग्नीषोमयोस्तु विधायकमुदाह्रियते,—'एतावब्रूतामग्नीषोमौ आज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्'—इति, तस्मात् यागान्तरम्॥

सू. गुणोपबन्धात्॥ ११॥ (आ० नि०)

भा यत् उच्यते,—न ज्ञायते, कतमोऽसौ उपांशुयाजसंज्ञको यागः?—इति, यस्याय गुण उपबद्धः, उपांशु पौर्णमास्यां यजन्—इति, तस्मात् न दोषः॥

सू. प्राये वचनाच्च॥ १२॥ यु०)

भा प्रधानकर्मप्राये वचनं, प्रधानकर्मतामुपोद्बलयति, यथा, अश्वप्राये लिखितं दृष्टा भवेदयमश्वः—इति मतिः। तस्मात् न समुदायशब्दः—इति॥ (२।२।४ अ०)॥

---

आघाराग्निहोत्राधिकरणम्।

सू आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात्॥ १३॥ (पू०)

भा 'आघारमाघारयति'—इति श्रूयते, तथा इमान्यपराणि, 'ऊर्द्ध्वमाघारयति, सन्ततमाघारयति, ऋजुमाघारयति'—इत्येवमादि, इदश्च 'अग्निहोत्रं जुहोति', तथा, 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति'—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किम् ऊर्द्ध्वा-

भा. घारयति, दध्ना जुहोति—इत्येवमादिभिराघाराः होमाश्च विहिताः, तेषाम् 'आघारमाघारयति', 'अग्निहोत्रं जुहोति' —इत्येतौ समुदायानुवादौ, उतैतावेवापूर्वयोराघारहोमयोर्विधातारौ?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—न अपूर्वयोर्विधी इति। कुतः?। 'अरूपत्वात्',—न हि, एतयोः पूर्वेभ्यो होमाघारेभ्यो विशिष्टं रूपमस्ति। यतः कर्मान्तरम् अध्यवसेयम्; अतः प्रज्ञातत्वात प्रज्ञतानुवादौ॥

सू. संज्ञोपबन्धात् ॥ १४ ॥ (पू॰ यु॰ १) .

भा. संज्ञोपबन्धश्च भवति, अग्निहोत्रं नाम होमं जुहोति—इति, आघारसञ्ज्ञकं कर्म करोति—इति, संज्ञाविशिष्टावाघारहोमौ विधीयेते; न च विज्ञायते, कोऽसावाघारो नाम कर्मविशेषः, कश्चाग्निहोत्रसंज्ञकः?—इति। 'ननु विज्ञायते,—आघारणमाघारः, हवनं होमः'। यद्याघारणसामान्यम् होमसामान्यञ्च विधीयेते, विज्ञातपूर्वौ तर्ह्याघारहोमौ, तेनानुवादौ। अथाव्युत्पन्ना उभयोरपि संज्ञा, तथापि न आघाराग्निहोत्रसामान्यम् उच्येत, विशेषाश्रयत्वात् संज्ञायाः; न च, स विशेषो गम्यते। —इत्यपूर्वावाघारहोमविधी न अवकल्प्येते। अपि च कथं क्रिया साधनशब्देन उच्येत? ईप्सिततमं हि यत् साधनं, तत् द्वितीयान्तेन उच्यते, क्रिया तिङन्तेन। अनुवादपक्षे क्रियाणां समुदायोऽर्थान्तरम्, तत् ईप्सिततमं साधनं भविष्यति॥

सू. अप्रज्ञतत्वाञ्च ॥ १५ ॥ (पू॰ यु॰ २)

भा. न च, प्रज्ञतमपि द्रव्यदेवतमाघारे विद्यते। येन ˎ पा। स्यात्।' तस्मादेतावपि समुदायशब्दौ—इति॥

सू० चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयो भूतत्वात्, तत्सन्निधे-र्गुणार्थेन पुनःश्रुतिः ॥ १६ ॥ (सि०)

भा० नचैतदस्ति,—समुदायशब्दौ—इति, कर्मान्तरचोदने स्याताम्। कुतः?। शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, आघारयति, जुहोति—इति, होमाघारौ प्रयोक्तव्याविति शब्दार्थः, तेन कर्मान्तरे विधीयेते—इत्यवगच्छामः। आघाराग्निहोमशब्दौ च हवनाघारणसामान्यवाचिनौ प्रज्ञातौ, अतो नाविज्ञातार्थौ; तेन रूपवन्तौ सन्तौ विधीयेते।

यदुक्तम्, ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति—इत्येवमादिभिर्विहितत्वादनुवादो—इति। नैतदेवम्,—न ह्येते होमाघारौ विधातुं शक्नुवन्ति; ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति—इति च न एतदुक्तं भवति,—आघारः कर्त्तव्यः, होमः कर्त्तव्यः—इति, किं तर्हि, ऊर्ध्वताघारसम्बन्धः कर्त्तव्यः, दधिहोमसम्बन्धः कर्त्तव्यः—इति; तस्मात् अप्राप्तत्वानानुवादौ। 'ननु सम्बन्धे विहिते अर्थाद्धोमाघारौ भविष्यतः'। नैतदेवम्,—अस्मिन् हि सति विधानेन सम्बन्धः; तस्मान्नार्थादापद्येते होमाघारौ, अतः पूर्वौ विधीयेते—इति ब्रूमः।

'ननु आघारयति, जुहोति—इति होमाघारगतो व्यापारः श्रूयते, न दध्यूर्ध्वतादिसम्बन्धः'। सत्यं न श्रूयते; 'तत्सन्निधेर्गुणार्थेन' व्यापारश्रवणमवकल्पयिष्यते। 'ननु पदार्थान्तरगतं व्यापारं श्रुतिर्न शक्नोति वदितुम्'। सत्यमेवमेतत्, स्वपदार्थगतं वक्ष्यति, ननु स्वपदार्थं गुणशब्दो विशेषयति, स एव विशिष्टः प्रत्येष्यते,—इति भवेदेतत्,—विशिंष्यात् स्वपदार्थं गुणशब्दः, न त्वेष गुणगतो व्यापारः प्रतीयेत। तच्च किं भविष्यति?। अप्रतीयमानेऽपि गुणे शब्दार्थोऽवक्लृप्तो भविष्यति। गुणवचनसन्निधिः—इदानीं किमर्थः?। अनर्थकस्तु। कथं पुनरनर्थको

भा. नाम वेदो भवितुमर्हति?। सति अर्थे नानर्थकः, असति त्वर्थे किमन्यत् उच्चेरत। 'एवं तर्हि वाक्याद्भविष्यति, श्रुत्यर्थे सति न वाक्यार्थोऽवकल्प्यते'। सत्यमेवमेतत्, अविवक्षिते त्ववकल्पिष्यते। कथं अविवक्षा?। गुणवचनस्याप्रमादपाठात्, समुदायार्थस्य च शब्दान्तरेण विहितत्वात्। तस्मात् सिद्धं,—'गुणार्थेन' 'दध्ना जुहोति'—इत्येवमादीनां 'पुनःश्रुतिः'। जुहोतेरुच्चारणं च अनुवादो गुणसम्बन्धार्थः। 'यदि जुहोति—इत्यनुवादः, केनेदानीं गुणो विधीयते?'। दधिशब्देनेति मा वोचत*। 'ननु इदानीमेव वाक्यात् गुणव्यापारो गम्यते—इत्युक्तम्'। सत्यमेवमेतत्, अविधीयमानस्तु कुतो गम्यते?—इति; प्रमाणमस्य नावगम्येत! असति प्रमाणे व्यामोहः स्यात्! एवं तर्हि विधायकौ जुहोत्याघारयतिशब्दौ। कस्य तर्ह्यनुवादः?। धात्वर्थस्य—इति ब्रूमः।

यदि विधायकौ, पूर्वमेव विहिते स्वार्थे, किमर्थं पुनरुच्चार्यते?। वाक्यार्थो यस्तं विधातुमित्यदोषः; तस्मात् कर्मान्तरचोदने। यदुक्तं,—नास्त्याघारे प्रज्ञातं द्रव्यदेवतमिति। किमेवं सति द्रव्यदेवतेन, यदा प्रसिद्धार्थाभिधानान्निर्ज्ञातमेवास्य रूपम्। अपि च, चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्तस्याघारमाघार्यैति आज्यमस्य द्रव्यं, मान्त्रवर्णिको देवताविधिः,—'इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहेत्याघारमाघारयति'†—इति, एवमसाविन्द्रवान् यज्ञस्य इन्द्रो देवता, तत् यदि देवताभिधानमेतदाघारस्य, ततोऽनेनाघारः कृतो भवति। तस्मात् कर्मान्तरे, न समुदायशब्दौ—इति सिद्धम्॥ (२।२।५ अ०)॥

---

* मा वोचतेति, वाजपेयाधिकरणवत् यत्यच्छायाऽत्र योजनीया, प्रत्ययो विधिरेव धात्वर्थस्यानुवाद इति विवेक इति वार्त्तिकम्॥

† एष मन्त्रः प्रतिपुस्तकं विभिन्नाकारतया पठितः, मूलग्रन्थे चादृष्ट इति एष एतादृश एवेत्यत्र नास्माकं निश्चयः॥

पशुसोमापूर्वताधिकरणम् ।

सू द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयो:, प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥ १७ ॥ (सि०)

भा　ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति, तत्रेदमामनन्ति,—'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया, अथ वक्षसः'—इति, तथा 'सोमेन यजेत'—इति, तथापि 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णाति,—इत्येवमादि। तत्र संशयः,—किमवद्यतिगृह्णाति-चोदितानां कर्मणामेवालभतियजती समुदायस्यानुवदितारौ, अथ अपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ?—इति।

किं तावत् प्राप्तम्?—समुदायस्य—इति। कुतः?। ये इमे आलभतियजतिभ्यां कर्मणी विधीयेयातामिति चिन्त्येते, पूर्वमेव ते अवद्यतिगृह्णातिभ्यामवगमिते, नचावगमितोऽर्थो विधीयते। हृदयादींस्तु पशुशब्देनानुवदति, सोमशब्देन च रसम्। तस्मात् 'सोमेन यजेत—इत्यनुवादो यजतिः 'यजेत स्वर्गकामः'—इति फलसम्बन्धार्थः, 'पशुमालभेत'—इति चालभतिः अग्नीषोमसम्बन्धार्थः। अपि च, 'द्वावेतानध्वर्युः प्रातःसवने महान् गृह्णाति'—इति समुच्चयो दृश्यते। तथा 'आश्विनो दशमो गृह्यते, '*तृतीयो हूयते'—इति च क्रमः। यदि च अपूर्वौ यागौ विधीयेते, तत्र ऐन्द्रवायवादिभिर्देवता विधीयेरन्, ता एकार्थाः सत्यो विकल्पेरन्। यथा, 'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति रौहितके बध्नाति'—इति। तत्र क्रमसमुच्चयदर्शनेनोपपद्येयाताम्, अथ पुनरस्मिन् समुदायवचने, यजतौ मध्यगतत्वचकर्तृ भवति, तस्मात् समुदायानुवादो।

* तृतीयं जुहोति इति वार्त्तिके पाठः ।

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अपूर्वयोः कर्मणोर्विधानचोदने पशुसोमयोः। कुतः?। सोमशब्दः वीरिण्यां लतायां प्रसिद्धो न रसे, आकृतिवचनो हि सोमशब्दो न व्यक्तिवचनः। तथा, शृङ्गिणि पुच्छवति लोमशे चतुष्पदि द्रव्यविशेषे पशुशब्दमाकृतिवचनमुपचरन्ति, न च, एवमाकृतिकद्रव्याः प्रकृता यागा विद्यन्ते! येषामिमौ समुदायस्यानुवदितारौ भवेयाताम्। 'ननु पशुविकारो हृदयादिः पशुशब्देनाग्नीषोमसम्बन्धार्थमनूद्यते'। नैतदेवम्—पशुरग्नीषोमीयो भवति—इत्येतावत् उच्यते, नायं प्रकृतो हृदयादिः पशुरिति। तत्र यदि, लौकिकस्य पशोर्ग्रहणं ततो मुख्यः पशुशब्दः, यदि हृदयादेः, ततो जघन्यो विकारसम्बन्धेन; तथा, सोमशब्दोऽपि विकारसम्बन्धेनानुवादः स्यात्! तस्मात् अपूर्वे कर्मणी विधीयेयाताम् न अनुवादौ। अथ 'इन्द्रवाय्वादिषु प्रकृतेषु यागेषु लता विधीयेत'—इति। उच्यते,—न, सा शक्या वाक्येन ऐन्द्रवायवी ज्ञातुम्, श्रुत्या हि रस ऐन्द्रवायवः। तस्मात् द्रव्यसंयोगवचनः प्रकृतेषु यागेष्वपि सत्सु विधातुमनुवदितुम् वा न शक्नुवन्ननर्थकः स्यात्। तस्मात् अपूर्वकर्मणी विधीयेयातां, न प्रकृतानामनुवादौ—इति॥

सू. अचोदकाश्च संस्काराः॥ १८॥ (पू० नि०)

भा. एवं तावत्, प्रकृतेषु सत्स्वपि नानुवादौ—इत्युक्तम्, अथ इदानीं, प्रकृता एव यागा न सन्ति—इत्युच्यते। कुतः?। अचोदकाः संस्काराः, न च, ऐन्द्रवाय्वादिभिर्यागा विधीयन्ते, तेन* ग्रहणमुपकल्पनमात्रम् द्रव्यार्थम्, उपकल्प्यमाने तु देवता-

---

* अत्र का० स० पुस्तके पाठवैपरीत्यं विद्यते, अर्थस्तु न भिन्न इति नोद्धृतः स पाठः।

भा॰ सङ्कीर्त्तनमदृष्टाय; अतः, 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति'—इति इन्द्रवायुभ्यां सङ्कल्पयति—इत्येतावदुक्तं भवति, तत्र यागमन्तरेण सङ्कल्पयतीत्येतन्न युज्यते—इति यागः कल्प्येत, स एवाम्नातो यागः, यस्मिन् सति सङ्कल्पोऽवकल्प्येत। तस्मान्न, ऐन्द्रवायवं गृह्णाति'—इत्येवमादिभिर्यागा विधीयेरन्, प्रकृतानां यागानामभावाच्च समुदायशब्दो यजतिः, तथा लभतिशब्दः—इति॥

सू॰ तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात्* ॥ १९ ॥ (उप॰) -

भा पशौ इता कथा इयमेव पुनरुद्भविष्यति, सोम इदानीं वर्त्तते। 'कथं कर्मसमुच्चयो?—इति'। इन्द्रवाय्वाद्या देवता नैवं श्रूयन्ते,—इन्द्रवायुभ्यां यागो निर्वर्त्तयितव्यः, मित्रावरुणाभ्यां यागो निर्वर्त्तयितव्यः—इति. यद्येवमश्रोष्यन्त, यागं प्रति देवता व्यकल्पिष्यन्त, केवलया हि देवतया तदा यागो निर्वर्त्त्यते—इति विहितमभविष्यत्।† अथ पुनरिमाः अदृष्टार्थं गृह्णातिसंस्कारं प्रति देवता विधीयन्ते, तत्र इन्द्रवायुसङ्कल्पादन्यो मित्रावरुणसङ्कल्पः, तेन गृह्णाती तत्कृतादट्टष्टादट्टष्टान्तरमुत्पादयति, एवमपरेष्वपि ग्रहणेषु, तस्मात् समुच्चयः। ग्रहणन्तु नियतपरिमाणेपूर्द्ध्वपात्रेषु प्रादेशमात्रेषु नियतपरिमाणेषूदकपात्रेषु संस्कृतस्य दशमुष्टिपरिमितस्य हात्स्नस्य सोमस्य नाव कल्पते; यद्यपि च अवकल्प्येत, तथापि नित्यवद्विहितानां देवतानां विकल्पपक्षे तावत्प्रयोगवचनो मा बाधि—इति अव-

---

* तद्भेदात् देवतासंयोगभेदात्, ग्रहणकर्मणोऽभ्यासः, देवतासंयुक्तग्रहणसंस्कार्य्यद्रव्यपृथक्त्वात् अनर्थकं हि संयोगान्तरवचनम्, अननुष्ठीयमानं अनर्थकं स्यात्, तेन ग्रहणस्य भेदः, संस्कार्य्यद्रव्यं प्रति गुणीभावादिति वार्त्तिकम्।

† पशोरेकहविष्ट्वमित्यत्र।

भा यवग्रहणमेव न्याय्यम्, हत्स्नग्रहणे हि तदेव इन्द्रवायुभ्यां सङ्कल्पितं, तदेव मित्रावरुणाभ्याम्—इति नावकल्पेत। तस्मात् कल्पनभेदात् पृथगवस्थितः सोमो नानादेवतत्वादेव नैकेन शक्यः कर्त्तुम्। न चासति देवतायागे देवताभ्य. शक्यते सङ्कल्पयितुम्; तस्मादवश्यम् यथासङ्कल्पिता देवता यष्टव्याः, ताश्च चेज्यमानाश्च 'ज्योतिष्टोमेन यजेत'—इति श्रुतो यागो निर्वृत्त एव भवति, न देवतान्तरमाकाङ्क्षति, हत्स्नेन च द्रव्यमुष्टिना सोमेन यागः श्रुतः, सोऽसति अभ्यासे नावकल्पते—इति अर्थात् स गुणो भविष्यति—इति अभ्यसितव्यो यागः, न हि अनभ्यस्तः सर्वाभिर्देवताभिः सर्वेण च सोमेन सम्पन्नो भविष्यति। तस्मिं श्चाभ्यस्यमाने क्रमसमुच्चयौ युक्तावेव भवतः, तस्मात्तयोर्दर्शनं युज्यते एव—इति ॥

सू संस्कारस्तु न भिद्येत, परार्थत्वात् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्* ॥ २० ॥ (आ॰ नि॰)

भा यदप्युच्यते,—(१५०।२१)—यथा 'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति'—इति खादिरादयः संस्कारे विकल्पन्ते, तद्वदेवता विकल्पयिष्यन्ते—इति, तन्नैवं युक्तं,—तत्र संस्कारमभिनिर्वर्त्तयितुम् खादिरादयः श्रूयन्ते; यदि च इन्द्रवाय्वाद्या अपि यद्वदेवता यागमभिनिर्वर्त्तयितुम् श्रूयेरन्, ततोऽपि विकल्पः स्यात्, न त्वेता यागे श्रुताः; तस्मात् समुच्चीयेरन् ॥ (२।२।६ अ॰)॥

---

सङ्ख्यासंज्ञककर्म्मभेदाधिकरणम्।

सू पृथक्त्वनिवेशात् सङ्ख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥ २१ ॥

भा. अस्ति वाजपेयः,—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—इति,

---

* अत्र इदं सूत्र वार्त्तिककृता नोद्धृतम्।

भा तत्र प्राजापत्या पशव, 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापति, प्रजापतेराप्त्यै श्यामारतूपरा एकरूपा भवन्ति एवमेव हि प्रजापति समृद्ध्यै'। तत्र सन्दिह्यते—किं सप्तदशैतानि कर्माणि अथ सप्तदशपशुगुणकमेकं कर्म?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—एकं कर्म—इति। कुत?। प्रजापतये सप्तदश पशव सङ्कल्प्यन्ते किमेक यागमभिनिवर्त्तयितुम उत बहून?—इतिसंशये एकमिति न्याय्यम्,—यो हि बहून् यागान कल्पयति, कल्पयत्यसावेक तथैकस्मिन्नेव परिवृते सप्तदशानामेव पशूना परिकल्पनमुपपन्न भवति, केन च द्वितीयादीन् यागान अवकल्पयेम। एव सति अणीयसी अदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना भवति, तस्मादेको याग सप्तदशभि पशुभिर्निर्वर्त्यते।

एव प्राप्ते ब्रूम —सङ्ख्यया कर्मभेदो भवेत्, पृथक्त्वे पशूना सति सप्तदशसङ्ख्या निविशेत तत्र पशूना पृथक्त्वे बहुषु यागे ष्ववकल्पते नैकस्मिन। कथम?। एकादशभिरवदानैरसौ यागो निवर्त्तयितव्य —इत्येष चोदक प्रतिदिशति, तानि चैकस्मादेव पशोरवाप्यन्ते तत्र द्वितीयादेरालम्भो न,वदानसम्पादनाय भवितुमर्हति एकमालभ्यमानमन्यालभ्येरन्नदृष्टार्थायापरे, तथासत्यतदर्थत्वान्न ते प्राजापत्या भवेयु, तत्र प्राजापत्यान —इति श्रवणमुपरुध्येत। तेनैकस्मिन पशौ पृथक्त्वे निवेशिनी सप्तदशसङ्ख्या नावकल्प्येत बहुषु यागेषु बहुभिरेवावदानगणै प्रयोजन, तेन सप्तदशभ्यो यागेभ्य सप्तदश पशूनुपाददीरंस्तथ सङ्ख्यासामञ्जस्य भविष्यति तस्मात् सप्तदश यागा।

'नन्वेकस्मिन्न,प याग सप्तदशभिरवदानगणैर्यक्ष्यते वचनात्। न एतदेव,—पशुषु द्विसङ्ख्या श्रूयते, नावदानगणेषु अवदानानि हवींषि यागसाधनानि, न पशवाहुति, सा हि अवदानप्रकृतिद्रव्य विशिंषन्ती प्रकृतौ प्रधानस्योपकृतवतीति

भा. विकृतावप्यवदानप्रकृतिद्रव्यं विजिघन्नी प्रधानस्योपकरिष्यति, तत्र च पशोः सप्तदशसङ्ख्या विकारिका, नावदानगणस्य, तस्मादेकस्मै अवदानगणाय एकः पशुरालब्धव्यः प्राप्नोति, तत्र सप्तदशसङ्ख्या नोपपद्यते, एवमेवावकल्पिष्यते। यदि शृङ्गाभिप्रायाः वर्णाभिप्राया रूपाभिप्राया वा अभविष्यन् सप्तदशपशवः श्वेतः कृष्णो रोहितः—इत्येवमादयः, तेषामन्यतमो गृह्यते—इति, अथवा तूपराः शृङ्गिण एकशृङ्गाः—इत्येवमादयः, तेषामन्यतमः—इति, ते हि श्यामास्तूपरा एकरूपाः श्रूयन्ते, तद्देषु बहुषु यागेषु उपपद्यते, नैकस्मिन्; तस्मात् सप्तदश यागाः—इति। प्रयोजनमेकस्मिन्नष्टे दुष्टे हाल्यः पशुगण आवर्त्तेत, एकमालभ्यमानमन्यालभेरन्, पूर्वपक्षे अदृष्टार्थः; सिद्धान्ते एक एव पशुरावर्त्तते, न हि कर्मभेदे पशुः पशून्तरमाकाङ्क्षति—इति॥ (२।२।७ अ०)॥

---

संज्ञातःकर्मभेदाधिकरणम्॥

सू. संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात्॥ २२॥

भा. 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरथैष सर्वज्योतिः'—इति। अत्र सन्देहः,—किमेभिर्नामधेयैः प्रकृतं ज्योतिष्टोमं सङ्कीर्त्त्य तत्र सहस्रदक्षिणादिर्गुणो विधीयते, अथ वा वक्ष्यमाणविशेषाणि कर्मान्तराण्युपदिश्यन्ते?—इति। किं प्राप्तम्,—प्रकरणानुग्रहात् प्रकृतस्य गुणविधानमिति। 'ननु वाक्यसामर्थ्यात् ज्योतिरादीनामेते गुणा विधायिष्यन्ते'। नैष दोषः, ज्योतिष्टोमस्यैवैतानि वाचकानि, ज्योतिः—इति ज्योतिष्टोमस्य प्रतीकमुपादीयते, विश्वज्योतिः—इति त्रिवृदादीन्यस्य ज्योतींषि वाक्यशेषसङ्कीर्त्तितानि, तानि सर्वाण्यस्य, तेनासौ विश्वज्योतिः सर्वज्योतिश्च ज्योतिष्टोमः—इति एवं प्राप्तम्।

भा एवं प्राप्ते ब्रूम,—सन्ति हि तिस्रो भेदिकाः, तेषां ज्योति रादयाः, उत्पत्तिवाक्ये ह्येताः श्रूयन्ते, तासामिमाः पुनः श्रुतयः, तस्मादयेय ज्योतिः—इति अपूर्वस्य कर्मणो विधायकं वाक्यम अनुवादे हि सति अप्रवृत्तिविशेषकरमनर्थकं स्यात्। प्रकृतस्य च गुणविधाने विकल्पो भवेत्,—तत्र* पक्षे बाधः, न च ज्योति रादयो ज्योतिष्टोमस्य वदितारः,—समुदायान्तराणि ह्येतानि, न चावयवेन समानेन समुदायान्तरं तदर्थमेव भवति, यथा शालाशब्दो गृहवचनः, तत्र न शालाशब्दसामान्यान्मालाशब्दादयोऽपि गृहवचना भवन्ति। यत्तु 'ज्योतिष्टोमस्य ज्योतिरिति प्रतीकमुपादीयते'—इति। प्रकरणसामर्थ्याद्धि तत्र ज्योतिष्टोमशब्देन परोद्देशेनैकवाक्यता भवेत्, सा प्रत्यक्ष ज्योतिःशब्देन सद्दैकवाक्यतां बाधेत, नचैतत्तरायं, वाक्यं हि प्रकरणाद्बलीय.। अथ 'पुनरयं द्योतनार्थत्वाद्वा ज्योतिस्त्वाद्वा कर्मान्तरे वर्त्स्यति, यत्र त्रिवृदादीनि ज्योतींषि तेषां साकल्य वचनो विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः'—इति चेत्। न—इति ब्रूम',—न हि त्रिवृदादिषु ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धः, एवं ब्रुवन् प्रसिद्धिं बाधेत। यत्तु 'वाक्यशेषात् ज्योतिःशब्दः त्रिवृदादिवचन.'—इति, तस्मिन्नेव वाक्ये स तत्र प्रयुक्तः—इति गम्यते प्रमाणान्तरेण, न शब्देन, यत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति, न तत्र वर्त्तितुमर्हति, यथा सिंहो देवदत्तः—इति सिंहशब्दो देवदत्तवचनः प्रमाणान्तरेण, न तु सिंहमालभेत—इति यत्र, तत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति। तस्माच्च विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः—इति च ज्योतिष्टोमस्य वदितारौ, न चेज्ज्योतिष्टोम उच्यते, सर्वाणि कर्मान्तराणि॥ (२।२।८ अ०)॥

---

* 'प्रकृतस्य गुणविधाने विधातव्ये' इति का० प्रा० पु०।

देवताभेदकृतकर्म्मभेदाधिकरणम् ॥

सू. गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥ २३ ॥

भा. चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे समामनन्ति,—'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्'—इति। तत्र सन्दिह्यते, —किमामिक्षागुणके कर्मणि वाजिनं गुणविधिः, उत तस्मात् वाजिनगुणकं कर्मान्तरम्?। किं प्राप्तं?—गुणविधिः—इति। कुतः?। यजेनानेनामिक्षया याजिनो विश्वेदेवास्ताननूद्य वाजिनं विधीयते, तेनोभयं वैश्वदेवम्,—आमिक्षा वाजिनं च। तस्मिन्नेव च कर्मणि वाजिनगुणविधिः। यथा अग्निहोत्रं जुहोति —इत्युक्ते दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणश्चाप्रकृतेन देवताभिधानेन सम्बध्यमानः कर्मान्तरं विदध्यात्, समे हि सदेते वाक्ये भवतः, उभे अपि अपूर्वयोर्यागयोः विधातृणी। 'कथं पुनरपूर्वदेवताभिधानम्? यदा इदानीमेव उक्तं,—विश्वेषां देवानामनुवादो वाजिनम्'— इति। तदुच्यते,—इह विश्वेषां देवानां देवतात्वं क्वचित् श्रुत्या, क्वचित् वाक्येन:- तद्धितनिर्देशे श्रुत्या, चतुर्थीनिर्देशे वाक्येन; यत्र श्रुत्या देवतात्वं, तत्रामिक्षया सहैकवाक्यत्वम्; यत्र चतुर्थी, तत्र वाजिनेन; तत्रैषामेकत्र श्रुत्या देवतात्वं, वाक्येन द्रव्यविशेषसम्बन्धः; एकत्रोभयमपि वाक्येन; तदिह देवतात्वं प्रति श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्बलीयसी —इत्यामिक्षायाञ्च देवतात्वं विश्वेषां देवानां, न वाजिन-याग्ये इत्यध्यवसीयते, तेनावगम्यते,—अप्रकृतेन देवतापदेनास्य सम्बन्धः—इति; तस्मात् कर्मान्तरमिति। (२।२।९ अ०) ॥

अथ यदुपवर्णितम्,—'यथा अग्निहोत्रं जुहोति—इत्युक्ते दध्ना जुहोति—इत्येवमादयो गुणविधयः'—इति। तत्रोच्यते,—

(पूर्वाधिकरणाशङ्कानिरासो द्रव्यविशेषानुक्तिमत्कर्मैक्याधिकरणं वा)

सू अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥ २४ ॥

भा युक्तं यत् तत्र गुणविधानं न तत्राप्रकृतेन केनचिद्गुणेन सम्बन्धः, प्रकृतेन त्वस्ति यागेन, तस्मादनुपवर्णनमेतत्।

अथ वा अधिकरणान्तरम्,—'दध्ना जुहोति'—इत्येवमादीनि कर्मान्तराणि विकल्पपरिजिहीर्षयाऽवकल्प्यन्ते। तदेव तु कर्म जुहोति—इतिशब्दादवगम्यते, न कर्मान्तरम्। तस्मात्तत्रैव गुणविधिः, वचनाद्विकल्पश्च—इति सिद्धम् ॥ (७।२।१० सू०)॥

---

दध्यादिहोमस्य फलवत्त्वाधिकरणम्।

सू फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥ २५ ॥
(पू०)॥

भा अग्निहोत्रं प्रकृत्य समामनन्ति—'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इत्येवमादि। तत्र संशयः,—किमग्निहोत्रहोमाद्धोमान्तरं दध्यादिहोमः उत दध्यादेर्गुणात् फलम्?—इति। किं प्राप्तम्?—होमान्तरम्—इति। कुतः?। 'फलश्रुतेः', फलमिह श्रूयते, तच्च कर्मणो न्याय्यम्।

'किं दृष्टं हि कर्मणः फलम्? कृष्यादितो व्रीह्यादि'। न—इति ब्रूमः न चैतत् दृष्टेनानेन सिध्यति, यदि दर्शनं हेतु

---

* 'तच्च कर्मणो न्याय्यमिति पूर्वपक्षवादिनाभिहिते सिद्धान्तवादी धिप्रायानवबोधेन भावार्थाधिकरणन्यायासम्भवात् शब्दस्यासामर्थ्य न्यमानः पृच्छति,—'किं दृष्टं हि कर्मणः फलं कृष्यादितः इति, येन मान्यतोदृष्टेन (अनुमानेन) होमात् फलं मन्यसे' इति वार्त्तिकम्।

† पूर्वपक्षवादी सामान्यतोदृष्टानुमाने दोषं दर्शयन् होमात् फलमिति शब्दादेव प्रतीयते इति प्रतिपादयति नतीति। अयमत्राभाष वार्त्तिकानुसारी।

भा फलश्रुतौ, होत्यादौ पदार्थे तद्दर्शनं, न होमे। 'अथ दृष्टो दृष्टमन्यथापि भवति'। द्रव्यादपि प्रसज्यते। 'अथ छपिसदृशात् भवति—इत्युच्यते, छपिसदृशो होमः क्रियात्वात्, न द्रव्यं, असदृशं हि तत्'—इति। होमोऽप्यसदृशः, मन्त्रदेवतादि-साधनत्वाद्धोमस्य, लाङ्गलादिसाधनत्वाच्च कृषेः; त्यागात्मकत्वाद्धोमस्य, पाटनात्मकत्वाच्च कृषेः। 'अथ किञ्चित् सादृश्यं गृह्यते'। द्रव्यस्यापि सदनित्यमित्येवमादि किञ्चित् सादृश्यमस्ति। 'अथ द्रव्यादन्यत् सदृशतरमस्ति—इतिहत्वा न द्रव्यं सदृशम्—इत्युच्यते'। होमादप्यन्यत् कृषेः सदृशतरमस्ति दृष्टार्थम्—इतिहत्वा होमोऽप्यसदृशः स्यात्। नचेतत्सिद्धं,—यत् क्वचित् दृश्यते, तदन्यस्मिन् सदृशभावे अदृष्टमपि भवितुमर्हति—इति, यद्धि यस्य कारणभूतं दृष्टं सिद्धं, तच्चेत्साधेऽपि कारणभूतमित्यवगम्यते, भवति तत्तस्य साधकं, यच्च ज्ञायते कारणभूतम्—इति, न तत् सदृशमपि साधकं, तस्मात् सदृशमपि साधकमसाधकं वेति परीक्षितव्यम्—इति। 'अथ यत्कर्म तत् फलवत् दृष्टं, होमोऽपि कर्म, तेनापि फलवता भवितव्यम्'—इति। उच्यते कर्मणि द्रव्याणां तत्संयोगानाच्च द्रव्यान्तरं फलं दृष्टम्—इति द्रव्यमपि फलवत् स्यात्। अपि च कृषेर्नादृष्टमिति तस्माद्द्रव्याद्धोमादपि नादृष्टं भवेत्, छपिसाद्रव्याद्वा व्रीहिरेव भवेत्, न इन्द्रियम्, तस्मान्नैवंजातीयकेऽथैतत् भवति दृष्टादृष्टसिद्धिः—इति। कथं तर्हि होमाधारत्वं फलम्?'—इति। उच्यते, शब्देनावगम्यते तत्फलं, यतः फलम्—इति शब्द आह, ततो न्याय्यं, होमाच्च फलमिति श्रुत्या शब्देन गम्यते, दध्नः फलम्—इति वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्मात् होमात्फलम्—इति न्याय्यं, दध्नः फलमिति चान्याय्यम्।

अपि च दधि उभयमसमर्थं,—कर्तुं फलं,        तुम्

भा ननु 'कम्बलनिर्णेजनवत् एतद्भविष्यति, निर्णेजनं हि उभयं करोति,—कम्बलशुद्धिं पादयोश्च निर्मलताम्'। न ब्रूमः, एकस्यो भय प्रयोजनमभिनिष्पादयितुं सामर्थ्यं नास्ति—इति, किं तर्हि फले गुणभूतं दधि होमे च—इत्येकं वाक्यं वदितुमसमर्थमिति, यदि फलं दध्ना कुर्यादिति ब्रूयात्, न दध्ना होमम्—इति, अथ दध्ना होमं साधयेत—इति ब्रूयात्, न फलमिति, उभयवचने भिद्येत वाक्यम्, अभिन्नश्चेदुपलभ्यते, तस्मात् न गुणात्फल मिति अग्निहोत्रहोमाद्दधिहोमः कर्मान्तरम्—इति ॥

सू अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥ २६ ॥
(सि०) ॥

भा तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्त्तते, न कर्मान्तरं, किन्तु गुणात्फलम्—इति। कथं ?। अतुल्ये ह्येते वाक्ये, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—इत्यत्र कर्मसमभिव्याहृतं फलं स्वर्गकामो होमेन कुर्यात्—इति 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—इति गुणसमभि व्याहृतं, न हि अत्र होमं इन्द्रियाय कर्त्तव्यं—इति प्रतीयते, किं तर्हि दध्ना होमं इन्द्रियकामस्य—इति, होमस्य दधिसम्बन्ध इन्द्रियाय, न होमस्योत्पत्तिः,—य इन्द्रियकामः स्यात्, स दध्ना होमं कुर्यात्—इति। 'कतमोऽत्र शब्दः पुरुषप्रयत्नस्य वक्ता?'—इति। जुहुयात्—इति ब्रूमः।

'ननु श्रुत्या होमसम्बद्धमेव पुरुषप्रयत्नं वदति, वाक्येन दधिसम्बन्धम्, न च, वाक्यं श्रुतिमपबाधितुमर्हति। न च, युगपदुभयसम्बन्धो न विरुध्यते, वाक्यं हि तथा भिद्येत'—इति। अत्रोच्यते,—ये भवदीयं पक्षमाश्रयेरन् ते श्रुतिमपबाधे रन्नराम्, अस्मदीये तु पुनः पक्षे जुहुयादितिधात्वर्थं केवलो ऽपबाधितो भवति, युष्मदीये तु छान्त एव 'दध्ना'—इति शब्दः, न चाभ्रमाद्यन्त समामनन्ति—इति गम्यते नचैतत्प्रमत्तगीतम्,

भा.—इत्युक्तं,—तुल्यं हि साम्प्रदायिकम्—इति। तस्मान्न कर्म-समभिव्याहृतं फलं, गुणसमभिव्याहृते तु न कश्चित् प्रमाद-पाठः, अवश्यं हि, जुहुयात्—इति दध्नेन्द्रियकामयोः सम्बन्ध-विधानार्थं वक्तव्यं भवति। 'ननु उच्यमानेऽपि न केवलः करोत्यर्थोऽवगम्यते, केवले न वचःप्रयोजनं, स च होमसम्बद्धः, तस्मात् असमञ्जसम्'—इति। न—इति ब्रूमः,—होमसम्बद्धोऽप्यसौ करोत्यर्थ एव, केवलं तु अस्य होमसम्बन्धे विशेषः, न तु करोत्यर्थतां बाधते, इन्द्रियकामस्य होमसम्बद्धं प्रयत्नं दधि-सम्बद्धं कुर्यात्—इति। 'नन्वेवं सति स एव दोषः, होम-समभिव्याहृतं फलम्'—इति। उच्यते,—जुहुयादितिशब्दस्यै-तत्सामर्थ्यं,—यत् होमविशिष्टं प्रयत्नमाह, न तु अत्र होमः साधनत्वेन विधीयते, साध्यत्वेन विशिष्टस्तु प्रयत्नो वाक्येन दध्याश्रितोऽवगम्यते, अत एव च वृत्तिकारेणोक्तं,—'होम-माश्रितो गुणः फलं साधयिष्यति—इति, यथा राजपुरुषो राजानमाश्रितो राजकर्म करोति'—इति। तस्मात् दध्नः फलं, य इन्द्रियकामः, स दध्ना कुर्यात् इन्द्रियमिति। कथम्?—इति। अनयाऽग्निहोत्रेतिकर्त्तव्यतया—इति। कुत एतत्?। फलसाधनस्य दध्नः इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षत्वात्, अस्याश्चेतिकर्त्तव्य-तायाः सन्निधानात्, चोदनालिङ्गस्य च जुहोत्यर्थस्य दर्शनात्; यस्मादेव चायं जुहोत्यर्थोऽनुवादः, तस्मात् अविधायकः। न च, अन्यद्धोमस्य विधायकं नास्ति—इति, तस्मान्न कर्मान्तरं, तस्मात् दध्नः फलमिति। अथ वा दधिशब्दस्य विवक्षितार्थत्वात् दधिहोमसम्बन्धोऽयं वाक्येन विधीयते, तेन दध्नो होमेन सम्बध्यमानात् फलं भविष्यति—इति॥ (२।२।११ अ०)॥

सू समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥ २७ ॥

भा 'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यासु एकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत—इति, 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत'*—इति। तत्रायमर्थः सांशयिकः, किं तस्यैवाग्निष्टुतोऽग्निष्टोमस्य गुणात् वारवन्तीयात् पशवः फलं, एतेन यजेत—इति अनुवादः, अथ किम् 'एतेन यजेत—इति कर्मान्तरम्?—इति। किं प्राप्तम्?—न कर्मान्तरं गुणात्फलम्—इति। कुतः?। एतेन यजेत—इति विहितस्यैतद्वचनं, नाविहितस्य, अतो न विधायकं, पशुकाम एवं यजेत—इत्युच्यते, न यजेत—इति, कथं कृत्वा?—वारवन्तीयं कृत्वेति। अपि च, एतस्यैव—इति विस्पष्टम् अकर्मान्तरवचनम्। तस्माद्गुणात्फलम्—इति एवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—समेष्वेवंजातीयकेषु भिन्नवाक्येषु कर्मयुक्तं फलं भवेत्, एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वेति, न ह्येतस्य रेवत्यः सन्ति, याश्च अस्य वारवन्तीयं भवेत्, तत्र रेवत्यो

---

* अग्निष्टोमस्य विकृतिरूपः कश्चिदेकाहोऽग्निष्टुन्नामकः, स च स्तोत्रेषु त्रिवृत्स्तोमयुक्ततया त्रिवृदित्युच्यते, अग्निष्टोमोक्थ्यादीनां सप्तानां सोमसंस्थानां मध्येऽग्निष्टोमसंस्थासमाप्तिः, संस्थारूपत्वात् अग्निष्टोम इत्युच्यते। तत्र प्रकृतौ तृतीयसवने आर्भवपवमानस्योपरि यज्ञायज्ञीयं साम गीयते, तेन च साम्ना अग्निष्टोमयागस्य समाप्यमानत्वात् अग्निष्टोमसामेत्युच्यते, तच्च साम प्रकृतौ 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये'—इत्याग्नेयीषु ऋक्षु गीयते, अस्मिंस्तु अग्निष्टुति ब्रह्मवर्चसकामेन वायव्यासु ऋक्षु तत् साम गातव्यम्, तत्र पञ्चमाविंशैकविंशस्तोमयुक्तम्। पशुकामस्य तु, रेवतीर्न इत्यादिषु रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं साम गायेदिति माधवः।

भा. भवन्ति, तासु च वारवन्तीयं विधीयेत—इति वाक्यम्भिद्येत!। 'अथोच्येत,—अस्य पूर्वा रेवतीषपादाय तासु च वारवन्तीयं कृत्वा, एतेन यजेत—इति अनुवदति—इति'। तथा अग्निष्टोम-सामेति नावकल्प्येत। 'अथाग्निष्टोमसामकार्यं भवति—इत्यु-च्यते'। एतस्यैवेत्येतदविवक्षितं स्यात्! उभयस्मिन् विवक्ष्यमाणे भिद्येत वाक्यम्, तस्मात् कर्मान्तरम्।

'अथ कर्मान्तरे कथमवाक्यभेदः?'। रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं साम कृत्वा पशुकामो यजेत—इति अपूर्वो यागः सर्वविशेषण-विशिष्टो विधीयते, तेनैकार्थत्वं, विभागे च साकाङ्क्षत्वमिति एकवाक्यत्वमुपपद्यते। 'ननु अर्थभेदो यागश्चैव ह्यपूर्वः कर्त्तव्यः, रेवतीषु वारवन्तीयं अपूर्वमिति'। न—इति ब्रूमः,—निर्वृत्त-वारवन्तीयरेवतीगुणको यागो विधीयते, न वारवन्तीयनिर्वृत्तिः, अर्थात् रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्स्यति, शक्यते च तत् निर्वर्त्तयितुम्। 'उच्यते,—रेवतीनां वारवन्तीयस्य च सम्बन्धो न विहितः स्यात्, तत्र च रेवतीष्वन्यान्यपि सामानि भवेयुः! वारवन्तीयं चान्यास्वपि ऋक्षु'। नैष दोषः,—कृत्वेत्यभिनिर्वृत्तः सम्बन्धो यागायोच्यते, तेन सम्बन्धो गम्यते, द्वावप्येतावर्थौ कृत्वेत्येष शब्दः शक्नोति वदितुम्,—अभिनिर्वृत्तिं पूर्वकालताञ्च, यथा सोममानय—इति एकगुणसम्बद्धोऽस्य: शब्देनैवानयतो विधीयते—इति, न वाक्यभेदो भवति, एवमत्रापि द्रष्टव्यम्।

'नन्वेवमपि बहवोऽर्थाः,—रेवत्यः, वारवन्तीयं, तत्सम्बन्धः, यागः, पशुकामस्य—इति'। नैष दोषः, बहवः श्रूयन्ते, एकोऽत्र विधीयते,—यागो विशिष्टः। 'ननु रेवत्योऽपि विधीयन्ते, वारवन्तीयमपि, यदि न विधीयेरन्, नैव तद्विशिष्टो यागः प्रतीयेत, न ह्यविधाय विशेषणं, शक्यते विशिष्टो विधातुम्, तस्मात् बहुषु विधीयमानेषु नैकार्थ्यम्'। अत्रोच्यते,—अर्थः—' इति प्रयोजनमभिधीयते, यावन्ति पदानि एकं प्रयोजनम॰

भा. निर्वर्त्तयन्ति, तावन्ति एकं वाक्यं, न च, अत्र बहूनि प्रयोजनानि, न हि, अत्रानेकस्याभिप्रेतस्यानेकं पदं विधायकमस्ति, रेवतीष्विति नैतत्केवलं रेवतीनां विधायकम्, रेवतीषु वारवन्तीयमिति। अत्रापि पदद्वये वारवन्तीयशब्दो द्वितीयान्तः, नास्मात् सम्बन्धोऽभिप्रेतो गम्यते, प्रातिपदिकार्थस्यार्थातिरेकात्, कृत्वेत्यपि करोतिर्न सम्बन्धमात्रे पर्यवसितः परप्रयोजनसम्बन्धमाह; एवं विशिष्टस्तु यजतिर्न परार्थः, तदेकमेषां पदार्थानां प्रयोजनं, तस्मादेकवाक्यत्वं; गुणे पुनः फले प्रकल्प्यमाने अग्निष्टोमसाम्नः कार्यं वारवन्तीयं, एतस्य च यदग्निष्टोमसाम—इति वाक्यभेदः स्यात्।

'अथोच्यते, रेवत्यादिसर्वविशेषणविशिष्टो याग एतस्याग्निष्टुतो विधीयेत'। तथापि पशुकामसम्बन्धात् भिद्येत वाक्यम्। 'अथैवमुच्येत, रेवतीषु कृतेन वारवन्तीयेन पशुकामो यजेत—इति'। नैवं शक्यम्, फलगामरप्रमाणादिविशेषहानाद्वैगुण्यं स्यात्। 'ननु इदानीमेवोक्तं,—शक्यते हि रेवतीषु वारवन्तीयं कर्तुम्—इति'। सति वचने शक्यम्, असति वचने न वारवन्तीयग्रहणेन गृह्यन्ते। 'वचनं तर्हि भविष्यति, पशुकामो रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्तयेत्, ततो यजेत—इति यजतिरनुवादः'। यदि वचनं रेवतीषु वारवन्तीयसम्बन्धस्य, सिद्धं कर्मान्तरं, नाग्निष्टुतो गुणविधिः। 'ननु ततो यजेत—इति यागानुवादात् यागेनास्याङ्गप्रयोजनसम्बन्धो भविष्यति'। नैवं शक्यम्,—यागं प्रत्यङ्गभावे विधीयमाने पशुकामं प्रत्यसम्बन्धः, उभयसम्बन्धे वाक्यम्भिद्येत। 'अथ यागसम्बन्धोऽनुवादः, प्रकरणेन चाङ्गता'। नेदमुपपन्नं, प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरं, तस्मात् कर्मान्तरं, यागगुणकं वा रेवतीषु वारवन्तीयं, तद्गुणको वा यागः, तच्च यागपशुकामयोः सम्बन्धस्य विधायी यजतेरपरितनीं विभक्तिमुपलभामहे सिद्धं, न तु रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्य

भा. विधायकं साक्षात्किञ्चित् उपलभ्यते। तस्मात् सर्वविशेषण-विशिष्टो यागः, पशुकामस्य विधीयते—इति सिद्धम्।

'अथ पुनर्विशिष्टे यागे विधीयमाने, तत् रेवतीषु वारवन्तीयं कथं अग्निष्टोमसाम भवति?—इति'। उच्यते,—वचनात् अग्निष्टोमसाम्नः कार्ये भविष्यति—इति, किमिव हि वचनं न कुर्यात्, नास्ति वचनस्यातिभारः। अथ यदुक्तमेतस्यैव—इति, अनन्तरापेक्षं वचनमिति तचाप्यविरोधादेतद्धर्मकस्य—इति लक्षणाशब्दो भविष्यति। तस्मात् न गुणात्फलं, कर्मान्तरमेवन्धर्मकमिति,—सिद्धम् सर्वेष्वेवंजातीयकेषु कर्मयुक्तं फलम्—इति॥ (२।२।१२ अ०)॥

---

सौभरनिधनयोः कामैक्याधिकरणम्॥

सू. सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः॥ २८॥ (पू०)

भा. 'यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः, स सौभरेण स्तुवीत सर्वे वै कामाः सौभरे'—इति समाम्नाय ततः समामनन्ति,—'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ—इति स्वर्गकामाय'*—इति। तत्र विचार्यते, किं सौभरम्,—वृष्टेर्निमित्तं, हीषित्येतदपरं वृष्टेर्निमित्तम्, अथ सौभरमेव वृष्टेर्निमित्तं?। यदा तत् वृष्टेर्निमित्तं, तदा हीषिति सौभरस्य निधनं कर्तव्यम्—इति (एवं ऊर्गित्यन्नाद्यकामस्य, ऊ—इति स्वर्गकामस्य च तुल्यो विचारः)। कथं निधनादपरं फलं? कथं वा निधनव्यवस्थार्थं श्रवणम्?—इति, यद्येवमभि-

---

* सौभरं नाम सामविशेषः, निधनं नाम पञ्चभिः सप्तभिर्वा भागैरुपेतस्य साम्नोऽन्तिमो भागः, तस्मिन् निधने हीषादयो विशेषाः इति माधवः।

भा सम्बन्ध क्रियते—द्वौपिति इष्टिकामाय कुर्यात्—इति ततो निधनादपरं फलं अथेवमभिसम्बन्ध —द्वौपिति निधनं कुर्यात् —इति तदा निधनव्यवस्थार्थं श्रवणम् तदा इष्टिकामाय—इति सौभरविशेषणं क्रियते न द्वौषा सम्बन्ध ।

किं तावत्प्राप्तम्?—सौभरे निधने अपर कामो विधीयते—इति। कुत ?। पुरुषश्रुते पुरुषप्रयत्नस्याव श्रवण भवति—कुर्यात्—इति तत इष्टिकामस्य द्वौपस्य सम्बन्धे कर्त्तव्ये अर्थ भवति न तु सौभरनिधनसम्बन्धे तत्र हि साङ्ग सौभरं कुर्यात् —इति प्रयोगवचनसामर्थ्यादेव सिद्धम्। तस्मात् कुर्यात—इति —पुरुषप्रयत्नवचनादवगच्छाम —यतरस्मिन्पक्षे पुरुषप्रयत्नवचनमर्थवत् ततरोऽस्य पक्ष —इति तच अस्मिन्पक्षे अर्थवत् निधनादपरं फलमिति तस्मात् सौभरे एक काम भेदेन निधनादपि द्वितीय काम —इति।

अथ वा इष्टिकामाय—इति पुरुषश्रुति इष्टिं य कामयते स पुरुषो इष्टिकामशब्देन उच्यते तदस्मिन पक्षे श्रुतिर्विनियोक्री इतरस्मिन पक्षे पुन इष्टिकामशब्देन पुरुषवचनेन सता सौभर लक्ष्येत तथा लक्षणाशब्द स्यात। श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा तस्मात पश्यामो निधने द्वितीय काम—इति। एवं च फलभूयस्त्व भविष्यति तस्मात निधने अपर काम ॥

**स सर्वस्य उक्तकामत्वात तस्मिन् कामश्रुति स्यात, निधनार्थो पुन श्रुति ॥ २९ ॥ (सि०)**

भा वाशब्द पक्ष व्यावर्त्तयति। न चेतदस्ति यदुक्तम—निधने अपरं काम—इति नैव सम्बन्ध क्रियते—इष्टिकामाय द्वौपिति कुर्यादिति। कथ तर्हि?। द्वौपिति निधन सौभरस्य —इति। कथ?। द्वौपो इष्टिकामसम्बन्धे क्रियमाणे, निधन

भा. कुर्यात्—इति सम्बन्धो न क्षतः स्यात्, तत्र ह्रीयिति निधनम् —इति नावकल्प्येत, तत्रोभयसम्बन्धे वाक्यभेदः, तत्र निधन-शब्दः प्रमादसमाम्नातः—इति गम्येत, नचैवंजातीयकः प्रमाद-समाम्नातः—इत्युक्तं, तस्मात् न ह्रीषो वृष्टिकामेन सम्बन्धः, तेन न निधनादपरं फलम्।

'अथ ह्रीषो निधनसम्बन्धे कथम् अवाक्यभेदः?—इति'। उच्यते,—वृष्टिकामाय सौभरम् अस्त्येव, सौरभस्य निधनं (सौभरप्राप्तिः) अस्त्येव, तत्र ह्रीयिति कुर्यात्—इत्येष एवार्थो विधीयते। तस्मात् अवाक्यभेदः—इति, अतो निधनव्यवस्थेति गम्यते। एवमेव ऊर्गिति, ऊ—इति च वदितव्यम्, सर्वस्य सौभरस्य अर्थेष्टिस्वर्गकामत्वात् शक्यते कामवचनैः सौभरं स्तावयितुम्। किमर्थं स्तूयते?—इति। निधनार्था पुनःश्रुतिः (निधनव्यवस्थां करिष्यति—इत्यर्थः)॥ (२।२।१३ अ०)॥

इति श्रीभट्टशवरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्या-ध्यायस्य द्वितीयः पादः॥ * * ॥

द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

---

अथ ग्रहायतया ज्योतिष्टोमाद्भुताधिकरणम् ।

## गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्म्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोग-स्याशेषभूतत्वात् ॥ १ ॥ (पू०)

भा अस्ति ज्योतिष्टोमः,—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति, स प्रकृत्य श्रूयते, 'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात, ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा, आग्रयणाग्रान्'—इति। तत्र सन्दिह्यते,—किं ग्रहाग्रताविशेषो ज्योतिष्टोमस्य विधीयते, उत कर्मान्तरस्य रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्च?—इति, यदि रथन्तरसामग्रहणेन बृहत्सामग्रहणेन च ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते, ततस्तस्य ग्रहाग्रताविशेष, अथ नाभिधीयते, ततः कर्मान्तरस्य—इति।

किं तावत्प्राप्तम्?—प्रकरणात्, ज्योतिष्टोमस्य। इति प्राप्ते उच्यते,—गुणस्तु क्रतुसंयोगात्—इति, तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नैतदस्ति,—ज्योतिष्टोमस्य—इति। कुतः?। क्रतुसंयोगात्। कथं तर्हि?। कर्मान्तरस्येति। 'ननु ज्योतिष्टोमक्रतोरेवैष एकजातीयको वादः,—रथन्तरसामा बृहत्सामा—इति। नेति ब्रूमः,—यदि न हात्स्नक्रतुसंयोगो भवेत, ज्योतिष्टोमस्य वादः, हात्स्नक्रतुसंयोगस्तु एषः। 'कथं हात्स्नक्रतुसंयोगो भवति?। कथं वा न हात्स्नक्रतुसंयोगः?—इति। 'यदि रथन्तरसत्ता वा, बृहत्सत्ता वा निमित्तं ग्रहाग्रताविशेषस्य, ततो न हात्स्नक्रतुसंयोगः,—रथन्तरं बृहद्वा यदि सामास्ति, ततः ऐन्द्रवायवाग्रता शुक्राग्रता च—इति, ततो ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिः'। अथ रथन्तरसामसत्ता बृहत्सामसत्ता वा न

भा. निमित्तं, ततः क्रतुसंयोगः। 'यदि रथन्तरसामा'—इति कोऽर्थः?। अयमर्थः,—यदि रथन्तरसाम अस्य विशेषणं क्रतोः—इति। कुत एतत्?। समासपदसामर्थ्यात्, समर्थानां हि पदानां समासो भवति, सामर्थ्यञ्च भवति विशेषणविशेष्यभावे, असाधारणं च भवति विशेषणं, तत्रायमर्थो,—यदि रथन्तरमेव साम, बृहदेव वा नान्यत्—इति; ज्योतिष्टोमस्य च बहूनि सामानि गायत्रादीनि; तस्मात् न ज्योतिष्टोमस्य वाचकावेतौ शब्दाविति। तेन यद्यपि प्रकरणात् ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिः—इति गम्यते, तथापि तत् बाधित्वा वाक्येन रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्च भवितुमर्हति।

'ननु यथा ज्योतिष्टोमो न रथन्तरसामा, एवमन्योऽपि न रथन्तरसामा कश्चिदस्ति'। उच्यते,—कर्मान्तरं रथन्तरसामकं कल्पयिष्यति एतद्वाक्यं—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्'—इति। 'ननु नात्यत्र विधायकः शब्दः'। उच्यते,—अस्ति च एषः 'स्यात्'—इति। 'आह नैष विधातुम् शक्नोति, यदि-शब्दसम्बन्धात् विद्यमानस्य निमित्तार्थेनैवंजातीयकः शब्दो भवति, न विधानार्थेन—इति'। अत्र ब्रूमः,—यदेतत् सयदिकं वाक्यं—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्'—इति, अत्रावान्तर-वाक्यम् अस्ति,—रथन्तरसामा सोमः स्यात्—इति, यदवान्तर वाक्यम् तस्यान्योऽर्थः, अन्यश्च सयदिकस्य, सयदिको न शक्नोति विधातुम्, यत् अवान्तरवाक्यम्, तद्विधास्यति। न च, रथन्तर-साम्नो बृहत्साम्नो वा भावो निमित्तत्वेन श्रूयमाणोऽप्यर्थवान् भवति। तस्मात् अविवक्षितो यदिसम्बन्धः, तस्मिंश्चाविवक्षिते पदद्वयमिदं (रथन्तरसामा सोमः स्यादिति) शक्नोति रथन्तर-सामानं क्रतुं विधातुम्, यदीत्यनर्थकम्।

अथ वा यदि रोचेतेत्यध्याहारः। अथ वा यथैतद्भवति,—पयसा पाष्टिकं भुञ्जीत, यदि शक्निं भुञ्जीत, तत्र

भा —इति एवञ्जातीयकेन वाक्येन शालिभोजनं विहितं भवति एवमत्रापि विहितं द्रष्टव्यम्—यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्—इति। 'कथं पुनः शालिभोजनम् तेन वाक्येन विहितं भवति ?—इति। उच्यते—व्यत्यासेन सम्बन्धः कल्प्येत—यदि दध्युपसेचनमिच्छेत् शालिं भुञ्जीत—इति।

'ननु न खल्विच्छते परा लिङ्विभक्तिमुपलभामहे विध तर्हि तात्परां समामनन्ति—इति। विद्यते खलु या परा समुच्चरन्ती कमेरर्थं गमयति कामप्रवेदने हि ता मन्यामहे—इति एवमिहापि यद्यैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयादिति गृहीतुमिच्छेत् इत्यर्थः ततो रथन्तरसामानं क्रतुं कुर्यात्—इति। 'नन्वेवं सति इच्छामात्रं भवेत्, न ग्रहाग्रताविशेषविधानम्। उच्यते—यथा अस्मिन् लौकिके वाक्ये यदि दध्युपसेचनमिच्छेत्, शालिं भुञ्जीत—इति दध्युपसेचनसङ्कीर्तनात् दध्युपसिक्तं शालिं भुञ्जीत—इति तेनैकवाक्यत्वात् गम्यते एवमत्रापि ग्रहाग्रताविशेषसङ्कीर्तनात् तेनैकवाक्यत्वात् ग्रहाग्रताविशिष्टो रथन्तरसामा गम्यते। अथ वा अत्र हेतुहेतुमतोर्लिङ् रथन्तरसामा सोमः ऐन्द्रवायवाग्राणां ग्रहाणां हेतुः कर्तव्य—इति। तस्मात् क्रत्वन्तरसंयोगात् गुणः कर्मान्तरं प्रयोजयेत् एव क्रत्वन्तरसंयोगोऽर्थवान् भविष्यति।

अपि च पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यं परेण नैमित्तिकेन। कथं ?। सति हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, न असति यच्च भावयितं तत् न सत्, भविष्यच्च रथन्तरसाम तत् कथं पूर्वकालस्य ग्रहाग्रताविशेषस्य निमित्तं भविष्यति ?—इति। अपि च निःसन्दिग्धं जगत्साम्ना कर्मान्तरं तत्सामान्यादितरदपि कर्मान्तरम्—इति गम्यते। तस्मात् न ज्योतिष्टोमस्य गुणविधानम्—इति॥

सू. एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुण-
वाक्यत्वात् ॥ २ ॥ (सि०)

भा. तुशब्दात् पक्षोऽन्यथा भवति, नैतदस्ति,—यदुक्तं,—क्रत्वन्तरम् —इति। कथं तर्हि?। ज्योतिष्टोमस्यैव यज्ञायज्ञाविशेषः—इति। कुतः?। प्रकरणसामर्थ्यात्। 'ननु एतदुक्तं,—वाक्यसामर्थ्यात् क्रत्वन्तरस्य रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्चेति'। परिहृतमेतत्—ज्योतिष्टोम एव रथन्तरसामा बृहत्सामा च—इति। 'पुनर्दूषितमनेकसामत्वात् ज्योतिष्टोमस्य, विशेषणं रथन्तरेण बृहता वा न प्रकल्पते—इति'। तदुच्यते,—प्रकल्पते विशेषणं, बृहद्रथन्तरयोर्वैकल्पिकत्वात्, भवति स प्रयोगः, यत्र रथन्तरं नास्ति; भवति च स प्रयोगः, विद्यमानरथन्तरसामकः, तदेतत् रथन्तरं तस्यैवासाधारणत्वात् विशेषकम्। तस्मात् ज्योतिष्टोम एव रथन्तरसामा बृहत्सामा च—इति।

'अथ यदुक्तं,—पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यम्, उत्तरेण नैमित्तिकेनेति'। नैतत्,—नियोगतो भवति हि भविष्यदपि निमित्तं, यथा वर्षिष्यति—इति हविर्गृहकर्मानुष्ठानम्, अपि च तत् दृष्टम्, इदञ्च वाचनिकं निमित्तं, तत् यथावचनं भवितुमर्हति। 'स्यात्' —इति चेयं लिङ् त्रिष्वपि कालेषु भवति। तस्मात् भविष्यदपि निमित्तम्। यत्तु—जगत्सामेति कर्मान्तरम्, तत्सामान्यात् रथन्तरसामापि कर्मान्तरम्—इति। जगत्साम असम्भवात् कर्मान्तरम् सम्भवति, रथन्तरसाम्नो बृहत्साम्नश्च ज्योतिष्टोमस्याभिधाने, तस्मात् न कर्मान्तरमिति॥ (२।३।२ अ०)॥

---

अथ अवेष्टेः क्रत्वन्तरताधिकारताधिकरणम् ।

सू   **अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते ॥ ३ ॥**

भा   अस्ति राजसूयः — 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' — इति। न प्रकृत्याम्नन्ति अवेष्टिं नामेष्टिम्, — 'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' — इत्येवमादि। तां प्रकृत्य विधीयते, — 'यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि राजन्य ऐन्द्रं, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्' — इति। तत्र सन्दिह्यते, — किं ब्राह्मणादीनां याजमाना निमित्तार्थं श्रवणम्, उत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयते? — इति। 'कथं निमित्तार्थता भवेत्? कथं वा यागविधानम्?' — इति। यदि राजशब्दो ब्राह्मणादिष्वपि केनचित् प्रकारेण, ततो निमित्तार्थता, अथ क्षत्रिय एव, ततः प्रापकाणि एवं जातीयकानि श्रवणानि।

किं तावत्प्राप्तम्? — निमित्तार्थता — इति, ततः एवं तावदुपवर्ण्यते, — यौगिको राजशब्द — इति, राज्यं यस्य कर्म, स राजा। किं पुना राजकर्म? जनपदपुरपरिरक्षणं, ततश्चोद्धरणे राज्यशब्दमार्यावर्त्तनिवासिनः प्रयुञ्जते, राज्ञः कर्म राज्यम् — इति चाभियुक्ता उपदिशन्ति, तेन मन्यामहे — यस्यैतत् कर्म स राजा — इति, यथा ये उदमेघं नाम कञ्चित् पुरुषं नाविदिषुः, तस्य तु पुत्रमौदमेघिं — इत्येव विदुः, शक्नुयुस्ते यः तस्य पिता, स उदमेघ — इति कल्पयितुम्, उदमेघपुत्रस्यैवं समभिव्याहारो भवति — इति। एवं राज्ययोगात् राजशब्द — इति विज्ञायते।

'ननु जनपदपुरपरिरक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपि क्षत्रिये राजशब्दमान्ध्रा प्रयुञ्जते प्रयोक्तारः'। न ब्रूमः, — न प्रयुञ्जते — इति, किं तर्हि कर्मविशेषनिमित्तत्वात् राजशब्दस्य, तद्योगादपि

भा राजशब्दो भवति—इत्येतदुपपादयामः, प्रयुञ्जते च तद्युक्ते राजशब्दम् अक्षत्रियेऽपि, तदस्मिन् उपपन्ने प्रकरणवशात्, यदि-शब्दसमभिव्याहाराच्च राजसूयस्यैव गुणविधानं भविष्यति, न ब्राह्मणस्य वैश्यस्य च कर्मान्तरं विधायिष्यति—इति।

अथ वा असार्वलौकिकस्य प्रयोगस्य सार्वलौकिकेन प्रयोगेण विरुध्यमानस्य अप्रामाण्यं स्यात्, अभ्युपगच्छन्ति हि ते जनपदिनः, सार्वभौमं प्रयोगम्। अपिचाविप्रगीता लौकिका अर्था विप्रगीतेभ्यः प्रत्ययिततरा भवन्ति, तथा आर्यावर्त्तनिवासिनां शब्दार्थोपायेष्वभियुक्तानामभिव्याहरतां कर्माणि चानुतिष्ठताम् अपरजनपदवासिभ्यो म्लेच्छेभ्यः समीचीनतर आचारो भवति। तस्मात् यौगिको राजशब्दः, निमित्तार्थानि श्रवणानि, राजसूयस्य गुणविधिर्न कर्मान्तरम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अवेष्टौ तु खलु क्रतुप्रधानं ब्राह्मणादिश्रवणं, ब्राह्मणादीनामवेष्टियागं विधातुम्, न निमित्तार्थम्। कुतः?। अप्राप्तत्वात् ब्राह्मणवैश्ययोः। कथमप्राप्तिः?। क्षत्रियस्य राजसूयविधानात्,—राजा राजसूयेन यजेत—इति। 'ननूक्तम्, —यौगिको राजशब्दः—इति'। एतदप्ययुक्तम्, यतः जातिवचनः—इति। 'ननूभयाभिधाने यदिशब्दसम्बन्धात्, प्रकरणाच्च न कर्मान्तरविधानं न्याय्यम्'—इत्युक्तम्। अत्र उच्यते, —नोभयाभिधानमवकल्पते। कुतः?। यदि तावत् जातिशब्दो राजा—इति, ततः तत्कर्मत्वात् जनपदपरिपालने राज्यशब्दो भविष्यति, तेनार्यावर्त्तनिवासिनां प्रयोगो न विरोत्स्यते। अथ यदि राज्यशब्दः परिपालने नित्यसम्बद्धो भविष्यति, ततः तस्य कर्त्तरि राजशब्दः क्षत्रियजातौ तन्निमित्तो भविष्यति, तत्र आन्ध्राणां प्रयोगो न विरोत्स्यते। तस्मात् न प्रयोगदर्शनादुभावपि राजराज्यशब्दौ जातिपरिपालनाभ्यां नित्यसम्बद्धावित्यभ्युपगन्तव्यम्। को नु खलु निर्णयः?। राजजातीयस्य कर्म—

भा इत्यत परिपालनं राज्यशब्देन उच्यते—एवं हि स्मरन्तोऽभियुक्ता तस्य कर्म—इति *ष्यञ्प्रत्ययं विदधति, न तु तस्य कर्त्तेति प्रत्ययलोपं वा प्रातिपदिकप्रत्यापत्तिं वा समामनन्ति। तस्मात् राज्ञः कर्म राज्यं न राज्यस्य कर्त्ता राजा।

'ननु यो यो जनपदपुरपरिरक्षणं करोति तं तु लोको राजशब्देन अभिवदति। उच्यते,—योगात् लोके प्रयुङ्क्ते परिपालने राज्यशब्दं प्रसिद्ध—इति न तु परिपालने राज्यशब्दो राजयोगात—इत्यत्राभियुक्ता तस्मात राजशब्द प्रसिद्धेमूलं तद्योगात राज्यशब्द तदयोगादपि ब्राह्मणवैश्ययो राजशब्द प्रयुज्यते न त्वेव स्मरन्ति—राज्ययोगात राजा—इति।

यत्तूक्तम—अनुमानात् राज्यस्य कर्त्ता य स राजा यथा औदमेघे पिता उदमेघ—इति'। उच्यते—अनुमानात्प्रयोगो बलवान राज्यस्य कर्त्तारं राजा—इत्यनुमिमीमहे अर्थिये तु प्रत्यक्षं प्रयुञ्जानान उपलभामहे। तथा योगमप्यनुमिमीमहे—राज्यस्य कर्त्ता राजा—इति राज्ञः कर्म राज्यमिति तु स्मरन्ति अनुमिमानाश्च स्मृतिम् अनुमिमते स्म स्मरन्तस्तु प्रत्यक्षमुपलभन्ते तेन तत्र स्मृतिर्बलीयसी—इति। आह—यो यो राज्य करोति, तत्र राजशब्दं प्रयुञ्जते, न यत् राज्ञः कर्म तद्राज्यमिति तेन मन्यामहे—राज्ययोगो राजशब्दप्रवृत्तौ निमित्त, न तु राजयोगो राज्यशब्दप्रवृत्तौ—इति। न ब्रूमः—प्रयोगात यत राजयोग राज्यशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमवगच्छाम—इति कथं तर्हि?—स्मरणात् प्रयोगाच्च स्मृतिर्बलीयसी प्रयोगाद्धि स्मृतिरनुमीयेत।

---

* सिद्धान्तकौमुदीकारस्तु, 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (५।१।१२८ पा०) इति सूत्रीय 'राजाऽसे' इति वार्त्तिकमनुसृत्य राज्ञः कर्म राज्यमित्यत्र यक्प्रत्ययं विदधाति। उभयथैवार्थैक्यमिति प्रकृतसङ्गतिः।

भा. अपि च राज्ययोगस्य निमित्तता व्यभिचरति,—जनपदपरिपालनमकुर्वत्यपि राजेत्यान्ध्रा वदन्ति—इत्युक्तम्। 'ननु राजयोगात् राज्यम्—इत्येतदपि व्यभिचरति,—न हि राज्ञः स्यन्दितं निमिषितञ्च सर्वं राज्यम्—इत्युच्यते'। यदि वयं प्रयोगान्निमित्तभावं ब्रूयाम, तत एवमुपालभ्येमहि; स्मृत्या तु वयं निमित्तभावं ब्रूमः, तेन यत् यत् राजजातीयस्य कर्म जात्या विशेष्यते, तत् राज्यमित्यभ्युपगच्छामः। यत्तूक्तम्,—आन्ध्रा अपि राज्ययोगात् राजानमभ्युपगच्छन्ति—इति, परिहृतमेतत्,—प्रयोगो दुर्बलः स्मृतेः—इति। यदुक्तम्,—आर्यावर्त्तनिवासिनः, प्रमाणमितरेभ्य आचारेभ्यः—इति। तुल्यः शब्दप्रयोग आचारेषु—इत्युक्तम्। तस्मात् जातिनिमित्तो राजशब्दः, एवञ्चेत् 'यज्ञसंयोगात्' (क्षत्रियस्य राजसूयेन), यागविधिरवेष्टिः—इति॥ (२।३।२)॥

---

आधानस्य विधेयवाधिकरणम्।

सू. आधाने सर्वशेषत्वात् ॥ ३ ॥

भा. इदं समामनन्ति,—'वसन्ते ब्राह्मणो ऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—इति; तत्र सन्दिह्यते,—किं ब्राह्मणादिश्रवणं निमित्तार्थं,—ब्राह्मणादय आदधाना वसन्तादिष्वादधीरन्—इति, उत ब्राह्मणादीनामाधानं विधीयते?—इति। कथं निमित्तार्थता स्यात्? कथं चाधानविधानम्?—इति। यदि ब्राह्मणो वसन्ते—इतिपदद्वयं परस्परं सम्बद्धं, ततो निमित्तार्थं श्रवणम्। अथ ब्राह्मण आदधीत—इति, आधानविधानं ब्राह्मणस्य। एवं राजन्यादिष्वपि।

किं तावत्प्राप्तम्?—निमित्तार्थं श्रवणम्—इति। कुतः?। निमित्तरूपा एते शब्दाः। किं निमित्तरूप्यम्?। ब्राह्मणा

भा दीनां वसन्तादिभिः समुच्चारणम्, तच्चाविदितं वेद्यते—इति। 'ननु ब्राह्मणादीनामाद्धातिनाप्यस्ति समुच्चारणम्'। बाढमस्ति समुच्चारणम्, नत्वमीषाम् आधानसम्बन्धो न विदितः। केन प्राप्तो विदितः?—इति। कामश्रुतिभिः। काः कामश्रुतयः?। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः,' 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमाद्यः। कथमाभिः श्रुतिभिराधानं प्राप्तम्?—इति। उच्यते,—सामर्थ्यात्—यथा अग्निहोत्रमभिनिर्वर्त्त्यते, तथा कुर्यात्, यथा दर्शपूर्णमासावभिनिर्वर्त्त्येते तथा कुर्यात्, न च गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनादिभ्यो विना एतानि कर्माणि सिद्ध्यन्ति, समामनन्ति हि,—यत् आहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो* भवति—इत्येवमादि तेन सामर्थ्यादेतदुक्तं भवति—आहवनीयादि कर्त्तव्यम्—इति, तच्चाधानेन विना न सिद्ध्यति—इत्याधानमपि कर्त्तव्यम्—इत्यवगम्यते। तत् केन कर्त्तव्यम्?। यस्य कामश्रुतयः। ताश्चाविशेषेण ब्राह्मणादीनाम्। तस्मात् अमीषामाधानसम्बन्धो विदित—इति। अपि च, उभाभ्यां ब्राह्मणादीनां सम्बन्धे विधीयमाने वाक्यम्भिद्येत। न हि, तदानीमेकोऽर्थं विधीयते। अतो निमित्तार्थाः श्रुतयः इत्येव प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—'आधाने सर्वशेषत्वात्' प्रापकाण्याधानस्यैतानि श्रवणानि। कुतः?। सर्वकर्मणां शेषभूतम् आधानम्—इति न श्रुतिलिङ्गादीनामन्यतमेनोच्यते, किं तर्हि अग्नीनां सर्वशेषत्वात् तच्छेषत्वाच्च आधानस्य। किमतः?। यद्येवम् अग्नय कामश्रुतिभिः प्राप्नुवन्ति, न आधानम्—इति। 'ननु अग्नीनामभ्युपाय आधानम्—इति'। उच्यते,—नैषामर्जने आधानमेवैकोऽभ्युपायः, किं तर्हि यथाऽन्येषां द्रव्याणाम् उत्पादने

* 'प्रीतो भवति'—इति का० क्री० पु०।

भा. ब्राह्मणादयश्चाभ्युपायाः, एवमग्नीनामपि—इति न नियोगतः उत्पादनमेव, तेन पक्षे आधानं प्राप्नोति, पक्षे न; यतरस्मिन् पक्षे अप्राप्तिः, ततरः पक्ष उत्पत्तिं प्रयोजयिष्यति ब्राह्मणादीनामाधानस्य, ब्राह्मण आत्मार्थमादधीत—इति यदा एतद्वचनं, तदा आत्मार्थमेवाहिता आहवनीयादयो भवन्ति, नान्यथा। एवं च सति, न क्रत्विमेण याचितेन वा कर्माण्यग्निहोत्रादीन्यनुष्ठातव्यानीति गम्यते; तेन अकृत्रिम एव केवलोऽग्निस्तेषां साधकः—इति निश्चीयते। कथञ्च आत्मार्थता आधानस्य गम्यते?—इति। कर्त्रभिप्राये हि क्रियाफले आदधीत—इत्येतदात्मनेपदं सम्भवति। असत्यस्मिन् वचने कामश्रुतिपरिग्रहे नाधानस्यात्मार्थता भवेत्।

अपि च सतीषु एतास्वाधानश्रुतिषु न कामश्रुतयः शक्नुवन्ति अपराम् आधानश्रुतिं कल्पयितुम्, यथा प्राप्तस्य आधानस्य पुनःश्रुतयः एता भवेयुः, असतीषु एतासु आधानश्रुतिम् अपरिगृह्णन्तः कामश्रुतयोऽशक्यान् अग्निहोत्रादीन् वदन्ति—इति परिगृह्णीयुराधानश्रुतिं, सतीष्वेतासु येषामाधानम् उक्तम्, तान् अधिकृत्योत्तरकालाः कामश्रुतयो भवन्ति—इति गम्यते।

"अत्र आह,—अस्ति केवलस्य आधानस्य विधायिका श्रुतिः, —'एवं सपत्न भ्रातृव्यमवर्त्ति सहते, य एवं विद्वानग्निमाधत्ते'—इति, तया प्राप्तस्य निमित्तार्थानि ब्राह्मणादीनां श्रवणानि भविष्यन्ति। 'उच्यते,—सम्भारविधानार्था पुनः श्रुतिरेषा'। न—इति ब्रूमः,—भिन्नं हि इदं वाक्यम् सम्भारविधानवाक्यात्, अन्यो हि अर्थ आधत्ते—इति, अन्यः 'अथ उपहरति'—इति, एकार्थविधाने हि एकं वाक्यम् भवति, भिन्नौ चेमावर्थौ, तस्मात् अत्र वाक्यभेदः—इति"।

उच्यते,—वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेत्यस्यां श्रुतौ सत्यां पुनःश्रुतिः केवलस्याधानस्य अविधायिका,

भा विधीयते, तदेकस्मिन्नर्थे विधीयमाने नानेकार्थं भवति। 'ननु आधानस्यैतद्विधानं, गुणार्था या पुनःश्रुतिः'। न—इति ब्रूमः, —या ब्राह्मणादिसम्बद्धा प्रथमा श्रुतिः, इयं केवला पुनःश्रुतिः। कुतः?। या हि शब्देन विदधाति, तत्र लिङ्गमुच्चरन्तीं पश्यामः, इयं प्रशस्तमाधानम्—इत्याह, ततः प्रशस्तता माधानस्यानुमन्यामहे। एवं च, वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत —इत्येषा विधायिका श्रुतिः—इति प्रमहे, नैतत्प्रशंसा वचनमसत्पक्षं बाधते, शक्यते हि अन्येन विहितं अन्येन प्रशस्तम्—इति वदितुम्। यदि त्वेतत् विधायकम्—इत्युच्येत, ततोऽसत्पक्षं विरुध्येत। कथम्?। अज्ञातस्य ज्ञापनं विधानमेतत्, यदि प्रशंसावचनेन अपूर्वं विज्ञाप्येत, तदा लिङ्गा नापूर्वं ज्ञापितं भवेत्, तत्रापूर्वज्ञापनवचनः शब्दः उपरुध्येत। न तु लिङ्गा विहिते प्रशंसावचनमुपरुध्यते, विहितेऽपि हि वाक्यान्तरेण प्रशंसावचनमवकल्पते। अपि च यत् लिङ्गा विधानं, तत् श्रुत्या, वाक्येन तु प्रशंसा गम्यते, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी।

'ननु इदमपि वाक्यम्—ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत—इति'। उच्यते,—स्वपदार्थम् अत्र श्रुतिः विदधात्याधानं, ब्राह्मणादि सम्बन्धेन परपदार्थं प्रशंसति,—य एवं स्वपदं भ्रातृव्यम् अवर्ति यच्छते—इति। 'ननु अनेकगुणविधानं त्वया वाक्येनाभ्युपगतं भवति'। नैष दोषः,—अगुणविधिपरे हि वाक्ये भवत्यनेक गुणविधानम्—इत्युक्तं,—"तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागात् विधार्थे न चेदन्येन शिष्टाः" (९३)—इति। तस्मात् ब्राह्मणादि संयुक्ता विधायिका श्रुतिः, इयमपि केवलस्याधानस्य पुनःश्रुतिः सम्भारविधानमुपक्रमितुम्—इति सिद्धम्।

यत् उक्तम् (१७६। १७),—अनेकगुणविधाने वाक्यम्भिद्येत —इति, यदेतौ गुणविधानविशिष्टौ विधीयेयातां, भवेत् वाक्य भेदः, ताभ्यां तु विशेषणाभ्यां विशिष्टमेकमाधानं विधायिष्यते,

भा. तेन न भविष्यति वाक्यभेदः । तस्मात् ब्राह्मणादीनामाधानस्य प्रापकानि श्रवणानि—इति सिद्धम् ॥ (२ । ३ । ३ अ० ॥)

---

अथ दाक्षायणादीनाम् गुणताधिकरणम् ॥

सू. अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥ ५ ॥ (पू० १ ॥)

भा. दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्यामनन्ति,—'दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः, साकंप्रस्थाय्येन* यजेत पशुकामः, संक्रमयज्ञेन यजेतान्नाद्यकामः'—इति । तत्र सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासयोरेव गुणात्फलम्, उत कर्मान्तरम् एवञ्जातीयकमिति ?। किं प्राप्तं ? —कर्मान्तरम् इति । कुतः ?। संज्ञोपबन्धात्, यद्यपि प्रकरणात् यजतिशब्दाच्च स एव पूर्वप्रकृतो यागः—इति गम्यते, तथापि नासावेवंसंज्ञकः—इति यागान्तरं विधेयं गम्यते ॥

सू. अगुणाच्च कर्मचोदना ॥ ६ ॥ (पू० २ ॥)

भा. न च, अत्र गुण उपलभ्यते कश्चित्, यद्विधानार्था चोदना भवेत्, यदि च न यागान्तरम्, आनर्थक्यमेव । अपि च, यदि गुण उपलभ्येत, ततो यागगुणसम्बन्धो गम्यते—इति तदनुष्ठानं विधीयेत—इति अननुलभ्यमाने यागमात्रं गम्यते—इति तदनुष्ठानं विहितं गम्यते ॥

सू. समाप्तं च फले वाक्यम् ॥ ७ ॥ (पू० ३ ॥)

भा. इतश्च कर्मान्तरम् । कथं ?। फले समाप्तं वाक्यं,—प्रजाकामो यजेत—इति, प्रजाकामस्य याग उपायो विधीयते ; विधीयते चेत्, कर्मान्तरम् ॥

---

* साकप्रस्थायीयेन इति का० कौ० पाठः ।

सू विकारो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ (सि० ॥)

भा दर्शपूर्णमासयोरेवाधिकार एवञ्जातीयक स्यात् दाक्षायण यज्ञादि एवम्प्रकरणमनुगृहीत भवति ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ९ ॥ (सि० हे० ॥)

भा लिङ्गमपि एतमर्थं दर्शयति—'त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत यदि दाक्षायणयाजी स्यात अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत अत्र हि एव सा सम्पद्यते द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावस्ये, अत्र हि एव खलु सा सम्पत भवति'—इति। यदि दाक्षायणयज्ञो दर्शपूर्णमासावेव एव तर्हि त्रिंशत्सम्पदा प्रयोजन तत तस्य त्रिंशत्सम्पदनुग्रहो युज्यत तस्मात अपि न कर्मान्तरम् ॥

सू गुणात्सञ्ज्ञोपबन्ध ॥ १० ॥ (आ० नि० ॥)

भा यदुक्त सञ्ज्ञोपबन्धात् कर्मान्तरम्—इति यदि दाक्षायणशब्दो न केनचिदपि प्रकारेण दर्शपूर्णमासवचन शक्यते कल्पयितुम तत उच्येत कर्मान्तरम्—इति शक्नोति तु आवृत्तिगुणसम्बन्धा द्वदितु—अयनम—इत्यावृत्ति उच्यते दक्षस्य इमे दाक्षा तेषामयन दाक्षायण। क पुनर्दक्ष ?। उत्साही। तथा साकप्रस्थाय्येऽपि—सहप्रस्थान गुणसम्बन्ध एव सर्वत्र। शक्यते चेत् दर्शपूर्णमासयोर्गुणसम्बन्धो वदितुम किमिति स एव याग प्रतीयमानोऽन्य—इत्युच्यते ? किमिति वा प्रकरण बाध्यते ?॥

सू समाप्तिरविशिष्टा ॥ ११ ॥ (आ० नि० २ ॥)

भा यदुक्तम्—फल वाक्य समाप्तम—प्रजाकामादेर्यागानुष्ठानं विधीयते—इति नेमम अविशिष्टा फले समाप्ति यानि

भा. अन्यानि मुक्तसंशयानि गुणे फलस्य विधायकानि वाक्यानि गुणस्य फलवचनानि पर्यवसितानि (यथा दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्,—इत्येवमादीनि), तैरेतद्विशिष्टम्, अत्रापि हि* गुणात्फलम् उच्यते। 'कथं नैतदेवं सम्बध्यते,—प्रजाकामस्य यज्ञमनुतिष्ठेत्—इति?'। कथं तर्हि प्रजाकामस्य आवृत्तियज्ञमनुतिष्ठेत्—इति, आवृत्तियज्ञ,—इति यज्ञावृत्तिसम्बन्धोऽनुष्ठातव्यो निर्दिश्यते, न यज्ञ.?। तस्मात् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोर्गुणात्फलम् उच्यते,—न यागान्तरं विधीयते—इति। एवं साकंप्रस्थाय्ये सक्रमयज्ञे च द्रष्टव्यम्—इति॥ (२।३।४ अ०॥)

---

अथ मयदेवतायुक्तानाम् यागान्तरताधिकरणम् ॥

## सू संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात्॥१२॥ (प्र० पू०॥)

भा अनारभ्याधीयते किञ्चित्,—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम.,† सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकाम.', दर्शपूर्णमासयोश्चाप्यामनन्ति,—'ईषामालभेत ‡ चतुरो मुष्टीन्निर्वपति'—इति। तत्र अयमर्थः सांशयिक',—किं दर्शपूर्णमासिके आलम्भे आलम्भो गुणविधिर्दर्शपूर्णमासिके च निर्वापे निर्वापो गुणविधिरुत न प्रकृतिमपेक्षते इतरश्चेतरश्चेति? यदा न प्रकृतिमपेक्षते, तदापि किं यावदुक्ते, उत यजिमती एते कर्मणी—इति?।

किं तावत् प्राप्तं?—प्रकृतयोरालम्भनिर्वापयोर्गुणविधी—इति। कुतः?। अकर्मशब्दत्वात्, न अत्र कर्मणो विधायकः

---

* अत्राप्यन्यत् गुणात् फलमिति पाठः का० क्षी० पु०।

† भूमिकाम इति का० क्षी० पाठः।

‡ ईषा शकटगतो लाङ्गलवद्दीर्घः काष्ठविशेषः। तस्या आ। स्पर्श इति माधव'।

भा शब्दोऽस्ति। ननु आलभेत निर्वपेत—इति च। नैतौ विधातारौ अविदितस्यार्थस्य वक्ता विधायको भवति न चैतयोरविदितोऽर्थः—आलम्भः कर्त्तव्यः निर्वापः कर्त्तव्यः—इति। तस्मात् अनुवदितारौ। किमर्थम् अनुवदतः? आलम्भने ह्येतौ विधातुं निर्वापे च चरुम्। तस्मात् न आलम्भान्तरं निर्वापान्तरं च, महत्त्वयोरेव गुणविधी—इति॥

सू यावदुक्तं वा, कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्॥ १३॥

(द्वि० प०॥)

भा न चैतदस्ति—महत्त्वयोर्गुणविधी—इति, किं तर्हि आलम्भान्तरं विधीयते—इति निर्वापान्तरञ्च यदि आलम्भनिर्वापौ विधीयेते, ततो न महान्तौ तौ विहितौ। यदि न विधीयेते ततो महान्तौ न लभ्येते, यावदालम्भनिर्वापौ कर्त्तव्यौ—इति ततस्तौ लक्षयित्वा ह्येतौ विधातव्यौ भवति चरुश्च तौ च भूतिकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च—इति द्वावप्यधिकौ विधेयौ स्याताम् तत्र वाक्यं भिद्येत। अथ वा योऽसौ विधायकः शब्दः, स लक्षयितव्योपयुक्तः इति विधायकाभावादेकोऽप्यर्थो न शक्यते विधातुम्। अथ स एव लक्षयिष्यति, तेनैव च विधायिष्यते गुणः—इति। न मिथो विधानलक्षणसम्बन्धोऽवकल्पते। 'अथ धात्वर्थानुवादः प्रत्ययो विधातुमिष्यते—इत्युच्यते—य आलम्भः स एतद्गुणः कर्त्तव्यः—इति। तथापि न महान्तौ लक्ष्येते लौकिकोऽपि हि आलम्भोऽस्ति, प्रत्ययार्थेऽनूद्यमाने महान्तौ अनूद्येत—इति स हि कर्त्तव्यो निर्वापो न लौकिकः अतो न महत्त्वानुवादो घटते—इति यावदुक्तं (आलम्भमात्रं निर्वापमात्रं च) अपूर्वं कर्त्तव्यं कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्—श्रुतिमूलं हि कर्म—इत्युक्तं—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः—(१)—इति, तस्मात् कर्मान्तरे॥

सू यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृमयोगादेतेषां कर्मसम्ब-
न्धात्॥ १४॥ (सि०॥)

भा यदुक्त,—न माक्षतयोगुणविधी—इति, एतत् गृह्णीम। यत्तु उक्तम,—आलम्भमात्र विधीयते, निर्वापमात्र—इति, एतदप जानीमहे, यजिमती एते कर्मणी—इति। कुत?। द्रव्य फलभोक्तसयोगात् (द्रव्यदेवतासयोगात) द्रव्यदेवतासंयोगो अत्र विधीयते,—भूतिकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च। कथ?। न हि, इदमेव उच्यते,—श्वेतम आलभेत—इति, यदि श्वेतायदेव उच्येत,—तत श्वेतालम्भसम्बन्ध अवगमरते, इह हि श्वेतं वायव्यमालभेतेत्युच्यते, तेन श्वेतवायव्यसम्बन्धो विधीयते, यथा पट वयेति पटवयनसम्बन्धो विधयोऽवगम्यते, पट दीर्घं वयेति पटस्य दीर्घता विधीयते, दीर्घशब्दमयोगात, एवमि हापि सोर्यवायव्यशब्दमयोगात द्रव्यदेवताभिसम्बन्धो विधेय —इति गम्यते, इतरथा देवताशब्द ममादसमाम्नात—इति गम्येत।

'ननु अत्रापि श्वेत वायव्य कुर्यात न चालभेत—इत्यर्थद्वय विधानात् भिद्येतैव वाक्यम। न—इति ब्रूम, न चालभेते त्यस्यायमतिभारो यत द्रव्यदेवतासम्बन्धेन पुरुषप्रयत्न ब्रूयात, न चालभेतेत्यर्थाविशिष्ट, श्रुत्यैव हि पुरुषप्रयत्नो विशिष्टो गम्यते, वाक्येन च द्रव्यदेवताश्रय—इति न अत्र द्वाभ्या वाक्याभ्या प्रयोजन, यथा रक्तमत्र योजयेति यदा गुणविधिपर भवति वाक्यम, तदा द्वाभ्या वाक्याभ्या प्रयोजन गुणद्वयविधाने, अथ शोणमानयेत्युच्येत, तत्र गुणविधिपरेऽपि वाक्ये पर्यवसिते एव गुणद्वयविधान श्रुत्यैव विशिष्टगुणद्रव्यस्य प्रतीतत्वात न भवत्येकस्य वाक्यस्य अतिभार, एवमिहापीति।

यद्धि पदैर्विशिष्ट एक एवोच्यते—इत्येकार्थत्व, १४०

भा मानानि च अत्र पदानि साकाङ्क्षाणि—इत्युपपन्नमेकवाक्यत्वं न च यागमन्तरेण देवताय द्रव्य सङ्कल्पितव्यम – इत्यथ सम्बन्धोऽवकल्पते। तस्मात् यजिमती एते कर्मणी—इति॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १५ ॥ (सि० हे० ॥)

भा लिङ्ग खल्वप्येतमर्थं दर्शयति सौमारौद्र चरु निर्वपेदिति प्रकृत्य परिश्रिते याजयेत—इति परिश्रयणविधि एतस्य वाक्ये यजतिशब्देन सङ्कीर्तनमवकल्पते यदि यजिमती एते कर्मणी अथ प्रकृती गुणविधान यावदुक्त वा यजतिशब्देनानुवादो न अवकल्पत। तस्मात् अवगच्छामो यजिमती—इति॥ (२।३।५ अ० ॥)

---

अथ वत्सालम्भादीना संस्कारताधिकरणम ।

सू विशये प्रायदर्शनात ॥ १६ ॥

भा किम इह उदाहरण? न तावत सूत्रणैव परिगृहीत यथा 'अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानम उच्यते (२।३।३ सू०)—इति। नापि च साध्य प्रतिज्ञात यथा अयनेषु चोदनान्तरम् (२।३।५ सू०)—इति। केवल विशये (संशये) प्रायदर्शनं हेतु—इति निर्दिश्यते कस्याय हेतु?—इति न विजानीम। प्रकृत यजिमदेतत्कम—इति तदपि न सम्बध्यमान मव ऽत्रयाम तदेतद्गमकं सूत्रमेव तावदनर्थकम्। अथ का अत्र प्रतिज्ञा? यत्र सन्देह?—इति वक्तव्यम्। इतिकारवचनात प्रतिज्ञा सशयश्च अवगच्छाम। अथ भगवानाचार्य इदमुदाहृत्य—'वत्समालभेत वत्सनिकान्ता हि पशव —इति इमं संशयमुपन्यस्यतिस्म—'किं यजिमत् प्रधानं एव प्रागभि उतालम्भमात्रवचन—इति?। उपपद्यते चैतत उदाहरणम

भा संशयश्च। तत्र च पूर्वपक्षं प्रतिजानीतेस्म,—'यजिमदभिधानः' —इति। इदं तु प्रत्युदाहरणसूत्रं पूर्वस्य अधिकरणस्य, न चात्र पूर्वपक्षेण अतीव प्रयोजनं, तथापि पुरुषाणामुच्चावचबुद्धि-विशेषानालोच्य भवति मन्दानां सामान्यतोदृष्टेनाप्याशङ्का, सापि निवर्त्तनीया, न हि, मन्दविषेण वृश्चिकेनापि दष्टो म्रियेत न जातुचित् कदापि, तत्र चिकित्सा नादरेण कर्त्तव्या भवेत्। अतस्तां निवर्त्तयितुम् पूर्वपक्षमुपन्यस्यतिस्म,—आल-भतिरस्माभिः प्राणिसंयुक्तो यजिमदभिधानो दृष्टः, अयमपि आलभतिः प्राणिसंयुक्तः एव, तेनायमपि यजिमद्वचन एव—इति भवति कस्यचित् आशङ्का। अथ वा यजिमदभिधानो दृष्टः आलभतिः प्राणिसंयुक्तः, तस्य अयमनुवादो वत्सविधानार्थः, तथा च फलम् न कल्पयितव्यं भविष्यति—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अस्मिन् संशये आलम्भमात्रं* संस्कारः। कुतः?। प्रायदर्शनात्, यत्र अन्यान्यपि संस्कारकर्माणि प्राय-भूतानि—इत्युच्यन्ते, तत्रैतदपि श्रूयते। प्रायादपि चार्थनिश्चयो भवति, यथा, अक्षप्राये लिखितोऽप्यः—इति गम्यते। 'ननु लिङ्गं प्रायदर्शनं, कथम् अनेन सिद्धिः?—इति'। उच्यते,—यथा प्रायदर्शनेन सिध्यति, तथा वर्णयितव्यम्। 'कथं च प्राय-दर्शनं हेतुः?'। न्यायतः प्राप्तौ सत्याम्। कः पुनर्न्यायः?। देवतासम्बन्धाभावात् न यागवचनोऽदृष्टार्थत्वाच,—वाच आ-लभ्यमानो गां प्रस्तावयिष्यति—इति। तस्मादेवंन्यायप्राप्ते प्रायदर्शनं द्योतकं भवति। तस्मात् आलम्भमात्रं संस्कारः॥

सू. अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १७ ॥

भा. अर्थवादश्च भवति,—'वत्सनिकान्ता हि पशवः'—इति,

---

* यालम्भस्य स्पर्शरूपः।

भा यस्मात् वत्सप्रिया पशवः, तस्मात् वत्स आलब्धव्यः — इति, यदि गाः प्रस्तावयितुम् आलभ्यते, तत एतद्वचनम् अवकल्पते अथ सञ्ज्ञपयितुम्, तत एवञ्जातीयकं वचनं नोपपद्येत। तस्मादपि आलम्भमात्रं संस्कारः — इति सिद्धम्॥ (२।३।६ अ०॥)

---

नैवारचरोरुपधानार्थताधिकरणम्।

सू संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥ १८ ॥

भा अस्ति अग्निः, तत्र नैवारश्चरुर्भवति — इत्युक्त्वा, यदेनं चरुमुपदधाति — इति समामनन्ति। तत्र सन्दिह्यते, — किं चरुर्यागार्थः (यागं कृत्वा अवशिष्ट उपधातव्यः), उत उपधानार्थ एव? — इति। यागार्थः — इति ब्रूमः, — चरोर्हि प्रसिद्धं कार्यं यागो नोपधानम्। उच्यते, — यद्यपि यागार्थता चरोः प्रसिद्धा तथापि देवतावचनसम्बन्धाभावात् यजतिशब्दासम्बन्धाच्च न यागार्थता — इति गम्यते। तदुच्यते, — तस्यैव वाक्यशेषे श्रूयते — 'बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः' — इति, तेन देवतावचनेन सन्निहितेनैकवाक्यता भविष्यति — इति बृहस्पतिदेवताक उपधातव्यः — इति। तस्मात् यागार्थश्चरुः — इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः, — 'संयुक्तस्त्वर्थशब्देन' (कार्यशब्देन उपदधातीति) 'तदर्थः' एव स्यात् (उपधानार्थः)। उपदधातिना ह्यस्य प्रत्यक्षमेकवाक्यत्वम् परोक्षं देवतावचनेनानुमेयम् चरुमुपदधाति — इति हि प्रत्यक्षं वाक्यम्। बार्हस्पत्यमुपदधाति — इत्यानुमानिकम्। तस्मात् एष चरुरुपधातव्यः, ततः यदि किञ्चित् इज्यायां विनियुज्येत, तदन्यच्च श्रुतम् अन्यच्च कृतं भवेत्। यत्तु बार्हस्पत्या नीवाराः — इति, अर्थवादः सः — इति। यत्तूक्तं — प्रसिद्धा चरोर्यागार्थता — इति, प्रसिद्धिर्वाक्येन बाध्यते। तस्मात् उपधानार्थः — इति सिद्धम्॥ (२।३।७ अ०।)

त्वाष्ट्रपात्नीवतस्य पर्यग्निकरणगुणकत्वाधिकरणम् ॥

सू. पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥ १८ ॥

भा. त्वाष्ट्रं पात्नीवतं विधायेदमुच्यते,—यत् 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतम् उत्सृजन्ति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं त्वाष्ट्रस्य पर्यग्निकृतस्यैष उत्सर्गो विधीयते, उत तस्मात् यागान्तरम्?—इति। यदि पर्यग्निकृतम् उत्सृजन्ति—इति पदद्वयं परस्परेण सम्बद्धं, ततः त्वाष्ट्रस्योत्सर्गः, अथ पात्नीवतशब्द उत्सृजतिना सम्बध्येत, ततो यागान्तरम्।

किं तावत् प्राप्तम्?—यागान्तरम्—इति। कुतः?। पूर्वः त्वाष्ट्रः पात्नीवतश्च, उभयविशेषणविशिष्टः कथं पात्नीवतशब्देन अनूद्येत। अपि च त्वाष्ट्रस्योत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतम्—इति विशेषणं न अवकल्पेत। अतो ब्रूमः,—पर्यग्निकृतस्य पात्नीवतता विधीयते, स एव यागः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न कर्मान्तरं, पूर्वस्य एव उत्सृजतिशब्देन अवच्छेदो विधीयते। किमेवं भविष्यति?। यजिमत्ता तावत् कल्पयितव्या न भविष्यति, उत्सृजतिशब्दस्य श्रुत्या उत्सर्गं विदधत् वाक्येन न बाधितो भविष्यति, कर्मान्तरपक्षे वाक्येन पात्नीवततायां विधीयमानायामर्थात् प्राप्त उत्सर्गो धातुना अनूद्येत। अपि च पर्यग्निकृतस्य पात्नीवतता पूर्वस्य विहितैव, सा विधातुम् न शक्यते, तस्मात् पूर्वस्य कर्मणोऽवच्छेदः। यत्तूक्तं,—त्वाष्ट्रस्य उत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतम्—इति विशेषणं तावत् नावकल्पेत—इति, नैष दोषः,—अतत्त्वमेवात्र पात्नीवत-शब्दो नासौ विशेष्यते, अत एव 'त्वाष्ट्रः पात्नीवत उभयविशेषण-विशिष्टः केवलेन पात्नीवतशब्देन लक्षणयाऽनूद्येत'—इति न दोषः। तस्मात् अवच्छेद—इति सिद्धम्॥ (२।३।८ अ०॥)

---

अदाभ्यादीनां ग्रहनामताधिकरणम्।

सू॰ **अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात्॥ २०॥**

भा॰ न कस्यचिदपि प्रकरणे श्रूयते,—'एष वै हविषा हविर्यजते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते'—इति, तथा 'परा वा एतस्यायुः प्राण एति योऽंशुं गृह्णाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं यागान्तरमेतद्ग्रहणकम्, उत ज्योतिष्टोमयागे ग्रहविधिः?—इति।

किं प्राप्तम्?—यागान्तरम्—इति। कुतः?। अपूर्वनामधेयसंयोगात्, न प्रकृतावेतन्नामधेयको यागोऽस्ति, न ग्रहः कश्चित् योऽभ्यस्येत। तस्मात् यागान्तरम्। ननु द्रव्यदेवतं न श्रूयते। माभूत् द्रव्यदेवतं, साक्षादेव यजतिशब्दो विद्यते। तस्मात् कर्मान्तरम् अदाभ्यसंज्ञकम्, अंशुसंज्ञकं च यागं करोति—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अद्रव्यदेवताके केवले नामधेये श्रूयमाणे ब्रूमः, ज्योतिष्टोमे एव ग्रहाभ्यासविशेषविधानम्—इति। कुतः?। एतत् तावत् ग्रहस्य नामधेयं न यागस्य, ग्रहणेन साक्षात् सम्बन्धात्, व्यवहितत्वात् यागस्य। अंशुः—इति च सुतरामेव ग्रहनामधेयं, न च ग्रहभेदे यागभेदो भवति, न च, द्रव्यदेवतं श्रूयते। यतो गृह्णातिर्यजिमद्वचनो* भवेत्, यदप्युक्तं,—साक्षात् अत्र यजतिशब्दो विधायकः—इति, नैवं शक्यं कर्मान्तरं विधातुम्, विहितयागवचनो हि सः, विशेषाभावात्। तस्मात् यजतिना ज्योतिष्टोम एव उच्यते, अंश्वदाभ्यशब्दाभ्यामपि अपरौ ग्रहाभ्यासौ विधीयेते—इति सिद्धम्॥ (२।२ ९ अ०)॥

---

* यजतिवचन इति सा० सं० पु०।

अग्निचयनस्य संस्कारताधिकरणम् ॥

सू. अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥ २१ ॥
(पू०) ॥

भा. अस्त्यग्निः, 'य एवं विद्वानग्निं चिनुते'—इति, एवं विधाय श्रूयते,—'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुक्थ्येन, तमतिरात्रेण, तं षोडशिना'—इत्येवमादि। तत्र सन्देहः,—किमयमग्निशब्दो यागवचनो ज्योतिष्टोमादिभ्यः कर्मान्तरं चिनुते—इत्याख्यातेन विधीयते, उत द्रव्यवचनो ज्योतिष्टोमादिषु गुणविधानम्?—इति।

किं प्राप्तम्?—यागवचनः—इति। कुतः?। 'लिङ्गदर्शनात्', लिङ्गं हि दृश्यते,—अग्नेः स्तोत्रमग्नेः शस्त्रम्—इति 'तथा, षडुपसदोऽग्नेः चित्यस्य भवन्ति'—इति, यस्य स्तोत्र-शस्त्रमुपसदश्च तस्याग्निशब्दो वाचकः—इति गम्यते, यागस्य एतत् सर्वं, तस्मात् यागवचनः—इति। 'ननु लिङ्गमसाधकं, प्रमाणमुच्यताम्'—इति। अत्र उच्यते,—अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति—इति यागमभिनिर्वर्त्तयति—इत्युच्यते, तम् अग्निमिति विशिनष्टि। तस्मात् 'अग्निमयजत'—इति गम्यते। अनुशब्दोऽप्युपसर्गो यजतेर्विशेषक एवमुपपद्यते, यद्यग्निर्यागः; तस्मात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥

सू. द्रव्यं वा स्यात् चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥ २२ ॥ (सि०॥)

भा. द्रव्यं वा अग्निशब्देन उच्येत। कतमत् द्रव्यम्?। यदेतत् ज्वलनः, अत्र हि एष प्रसिद्धः। चिनुते—इत्येषा हि चोदना चयनार्था न यजत्यर्थं शक्नोति वदितुम्, चयनेनैनं संस्कुरुते चितौ स्थापयति—इति। अनुशब्दश्च पश्चादर्थो भविष्यति, चयने निर्वृत्ते पश्चादग्निष्टोमेन यागेन यजतीति ॥

सू तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥
॥ २३ ॥

भा यत्तु लिङ्गदर्शनमुक्तम् —यागवचनोऽग्निशब्दः —इति, तत् तेष्वेव लिङ्गयुक्तेषु वचनेषु, न सर्वत्र तेषु चित्याग्निसंयोगात्, यागे चयनशब्दः तेन क्रतुवचनानि *तद्धर्मविधानानीत्यदोषः ॥ (२।३।१० अ०॥)

---

मासाग्निहोत्रादीनां कर्मान्तरताधिकरणम् ।

सू प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥ २४ ॥

भा कुण्डपायिनामयने श्रूयते,— मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते—इत्येवमादि। तत्र सन्दिह्यते,—किं नियते अग्निहोत्रे नियतयोश्च दर्शपूर्णमासयोर्मासो विधीयते कालः, अथ किं नियताग्निहोत्रात् नियताभ्यां च दर्शपूर्णमासाभ्यां कर्मान्तरविधानम् ?—इति ।

किं तावत् प्राप्तं ?—नियतेषु कालविधिः—इति। कुतः ?। कालविधिसरूप एष शब्दो मासम्—इति। कथं कालविधिसरूपता ?। यत् अग्निहोत्रं जुहोति—इति विहितं, मासमित्य विहितम्। एवं च अग्निहोत्रशब्दो दर्शपूर्णमासशब्दश्च न कर्मान्तरवचनौ भविष्यतः, तस्मात् कालविधिः। 'ननु कुण्डपायिनामयनप्रकरणं बाध्येतैवम्'। कामं बाध्यतां, वाक्यं हि बलवत्तरम् ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणान्तरे श्रूयमाणं वाक्यं यस्य प्रकरणे, तस्य वाचकं भवितुमर्हति। 'ननु प्रत्यक्षोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्ण

---

* सर्वत्र च धर्मवचनानीत्यदोष इति का० सं० पु० ।

भा मासयोश्च गुणविधि'। न,—इत्युच्यते। कथम्?। उपसद्भि श्चरित्वेति श्रुत्वा इदमभिधीयते, न च, उपसदोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्च सन्ति। तस्मात् न शक्य तत्र मासविधि। 'अथ उपेयत,—उपसदोऽपि विधीयन्ते—इति। तथा गुण विधानार्थेऽस्मिन वाक्ये अनेकगुणविधानात वाक्यम भिद्येत' अस्मिन्पक्षे पुनरत्तथम अग्निहोत्रशब्दो न कर्म विशेष्यति, तेन वाक्यभेदो न भविष्यति। तस्मात् कर्मान्तरम्—इति सिद्धम्॥ (२।३।११ अ०॥)

---

आग्नेयादिकाम्येष्ट्यधिकरणम्॥

सू फलं चाकर्मसन्निधौ ॥ २५ ॥

भा अनारभ्य किञ्चिच्छ्रूयते आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत रुक्काम,* अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकाम ऐन्द्राग्नमेका दशकपालं निर्वपेत्प्रजाकाम—इति। अत्र सन्दिह्यते,—किं माम्नातेष्वाग्नेयादिषु फलं विधीयते उत माम्नातेभ्य कर्मान्तरा एयेतानि?।

किं प्राप्त?—प्राम्नातेषु फलविधि—इति। कुत?। विदिता आग्नेयादय प्रत्यभिज्ञायन्ते तस्मात तेषामनुवाद फलसम्ब न्धार्थं—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूम,—फलं च भेदकं अकर्मसन्निधौ श्रूयमाणम्। कथम्?। अनुवादे सति न शक्यत फलं विधातुम, विधायकस्य अभावात, न हि अविधीयमानो हि उपायो फलो भवति—इति गम्यते। अपि च रुक्कामे अत्र विधीयमाने कामस्य

---

* रुक्कामः तेजस्काम इति माधव ।

भा अनित्यत्वात्, आग्नेयादीनां नित्यत्वात्सम्बन्धो न अवकल्पेत। एवं सर्वत्र। तस्मात् कर्मान्तराणि॥ (२।३।१२ अ०॥)

---

अवेष्टेरन्नाद्यकामस्यफलाधिकरणम्।

सू सन्निधौ त्वविभागात् फलार्थेन पुनःश्रुतिः॥ २६॥

भा अस्त्यवेष्टिः,—'आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति'—इत्येवमादि, तां समाम्नायोच्यते,—'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं कर्मान्तरमवेष्टेः, उतावेष्टिरेवेति?। किं प्राप्तं,—कर्मान्तरम्—इति, उक्तेन न्यायेन। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सन्निधौ फलार्थेन पुनःश्रुतिः अवेष्टिरेव, न कर्मान्तरम्—इति। कुतः?। अविभागात् एतयेत्येष शब्दो न शक्नोति अवेष्ट्या विभक्तं यागमन्यं वक्तुं सन्निहितस्य प्रतिनिर्देशक एष शब्दः। तस्मात् अवेष्टेरेवान्नाद्यकामस्य विधीयते—इति। किं प्रयोजनम्?। यदि अवेष्टिः, आग्नेयादीनि हवींषि, अथ कर्मान्तरम्, अन्यहविष्को यागः—इति॥ (२।३।१३ अ०॥)

---

आग्नेयद्विरुक्तेरनुवादताधिकरणम्।

सू आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत॥ २७॥ (पू०)॥

भा दर्शपूर्णमासयोः 'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'—इति विधाय पुनरुच्यते,—'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अमावास्यायां द्विराग्नेयेन यष्टव्यम्, उत सकृत्?—इति। किं प्राप्तम्?—'आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत', एवमर्थैव पुनःश्रुतिः अविशेषात् अनर्थकं हि स्यात्—इति॥

सू. अविभागात्तु कर्मणा द्विरुक्तेर्न विधीयते ॥ २८ ॥ (सि० १ ॥)

भा. नैतदस्ति,—पुनरभ्यसितव्यः आग्नेयः—इति। कुतः?। न, अभ्यासस्य वाचकः शब्दोऽस्ति—इति। 'ननु आग्नेयः पुनरुच्चरितः परं कर्म विधास्यति'। न—इति ब्रूमः,—शब्दः पुनरुच्चरितो न 'पुनरर्थः कर्त्तव्यः'—इति शक्नोति वदितुम्, योऽस्य प्रथमम् उच्चरितस्यार्थः, अतस्तस्योऽभ्युच्चरितस्य स एवार्थो भविष्यति, नान्यः। 'ननु विहितमेव पुनर्विधिशब्दं विदधत् अनर्थको भवति'। भवतु कामम् अनर्थकत्वं, न त्वन्यं शक्नोति वदितुम्, भवेत् उपपन्नम् अनर्थकत्वं, न त्वर्थान्तरवचनता। तस्मात् न द्विरभ्यस्येत—इति ॥

सू. अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥ (सि० २ ॥)

भा. अथ वा, न अनर्थिका पुनःश्रुतिः, अर्थवादार्था भविष्यति,—इत्युच्यते। 'किमर्थवादेन प्रयोजनं? यदा पूर्वेणैव वाक्येन सार्थवादकेन विहितः आग्नेयः, कमन्यमर्थं विधातुम् श्रुतिः प्रयुज्येत? श्रुतिमात्रं यत् न कस्यचिद्विधानार्थं, तत् अनर्थकम्,—इत्युक्तम्, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् अतदर्थानाम्' (१९ पृ०)—इति. श्रुतश्चाश्रुतश्च तावानेव सोऽर्थः, यथा श्रुता च अश्रुता च देवता अङ्गभावं साधयति, एवमेतत्—इति'। तदुच्यते—'अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः', न आग्नेयं विधातुम्, ऐन्द्राग्नविधानार्था, आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवत्येव, न केवलेनाग्निना स साधुर्भवति—इति इन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः, तस्मात् ऐन्द्राग्नः कर्त्तव्यः—इति ॥ (२।३।१४ अ०॥)

इति आचार्य्य शबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयस्य अध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ * * ॥

द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥



अथ यावज्जीविकाग्निहोत्राधिकरणम् ॥

सू॰ यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्म्मधर्म्मः प्रकरणात् ॥ १ ॥ (पू॰) ॥

भा॰ बह्वृचब्राह्मणे श्रूयते,—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'—इति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—इति। अत्र सन्देहः,—किं कर्मधर्मोऽभ्यासो यावज्जीविकता, उत कर्तृधर्मो नियमः चोद्यते यावज्जीविकता?—इति। कथं कर्मधर्मोऽभ्यासः, कथं वा कर्तृधर्मो नियमः?—इति। यदि जुहोतिः अनुवादः, यावज्जीवम्—इति विधिः; ततः कर्मधर्मोऽभ्यासः, यदि विपरीतं, ततः कर्तृधर्मो नियमः—इति। किं तावत् प्राप्तम्,—कर्म्मधर्मोऽभ्यासः। कुतः?। प्रकरणात्,—यदि इयं वचनव्यक्तिः,—जुहोतियजति शब्दौ अनुवादौ, यावज्जीवम्—इति च विधिः, ततः प्रकरण मनुगृह्यते, तस्मात् अभ्यासः। एवं कृत्वा सबसंस्तवो युक्तो भविष्यति, 'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ च'—इति दीर्घकालसामान्यात्। तस्मात् अभ्यासः॥

सू॰ कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥ २ ॥ (सि॰) ॥

भा॰ अत्र ब्रूमो,—यावज्जीविकोऽभ्यासो न स्यात्, कर्तृधर्मो नियमः चोद्यते इति। कुतः?। श्रुतिसंयोगात्। एवं श्रुतिपरिच्छिन्नोऽर्थो भविष्यति, इतरथा लक्षणा स्यात्। कथं?। यावज्जीवनं, तावता कालेन कुर्यात्—इति, तदेतत्प्रदोषपरिसमाप्तमग्निहोत्र मनभ्यस्य, न शक्यते यावज्जीवनकालेन कर्तुम्, पौर्णमास्य मावास्यापरिसमाप्ती च दर्शपूर्णमासौ। यदि उच्येत—'जीवन-कालस्यैकदेशेऽपि कृतं तेन कालेन कृतं भवति'—इति। नैतदेवम्,

भा. अर्थप्राप्तं हि तत् न विधातव्यम् शब्देन, जीवनपरिमितः कालो यः, तेन परिसमापयितव्यम्—इति अर्थादभ्यासः, स हि कर्त्तव्यतया श्रूयते, न चासौ जुहोतियजतिभ्यामुच्यते, लक्षणया तु गम्यते। यावज्जीवं जुहुयात्, यावज्जीवमभ्यस्येत्-इति, श्रुतिश्च प्रकरणाद्बलीयसो। यदि इयं वचनव्यक्तिरस्य वाक्यस्य, यावज्जीवम्—इत्यनुवादो जुहोतियजति—इति च विधानम्,—इत्येवं यजतिजुहोतिशब्दौ स्वार्थावेव भविष्यतः, यावज्जीवशब्दोऽपि जीवनवचन एव, नाभ्यासलक्षणो भविष्यति—इति जीवने निमित्ते कर्म विधीयते, जीवंश्चेत् होतव्यम्—इति, जीवनं निमित्तं, न कालः, नियतनिमित्तत्वात् नियतं कर्म तेन उच्यते,—कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते—इति॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च, कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत, तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥ ३ ॥ (हे० १) ॥

भा. लिङ्गं च भवति 'अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत्' इति। कथं लिङ्गं?। कर्मधर्मे हि प्रक्रान्तं सर्वं यावज्जीवनकालेन परिसमाप्येत, न तत्र कालातिपातः स्यात्। तत्र चानर्थकमन्यत् स्यात् प्रायश्चित्तादि विधीयमानम्॥

सू. व्यपवर्गं च दर्शयति, कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् ॥ ४ ॥ (हे० २) ॥

भा व्यपवर्गस्य (समापनस्य) दर्शनं भवति,—'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इष्ट्वा सोमेन यजेत'—इति; यदि दर्शपूर्णमासाभ्याम् इष्ट्वा सोमस्य कालोऽस्ति; यस्तु न यावज्जीवनकालेन तौ परिसमाप्येते। अथ जीवनं निमित्तम्, उपपद्यते कर्मभेदः, दर्शपूर्णमासौ परिसमाप्य सोमं कर्मान्तरं कुर्यात्—इति।

भा अपि च 'आहिताग्निर्वा एष यः अग्निहोत्रं जुहोति न दर्शपूर्णमासौ यजेत, या आकृतिभाजो देवतास्ता अनुध्यायिनी' करोति' —इति अनुध्यायिनीवचनं भवति, नियतः य आकृतिभाग, तस्मिन् अदीयमाने अनुध्यायिनीवचनं भवति। यस्त्वनियत आकृतिभागः तमनुध्यायन्ति, इदं नो भविष्यति—इति, नियतश्च भागो नियमपक्षे भवति, न काम्यपक्षे, कर्मधर्मे च काम्यमग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ च, तस्मात् नियमपक्षः। अपि च श्रूयते,—'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते—मृत्युना च'—इति जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं च नियमपक्षे उपपद्यते। काम्यपक्षे हि अप्रयोगादपि मुच्येत ?॥

सू अनित्यत्वात् तु नैवं स्यात् ॥ ५ ॥ (हे० ३) ॥

भा तुशब्दोऽन्वाचये, इतश्च पश्यामः, कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते—इति। यदि पूर्वस्य होमस्य गुणविधिर्भवेत् स एवैकः पूर्वोऽग्निहोत्रहोमोऽनित्यः स्यात्, कामसंयोगेन श्रुतो नान्यः कश्चित् नित्यः, तत्र लिङ्गं विरुध्येत,—'जरामर्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च' —इति। कथं विरुध्यते ?। जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं नियमपक्षे उपपद्यते, काम्यपक्षे अप्रयोगादपि मुच्येत ?॥

सू विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥ ६ ॥ (हे० ४) ॥

भा इतश्च पश्यामो न पूर्वाभ्यासो गुणश्चोद्यते—इति। कुत ?। विरोधात्, विरोधो भवति, दर्शपूर्णमासविकाराः सौर्यादयोऽपि यावज्जीवमभ्यसितव्या भवेयुः। सोऽनारभ्यार्थः प्रतिज्ञातः स्यात्! अतोऽपि पश्यामो नियम.—इति सवर्थस्तवश्च सन्ततभावमुपपत्स्यते ॥

सू. कर्त्तुस्तु धर्म्मनियमात्कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥ ७ ॥
(यु०) ॥

भा यदि कर्त्तुर्धर्मो नियमश्चोद्येत, ततो जीवनं निमित्तं, जीवने निमित्ते कर्म्म विधीयते। तत्र प्रयोगे परिसमाप्तं कर्म्म, तथा व्यपवर्गस्य दर्शनमवकॢप्तं भवति, तस्मात् कर्त्तुर्धर्मो नियमश्चोद्यते—इति सिद्धं भवति ॥ (२।४।१ अ० ॥)

---

अथ सर्व्वशाखाप्रत्ययैककर्मताधिकरणम् ॥

सू नाम—रूप—धर्म्मविशेष—पुनरुक्ति—निन्दा—ऽशक्ति—समाप्तिवचन—प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात् शाखान्तरेषु कर्म्मभेदः स्यात् ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा इह शाखान्तराण्युदाहरणं, काठकं कालापकं पैप्पलादकम्-इत्येवमादीनि। तत्र सन्देहः, किमेकस्या शाखाया यत् कर्म अग्निहोत्रादि श्रूयते, तच्छाखान्तरे पुनः श्रूयमाणम्भिद्येत तस्मात्, उत न भिद्येत ?। भिद्येत—इति पश्यामः। कुतः ?। नामभेदात्, एकं काठकं नाम, अन्यत्कालापकं नाम, एवं—नामभेदाद्भेदः। 'ननु ग्रन्थनामेतत्'। सत्यं, कर्म्मणामपि—इति ब्रूमः,—कर्म्मभिरप्येवमादीना सामानाधिकरण्यम् एकविभक्तित्वं च—इति।

रूपभेदाच, एकस्यां शाखायाम् अग्नीषोमीयमेकादशकपालम् आमनन्ति, एकस्यां द्वादशकपालं, एवं—भिन्नं रूपं, कथमिव न कर्मान्तरं भविष्यति।

धर्म्मविशेषाच, कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति, अपरे शाखिनो नाचरन्ति, तथा

भा याना केचिदुपाध्यायस्योदकुम्भानाहरन्ति, अपरे न अश्वमेध मधीयाना केचित अश्वस्य घासम आहरन्ति, अपरे न परेऽन्य धर्ममाचरन्ति, अश्वघासादेरेकेषामुपकारम आकाङ्क्षति अश्व मेधादि, एकेषा न आकाङ्क्षति, स एवैक कथ न आकाङ्क्षेत कथ वा अन्यत आकाङ्क्षितुमर्हति, अतो गम्यते अन्यत्—इति।

पुनरुक्तिप्रसङ्गाच यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेक कर्म एकस्या शाखाया विहितस्य कर्मण शाखान्तरे वचन पुनरुक्तम् अनर्थक स्यात्! न तु भेदपक्षे एष दोषोऽस्ति तस्मात् अपि कर्मभेद।

निन्दावचनाच "प्रात प्रातरनृतन्ते वदन्ति पुरोदया जुह्वति ये अग्निहोत्र दिवाकीर्त्यम अदिवा कीर्त्तयन्त सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्—इति केचित शाखिनोऽनुदितहोम निन्दन्ति अपरे पुनरुदितहोम निन्दन्ति, 'यथाऽतिथये प्रद्रु तायाम्नमाहरेयुस्तादृक तत् यदि उदिते जुह्वति—इति सर्व शाखाप्रत्यये विरुद्ध, न तु कर्मभेदे, तस्मात् अपि भेद —इति।

अशक्तेश्च न शक्नुयु खल्वपि सर्वशाखाप्रत्ययमुपसंहर्तुम तत्रानारभ्योऽर्थो विधीयते—इति प्रतिज्ञात भवेत शक्य तु कर्म्मभेदे, अत कर्म्मभेद —इति।

समाप्तिवचनाच असमाप्तेऽपि समाप्तेर्वचन भवति केचिदाहु, अत्रास्माकमग्नि परिसमाप्यते—इति, अपरेऽन्यपरिसमाप्ति व्यपदिशन्ति, तदेककर्मत्वे नोपपद्यते, न हि तत्र च परिसमाप्येत, अन्यत्र न भेदे तु युक्त तस्मात् भेद —इति।

प्रायश्चित्तविधानाच, केचित् अनुदितहोमव्यतिक्रमे प्राय श्चित्तमामनन्ति, केचित् उदितहोमव्यतिक्रमे दृष्टे च प्रायश्चित्त न च कर्मैकत्वे उभयथा वृद्धि सम्भवति, कर्मभेदे तु यदनुदिते होमकर्म, तदुदिते दृष्टम, इतरदप्युदिते, तस्मात् अपि भेद।

अन्यार्थदर्शनाच, इद श्रूयते, 'यदि पुरा दिदीक्षाणा स्यु यदि वैषा गृहपति गृहपतेरेवानुदीक्षेत्—इति, त एनमेव

भा. इन्द्रतुसामानं क्रतुमुपेयुरुपेतं ह्येषां रथन्तरं, अथ यदि अदिदीक्षाणाः'—इति इष्टवतामनिष्टपूर्वाणां च द्वादशाहे दर्शनमुपपद्यते यदि कर्मभेदः, एककर्मत्वे नावकल्पते। कथं?। ताण्डके श्रूयते,—'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां, यज्ज्योतिष्टोमो, य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत प्रवामीयते' —इति, तत् सर्वत्र स्यात्, तत्रादिदीक्षाणां द्वादशाहे दर्शनं नोपपद्यते, तस्मात् अपि कर्मभेदः।

अथापरं लिङ्गदर्शनं, 'यत्पञ्चसम्मितां मिनुयात् कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मित्यामिनोति'—इति पञ्चसम्माने प्रतिषिद्धे वेदिसम्मानस्य दर्शनं भवति, तत्तु कर्मभेदे उपपद्यते, प्राचिकस्य वेदिसम्मानस्य दर्शनं एककर्मत्वे नोपपद्यते। कथम्?। एके हि समामनन्ति, 'रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति'—इति, तत् सर्वत्र स्यात्, तत्र च नो पञ्चसम्मानं नो वेदिसम्मानं स्यात्, वेदिसम्मानदर्शनं नोपपद्यते, तस्मात् अपि कर्मभेदः।

अपरञ्च लिङ्गदर्शनं, केषाञ्चित् ज्योतिष्टोमे श्रूयते, द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते इति, परेषां तिस्रः संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते—इति एककर्मत्वे विरोधः, नानाकर्मत्वे कस्मिंश्चित् ज्योतिष्टोमे द्वे, कस्मिंश्चित् तिस्रः, तस्मात् कर्मभेदः—इति।

अपि च सारस्वते श्रूयते, 'ये पुरोडाशिनस्ते उपविशन्ति ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति'। सान्नायिन इष्टप्रथमयज्ञाः, पुरोडाशिनो विपरीताः, उभयेषां सारस्वतेदर्शनम् अवकल्पते कर्मभेदे, एककर्मत्वे सर्वेषां ज्योतिष्टोमपूर्वत्वं स्यात्, तत्र दर्शनं नोपपद्यते।

अपि च श्रूयते,—'उपहव्यो निरुक्तः, अग्निष्टोमो यज्ञः रथन्तर-

भा सामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा,' परेषां श्रूयते, 'उपहव्योऽनिरुक्त', उक्थो यज्ञो बृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा'—इति, कर्मैकत्वे रथन्तरवचनं बृहद्वचनं चानर्थकं, शाखाद्वय-प्रत्ययत्वात् बृहत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात्, स चायं प्रज्ञात एवंलक्षणकः प्राप्तः, नानाकर्मत्वे तु अन्यो बृहत्सामाऽन्यो रथन्तरसामा इति युक्तं भवति, तस्मात् शाखान्तरे कर्मभेदो भवितुमर्हति ॥

सू. एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥ ९ ॥
(सि०) ॥

भा. नचैतदस्ति, यदुक्तं शाखान्तरेषु कर्मभेदः—इति, सर्वशाखा-प्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययञ्चैकं कर्म, अर्थसंयोगस्याविशेषात्, तदेव प्रयोजनमुद्दिश्य तदेव विधीयमानं प्रत्यभिजानीमः।' रूपमप्यस्य तदेव द्रव्यदेवतं, पुरुषप्रयत्नश्च तादृश एव चोद्यते, नामधेयं चाविशिष्टं', तेन तदेव कर्म सर्वशाखादिषु—इति प्रत्ययः ॥

सू. न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥ १० ॥
(पू० नि० १) ॥

भा यदुक्तं (१९७।२४ प०) नामभेदः—इति, परिहृतं (१९७। २९ प०) तत् ग्रन्थनामतः—इति। अथ यदुक्तं, (१९७।२७ प०) कर्मणोऽपि नामसामानाधिकरण्यदर्शनात्—इति। नैष दोषः, —ग्रन्थसंयोगात् कर्म काठकादि, न कर्मसंयोगात् ग्रन्थः काठकः। कथं गम्यते?। यत् कर्म काठकादिसंयुक्तं, तत् काठ-कादिशब्देनोच्यते। किमतोऽपि?। यत् ग्रन्थसंयोगात् काठकं काम्यापकं कर्मोच्यते, एकत्वेऽपि काठकग्रन्थसंयोगात् काठकं, काम्यापकग्रन्थसंयोगात् तु काम्यापकं भविष्यति ॥

सू सर्व्वेषाञ्चैककर्म्म्यं स्यात् ॥ ११ ॥ (यु० १) ॥

भा. यदि शब्दभेदाद्भेदो भवेत्, शब्दैक्यात् तर्हि कर्म्मैक्यं भवेत्! तत्र काठकशब्दाभिधानादैक्यं भवेत् अग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोः ज्योतिष्टोमस्य च, तच्छब्दत्वात्, नचैतदेवं! तस्मादपि अभेदः।

सू कृतकं चाभिधानम् ॥ १२ ॥ (यु० २) ॥

भा. इदानीन्तनञ्चैतदभिधानं भवेत्, अस्य न पूर्वमासीत्, यतः प्रभृति कठस्य प्रहारं वचनं, ततः प्रभृति प्रवृत्तं, पूर्वं नासीद्भेदः, इदानीं भेदः—इति विरुद्धम् ॥

सू एकत्वेऽपि परम् ॥ १३ ॥ (पू० नि०) ॥

भा एककर्मत्वेऽपि रूपभेदो (१९७। १८ प०) भवति वचनात्, न च, वाचनिके रूपभेदे, असत्यामपि भेदबुद्धौ कर्मणो भेदो ऽध्यवसीयेत ॥

सू विद्यायांधर्म्मशास्त्रम् ॥ १४ ॥ (पू० नि०)॥

भा. अथ यो धर्मविशेष उक्तः (१९७। २१ प०), विद्याग्रहणार्थः सः, न कर्मण उपकारकः। कथं गम्यते? श्रुत्यादीनामभावात्, विद्यासंयोगाच्च न कर्मप्रयुक्तः—इति ॥

सू आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥ (आग०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—यथा अमावास्यायामाग्नेयस्य पुनरुक्तदोषात् मध्यमः पक्षो निरस्तः, एवमयमपि तस्मादेव दोषात् कर्मैकत्वपक्षो निरसितव्यः,—इति, एतत्परिहर्त्तव्यम्। (इत्याभाषान्तं सूत्रम्) ॥

सू. अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥ १६ ॥
(आ० नि०) ॥

भा नैव खल्वेतद्द्विर्वचनं, स एवायमर्थः पुनः श्रावितोऽग्निहोत्रादिर्वेदात्त्वो बहुभिस्तु पुरुषैः, नचैकोऽर्थो बहुभिरुच्यमानः पुनरुक्तो भवति! यदि भवेत, एकस्मिन्नेव वेदे बहुभिरुच्यमाने भवेत्, तस्मात् न बहुकर्मसमवायोऽयम्, एकमेवेदं कर्म—इति* ॥

सू. अर्थासन्निधेश्च ॥ १७ ॥ (यु० १) ॥

भा अर्थासन्निधेश्च शाखाशब्द उपपन्नो भविष्यति, शाखा इव हीमाः शाखाः, तत् यथा वृक्षस्य शाखाः, एवमिहापि वृक्षस्थानीयस्य वेदस्य शाखाः। किं शाखासारूप्यं? । यथा नानावस्थानं, नचैकैकस्यां शाखायां पुष्पं फलं सन्निहितम्, एवमिहापि, नैकैकस्यां शाखायां गुणकाण्डं सन्निहितम्,—इत्यर्थासन्निधेः शाखाशब्दोपपत्तिः। तस्मादप्येकं कर्म—इति ॥

सू. न चैकं प्रति शिष्यते ॥ १८ ॥ (यु० २) ॥

भा. न च, यत् काठकेऽग्निहोत्रं, तत् काठकमेवैकं पुरुषं प्रति विधीयते। तैत्तिरीयस्यापि तद्विहितमेव, पुरुषविशेषवचनाभावात्, यच्चाग्निहोत्रस्य किञ्चित् अङ्गं विधीयते, सर्वावस्थस्य तत् अग्निहोत्रस्य, यच्च काठकस्याग्निहोत्रं, तच्च तैत्तिरीयकस्य—इति, विशेषवचनाभावात्, तस्मात् सर्वशाखाभिरेकं समस्तं कर्माचरते—इति ॥

* "ग्रन्थान्तरे वाक्यासमवायादिति भाष्यकारस्य सूत्र पाठम्। सचैवं व्याख्यायते, नैकस्मिन् पुरुषे शाखान्तरवाक्यं समवैति" इति वार्त्तिककृदाशयः।

सू समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥ १९ ॥ (यु० ३) ॥

भा अथ अस्माकम् अग्निः परिसमाप्यते—इति उत्प्रेक्षितारो भवन्ति,—अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानाम् अग्निः परिसमाप्यते, अस्माकं तेषु न परिसमाप्यते—इति, यदि अन्यदेव मैत्रायणीयानां, अन्यच्च तेषां, कथं ते ब्रूयुरेवस्माकं न परिसमाप्यते—इति, एकत्वमुपपन्नं, तेषामपि हि ते सन्ति ॥

सू एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥ २० ॥ (पू० नि०) ॥

भा. न हि निन्दा (१९८। ९ प०) निन्द्यं निन्दितुम् प्रयुज्यते। किं तर्हि निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्, तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते। किन्तु इतरस्य विधिः, तत्र एकस्मिन् अग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ विकल्प्येते, अतो न कश्चिद्विरोधः।

तथा असमर्थानां (१९८। १५ प०) एकस्मिन्नपि वेदे विहित क्षात्स्नमङ्गजातम् उपसंहर्तुम् अशक्तिः, समर्थानान्तु सर्वशाखाभ्योऽप्यागमितमधिकं विधिमुपसंहर्तुम् शक्तिः अस्ति—इति तेनैककर्मत्वेऽपि न विरुद्धम्—इति।

तथा एकस्मिन्नपि कर्मणि किञ्चित् वस्तु (१९८। १८ प०) समाप्तम्,—इति—कृत्वा समाप्तिशब्दः प्रयुज्यते, यथा, आश्वयं समाप्ते ज्योतिष्टोमस्य, समाप्तो ज्योतिष्टोमः—इति भवति।

सू. प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥ २१ ॥ (आक्ष०) ॥

भा यदुक्तं, (१९८। २२ प०)—उदितहोमस्यापि प्रायश्चित्ताम्नानादद्वुता* गम्यते, अनुदितहोमस्यापि, तदेकत्वे विरुध्यते,

* 'नाविरुद्धता' इति का० प्रा० पु०।

अविरुद्धं नानात्वे इति, तत् परिहर्त्तव्यम्। (आभासान्तं सूत्रम्)॥

सू प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥ २२ ॥ (आ० नि०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैष दोषः, उदिते होष्यामीति प्रकान्ते अन्यथा क्रियमाणे भवति दोषः, तत्र प्रायश्चित्तस्य विषयो भविष्यतीति कर्म्मैकत्वेऽपि न दोषः॥

सू समाप्तिः पूर्व्ववत्त्वात् यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥ २३ ॥ (पू० नि०)॥

भा पूर्व्ववति समाप्तिवचनं भवति, यत्प्रारब्धं तत् परिसमाप्यते, तथाप्रारब्धं परिसमाप्तोऽग्निरिति योऽस्माभिर्ज्ञायते, प्रारब्धश्च परिसमाप्यते इत्यभिप्रायः॥

सू लिङ्गमविशिष्टं सर्व्वशेषत्वान्नहि तत्र कर्म्मचोदना तस्मात् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥ २४ ॥ (पू० नि०)॥

भा यदुक्तं, (१९८। २६ प०)—यदि पुरा दिदीक्षाणा इति, द्वादशाहे इत्यप्रथमयज्ञानामनित्यप्रथमयज्ञानां च दर्शनं कर्म्मभेदे उपपद्यते, न सर्व्वशाखाप्रत्ययैककर्म्मणि—इति। नैष दोषः, यदि दिदीक्षाणा द्वादशाहेन, अदिदीक्षाणा द्वादशाहेनेत्येवं तत्, न हि सामवेदे ज्योतिष्टोमस्य विधानम्। किमतोऽपि?। यत्र विहितस्तत्रानूद्यते, तेन कर्म्मभेदेऽपि सर्व्वज्योतिष्टोमानामेष धर्मः प्राथम्यं नाम। अतो नानाकर्म्मपक्षेऽप्यवश्यं द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः कल्पनीयस्तस्माददोषः॥

सू द्रव्ये चाचोदितत्वात् विधीनामव्यवस्था स्यात् निर्द्देशाद्व्यवतिष्ठेत तस्मात् नित्यानुवादः स्यात् ॥ २५ ॥ (पू० नि०) ॥

भा द्रव्ये च (अग्नौ) अचोदितत्वात् एकादशिन्याः* सम्मानपरिमाणं प्रति नैषा व्यवस्था स्यात्, नैवाग्नावेकादशिनी चोद्यते, कुतः पत्नसम्मानं (१९९। ८ प०) वेदिसम्मानं वा स्यात्? इयमप्येतत् परार्थं कीर्त्यते, पत्नवेकादशिनीविधानार्थं, यदि पत्नसम्मिता स्यादयं दोषः स्यात्, वेदिसम्माने न दोषो भवेत्, क एतस्यकृष्टमध्यवसानमर्हति?—एकस्मिन् यूपे एकादश पशवो नियोक्तव्याः—इति, वाचस्तोमादिषु तु यूपैकादशिन्यामस्य नित्यानुवादत्वात् रथाक्षमात्राण्येव यूपान्तरालानि भविष्यन्ति, नित्यानुवादत्वाच्चासत्यपि पत्नसम्माने वेदिसम्माने वा एकादशिनीविधानार्थं वचनमुपपद्यते एवेति न दोषः ॥

सू विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥ २६ ॥ (पू० नि०) ॥

भा अतिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति विहितः षोडशी, नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनमिति प्रतिषिद्ध†, तेन पक्षे द्वयोः स्तोत्रीययोरतिरेकः, पक्षे तिसृणाम, तस्माददोषः (१९९। १७ प०)। कथं पुनरत्र द्वयोस्तिसृणा वा अतिरेकः?। त्रिवृत् बहिष्पवमानं, तत् तावत नवक, पञ्चदशान्याज्यानि, तानि

---

* 'एकयूपे एकादश पशवः' इत्यस्य विधेः शेषीभूतः पत्नसम्मानादिरिति ॥

† वैकल्पिके षोडशिनि अक्रियमाणे द्वयोरतिरेकः, क्रियमाणे त्वेकविंशतिप्रचयात् तिस्रो भवन्ति तस्मादविरोधः' इति वार्त्तिकमप्यनुसन्धेयम् ॥

भा. तावत् चत्वारि, तेन सा षष्टिः; पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानः, तया पञ्चदशसंख्यया सह, पूर्वया च नवसंख्यया चतुरशीतिः। सप्तदशानि पृष्ठानि चत्वारि, सप्तदश आर्भवः पवमानः, पञ्चसप्तदशकानि तानि—इति पञ्चाशीतिः। पूर्वया चतुरशीत्या सहैकोनसप्ततिशतं। एकविंशं यज्ञायज्ञियं, तयैकविंशत्या सह तस्य नवतिशतं स्तोत्रियाः—इति ब्राह्मणवादः। अग्निष्टोममात्रमभिप्रेत्य उच्यते, 'सा विराट् सम्पूर्णा विराट्'—इति दशकाक्षराः, अथ एकविंशका उक्थपर्यायाः, सा त्रिषष्टिः, एकविंशः षोडशी, तया एकविंशत्या सह चतुरशीतिः, पञ्चदशका रात्रिपर्यायास्त्रयः, तत्रैकैकपर्यायः चतुःस्तोत्रः, तत् अशीतिशतं सम्पूर्णा विराट्। त्रिवृद्रथन्तरं पञ्चसाम, तन्नवकं, तत्चतुरशीतेरेकं नवकमागच्छति, तथा तिस्रः संस्तुताना विराजमतिरिच्यन्ते, यदा षोडशी न गृह्यते, तदा एकविंशत्या विना द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते, एवमेककर्म्मत्वेऽपि लिङ्गमुपपद्यते ॥

सू. सारस्वते विप्रतिषेधात् यदेति स्यात् ॥ २७ ॥
(पू॰ नि॰) ॥

भा. यदुक्तं, (१९९। २२ प॰)—पुरोडाशिनां सान्नायिनो च सारस्वते दर्शनं भवति—इति, ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात् सर्वकर्मणां, विप्रतिषिद्धमेतदिति, तेन यदा सान्नायिनः पुरोडाशिनः—इति कल्प्यते ॥

सू. उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥ २८ ॥ (आभा॰) ॥

भा. अथ यदुक्तं, (२००। १ प॰)—उपहव्ये बृहद्रथन्तरविधानं प्रतिषिद्धमेव, एककर्मत्वे प्रतिप्रसवतयापि असम्भवाद्विधीयमान मनर्थकं स्यात्—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। (आभासाख्यम् सूत्रम्) ॥

सू. गुणार्थो वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. यदा रथन्तरसामा, तदा अश्वः श्वेतो दक्षिणा, यदा बृहत्सामा तदा रुक्मललाट इति ॥

सू. प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥ ३० ॥ (यु०) ॥

भा. यदा न सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति, कथमेकस्यां शाखायां समाम्नायतेऽन्यस्यां गुणो विधीयते? यथा मैत्रायणीयानां समिदादयः प्रयाजा न समाम्नायन्ते, अथच गुणाः श्रूयन्ते,—'ऋतवो वै प्रयाजाः समानीय होतव्याः'—इति। तथा येषां शाखिनां कुटरुरसीति* अश्मादानमन्त्रो नाम्नातः, तेषामपि हि दृश्यते,—कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमुपादत्ते, कुटरुरसीति वेति। तस्मादेकं कर्म—इति प्रतीमः ॥

सू. अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥ ३१ ॥ (आ०) ॥

भा. यो ह्यन्यशाखावस्थितान् विधीनुपसंहरति, स स्वशाखाविहितं क्रममनुपरुणद्धीति, तेन शाखान्तरेषु कर्म्मभेद इति ॥

सू. विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्म्मप्रत्ययः स्यात् ॥ ३२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उच्यते, नैष शाखान्तरविहितानामैककर्म्ये सति विरोधिना संयोगः। न हि क्रमो वाक्येन विरुध्यते, दुर्बलो हि क्रमः, बलवद्वाक्यं, वाक्येन च शाखान्तरीयाणामुपसंहारः। तस्मात् सर्वशाखाप्रत्ययं सर्वब्राह्मणप्रत्ययञ्चैकं कर्म चोद्यत इति सिद्धं भवति ॥

इति भट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः। समाप्तोऽयं द्वितीयाध्यायः।

---

* कुटरुरसीति का० स०।

तृतीये अध्याये प्रथमः पादः ।



प्रतिज्ञाधिकरणम् ।

सू अथातः शेषलक्षणम् ॥ १ ॥

भा नानाकर्मलक्षणं वृत्तं, अनन्तरं शेषलक्षणं वर्त्तयिष्याम,— कः शेषः? केन हेतुना शेषः? कथं च विनियुज्यते?—इति, श्रुत्यादीनि च विनियोगे कारणानि—इति वक्ष्यते, तेषां च बलवदबलवत्ता, एतत्तात्पर्य्येणान्यदप्युपोद्घातादिना । (३।१।१ सू०) ॥

अथ शेषलक्षणसहितशेषलक्षणाधिकरणम् ।

सू शेषः परार्थत्वात् ॥ २ ॥

भा. इह सूत्रे शेषस्य लक्षणं, येन च हेतुना शेषः—इत्युच्यते, तदुभयमाख्यायते। यः परस्योपकारे वर्त्तते, स शेषः—इत्युच्यते, तत् यथा, ये परार्थाः, ते वक्तारो भवन्ति,—शेषभूता वयमिह—इति। 'ननु योऽपि प्राधानभूतः, सोऽपि कदाचित् परार्थे वर्त्तते, यथा उपाध्यायः प्रधानभूतः शिष्याणां विद्या विनयाधाने वर्त्तते'। सत्यं वर्त्तते, यस्तु अत्यन्तं* परार्थः, तं वयं शेषः—इति ब्रूम', यथा, गर्भदासः कर्मार्थं एव स्वामिनो ऽनङ्गाय क्रीयते, वक्ष्यति—इत्येव। 'ननु गर्भदासस्यापि स्वामी सविद्धानो गुणभावमायात्'। न—इति ब्रूमः,—आत्मन एवासौ सविद्धानो गुणभावं गच्छति, नान्तरीयकत्वात् गर्भ

* क्वचित् अत्यन्तपरार्थ इति पाठः स्वं पत्र ।

भा. दासस्योपकरोति, अनडुहो वा ; यस्त्वत्यन्तं परार्थः, तं वयं शेषः इति—ब्रूमः ।

अथ तत्र किं वृत्तं ? । “यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणः तत्र प्रतीयेत” (११४ पृ० । ८ सू०)—इति, तत्र अपूर्वार्थता व्यावर्त्तिता, दृष्टप्रयोजनानामाम्नातानाम् । इह तु सर्वेषामेव शेषाणां लक्षणमुच्यते ॥ (३ । १ । २ अ०) ॥

---

शेषलक्षणाधिकरणम् ॥

सू द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः ॥ ३ ॥

भा वादरिराचार्यः अत्र द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषशब्दः—इति मने, न यागफलपुरुषेषु । द्रव्यं क्रियार्थं, यदि प्रयोजनवती क्रिया, यतः सा द्रव्येण निर्वर्त्तयितव्या, तस्या निर्वृत्तिर्द्रव्यादृते न भवति—इति तन्निर्वृत्तये द्रव्यमेषितव्यं भवति, तस्मात् क्रियार्थं द्रव्यम् । गुणः शक्नोति विशिष्टं द्रव्यं चोदितं लक्षयितुम्, लक्षितेन च तेन प्रयोजनं, विशिष्टस्य क्रियासाधनत्वात्, तस्मात् सोऽपि द्रव्यद्वारेण क्रियाया उपकरोति—इति क्रियार्थ एव । संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचित् अर्थस्य, तेनापि क्रियाया कर्त्तव्याया प्रयोजनम्—इति सोऽपि परार्थः । तस्मात् द्रव्यगुणसंस्काराः परार्थत्वात् शेषभूताः ।

न तु यागफलपुरुषाः । यागः तावत् कर्त्तव्यः पुरुषस्य, न हि, तस्मिन् निर्वर्त्तिते किञ्चित् अपरमस्ति कर्त्तव्यं । स हि पुरुषार्थः, यदन्यत् द्रव्यादि, तत् तदर्थं तस्य शेषभूत, स तु न किञ्चिदभिनिर्वर्त्तयितुम् क्रियते । फलमपि न तेन क्रियते, तस्मिन् तु कृते स्वयमेव तत् भवति । तस्मिन कृते फलमस्य भवति—इत्येतावत् गम्यते, नास्ति शब्दो यागेन क्रियते

भा. फलमिति। तस्मात् यागो न शेषभूतः कस्यचित् अर्थस्य। फलमपि न पुरुषं प्रत्युपदिश्यते, यः स्वर्गं कामयते, स यागं कुर्यादित्येतावत् शब्देनोपदिश्यते, नात्मनः परस्य वा—इति, स्वर्गं प्रतीच्छामात्रेण स्वर्गकामः—इति भवति, तस्मात् पुरुषं प्रति गुणभावेन न श्रूयते स्वर्गः, तस्मात् सोऽपि न शेषभूतः। न चेत् फलयागौ गुणभावेन चोद्येते, कस्य पुरुषः प्रधानभूतो भवति? प्रत्यक्षस्यास्य द्रव्यत्वात् कर्म प्रति गुणभावः। तस्मात् द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषभावं बादरिर्मेने—इति॥

सू. कर्माण्यपि जैमिनिः, फलार्थत्वात्॥ ४॥

भा. जैमिनिस्तु खल्वाचार्यः कर्माण्यपि शेषभूतानि मन्यतेस्म, न बादरिरिवावधारणामनुमेने, स हि ददर्श,—न यागः कर्तव्यतया चोद्यते, फलकामस्य तु तत्साधनोपायत्वेन—इति। एवं श्रुतोऽर्थः परिगृहीतो भविष्यति, अर्थवांश्चोपदेशः; एतमेवार्थं षष्ठेऽध्याये सूत्रैरेव साधयिष्यति, इह तु तत्सिद्धेनैव फलार्थत्वेन शेषभावं यागस्यापादयतिस्म। तस्मात् अनवधारणा द्रव्यगुणसंस्काराः शेषभूताः, यागोऽपि शेषभूतः फलम्प्रति—इति॥

सू. फलं च पुरुषार्थत्वात्॥ ५॥

भा. फलमपि पुरुषं प्रत्युपदिश्यते, यः, स्वर्गो मे भवेत्—इत्येवं कामयते, तस्य यागः; न यः स्वर्गं, स आत्मानं लभेत—इति। कुतः?। आत्मनेपदप्रयोगात्, कर्त्रभिप्राये एतत् भवति, क्रियाफलमनुभवेत कथं पुरुषः?—इति यागः प्रयुज्यते। तस्मात् फलं पुरुषार्थं यागात् श्रूयते, नात्मनिर्वृत्त्यर्थम्। तस्मात् शेषभूतम्—इति॥

सू. पुरुषश्च कर्म्मार्थत्वात् ॥ ६ ॥

भा. पुरुषोऽप्यौदुम्बरीसम्मानादिषु गुणभूतः श्रूयते। तस्मात् अनवधारणा एषा,—द्रव्यगुणसंस्कारेषु शेषत्वं बादरिर्मेने—इति।

अथ इदानीम् अत्रभवान् वृत्तिकारः परिनिश्चिकाय,—द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव नियतो यज्ञम्प्रति शेषभावः, आपेक्षिक इतरेषाम्; यागस्य द्रव्यम्प्रति प्रधानभावः, फलम्प्रति गुणभावः, फलस्य यागम्प्रति प्राधान्यं, पुरुषम्प्रति गुणता, पुरुषस्य फलम्प्रति प्रधानता, औदुम्बरीसम्मानादि प्रति गुणत्वम्। तस्मात् सम्मता अवधारणा,—द्रव्यगुणसंस्कारा यागम्प्रति नियोगतो गुणभूता एव—इति॥ (३।१।२ अ०)॥

---

निर्वपणादीनामर्थानुसारेण व्यवस्थितविषयताधिकरणम् ॥

सू. तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥ ७ ॥ (नि०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ,—'दर्शपूर्णमासाभ्याम् स्वर्गकामो यजेत' —इति। तत्र श्रूयन्ते धर्माः,—निर्वपणम्, प्रोक्षणम्, अवहननम् —इत्येवमादयः औषधधर्माः; तथा, उत्पवन—विलापन—शृङ्गाणादिनादय आज्यधर्माः; तथा, शाखाच्छेदं, गवां प्रस्थापनं, गवां प्रस्तावनम्—इत्येवमादयोऽपि सान्नाय्यस्य। तेषु सन्देहः,—किं सर्वे, औषधे आज्ये सान्नाय्ये च कर्त्तव्याः, उत ये यत्र क्रियमाणा अर्थवन्तः, ते तत्र कर्त्तव्याः?—इति।

'ननु संयुक्ता एव श्रूयन्ते, यथा, व्रीहीनवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि—इति'। बाढं संयुक्ताः, अवघातादयस्तु पदार्था विधीयन्ते श्रुत्या, वाक्येनैषां व्रीह्यादिसंयोगः, अतोऽस्ति संशयः।

भा किं तावत् प्राप्तम्?—तेषाम् अर्थेन सम्बन्धः, अर्थेन प्रयोजनेन, ये यत्र क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तः, ते तत्र कर्त्तव्याः। प्रथनादय आज्यसान्नाय्ययोः अनुपकारकाः—इति न तत्र करणीयाः। एवम् उत्पवनादय औषधसान्नाय्ययोः, शाखाहरणादय आज्यौषधयोः। 'ननु श्रूयन्ते सर्वे सर्वत्र'। एतदेव न जानीम, —श्रूयन्ते न श्रूयन्ते—इति, तद्विचारयितव्यम्। यद्यपि श्रूयेरन्, तथाप्यनुपकारकत्वात् नैव कर्त्तव्या भवेयुः॥

सू विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च॥ ८॥ (पू०)॥

भा उच्यते,—योऽर्थात् प्राप्तः स्यात्, स यत्र प्रयोजनं तत्रैव क्रियेत; शब्देन तु सर्वेऽमी पदार्था विहिताः, तेन न, यत्र केवलं प्रयोजनं प्रत्यक्षं दृश्यते, तत्रैव कर्त्तव्याः। क्व तर्हि? यत्र यत्र विहिताः, तेषामी सर्वत्र विहिताः गम्यन्ते। कुतः? 'संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च', सर्वेषा तावदाज्यौषधसान्नाय्यानामपूर्वेण साध्यसाधनसंयोगोऽविशिष्टः, यत्र क्रियमाणा अपूर्वस्य कृता भवन्ति—इति विज्ञायते। तथा प्रकरणमविशिष्टं,—यस्मिन् विहिताः सर्वेषां विहिता भवन्ति—इति गम्यते, अतः सर्वे सर्वत्र कर्त्तव्याः, यत्तु अमी न सर्वत्रोपकुर्वन्ति —इति, विधानसामर्थ्यात् सर्वत्रोपकारकाः—इति गम्यते। सत्रायमदृष्ट उपकारो भविष्यति॥

सू अर्थलोपादकर्म स्यात्॥ ९॥ (सि०)॥

भा नैतत्,—सर्वे सर्वत्र करणीयाः—इति, ये यत्र नोपकुर्वन्ति, न ते तत्र क्रियामर्हन्ति—इत्युक्तमेव। 'ननु विधानसामर्थ्यात् सर्वे सर्वत्रोपकरिष्यन्ति'। न— इति ब्रूमः॥

सू. फलन्तु सहचेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. नास्ति विधानं, येन सर्वे सर्वत्रोपकुर्वन्ति। न च मन्यथा-दिभिः उपकारमवगच्छामः। अर्थापत्तिरपि नियोगतः तत्रैव भवेत्, यत्रैव शब्देन चोदना भवति, नान्यथा। यदि च मथनादीनामाज्यसान्नाय्ययोः अनुपकुर्वताम् अपि तत्प्रकरणे समाम्नायोऽनुपपन्नो भवेत्, ततोऽर्थाददृष्ट उपकारः कल्प्येत, ते त्ववश्यं समाम्नानीया औषधार्थं, फलं हि सहचेष्टयाऽवहनना-दिक्रिया अवगम्यते तुषविमोचनादि, प्रयोजनं च तेन, न तस्मादृते पुरोडाशः सिध्यति, सति च अस्मिन् अर्थवान् प्रकरणे समाम्नायः, अर्थवति च तस्मिन् न अदृष्टकल्पनायां प्रमाणमस्ति—इत्यतो न शक्यम् कल्पयितुम्। यदि च तत्र तण्डुलादिनिष्पादनं दृष्टं न अभविष्यत्, ततो विप्रयोगे तण्डुलादीनामभवात् उपकारस्य शब्दार्थमात्रम् दृष्टोपकारा-नपेक्षं कर्त्तव्यम्—इत्याज्यसान्नाय्ययोः अपि क्रियमाणानाम-दृष्टमभविष्यत्। तस्मात् न मथनादयः सर्वत्र। एवम् उत्-पवनादयः शाखाहरणादयश्च। तस्मात् न, सर्वे सर्वत्र कर्त्तव्याः, मथनादयो नाज्यसान्नाय्ययोः, औषधे एव ते, उत्पवनादय आज्यस्य, न औषधसान्नाय्ययोः, शाखाहरणा-दयश्च सान्नाय्यस्य, नाज्यौषधयोः—इति सिद्धम्॥ (३।१। ४ अ०)॥

---

स्फ्यादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्वाधिकरणम्।

सू. द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥ ११ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र समामनन्ति, 'स्फ्यश्च कपालानि च

भा. अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या च उलूखलञ्च मुसलञ्च दृषच्चोपला च एतानि वै दश यज्ञायुधानि'—इति। तत्र सन्दिह्यते,—किं यो य इह शक्यते एभिः कर्त्तुम्, तस्मै तस्मै पदार्थायैतानि समाम्नातानि, उत यत् येन संयुक्तम्, तस्मै एव?—इति। किं तावत् प्राप्तम्? यत् येन शक्यम्—इति। कुतः?। एवं विधयो भविष्यन्ति तथार्थवन्तः, इतरथा ते अनुवादा निष्प्रयोजनाः, प्रकरणाविशेषश्च सर्वपदार्थान्प्रति, 'यज्ञायुधानि'—इति च यज्ञसंयोगो अविशिष्टः। तस्मात् सर्वं सर्वत्र—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'द्रव्यं च उत्पत्तिसंयोगात् तदर्थमेव चोद्येत', यो येन पदार्थेन सहोत्पत्तिवाक्येन संयुक्तः स पदार्थः तेनैव कर्त्तव्यः, यथा 'स्फ्येनोद्धन्ति'—इत्युद्धननार्थता स्फ्यस्य वाक्येन, तत् उद्धननं न स्फ्यादन्येन कर्त्तव्यम्। यदा चैवं, तदा प्राप्त एव स्फ्यः, तस्यायमनुवादो भवितुमर्हति,—'एतानि वै दश यज्ञायुधानि'—इति। एवमेकैकस्य अनुवादः, तेन तेन वचनेन प्राप्तस्य। यथा,—'कपालेषु श्रपयति, अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति, शूर्पेण विविनक्ति, कृष्णाजिनम् अधस्तात् उलूखलस्या-वस्तृणाति, शम्यां* दृषदुपदधाति, उलूखलमुसलाभ्याम् अव घ्नन्ति, दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि'—इति। प्रकरणात् सर्वाणि सर्वत्र प्राप्नुयुः, वचनात्तु यथावचनं, यज्ञायुधशब्दोऽपि सामान्येन प्रयोजनं विदधत् तत् बाधेतैव, परन्तं हि सामान्यवचनेन विशेषविधानं भवति, प्रत्यक्षं तु विशेषवचनेन विशेषविधानम्। तस्मात् यत् येन उत्पत्त्या संयुक्तम्, तत् तत्रैव विनियुज्यते—इति सिद्धम्॥ (२।१।५ अ०)॥

* शम्यायां दृषदमुपदधातीति का० प्रा० पु०।

आरुण्यादिगुणानामसङ्कीर्णताधिकरणम्। (आरुणिन्यायः) ॥

सू० अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥ १२ ॥

भा० ज्योतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते,—'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या* सोमं क्रीणाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् आरुणिमा कृत्स्नप्रकरणे निविशेत, उत क्रय एवैकहायन्याम्?—इति। 'कथं पुनः 'अरुणया क्रीणाति'—इत्येवं विस्पष्टे क्रयसम्बन्धे गम्यमाने संशयः?—इति'। उच्यते,—इह हि गुणम् अर्थाभिधानममूर्त्तम् सन्तं क्रियायाः करणम्—इति शब्द उपदिशति, यत् करणाभिधायिन्या तृतीयाविभक्त्या संयुज्य निर्दिशति,—'अरुणया'—इति, न च, अमूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवितुमर्हति। अतोऽसम्बन्धं क्रीणातिना अरुणगुणस्यावगच्छामः, न च, अशक्नीयमर्थं प्रमाणभूतः शब्दोऽभिधास्यति—इत्येवं प्रकल्पना कदाचित् उपपद्येतापि। केनचित् प्रकारेण सम्बन्धः—इति वचनप्रामाण्यप्रकारान्वेषणे बुद्धिर्भवति, तत्र यदि परं, विचारयन्तः क्रियासम्बन्धसामर्थ्यमवगमिष्यामः, एकवाक्यतया क्रय एव अरुणिमानं निवेशयिष्यामः, अथ त्वप्रमाद्यद्भिरन्विष्यमाणो न कथञ्चन सम्बन्ध उपपत्स्यते, ततो वाक्यभेदमभ्युपगम्य प्रकरणधर्ममेनमध्यवसास्यामः; तस्मात् अवश्यं विचारणीयमेतत्—इति।

किं तावत् प्राप्तम्? कृत्स्ने प्रकरणे निवेशः। कस्मात्?। संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्च। 'ननु प्रकरणात् वाक्यं बलीयो भवति—इत्येकवाक्यत्वात् अरुणिमा क्रयेण सम्भत्स्यते'—इति। नैतदेवम् अवगम्यते, न हि वचनशतेनाप्यनार-

---

* क्वचित् एकहायिन्या इति पाठः एवं परत्रापि।

भा भ्योऽर्थः शक्यो विधातुम्, यो हि ब्रूयात्,—उदकेन दग्धव्यम् अग्निना क्लेदयितव्यम्—इति, किं स वचनप्रयोजनसामञ्जस्यम् बुध्येत? न चामूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः साधनम् उपपद्यते। तस्मात् अरुणया क्रीणाति—इति सम्बन्धाभावादेकवाक्यता न भवति —इति।

'ननु नैवायं गुणवचनः, किं तर्हि द्रव्यवचनः। कुतः?। स्त्रीलिङ्गसम्बन्धात्; द्रव्यविशेषा ह्येते स्त्री पुमान् नपुंसकम्—इति, स्त्रीया यत् प्रातिपदिकं वर्त्तते, तस्मात् स्त्रीप्रत्ययो भवति —इति, स्त्रीप्रत्ययं च 'अरुणया' इत्युपलभामहे। तस्मात् द्रव्यवचनः, 'अरुणशब्दः'—इति। तदेतदप्रेशलं, तदेव हि द्रव्यमरुणिम्ना परिच्छिद्यमानम् अरुणशब्दाभिधानीयतां लभते, तदेवान्यगुणकं नारुणशब्दः शक्नोत्यभिवदितुम्, अरुणिमानमेव शब्दो न व्यभिचरति, व्यभिचरति पुनर्द्रव्यम्, अव्यभिचारि च कार्यं कारणवताम् इष्टम्। अतोऽस्य गुण' स्वार्थं'—इति गम्यते, तदस्य प्रत्यक्षतो गुणवचनता गम्यते, स्त्रीप्रत्ययदर्शनात् तु नूनम् अरुणा प्रातिपदिकं द्रव्यवचनम् इत्यनुमानं, प्रत्यक्षं च अनुमानाद्बलीयः, तस्मात् गुणवचनः। कथं तर्हि स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धः?। भवति हि गुणवचनस्य अपि स्त्रीलिङ्गता, यथा च 'अरुणा बुद्धिः', एवम् अरुणा—इति। गुणवचनश्चेत् क्रीणातिना न सम्बध्यते। तस्मात्-वाक्यभेदं कृत्वा प्रकरणे सर्वस्मिन्नेव सन्निवेशः—इति।

'अथ यदि क्रीणातिना न सम्बध्यते, तस्मिन् एव वाक्ये एकहायनीशब्देन सम्भंत्स्यते, न भविष्यति वाक्यभेदः—इति'। तत् न, केवलं हि गुणम् अरुणशब्दोऽभिदधाति, न द्रव्यगुणौ, केवलं च द्रव्यमेकहायनीशब्दो, न गुणसहितम्—इति तयोः सम्बन्धस्य वाचिकां षष्ठीमन्तरेण कथं सम्बन्धो गम्यते?। 'आह, —अन्तरेणापि षष्ठीम्, एकविभक्तिनिर्देशात् सामानाधिकरण्यम्

भा. अवगामस्यामः, यथा नीलमुत्पलम्—इति'। तदनुपपन्नं, रूपात् अरुणशब्दस्य गुणवचनता, कल्पनीयन्तु एकविभक्तिसंयोगात् एकहायनीशब्दसन्निधानाच्च तदेकवाक्यतामभ्युपगम्य एकहायनीशब्दसामानाधिकरण्यं; न च, लिङ्गात् वाक्यं बलीयः। तस्मात् असदेतत्।

'तच उच्यते, यदा केवलगुणवचनतायां शब्दः प्रवर्त्तमानो नान्येन सम्बन्धं लभते, तदाऽनुपदेशकत्वात् आनर्थक्यं माभूत्—इति द्रव्यपरतामापद्यते, तस्यामवस्थायामेकविभक्तियुक्तेनैकहायनीशब्देन सन्निहितेनैकवाक्यतामापद्यमानः समानाधिकरणो भवति, तथा च कृत्वा, नीलमुत्पलम्—इत्युपपद्यते, स चायम् अरुणशब्दः तस्यामवस्थायां वर्त्तते, न हि अस्य स्वार्थमभिदधत इतो विच्छिन्नस्य प्रकरणेऽप्यर्थवत्ता। कुतः?। येनैव हेतुना सम्बध्यते क्रीणातिना न, नामूर्त्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवति—इति, न च, क्रियासाधनैर्द्रव्यैः, न हि, केवलगुणवचनः शक्नोति द्रव्यमभिधातुम्—इति स एव हेतुः प्रकरणसम्बन्धाभावेऽपि, तथापि सम्बध्यमानः क्रियाभिर्वा सम्बध्येत, तत्साधनैर्वा द्रव्यैः, तचोभयमप्यनुपपन्नम्। अतः अनर्थकत्वपरिजिहीर्षया सन्निहितेनैकहायनीशब्देनारुणशब्दः सम्बध्यते, नास्ति वाक्यभेदः'।

नैतदेवं, न ह्ययमरुणाशब्द एकहायनीविशेषणं भवितुमर्हति। किं कारणं?। करणविभक्त्या तृतीयया समुच्चरितोऽयं, तेनैतेन तृतीयाश्रुतिसामर्थ्यात् क्रियाविशेषणेन भवितव्यम्, कारकाणां हि क्रियया सम्बन्धो न द्रव्येण—इति। स एष श्रुतिसामर्थ्यात क्रियाविशेषणम्, एकवाक्यत्वात् एकहायनीविशेषणं, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी, तस्मान्नास्यैकहायनीसम्बन्धः—इति।

'ननु च गुणस्य क्रियासम्बन्धाभावात् अविवक्षिता कारक-

भा. शक्तिः*—इति एकहायनीसम्बन्धोऽयमध्यवसितः'। एवमपि नोपपद्यते,—यदि कारकाभिधानम् अविवक्षितम्—इति गुणशब्देनैतेन द्रव्यम् अभिधातुमिष्यते, तदा प्रातिपदिकार्थस्याव्यतिरेकः—इति प्रथमाविभक्तिः प्राप्नोति। न हि तृतीयान्तस्तमभिसम्बन्धं शक्नोति वक्तुम्, न चान्यथानुपपत्तिः—इत्यन्योऽस्यानुपपद्यमानोऽर्थः शक्यते कल्पयितुम्, यथा, अग्नौ तिष्ठति माणवकः—इत्युक्ते ज्वलनेऽनुपपद्यमानो न शक्ये गति वा कल्प्यते, अग्निसमीपवचन एवाध्यवसीयते; तद्वदिहाप्यप्रथमान्तः शब्दो न कथञ्चिदप्यव्यतिरिक्तं प्रातिपदिकार्थं भवितुमर्हति—इति। तस्मात् काममनर्थकोऽवगम्यतां नार्थैकहायनीसम्बन्धोऽध्यवसातव्यः।

'आह,—न ब्रूमो,—न कारकम् अरुणाशब्देनाभिधीयते—इति, अपि तु अरुणगुणविशिष्टमेतेन कारकमभिधीयते। कदाचित् तु किञ्चित् विधित्सितं भवति, कदाचित् उपसर्जनीभूतोऽर्थो विधित्सितः, प्रधानीभूतोऽनुवादः; तत् यथा, दण्डी—इति उपसर्जनीभूतदण्डकपुरुषप्रधानकः शब्दः अवगम्यते, कदाचित् तु निर्ज्ञाते पुरुषे दण्डगुणविधानार्थम् उच्चार्यते,—दण्डी प्रैषानन्वाह—इति; तथा, 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'—इति। एवमिहापि यद्यनुपसर्जनभूतोऽरुणो गुणः, प्रधानभूतं कारकं; तथाप्यनूदिते कारकेऽरुणगुणविधानार्थं वचनं युज्यते। तस्मात् एकहायनीसम्बन्ध उपपद्यते, नास्ति वाक्यभेदः'—इति।

नैतत्सारं, अत्र हि एकहायनीक्रीणात्योरनवबुद्धं सम्बन्धं बोधयितुमयमेकहायनीशब्द उच्चरितः,† स एष कथमिव अरुणाशब्देन सम्बध्यते, तदेतदभिहितमपि पुनःपुनः पर्यनुयुज्यते।

---

* कारकविभक्तिरिति पा० पु०।

† उच्चरति इति क्वचित्।

भा. 'कथं पुनरेकहायनीशब्दस्य क्रीणातिना, अरुणगुणेन च समाने समभिव्याहारे क्रीणातिना सम्बन्धोऽभ्युपगमनीयः, न पुनः आरुण्येन?—इति'। शब्दप्रामाण्यात्,—भवति हि क्रिया-सम्बन्धस्य वाचिका विभक्तिरेकहायनीशब्दमनु निविष्टा, न तु गुणसम्बन्धस्य वाचिका। 'का पुनः क्रियासम्बन्धस्य वाचिका, का वा गुणसम्बन्धस्य?—इति'। कारकलक्षणा क्रियासम्बन्धे विवक्षिते भवति द्वितीयादिः, अविवक्षिते पुनः कारके, सम्बन्ध-मात्रविवक्षायां षष्ठी। न च अत्र षष्ठीं पश्यामः, पश्यामस्तु खलु तृतीयाम्, अतः क्रीणातिना सम्बन्धमभ्युपगच्छाम एक-हायनीशब्दस्य, नारुणाशब्देन—इति।

'कथं तर्हि भवति अत्र सम्बन्धो,—नीलमुत्पलम्—इति'। उच्यते,—भवति, न तु श्रुतिलक्षणः, किं तु वाक्यलक्षणः, उत्पलशब्दसन्निधाने तदर्थो नीलशब्दस्तेनैकवाक्यतामभ्युप-गच्छन् न अजहत्स्वार्थवृत्तिः उत्पलविशेषाभिधानपर उच्चार्य-माणः सम्बन्धमभ्युपैति।

'नन्विहापि वाक्यलक्षणः तद्वदेव अरुणिम्ना समं सम्बन्ध एकहायन्या युज्यते'। न—इति ब्रूमः,—श्रुतिर्हि वाक्याद्बली-यसी, श्रुतिश्चास्याः क्रियासम्बन्धमाह, न गुणसम्बन्धम्। 'यदि पुनः श्रुतिसामर्थ्यात्, क्रियासम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, एकवाक्यत्वात् अपि गुणसम्बन्धः'। नैवं शक्यं, यो ह्यन्येन सह सम्बन्धुमुच्चार्यते, न तत्समीपगतोऽप्यन्यः तेन सह सम्बन्धुमर्हति, यथा, भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्येति भार्याविशेषणार्थम् उच्चार्यमाणो राजशब्दो न पुरुषेण सम्बध्यते, तद्वदिह क्रयाविशेषणार्थम् उच्चार्यमाण एकहायनीशब्दो नारुणाशब्देन सम्बन्धमर्हति।

'आह,—सत्यमेवमेतत् असत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्यमकारणं, सर्वत्र तु बाधिते पदार्थे वाक्यार्थ उपपद्यते, नान्यथा, सामान्य-वृत्ति हि पदं, विशेषवृत्ति वाक्यं, सामान्येनाभिमहत्तानां

भा. पदार्थानां यद्विशेषेऽवस्थानं, स वाक्यार्थः, तदेतत् उक्तं, (१।१।
२५ सू०)—"तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्त-
त्वात्"—इति, तत्र प्रत्यक्षादिभिः पदार्थाः, वाक्यार्थः पुनरानु
मानिकः, तदेतत् अवगम्यतां,—केवलस्यार्थस्तत्ति पदमनुपदेश
कम्—इति पदान्तरेण सन्निहितेनैकवाक्यत्वमभ्युपैति, नान्यथा
—इति, तदिह यद्यप्येकहायनीशब्दः क्रीणातिना सम्बध्य
मानः कृतार्थो न पदान्तरेण सम्बन्धमाकाङ्क्षति, अरुणाशब्द
तु पदान्तरेण सम्बन्धम् अलभमानः अनर्थकः—इत्येकहायनी
शब्देनैकवाक्यतामभ्युपैति। ननु उक्तं,—क्रियासम्बन्धार्थो, ना
रुणासम्बन्धार्थः—इति।

'आह,—अरुणाशब्दस्य आनर्थक्यपरिहारायोभयसम्बन्धार्थ
—इति वदामः, अन्यार्थमपि कृतमन्यार्थमपि शक्नोति कर्तुम्
तत् यथा, शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीय पीयते
उपस्पृश्यते च। एवमिहापि क्रयसम्बन्धार्थमेकहायनीशब्द
उच्चार्यमाणोऽरुणाशब्देन सह सम्भंत्स्यते, न किञ्चित् दुष्यति
तस्मात् न वाक्यभेदः'—इति। नैतदस्ति, यद्यप्ययमरुणाशब्द
अनर्थको माभूत्,—इत्येकहायन्या सम्बध्येत, तथापि सर्वस्मिन्
प्रकरणे निवेष्टुमर्हति, नचैनं सोमं क्रीणाति—इत्येष शब्द
शक्नोति विशेष्टुम्, न हि अयं विशेषणत्वेन उच्चार्यते, किं तर्हि
अपूर्वोऽयं विधीयते।

'ननु अपूर्वोऽपि विधीयमान एकहायनीशब्दवत् इतरेण
सम्भंत्स्यते। कथं?। प्रयोजनाय हि उच्चार्यमाणः शब्दो येनार्थं
तस्मै तावत्प्रयोजनाय अवकल्प्यते, सन्निहितश्च बुद्धौ भवति
तेन बुद्धौ सन्निहितेन शक्नोति साकाङ्क्षः शब्दः सम्बन्धयितुम्-
इति'। नैतदेवं, यो हि असम्बध्यमानः अनर्थको भवति,
सम्बध्यते, नान्यः। कुतः एतत्?। सम्बध्यमाने हि सामान्य
विशेषेऽवस्थाप्येत, तत्र वाक्येन श्रुतिः पीड्यिता स्यात्। न चाय

भा. असम्बध्यमानः क्रीणातिना अनर्थको भवति, प्रकरणगताभिः एकहायनीभिः* अभिसम्भंत्स्यते।

'ननु एतत् उक्तं,—प्रकरणेऽप्यस्य सम्बन्धोऽनुपपन्नः—इति'। नानुपपन्नः, एकस्मिन् वाक्येऽन्योऽर्थः विधीयमानो नान्येन सम्बध्यते, वचनव्यक्तिभेदात्, अन्या हि वचनव्यक्तिर्विधीयमानस्य, अन्या गुणेन सम्बध्यमानस्य। अज्ञातवत् ज्ञाप्यते विधीयमानोऽर्थो, ज्ञातवत् अनूद्यते गुणसम्बन्धार्थं, न च सकृदुच्चार्यमाणो ज्ञातवत् अज्ञातवच्च भवितुमर्हति, एकहायनीशब्दः क्रये विधीयमानोऽज्ञातवत् स्यात्, अरुणाशब्देन सम्बध्यमानश्च ज्ञातवत्। वाक्यभेदे पुनर्न दोषो भवति, प्रकरणे तु वाक्यान्तरैः क्रियाद्रव्याकाराणि च प्राप्तानि, तैः इदं वाक्यान्तरविहितं सम्बध्यते, तत्र अन्यस्मिन् विधीयते, अन्यस्मिन् वाक्येऽनूद्यते —इत्युपपन्नं भवति। तस्मात् संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च सर्वस्मिन् प्रकरणे द्रव्येषु निवेशः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयो ऐककर्म्यान्नियमः स्यात्'—इति, यत्र अर्थैकत्वं श्रूयते द्रव्यगुणयोः, तत्र द्रव्यगुणावेकस्मिन् पदार्थे नियम्येयाताम्। कुतः?। ऐककर्म्यात् एककार्यत्वात्, एकं हि कार्यं द्रव्यगुणयोः श्रूयते क्रयसम्बन्धः। कथमेतत् अवगम्यते?। एकवाक्यत्वात्। कथमेकवाक्यत्वं?। अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या—इति अपर्यवसितोऽर्थः साकाङ्क्षत्वादभिधातृप्रतिपत्त्रोः, सोमं क्रीणातीति तु पर्यवस्यति, तयोरेवं नैराकाङ्क्ष्यात्। यद्येककार्यता किमिति विकल्पो न भवति?। नैतदेवम् 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्'—इति विकल्पधर्माणौ प्राप्नुतः —इत्ययुक्तोऽयं पर्यनुयोगः। कथं?। पर्यनुयोगो नाम स भवति, यः स्वपक्षं साधयति, विपक्षस्य च प्रतीपमाचरति, न च

---

* एकहायनीभिरिति आ० सो० पुस्तके नास्ति॥

भा विकल्पो ह्यत्यन्तस्य प्रतीपमाचरति, क्रमेणाऽविमासम्बन्ध'—इत्येव नः पचः। न च विकल्पो नानाकार्यत्वात्।

'ननु इदानीमेव उक्तम्,—एकं कार्यम्—इति, तथापि विरुद्धम्,—एवं हि पूर्वमभिहितं,—अमूर्त्तत्वात् गुणो न क्रियया सम्बध्यते—इति, इदानीं विपरीतमभिधीयते,—उभावपि द्रव्य गुणौ एकार्थौ क्रयमभिनिर्वर्त्तयतः—इति'। उच्यते, नैतद्विरुद्धम्, न च विकल्पः, एकं कार्यं, सामर्थ्यभेदस्तु, साक्षात् हि द्रव्यं क्रियां प्रत्युपकरोति, गुणस्तु विशिष्टानां साधनम्। 'यद्येवं, न तर्हि गुणः क्रियामभिनिर्वर्त्तयति, साधनस्य असौ विशेषकः—इति'। नैतदेवं, गुणस्य क्रियामभिनिर्वर्त्तयत एतदेव सामर्थ्यं, यत् साधनं विशिंष्यात्। आकाङ्क्षति च क्रिया साधनविशेषणं, चिक्कभूतो हि गुणः साधनं लक्षयति, असति चिह्ने न लक्ष्येत, —कतमत्साधनं क्रियायाः?—इति, ततः क्रियां नाध्यवस्येत कर्त्तुम्—इति भवति क्रियासाधनं गुणः। नचैवं सति विकल्पो भवति, यथा अधिकरणस्य कर्त्रादीनां च, अधिकरणं हि कर्त्रादीनि धारयति, तान्यधार्यमाणानि न शक्नुवन्ति क्रियामभिनिर्वर्त्तयितुम्, तथा कर्त्ता करणादीनि समाधत्ते, तान्यसमाहितानि न शक्नुवन्ति स्वं समर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम्। यस्मिंस्तु साधनोपकारे कार्ये तस्मिन्नेव उपकारेऽन्यत्साधनं विधीयते, तत्र विकल्पो, यथा 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत'—इति, उभयेऽपि तण्डुलनिर्वृत्त्यर्थाः।

'एवं तर्हि तदेवेदं सञ्जातं भवति, एकहायनीविधानं, तद्विशेषणं च अरुणो गुणः, तत्र स एव दोषो वाक्यभेदः प्रसज्येत —इति'। न ब्रूमः,—अरुणाशब्द एकहायनीशब्देन सम्बध्यते —इति, किं तर्हि क्रीणातिनैव सम्बध्यते, एवं हि श्रूयते,—अरुणगुणेन क्रयमभिनिर्वर्त्तयेत्—इति, यथा च तेन निवर्त्त्यते, तथा यतितव्यम् भवति, न चाविशिंषन् साधनं, गुणः क्रिया-

आ. मभिनिर्वर्त्तयतीत्यर्थात् साधनविशेषणतां प्रतिपद्यते, यथा स्थाल्यां पचेत्—इति क्रियासाधनत्वेन निर्दिष्टेऽर्थात् सम्भवने धारणे च स्थालीं व्यापारयति तद्वदिहापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् नास्ति वाक्यभेदप्रसङ्गः—इति।

'नन्वेवम् अपि वाक्यम्भिद्येत। कथं?। प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टा—इति, यथा देवदत्त—यज्ञदत्त—विष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्—इति प्रत्येकं भुजिः समाप्यते, यथा च यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेत्—इति। एवमिहाप्यरुणया क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणाति—इति'। नैतदस्मत्पक्षस्य बाधकं, एवमपि क्रये एव अरुणिमा निवेक्ष्यति, न सर्वस्मिन् प्रकरणे—इति। 'सत्यमेष दोषो न भवति, किं तु अनरुणयापि एकहायन्या क्रयः प्राप्नोति, अरुणया चानेकहायन्या, तत्र यदुक्तं द्रव्यगुणयोर्नियमः—इति, सा प्रतिज्ञा हीयते'। न सर्वं ब्रूमः,—वाक्यभेदः—इति। कथं?। क्रयस्य हि द्रव्यारुणिमानौ उपदिश्येते, न क्रयः तयोः। न च, प्रधानं प्रतिगुणं भिद्यते, प्रतिप्रधानं हि गुणो भिद्यते—इति, अस्ति चायं दृष्टान्तः,—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः—इति, यथा गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्—इति, तथा अभिगत्य कृत्वा भक्षयन्ति—इति। तस्मात् उभयविशेषणविशिष्टः क्रयो विधीयते।

'कथं पुनः तस्मिंश्च इतरस्मिंश्च दृष्टान्ते सति एकान्तेन अवधार्यते,—समुदाय एव वाक्यपरिसमाप्तिर्न प्रत्यवयवम्—इति'। अत्र ब्रूमः,—इह द्रव्यारुणिमानावुभावपि क्रियासम्बन्धावुपलभ्येते परस्परेणासम्बद्धौ, क्रयोऽपि द्रव्यारुणिमाभ्यां विशिष्ट उपलभ्यते नान्यतरेण, तत्र यदि द्रव्यपरम् अरुणिमपरं च भवति वचनम् इदं, ततः प्रत्यवयवम् असंशयं क्रयसम्बन्धः, अथ क्रयविधित्सयाऽभिधीयते, ततो यथैवायम् एकहायनीनि-

भा शिष्टः, एवम् अरुणिमविशिष्टः—इति नियमतः* उभयसम्बन्धोऽभ्युपगमनीयः। न च, अत्र द्रव्यारुणिमानौ ईप्सितौ, ईप्सितस्तु क्रयः, तेन हि ज्योतिष्टोमद्रव्यं सोमः परिमाप्यते,† द्रव्यारुणिमानौ क्रयार्थौ सन्तावीप्सितौ स्यातां, नान्यथा। तस्मात् क्रयो विधीयते, स च नान्यतरविशिष्टः प्रतीयते—इति समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः इह निश्चीयते। यदा चैवं, तदा न, एकहायनीम् मुक्त्वा अन्यत् द्रव्यं क्रयसाधनमस्ति, न चारुणात् अन्यः साधनस्य विशेषको गुणः—इति, नियमः सिद्धो भवति।

'अथ यदामः,—यदि क्रयस्य साधने गुणोऽभिसम्बन्धमुपैति, तदा वाक्ये भिन्नेऽपि क्रयसाधनत्वात् अरुणिमा अस्मिन् द्रव्ये न निवेक्ष्यते, किमर्थम् एकवाक्यता प्रयत्नेन साध्यते?—इति'। तदेतत् अभिधीयते,—भिन्ने हि वाक्ये एकहायनीसाधनकः क्रयोऽवबुद्धो भवति, अरुणासाधनमपि क्रयान्तरं, न तस्मिन्नेवैकहायनीसाधने क्रये अरुणिमा विहितो भवति, तत्र यत् क्रयान्तरम् अरुणगुणविशिष्टं, तत्रार्थात् प्राप्तम् अन्यदपि साधनं भवति, तदपि विशिंषन् अरुणो गुणः तेन सम्बध्येत! एकवाक्यत्वे तु तत् परिहृतं भवति। तस्मात् साधु अभिधीयते,—अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः ऐककर्म्यात् नियमः स्यात्—इति॥ (१। १। ६ अ०)॥

---

सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गाद्यधिकरणम्। (ग्रहैकत्वन्यायः)।

सू. एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्॥ १३॥ (पू०)॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—'य एवं विद्वान् सोमेन यजते'—इति।

---

* नियोगत इति प्रा० पु०। † परिक्षमाप्यते इति प्रा० पु०।

भा. तत्र श्रूयते,—'दशापवित्रेण* यहं सम्मार्ष्टि'—इति, तथा अग्निहोत्रे श्रूयते,—'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति'—इति, तथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'पुरोडाशं पर्यग्निकरोति'—इति। तत्र सन्देहः,—किमेकस्य ग्रहस्य, एकस्य अग्नेः, एकस्य पुरोडाशस्य च सम्मार्जनादि कर्त्तव्यम्, उत सर्वेषां ग्रहाणां सर्वेषाम् अग्नीनां सर्वेषां पुरोडाशानाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—एको ग्रहः, एकोऽग्निः, एकः पुरोडाशः इह ग्रहीतव्यः। कुतः?। श्रुतिसंयोगात्, एकत्वश्रुतिसंयुक्ता एते पदार्थाः, एकं हि द्रव्यमेषु श्रूयते, शब्दलक्षणे च हि कर्मणि यत् शब्द आह, तत् अस्माकं प्रमाणं, यथा पशुमालभेत—इत्युक्ते एक एव पशुः पुमांश्चालभ्यते, एवम् अत्राप्येको ग्रहः सम्मार्जनीयः, एकस्य अग्नेस्तृणान्यपचेयानि, एकः पुरोडाशः पर्यग्निकर्त्तव्यः—इति ॥

सू. सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥ १४ ॥ (सि॰) ॥

भा. नैतदस्ति,—ग्रहादिष्वेकत्वयुक्तेष्वमी पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति, सर्वे ग्रहाः सम्मार्ष्टव्याः, सर्वेभ्योऽग्निभ्यस्तृणान्यपचेयानि, पुरोडाशमात्रञ्च पर्यग्निकर्त्तव्यम्—इति। कुतः?। ग्रहज्यात्या द्रव्यं लक्षयित्वा सम्मार्गादि विधीयते, अविशिष्टं च लक्षणं सर्वद्रव्येषु, तत्र न गम्यते विशेषः,—को ग्रहः सम्मार्ष्टव्यः, को न—इति, सामान्यावगमाद्विशेषानवगमाच्च सर्वप्रत्ययः। तथा अग्निपुरोडाशानामपि। 'ननु एकवचनं श्रूयते, तत् विशेष्यति'। नैतदस्ति, एकत्वं हि श्रूयमाणं ग्रहादिष्वेकत्वं ब्रूयात्, न द्वितीयादीन् प्रतिषेधेत्, एकत्वस्यासौ वाचको न द्वितीयादेः

* दशापवित्रं वासःखण्ड इति माधवः।

भा प्रतिषेधकः, तेन अप्रतिषिद्धे द्वितीयादौ सामान्यवचनेन प्राप्तम् सम्मार्जनादि किमिति न क्रियेत।

'तत्र एतत् स्यात्, एकवचनम् इह श्रूयमाणं प्राप्ते एव एकस्मिन् ग्रहे, द्वितीयादिषु च, किमन्यत् कुर्यात् अन्यतः परिसङ्ख्यायाः, न चेदेकवचनं परिसञ्चक्षीत द्वितीयादीन्, अनर्थकमेव स्यात्, शक्नोति च द्वितीयादीन् निवर्त्तयितुम्, यथा, 'अश्वाभिधानीमादत्ते'—इति गर्दभाभिधानं परिसञ्चष्टे, एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम्—इति'।

नैतदेवं, तत्र मन्त्रस्याभिधान्याश्च यः सम्बन्धः, तदभिधानपरम् वचनम्,—'इमामगृभ्णन्'—इत्यश्वाभिधानीम्—इति, न अनेन मन्त्रेण, 'आदत्ते'—इतिलिङ्गेनैवादाने प्राप्तत्वात् मन्त्रस्य परिसङ्ख्या युक्ता। इह पुनर्यदेकवचनं ग्रहे श्रूयते, तत् श्रूयमाणमप्यविधीयमानत्वेन न निवर्त्तकं भवितुमर्हति, यथा, कश्चित् ओदनं निर्दिश्य ब्रूयात्,—य एनं भक्षयेत् कश्चित् श्वा मार्जारो वा, स निवारयितव्य—इति, तत्र यदि भक्षणं निमित्तत्वेन विधीयते, न, श्वमार्जारसम्बन्धः, ततः काकोऽप्यागच्छन् निवार्यते, श्रूयमाणेऽपि शुनि मार्जारे वा श्वमार्जारसम्बन्धस्य निमित्तत्वेनाविधीयमानत्वात्। एवम् इहाप्येकत्वसम्बन्धस्य अविधीयमानत्वात् श्रूयमाणेऽप्येकत्वे ग्रहमात्रं सम्बध्येत—इति।

न च, अत्र ग्रहैकत्वसम्बन्धविधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। 'ननु सम्मार्ष्टि—इति'। नह्येतत् ग्रहैकत्वसम्बन्धस्य विधायकम्। कस्य तर्हि? ग्रहसम्मार्गसम्बन्धस्य विधायकम्, एवं श्रुत्या स्वपदार्थो विहितो भवति, इतरथा वाक्येन परपदार्थो विधीयेत। श्रुत्यसम्भवे च वाक्यं क्रमते, न सम्भवन्त्यां श्रुतौ। अतोऽविधीयमानं विशेषणत्वेन, एकत्वं न द्वितीयादीन् प्रतिषेद्धुमर्हति। एवं सति न, द्वितीयादौ सम्मार्गादि क्रियमाणम्

भा अचोदितं भवति, प्रतिषिद्धं वा, यथैव हि तत् एकस्य श्रुतम् अवगम्यते, तथा द्वितीयादेरपि।

अयं चापरो दोषः,—न तदेकत्वं द्रव्यस्य सम्मार्गादौ विषये नियम्येत, न हि, सम्मार्गादिः यस्मिन् द्रव्ये एकत्वं नियम्येत, तस्य विशेषणत्वेन भवति, विधीयते हि अत्र सम्मार्गादिः, न प्राप्तो लक्षणत्वेन द्रव्यस्याम्नायते, न हि, यौगपद्येन विधातुम् शक्यते, लक्षणत्वेन च उच्चारयितुम्; प्रसिद्धसम्बन्धी हि शक्नोति लक्षयितुम, न चाविहित एवञ्जातीयकः शब्दाव-गम्यः प्रसिद्धसम्बन्धो भवति, विधीयते च सम्मार्गादिः, तस्मात् न विशेषकः, न चेत् विशेषकः, न द्रव्ये एकत्वं नियम्यते—इति शक्यम् आश्रयितुम्।

'अथ एकत्वं सम्मार्गे उच्यते'। तथापि द्वयी गतिः स्यात्, एकत्वं प्रधानं, सम्मार्गो वा, तत्र उभयमप्यनुपपन्नम्,—न तावत् एकत्वस्य सम्मार्गः शक्यते कर्तुम्, न च, द्रव्ये क्रियमाणः एक-त्वस्योपकरोति केनचित् प्रकारेण, न च, एकत्वस्योपक्वतेन किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति, न हि, तत् गुणभूतम श्रुतम्। 'अथ एकत्वं सम्मार्गं प्रति गुणभूतम—इति'। तदपि न। कथं?। अमूर्त्तत्वात्, न हि तत् सम्मार्गं निष्पादयति। यद्यप्यन्यत् अमूर्तं क्रियां निष्पादयति साधनं विशिंषत्, तथाप्येतत् न भवितुमर्हति, न हि, अत्र ग्रहः सम्मार्गार्थः, सम्मार्गाश्च ग्रहाय चोद्यते, स हि प्रयोजनवान, कल्प्यप्रयोजनः सम्मार्गः। यदि ग्रहः सम्मार्गस्योपकुर्यात्, तदुपकारिण उपकरोति—इति सम्मार्गस्य उपकारकमेकत्वं भवेत्, न त्वेतदेवम्। तस्मात् एकत्वसम्मार्गयोः असम्बन्धः।

'ननु प्रधानभूतमपि ग्रहादि सम्मार्गं निष्पादयत्येव, अतः तत्साधनं तत्र विशिंषत् तदुपकरिष्यति, यथा द्रव्यार्थे ... पयसि च प्रणीता धर्माः पाके उपकुर्वन्ति। परिधानार्थे

भा परिधौ यूपधर्मा बन्धने। तस्मात् अयम् असमाधिः—इति'। अत्र उच्यते,—न ब्रूमः,—अतदर्थं साधकं न शक्नुवन्त्युपकर्तुम्—इति, किं तर्हि?—यदा प्रधानभूतं ग्रहादि लक्षणत्वेन उच्यते, न तदा एकत्वस्य ग्रहादिना सम्बन्धः, न सम्मार्गादिना—इति। कथं?। यावत् इह लक्षणत्वेन किञ्चित् उच्यते, संवादः तत्र भवति, न तु तद्विधीयते विज्ञानाय। 'किमर्थं तर्हि उच्चार्यते?'। अन्यत्तस्य किञ्चित् विधास्यते—इति, तदेतत् ग्रहादि लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गादि विधीयते। तत् यद्येकत्व सम्बन्धोऽपरो ग्रहद्रव्ये सम्मार्गादौ वा पदार्थे विधीयेत, द्वयोः सम्बन्धयोर्विधानात् भिद्येत वाक्यम्। अथोच्येत,—ग्रहादि लक्षयित्वा तस्य एकत्वसम्बन्धो विधीयते, न सम्मार्गादि सम्बन्धः—इति, तथा च सम्मार्गादीनाम् अध्ययनं प्रमाद'—इत्यभ्युपगतं स्यात्, नचैतदेवम्। तस्मात् उभाभ्यामेकवचनस्यासम्बन्धः—इति। एवमेतदेकत्वं ग्रहस्य न किञ्चित् उपकारं करोति, न सम्मार्गस्य, एवमेव सदनूद्यते। तस्मात् नैतत् किञ्चित् अपि कर्तुम् विवक्ष्यते—इति सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गादि कर्तव्यम—इति। कुतः?। प्रयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च।

'यदि अविवक्षितमेकत्वं, कथं तर्ह्येकवचनमुच्चार्यते? ननु बहुषु विवक्षितेषु बहुवचनेन भवितव्यम'। उच्यते,—न वयमेतद्विचारयामः,—एकवचनमुच्चारयितव्यम्, न उच्चारयितव्यम—इति, उच्चार्यमाणे सति किं प्रतिपत्तव्यम्?—एकस्मिन् एव सम्मार्गादि, उत सर्वेषु?—इति, तत्र सर्वेष्विति स्थापितम्। अपि च, न विभक्तेर्वचनमेव एकं प्रयोजनं, किं तर्हि?—कारकसम्बन्धोऽपि, अविवक्षिते एकत्वे कारकसम्बन्धार्थमस्य उच्चारणम भविष्यति। तस्मात् नानर्थकम्।

अपि च, ग्रहः प्रातिपदिकार्थः एकत्वं विभक्त्यर्थः। 'किमतः?

भा यद्येवम्'। एतत् अतो भवति,—प्रातिपदिकार्थगतं हि विभक्तिः समर्थं श्रुत्यैव वदति। 'अथैवं सति किं न, सम्मार्गेण सम्भंत्स्यते?—इति'। तेन हि सम्बध्यमानं वाक्येन सम्बध्येत, न च, श्रुत्या, अन्येन सम्बध्यमानं वाक्येनाच्छिद्य अन्येन सम्बन्धमर्हति। असम्बध्यमानस्तु एकत्वेन सम्मार्गो, यदि नैकत्वविशिष्टः क्रियते, न किञ्चित् विपन्नं भवति, नचैकत्वविशिष्टः सम्मार्गादिः, ग्रहादिमात्रस्य च विधीयते—इति किमिति द्वितीयस्य तृतीयस्य च न क्रियेत—इति॥

## सू चोदिते तु परार्थत्वाद्यथा—श्रुति प्रतीयेत ॥ १५ ॥
## (आ० नि०,॥

भा. अथ यदुक्तं, (२२५।१० प०)—यथा, पशुमालभेत—इति एक एव पशुः पुंपशुश्चालभ्यते, एवमिदमपि—इति, अस्त्यत्र वैपरीत्यम् इह ग्रहार्थः सम्मार्गः, तत्र पुनर्यागार्थः पशुः। किमेवं सति भवति?। यो यागार्थं परिच्छिनत्ति*, स यागस्योपकरोति, अपरिच्छिन्नेन न शक्यो यागः कर्तुम्—इति, न तु ग्रहेण केनचिद्विशिष्टेन सम्मार्गः कर्त्तव्यः, यत् ग्रहं विशिंषत् सम्मार्गस्योपकुर्यात्, पशोश्च एतदेकत्वं यागं प्रत्युपदिश्यते। 'ननूक्तं, (२२५।७ प०)—प्रातिपदिकार्थगतं समर्थं विभक्तिः श्रुत्यैवाभिवदति—इति, यागे एतत् वाक्येन विधास्यति, तत्र वाक्यात् श्रुतिर्बलीयसी—इत्युक्तम्'। सत्यं, यत्र श्रौतोऽभिसम्बन्धो विवक्ष्यते, अविवक्ष्यमाणे च वाक्यावगतः सन् अपर्युदस्तव्यो भवति, तस्मात् एकः पुंपशुश्चालभ्यते—इति, ग्रहैकत्वं न सम्मार्गस्योपकरोति—इति न ग्रहं शक्नोति विशेष्टुम्। तस्मात् अविवक्षितम्—इति॥ (३।१।७ अ०)॥

---

* 'परिच्छिनत्ति' इति पाठः आ० सो० पु०। एव का० क्री० पु०।

अथ चमसादी सम्मार्गाद्यप्रयोगाधिकरणम् ॥

सू संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र श्रूयते,—'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि' —इति। तत्र एषोऽर्थोऽधिगतः,— सर्वे ग्रहाः सम्मार्जितव्याः—इति। इदमिदानीं सन्दिह्यते,—किं? चमसा अपि सम्मार्ष्टव्याः उत न?—इति।

किं तावत्प्राप्तम्?—चमसाद्यपि सर्वं सम्मार्ज्यम्—इति। कुतः?। 'संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च'—इति, यथैव हि ग्रहाणामपूर्वसम्बन्धः, एवं चमसानामपि, यथैव च ग्रहाः अस्मिन् प्रकरणे, एवं चमसा अपि। तस्मात् सर्वत्र सम्मार्गः।

'ननु ग्रहाः श्रूयन्ते, ते चमसानां निवर्त्तका भविष्यन्ति'। उच्यते,—प्रदर्शनार्थं ग्रहग्रहणं भविष्यति, ग्रहाद्धि सोमपात्रम्, यस्मिन् गृह्यमाणः सोमो व्यवसिचेत,—इत्येवम् आख्यायते, तत्सर्वं सम्मार्जितव्यम्; यथा भोजनकाले वर्त्तते, स्थालानि सम्मृज्यन्ताम्,—इत्युक्ते, यानि यानि भोजने उपयोगमर्हन्ति, तानि तानि सर्वाणि सम्मृज्यन्ते, स्थालग्रहणं लक्षणार्थम्—इति गम्यते; एवमिहापि द्रष्टव्यम्—इति।

'उच्यते, लोकेऽर्थलक्षणः संव्यवहारः, येन येनार्थः सम्मृष्टेन, उक्तोऽनुक्तो वा स स सम्मृज्यतैव। इह तु वेदे शब्दलक्षण, शब्दश्च ग्रहस्य सम्मार्गमाह, तत्र किमर्थं श्रुतौ सम्भवन्त्यां ग्रहशब्दो लक्षणया कल्प्यते'। उच्यते, सम्मार्ष्टि—इति सम्मार्गं पुरुषप्रयत्नं विधातुमेष शब्दः शक्नोति श्रवणेनैव, ग्रहसम्बन्धे तु वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्मात् लक्षणया ग्रह-शब्दो वर्ण्यते, न, यथाश्रुतः—इति, तेन, यो यः सम्मार्जन-संस्कारार्हः स स सम्मार्जितव्यः, न ग्रहेष्वेव व्यवतिष्ठेत एवञ्जातीयको गुण—इति ॥

## ८ व्यवस्था वा अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्, तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥ १७ ॥ (सि० )॥

भा०. .व्यवतिष्ठेत वा ग्रहेष्वेव सम्मार्गो, न, चमसेष्वपि प्रसज्येत—इति। कुतः?। 'अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्', श्रूयमाणे हि ग्रहो न उत्स्रष्टव्यः, उत्सृज्यमाने श्रुतिरेव बाध्यते ग्रहम्—इति, प्रमाणगीतं तत्रभवतामित्यवगम्यते, न च एतत्प्रमाण्यं। तस्मात् ग्रहशब्देन ग्रहं उच्चयित्वा तस्य सम्मार्गसम्बन्धो विधीयते। न चाविदधत् सम्मार्गं, शक्नोति तत्सम्बन्धं विधातुम्, अतो विदधात्येव एष शब्दः सम्मार्गं। न च श्रुतिर्बाधिष्यते। कुतः?। सम्मार्ष्टि—इति सम्मृजिगतं पुरुषप्रयत्नं श्रुत्या शक्नोति विधातुम्, न तत्र कश्चिद्विशेषः, उत्पाद्यमाने वा सम्मृजौ, परेण वा सम्बध्यमाने—इति; तेन न ग्रहसम्बन्धेऽपि श्रुतिर्बाधिता भवति, अतो ग्रहेष्वेव सम्मार्गो व्यवस्थातुमर्हति—इति।

'ननु अपूर्वसंयोगाविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च चमसेष्वपि प्रसज्यते, न ग्रहेष्वेवास्य विधानम्—इत्युक्तम्'। अत्र उच्यते, प्रकरणवद्भिः एकवाक्यतां कृत्वा शक्नोति तत्र विधातुम्, न, अकृत्वा एकवाक्यतां; सा च प्रकरणात् अनुमीयते, इयं पुनर्ग्रहशब्देन सह प्रत्यक्षा, तस्मात् न प्रकरणे विधानं, ग्रहैकत्वसम्बन्धे पुनरुत्सृज्य स्वार्थं, न शक्नोति विधातुम्। तस्मात् वैषम्यमस्य, ग्रहैकत्वविधानेन। यदुक्तम्,—यथा स्थालानि सम्मृज्यन्ताम्—इति लक्षणा, तद्वदिहापि—इति, परिहृतमेतत् लोके कर्मार्थं लक्षणं, शब्दलक्षणं पुनर्वेदे—इति॥ (३।१। ८ अ०) ॥

सप्तदशारत्निताया: पशुधर्मताधिकरणम् ।

सू आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥ १८ ॥

भा वाजपेये श्रूयते,—'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सप्तदशारत्निता वाजपेयस्य ऊर्ध्वपात्रे निविशते, उत पशोर्यूपे निविशते?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—ऊर्ध्वपात्रे—इति। कुतः?। वाजपेयस्य यूपाभावात्, यत् वाजपेयस्य अस्ति पात्रं यूपसदृशं, तत्र भवितुमर्हति, अस्ति च षोडशिपात्रं, तच्च खादिरत्वात् ऊर्ध्वत्वाच्च यूपसदृशं, तत्र निवेशे सति वाजपेयशब्द आञ्जस्येन भवति, इतरथा वाजपेयाङ्गे पशुयागे लक्षणया वाजपेयशब्दो वृत्तः—इति गम्येत। 'ननु त्वत्पक्षेऽपि यूपशब्दो लक्षणयोर्ध्वपात्रे'। उच्यते, सर्वथा वयं लक्षणाशब्दान्न मुच्यामहे, मत्पक्षे तु वाजपेयप्रकरणम् अनुगृह्यते, तस्मात् ऊर्ध्वपात्रे निवेशः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'आनर्थक्यात् तदङ्गेषु,' वाजपेयशब्दः तावत् सोमयागविशेषवचनः, तस्य साक्षात् यूपेन न प्रयोजनम्, अस्ति तु तस्याङ्गं पशुयागः, तस्य तु पशुबन्धस्य यूपेन कार्यं। साक्षात् वाजपेययूपस्य यदि सप्तदशारत्निता विधीयते, तस्याभावात् अनर्थकमेव वचनं प्राप्नोति, तत् अनर्थकं माभूत्—इति योऽस्य पशुयागे यूपः, तत्र निवेशमर्हति। ऊर्ध्वपात्रे च यूपशब्दो लक्षणया स्यात्। 'नन्वितरस्मिन्नपि पक्षे वाजपेयशब्दो लक्षणया'—इति। 'न—इति ब्रूमः, वाजपेये एव वाजपेयशब्दो भविष्यति, शक्यति च स पशुयूपं विशेष्टुं, सोऽस्याङ्गस्योपकारक', यश्च यस्योपकारिण उपकरोति, भवति स तस्य सम्बद्धो मुखेनैव सम्बन्धेन, न च, एकान्तरित'—इतिकृत्वाऽसम्बद्धो भवति, यथा देवदत्तस्य नप्ता—इति, पुत्रेण च असावन्तरितः, अथच देवदत्तेन मुखेनैव सम्बन्धेन सम्बध्य'। तस्मात् एष एव

पच्च आश्रयणीयः, न हि एतस्मिन्पक्षे कश्चिदपि लक्षणाशब्दो भवति—इति॥ (३।१।९ अ०)॥

---

अभिक्रमणादीनां प्रयाजमात्राङ्गताधिकरणम् ।

सू कर्तृगुणे तु कर्मासमवायात् वाक्यभेदः स्यात् ॥ १९ ॥ (पू०)॥

भा· दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजवाक्ये श्रूयते,—'अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्या'—इति। तत्र सन्देहः,—किमभिक्रमणं प्रयाजेष्वेव निविशते उत कृत्स्ने प्रकरणे?—इति। किं तावत्प्राप्तं? कर्तृगुणेऽभिक्रमणे ब्रूमः,—वाक्यभेदः स्यात्—इति, कर्मणा कर्मणोऽसमवायात्। अभिक्रमणं कर्म अमूर्तं, न तत्कर्म हवनं साधयितुं शक्नोति, तस्मात् न तेनैकवाक्यतां याति। अतः सर्वस्मिन् प्रकरणे निविशते, संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च—इति।

'ननु अनेन एव हेतुना अन्यस्मिन्नपि न निवेक्ष्यते'। उच्यते, अन्यत्र पुरुषैः सम्भंत्स्यते। 'ननु प्रयाजेष्वपि पुरुषैः सम्बध्येत'। नैतदेवं, जुहोति—इति हवने एव शब्दः पुरुषप्रयत्नं विदधातुम् शक्नोति, न पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धम्। 'ननु अन्यत्रापि पुरुषाभिक्रमणसम्बन्धस्याविधानम्'। नैष दोषः, अन्यत्र प्रकरणाम्नानादङ्गभावे निर्ज्ञाते प्रयोगवचनोऽस्य कर्तव्यतां वक्ष्यति। तस्मात् सर्वस्मिन् प्रकरणेऽभिक्रमणस्य निवेशः—इति॥

साकाङ्क्षन्त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥ २० ॥ (सि०)॥

[भा]. नैतदस्ति,—यदुक्तमभिक्रमणं प्रकरणे निविशते—इति; प्रया-

भा जेष्वेव भवितुमर्हति। कुतः?। तैः सहास्यैकवाक्यता यतः, साकाङ्क्षमेतत् पूर्वेण पदेनासमाप्तम् वाक्यम्, 'अभिक्रामं जुहोति' —इत्यत्र पर्यवस्यति, प्रकरणाच्च वाक्यम्बलवत्—इति प्रया जेष्वेवाभिक्रमणं निविशते। 'ननु अभिक्रमणममूर्त्तत्वात् होम निर्वृत्तावसमर्थम्—इत्युक्तम्'। उच्यते, साक्षात् असमर्थम्, कर्त्ता सम्बध्यमानं शक्यति निर्वर्त्तयितुम्। कथं?। अभिक्रमणेन समासीदति आहवनीयं कर्त्ता, इयमभ्युपायभूतं होमस्य, दूरादाऽभिप्रसार्य्य हस्तं, जुहुयात्, समासीदेत् अन्वाभिक्रमणेन। तस्मात् अभिक्रमणमुपकरोति होमस्य,—इत्यवगम्यते। अतः प्रयाजेष्वेव निवेशः—इति॥ (३।१।१० अ०)॥

---

उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताधिकरणम्॥

सू॰ सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात्॥ २१॥

भा दर्शपूर्णमासयोः समाम्नातयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः सामिधेन्य उक्ताः, नवमे निविदः, दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पाः,—'इद कामस्यैतावतीरनुब्रूयात्, इदं कामस्यैतावतीः'—इति, एकादशे च यज्ञोपवीतमाम्नातं,—'उपव्ययते देवलक्ष्मैव तत् कुरुते'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सामिधेनीरेवानुब्रुवाण उपव्ययेत, उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपव्यातव्यम्?—इति कुतः संशयः?। उपवीतं सामिधेनीनां प्रकरणे समाम्नातम् अथ निवृत्ते वा तासां प्रकरणे?—इति न ज्ञायते।

'ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणम् इदं, यत्प्रकरणे सामिधेन्यः श्रूयन्ते'। सत्यं यत्प्रकरणे श्रूयन्ते, तथापि तासामवान्तरप्रकरणम् अपरं, भवति हि, सामिधेनीरनुब्रूयात्—इति विशेषाकाङ्क्षं वचनं, येन तत्सन्निधावभिधीयमानं तस्य—इति ज्ञायते। 'कथं पुनर्निवृत्तं तासां प्रकरणम्—इत्याशङ्क्यते?'।

भा. निविन्त्पदानि तासां प्रकरणं व्यवदधति—इति। 'यद्येवं, कथम्, अनुवर्त्तते प्रकरणम्—इत्याशङ्का?। परस्तान्निविदां, सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यदनन्तरं यज्ञोपवीतमाम्नातं, तेनानिवृत्तं सामिधेनीनां प्रकरणम्—इति भवति मतिः। अतः परप्रकरणे निविदः समुत्पानपतिता न व्यवदधति। यथा द्वादशोपसत्ताऽहीनधर्मा ज्योतिष्टोम प्रकरणे—इति। तेन भवति सन्देहः।

अस्मिन् सन्देहे किं तावत्प्राप्तम्?—सामिधेनीप्रकरणम् अनिवृत्तं, तत्र उपवीतं समाम्नातम्—इति। कुतः?। काम्यानां सामिधेनीकल्पानामानन्तर्य्यवचनात्, हृदयमनुविपरिवर्त्तमानात् सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति, कर्त्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवति उपवीतं नाम, किं कुर्वता तत् कर्त्तव्यम्?—इति भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा, तत्र बुद्धौ सन्निहितेनाविप्रकृष्टेन सामिधेनीवाक्येन एकवाक्यतामुपगम्य सामिधेनीषु—'उपवीतं उपव्ययते' इत्येष शब्दो विदधाति—इति गम्यते।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न, अस्मिन् सन्देहे यस्त्वयोक्तः, स निर्णयः; अस्मिन् सन्देहे वाक्यभेदः—इति निर्णयः—इति। कुतः?। 'व्यवायात्', इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनीवाक्यस्य, अस्य च 'उपव्ययते'—इति वचनस्य, निविदां विधायकेन सामिधेनीभिः असम्बद्धेन ग्रन्थेन व्यवधानं भवति, यस्य च पर्य्यवसितेऽपि वचने तत्सम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र अननुवृत्तं प्रकरणम्, आगच्छति हि तत्सम्बद्धाभिधाने हृदयम्। यत्र तु पर्य्यवसिते वचने तदसम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र बुद्धौ पूर्व्वः पदार्थः सन्निधीयते। न च, बुद्धावसन्निहितेनैकवाक्यता भवति। द्वाभ्यां हि बुद्धाभ्यां पदार्थाभ्यां वाक्यार्थः सङ्गम्यते, नान्यतरेण, सन्निधौ समाम्नानस्यैतदेव प्रयोजनं, [illegible]म उभ[illegible] पदार्थौ [illegible] विशिष्टं [illegible]?—इति।

भा जेष्वेव भवितुमर्हति। कुतः?। तैः सहास्यैकवाक्यता यतः, साकाङ्क्षमेतत् पूर्वेण पदेनासमाप्तम् वाक्यम्, 'अभिक्रामं जुहोति' —इत्यत्र पर्यवस्यति, प्रकरणाच्च वाक्यम्बलवत्—इति प्रयाजेष्वेवाभिक्रमणं निविशते। 'ननु अभिक्रमणममूर्त्तत्वात् होम निर्वृत्तावसमर्थम्—इत्युक्तम्'। उच्यते, साक्षात् असमर्थम्, कर्त्तां सम्बध्नानं शक्यति निर्वर्त्तयितुम्। कथं?। अभिक्रमणेन समासीदति आहवनीयं कर्त्ता, इयमभ्युपायभूतं होमस्य, दूरादऽभिप्रसार्य हस्तं, जुहुयात्, समासीदेत् अन्वाभिक्रमणेन। तस्मात् अभिक्रमणमुपकरोति होमस्य,—इत्यवगम्यते। अतः प्रयाजेष्वेव निवेशः—इति॥ (२।१।१० अ०)॥

---

उपवीतस्य प्राकरणिकाङ्गताधिकरणम्।

सू॰ सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात्॥ २१॥

भा॰ दर्शपूर्णमासयोः सप्तमाष्टमयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः सामिधेन्य उक्ताः, नवमे निविदः, दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पाः,—'इदं कामस्यैतावतीरनुब्रूयात्, इदं कामस्यैतावतीः'—इति, एकादशे च यज्ञोपवीतमाम्नातं,—'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सामिधेनीरेवानुब्रुवाण उपव्ययेत, उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपव्यातव्यम्?—इति। कुतः संशयः?। उपवीतं सामिधेनीनां प्रकरणे समाम्नातम् अथ निवृत्ते वा तासां प्रकरणे?—इति न ज्ञायते।

'ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणम् इदं, परप्रकरणे सामिधेन्यः श्रूयन्ते'। सत्यं परप्रकरणे श्रूयन्ते, तथापि तासामवान्तरप्रकरणम् अपरं, भवति हि, सामिधेनीरनुब्रूयात्—इति विशेषाकाङ्क्षं वचनं, येन तत्सन्निधावभिधीयमानं तस्य—इति ज्ञायते। 'कथं पुनर्निवृत्तं तासां प्रकरणम्—इत्याशङ्क्यते?'।

भा. निवित्पदानि तासां प्रकरणं व्यवदधति—इति। ‘यद्येवं, कथम्, अनुवर्त्तते प्रकरणम्—इत्याशङ्का?’। परस्तान्निविदां, सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यदनन्तरं यज्ञोपवीतमाम्नातं, तेनानिवृत्तं सामिधेनीनां प्रकरणम्—इति भवति मतिः। अतः परप्रकरणे निविदः समुपानपतिता न व्यवदधति। यथा द्वादशोपसत्ताऽहीनधर्मो ज्योतिष्टोमप्रकरणे—इति। तेन भवति सन्देहः।

अस्मिन् सन्देहे किं तावत्प्राप्तम्?—सामिधेनीप्रकरणम् अनिवृत्तं, तत्र उपवीतं समाम्नातम्—इति। कुतः?। काम्यानां सामिधेनीकल्पानामानन्तर्य्यवचनात्, हृदयमनुविपरिवर्त्तमानात् सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति, कर्त्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवति उपवीतं नाम, किं कुर्वता तत् कर्त्तव्यम्?—इति भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा, तत्र बुद्धौ सन्निहितेनाविप्रकृष्टेन सामिधेनीवाक्येन एकवाक्यतामुपगम्य सामिधेनीषु—‘उपवीतं उपव्ययते’ इत्येष शब्दो विदधाति—इति गम्यते।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न, अस्मिन् सन्देहे यस्त्वयोक्तः, स निर्णयः; अस्मिन् सन्देहे वाक्यभेदः—इति निर्णयः—इति। कुतः?। ‘व्यवायात्’, इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनीवाक्यस्य, अस्य च ‘उपव्ययते’—इति वचनस्य, निविदां विधायकेन सामिधेनीभिः असम्बद्धेन ग्रन्थेन व्यवधानं भवति, यस्य च पर्य्यवसितेऽपि वचने तत्सम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र अननुवृत्तं प्रकरणम्, आगच्छति हि तत्सम्बद्धाभिधाने हृदयम्। यत्र तु पर्य्यवसिते वचने तदसम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र बुद्धौ पूर्व्वः पदार्थः सन्निधीयते। न च, बुद्धावसन्निहितेनैकवाक्यता भवति। द्वाभ्यां हि बुद्धाभ्यां पदार्थाभ्यां वाक्यार्थः सङ्गम्यते, नान्यतरेण, सन्निधौ समाम्नानस्यैतदेव प्रयोजनं, कथम् उभाभ्यां पदार्थाभ्यां विशिष्टां बुद्धिमुत्पादयेयुः?—इति।

भा अनन्तरावबुद्धेन सह वाक्यार्थः शक्यते कर्तुम्, असम्बद्धपदोच्चारणे च नानन्तरावबुद्धो भवति। तस्मात् व्यवहितेन सह नैकवाक्यता भवति—इति।

'यथान्येन प्रकारेण ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सञ्जनयेत्'। अवैदिकः स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्, यथा, अन्यस्मादनुवाकादाख्यातपदं गृहीत्वा, अन्यस्मान्नामपदं यो वाक्यार्थः सञ्जन्यते, तादृशं तत् भवेत्, यत्र अन्येन ध्यानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सञ्जनयेत्। तस्मात् नासम्बद्धार्थव्यवधाना एकवाक्यता भवति—इति निश्चीयते, तस्मात् न सामिधेनीभिः एकवाक्यतोपवीतस्य—इति। 'ननु सामिधेनीकल्पानाम् अनन्तरबुद्धानां सन्निधावुपवीतमाम्नायते, तेन सामिधेनीभिः सम्भंत्स्यते—इति'। न—इति ब्रूमः,—प्रतिहतमेव हि सामिधेनीनां प्रकरणं निविदर्थैर्व्यवधानात्। वाक्येन हि सामिधेनीकल्पाः काम्याः सम्बन्धमुपगच्छन्ति, न प्रकरणम् अनुवर्तते, न च, पुनःकल्पवचनेन सामिधेन्यः प्रकृता भवन्ति। न हि, तत्र तासां वचनं,—कर्तव्याः—इति, किं तर्हि संख्याभिः सम्बन्धयितव्याः—इति, तदपि वाक्येन, न प्रकरणेन। तत्र अप्रकृतासु सामिधेनीषु यस्य एकवाक्यता गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य ताभिः सम्बन्धः। तस्मात् प्रकरणे यदनुष्ठेयं तत् यज्ञोपवीतिना—इति सिद्धम्॥ (३।१। २१ अ०)॥

---

वारणवैकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताधिकरणम्। (मिथोऽसम्बन्धन्यायः)॥

सू गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्॥ २२॥

भा. अग्न्याधेये वारण—वैकङ्कतपात्राणि अग्नीषोमार्थानि सोमार्था

भा. च श्रूयन्ते,—'तस्मात् वारणो वै यज्ञावचरः* स्यात्, न त्वेतेन जुहुयात्, वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात् जुहुयादेतेन'—इति। न च वारणवैकङ्कतानां पात्राणामग्न्याधेयेन सम्बन्धः। कुतः?। यज्ञावचरवचनात्,† यज्ञस्य एतानि पात्राणि, वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा भवन्ति। तत्र एष सन्देहः,—किं पवमानेष्टिषु निविशन्ते, उत दर्शपूर्णमासादिषु सर्वयागेषु?—इति। किं तावत् प्राप्तम्? पवमानहविःष्विति। कुतः?। उक्तमेतत् (पू० प०) प्रधानेऽसम्भवन्पदार्थः तद्गुणे कल्प्यते—इति, अग्न्याधेयप्रकरणे च समाम्नानात्पवमानहविषां तद्गुणता। तस्मात् पवमानहविःषु—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणानां समत्वात्, पवमानहविषाम्, अग्न्याधेयस्य च न परस्परेण सम्बन्धः, यथा आधानमग्नेर्गुणः संस्कारार्थः, एवं पवमानहवींष्यपि अग्नेरेव गुणभूतानि, कस्तत्र परस्परेण सम्बन्धः?—इति। यदुक्तं,—आधानस्य प्रकरणे समाम्नायन्ते—इति, यद्यपि समाम्नायन्ते, तथापि प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन अग्नेर्भवन्ति। किम् इह वाक्यम्?। 'यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति'—इति।

'ननु आहवनीयोऽत्र यागस्याधिकरणत्वेन गुणभूतः श्रूयते'। सत्यम्, अधिकरणमाहवनीयः, तथापि त्वाहवनीयार्थ एव यागः, प्रयोजनवत्त्वात् आहवनीयस्य, निष्प्रयोजनत्वात् पवमानहविषाम्। कथम् एषां निष्प्रयोजनता?। फलाश्रवणात्। 'कल्प्यं फलम्—इति चेत्'। सत्यं कल्प्यम्, अग्निसंस्कारस्तु तत्फलं, न स्वर्गः, स्वर्गे कल्प्यमाने दिरदृष्टं कल्प्येत,—होमाध

---

* 'यज्ञावचरः यज्ञप्रचारहेतु' इति माधवः।

† 'अग्न्याधानस्य यजतिचोदनारहितत्वादयज्ञत्वम्' इति अधिकः पाठः का० सं० पु०। एष पाठः अत्र भवितु युक्तः।

भा अनन्तरायबुद्धेन सह वाक्यार्थः शक्यते कर्तुम्, असम्बद्धपदोच्चारणे च नानन्तरायबुद्धी भवति। तस्मात् व्यवहितेन सह नैकवाक्यता भवति—इति।

'अथान्येन प्रकारेण धानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सञ्जनयेत्'। अवैदिकः स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्, यथा, अन्यस्मादनुवाकादाख्यातपदं गृहीत्वा, अन्यस्माच्च नामपदं यो वाक्यार्थः सञ्जन्यते, तादृशं तत् भवेत्, यत्र अन्येन धानादिना पूर्वपदार्थम् अवगम्य, वाक्यार्थं सञ्जनयेत्। तस्मात् नासम्बद्धार्थव्यवधाना एकवाक्यता भवति—इति निश्चीयते, तस्मात् न सामिधेनीभिः एकवाक्यतोपवीतस्य—इति। 'ननु सामिधेनीकल्पानाम् अनन्तरबुद्धाना सन्निधावुपवीतमाम्नायते, तेन सामिधेनीभिः सम्भत्स्यते—इति। न—इति ब्रूमः,—प्रतिहतमेव हि सामिधेनीनां प्रकरणं निविदपदैर्व्यवधानात्। वाक्येन हि सामिधेनीकल्पाः काम्याः सम्बन्धमुपगच्छन्ति, न प्रकरणम् अनुवर्तते, न च, पुनःकल्पवचनेन सामिधेन्य' प्रकृता भवन्ति! न हि, तत्र तासां वचनं,—कर्तव्याः—इति, किं तर्हि संख्याभिः सम्बन्धयितव्याः—इति, तदपि वाक्येन, न प्रकरणेन। तत्र असमाप्तासु सामिधेनीषु यस्य एकवाक्यता गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य . ताभिः सम्बन्धः। तस्मात् प्रकरणे यदनुष्ठेयं तत् यज्ञोपवीतिना—इति सिद्धम्॥ (३।१।११ अ०)॥

---

वार्यवैकङ्कतादिपात्राणां क्रत्वर्थताधिकरणम्। (मिथोऽसम्बन्धन्यायः)।

सू गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्॥ २२॥

भा. अग्न्याधेये वारण—वैकङ्कतपात्राणि अश्वमार्याणि यौमार्थानि

भा. वार्त्रघ्नी आग्नेयी, एका सौमी, तथा वृधन्वत्यौ, तत्र या आग्नेयी, सा विधीयमाना सम्बध्येत न सौमी ; अमावस्यायां तावत् नास्त्येव, पौर्णमास्यामप्यग्नीषोमीये एव क्रियमाणे क्रियेत, तत्राप्येकदेवत्या न शक्नुयात् देवताद्वित्वे कार्यं कर्तुम्। 'अथ उभे अग्नीषोमीये प्राप्ते—इति'। न, एकस्य यागस्य द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां प्रयोजनम्। उपादेयत्वेन हि अनुवाक्या चोद्यते, तत्र एकत्वं विवक्षितं, तेन तत्रापि न द्वे। तस्मात् आज्यभागयोर्निवेशः—इति ॥ (३।१।१३ अ०) ॥

---

मुष्टीकरणादीनां ज्योतिष्टोमप्राकरणिकाङ्गताधिकरणम् ।

सू. आनन्तर्यमचोदना ॥ २४ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'मुष्टीकरोति वाचं यच्छति दीक्षितमावेदयति'—इति, तथा 'हस्तौ अवनेनिक्ते *उलपराजिंस्तृणाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं मुष्टीकरणं वाग्यमश्च आवेदनार्थम्, उत ज्योतिष्टोमप्रकरणे निवेशः?—इति' तथा, हस्तावनेजनं किम् उलपराजिंस्तरितुम्, उत प्रकरणे सर्वपदार्थान् कर्तुम्?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—हस्तावनेजनं हस्तसंस्कारार्थं, वाग्यमः पुरुषसंस्कारार्थः, आम्नायमाणः एकार्थो भवति, पदार्थाननुतिष्ठति, तेन केषां केषां पदार्थानाम् इमे संस्कारौ इत्याकाङ्क्षा भवति, तस्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्येण निराकाङ्क्षीकरणं। तस्मात् आनन्तर्यात् आवेदनार्थो वाग्यमो मुष्टीकरणं च, हस्तावनेजनं चोलपराजिंस्तरितुम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सर्वैः प्रकरणाधीतैः सम्बन्धः—इति।

---

* 'वेदामार्कर्तुं सम्पादितस्तृणस्तम्ब उलपराजिः' इति माधवः।

भा स्वर्गो भवति, तस्य च आहवनीयेन अपरोक्षः संस्कारः—इति। तस्मात् अग्न्यर्थता पवमानहविषां, नैषामाधानेन सम्बन्धः। तस्मात् नाधाने श्रूयमाणं, पवमानहविष्ट्वं भवितुमर्हति। किं तर्हि सर्वयागेषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिष्वाधानस्य प्रधानभूतेषु निवेशः?—इति॥ (२।२।१२ अ०)॥

---

वार्त्रघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गताधिकरणम्। (वार्त्रघ्नीन्यायः)।

सू **मिथश्चानर्थसम्बन्धात्॥ २३॥**

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'वार्त्रघ्नी पौर्णमास्याम् अनूच्येते, वृधन्वती अमावस्यायाम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किमनुवाक्याद्वित्वस्य प्रधाने निवेशः, उताज्यभागयोः?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—प्रधाने—इति। कुतः?। पौर्णमासीसमभिव्याहारात्, अमावस्यासमभिव्याहाराच्च। प्रधानं पौर्णमासी च अमावस्या च नाज्यभागौ। तस्मात् साक्षाद्वाक्यात् प्रधानस्य—इति प्राप्तम्।

तत्र ब्रूमः,—मिथः सह द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां न प्रधानस्य कार्यमस्ति, यत्र तु द्वे अनुवाक्ये, तत्र तयोर्वार्त्रघ्नता वृधन्वत्ता च विधीयते, प्रधाने च एका अनुवाक्या, तत्र द्वित्वं वार्त्रघ्नता वृधन्वत्ता च विदधत् वाक्यम्भिद्येत। आज्यभागयोस्तु द्वे याज्ये आग्नेयी सौमी च, तत्र वार्त्रघ्नता वृधन्वत्ता केवला शक्ष्यति विधातुम्। 'ननु प्रधानगामित्वेऽपि द्वयोः प्रधानयोः द्वे अनुवाक्ये, आग्नेयस्य अग्नीषोमीयस्य च—इति'। उच्यते,—एका

* "वार्त्रघ्नीयुगलं वृधन्वतीयुगलञ्च पौर्णमासीदर्शयोः आज्यभागयोः क्रमेणैव विनियोक्तव्यम्। यथाक्रमं 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्' इत्यनुवाक्याम्नातम्" इति भावः।

भा. भवति, एवमिहापि। यदि आग्नेयस्य अग्नीषोमीयस्य च पुरोडाशस्य मिथः सम्बन्धो न भवेत्, तत आग्नेय एव चतुर्द्धाकरणं व्यवतिष्ठेत, भवति तु सम्बन्धः, तस्मात् अव्यवस्था, यथा आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य प्राशित्रम् अवद्यति—इति सर्वेभ्यः प्राशित्रावदानम्, एवं चतुर्द्धाकरणमपि॥

सू. व्यवस्था वा अर्थसंयोगात् लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धात् लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥ २७ ॥ (सि०)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, व्यवतिष्ठेत वा चतुर्द्धाकरणम् आग्नेये एव, न साधारणं भवितुमर्हति। कुतः?। अर्थसंयोगात्, अग्निना देवतया अर्थेनैकदैवत्यस्य संयोगः, न द्विदैवत्यस्य अग्नीषोमीयस्य ऐन्द्राग्नस्य च—इति। कुतः?। यस्य हि अग्नीषोमौ देवता, उभयविशेषणविशिष्टः सङ्कल्पः क्रियते, तस्याग्निः सोमसमपेक्षमाणो देवता, न निरपेक्षः, यस्य च अग्निः सोमसमपेक्षमाणो देवता, न तस्मात् तद्धित उत्पद्यते, समर्थाना हि स उत्पद्यते, सापेक्षं च असमर्थम्। तस्मात् न तद्धितान्तेन निरपेक्षाग्निदैवत्येन द्विदैवत्यस्य अभिधानम्। अतो यत्र निरपेक्षोऽग्निर्देवता, तत्र एव चतुर्द्धाकरणम्—इति, देवताचिह्नस्य हि सामर्थ्येन संयोगो भवति तद्धितार्थस्य, नासति सामर्थ्ये।

अथ यदुक्तं, यथा प्राशित्रावदानं सर्वेभ्यः क्रियते, एवं चतुर्द्धाकरणमपि—इति, युक्तं प्राशित्रावदानेन तत्र एव सम्बन्धः क्रियते,—आग्नेयस्य प्राशित्रमवद्यति—इति। 'कथं तर्हि आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य?'—इति। एकं होतदाकं प्राशित्रमवद्यति—इति, द्वितीयमाग्नेयस्य मस्तकं विभज्येति, तत्र आग्नेयस्य मस्तकात् अवद्यति—इति गम्यते, अन्यस्य मस्तकात्, अन्यस्मादेति अनियमः। यदि तु तत्र केवलाग्निदैवत्यो न अभविष्यत्, तदा आनर्थक्यपरिहाराय द्विदैवत्योऽप्यपेक्षिष्यत।

भा. कुतः?। वाक्यभेदात्। कथं वाक्यभेदः?। अर्थद्वयस्याभिधानात्, न हि, दीक्षितम् आवेदयितुम्—इत्यस्मिन् अर्थे आवेदयति—इति, न च स्तरितुम्—इत्यस्मिन् अर्थे स्तृणाति—इति; स्तरणमपि विधीयते अवनेजनं च; मुष्टीकरणं वाग्यमश्च विधीयते, आवेदनं च। न च, एषां परस्परेण कश्चित् सम्बन्धोऽस्ति, न च, पदार्थाकाङ्क्षायाम् असत्यामानन्तर्यमेकवाक्यत्वे कारणं भवति, तस्मात् प्रकरणधर्मा एवञ्जातीयकाः॥

सू वाक्यानाञ्च समाप्तत्वात्॥ २५॥ (यु०)॥

भा. स्वेन स्वेन पदसमूहेन परिपूर्णमेकं वाक्यं, तथा अपरं, तथा सर्वाणि यान्युदाहृतानि। तस्मात् विस्पष्टमर्थद्वयं, विभागे च निराकाङ्क्षता, तेन वाक्यभेदः। अतः संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च सर्वस्मिन् प्रकरणे निवेशः—इति॥ (३।१। १४ अ०)॥

---

चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताधिकरणम्॥

सू आग्नेयस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात्॥ २६॥ (पू०)॥

भा दर्शपूर्णमासयोः समाम्नायते,—'आग्नेयं चतुर्धा करोति'—इति। तत्र सन्देहः,—किमाग्नेयेऽग्नीषोमीये ऐन्द्राग्ने च सर्वत्र चतुर्धाकरणं? किं वा आग्नेये एव?—इति। किं प्राप्तम्?—शेषश्चतुर्धाकरणम्, आग्नेयम्—इति देवतागुणसंयुक्तः साधारणं प्रतीयते, अग्नीषोमीयेऽपि स्यात्, ऐन्द्राग्नेऽपि। कुतः?। तौ अपि आग्नेयौ, यस्याग्निर्देवता, अन्या च भवति, असावाग्नेयः; तत् यथा, या डित्थस्य डवित्थस्य च माता, सा डवित्थस्य

तृतीये अध्याये द्वितीयः पादः ।



अथ सदनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाधिकरणम् । (बर्हिर्न्यायः) ।

## सू. अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥ १ ॥

भा इह मन्त्रा उदाहरणं,—'बर्हिर्देवसदनं दामि'—इत्येवमादयः। किं मुख्ये एवाभिधेये मन्त्राणां विनियोगः, उत गौणेऽपि ?—इति। कः पुनर्मुख्यः को वा गौणः ?—इति। उच्यते,—यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमोऽर्थो मुख्यः, मुखमिव भवति—इति मुख्य इत्युच्यते, यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित् सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चाद्भावाज्जघनमिव भवति—इति जघन्यः, गुणसम्बन्धाच्च गौणः—इति।

"यद्येवं सर्व एव मुख्यः, सर्वो हि शब्दात् गम्यते, यथैव हि अग्निर्ज्वलति इत्युक्ते ज्वलने सम्प्रत्ययः, एवमेवाग्निर्माणवकः—इति शब्द एव उच्चारिते माणवके सम्प्रत्ययः। 'अथ उच्येत यस्मिन् निरुपपदात् शब्दात् सम्प्रत्ययः स मुख्यः, यस्मिन् सोपपदात् स गौणः'—इति। नैतत् युक्तम्,—यस्य हि शब्दस्य रूपं कस्यचित् अर्थस्य निमित्तं, सोपपदस्यापि तदेव रूपं, निरुपपदस्यापि; न च शक्यं निमित्ते सति नैमित्तिकेन न भवितुम्। 'किमतः ?'। यद्येवम्, इदं न शक्यते वदितुम्,—उपपदादृते न सोऽर्थो भवति, उपपदे तु सञ्जाते सोऽर्थः सञ्जनिष्यते—इति। न चासौ समुदायार्थः शक्यते विज्ञातुम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते। 'अथ, वाक्यार्थोऽयम्,—इत्युच्येत'। नैवं शक्यं, न हि अनन्वितः पदार्थो भवति

भा यत्तु, डित्थस्य माता—इति, युक्तं तत्राप्यासङ्गि मातृत्वं, ततो जातो डित्थः, एतावता सम्बन्धेन, माता इत्युच्यते, न चात्र किञ्चित् अपेक्ष्यते। स च नावांस्तत्र सम्बन्धोऽस्ति—इति डित्थस्य माता—इति युक्तं वचनम्॥ (३।१।१५ अ०)॥

इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः॥



तृतीये अध्याये द्वितीयः पादः ।



अथ लवनप्रकाशकमन्त्राणां मुख्ये विनियोगाधिकरणम् । (बर्हिर्न्यायः) ।

# अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥ १ ॥

भा. इह मन्त्रा उदाहरणं,—'बर्हिर्देवसदनं दामि'—इत्येवमादयः। किं मुख्ये एवाभिधेये मन्त्राणां विनियोगः, उत गौणेऽपि?—इति। कः पुनर्मुख्यः को वा गौणः?—इति। उच्यते,—यः शब्दादेवावगम्यते, स प्रथमोऽर्थो मुख्यः, मुखमिव भवति—इति मुख्य इत्युच्यते, यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित् सम्बन्धेन गम्यते, स पश्चाद्भावाज्जघनमिव भवति—इति जघन्यः, गुणसम्बन्धाच्च गौणः—इति।

"यद्येवं सर्व एव मुख्यः, सर्वो हि शब्दात् गम्यते, यथैव हि अग्निर्ज्वलति इत्युक्ते ज्वलने सम्प्रत्ययः, एवमेवाग्निर्माणवकः—इति शब्द एव उच्चारिते माणवके सम्प्रत्ययः। 'अथ उच्येत यस्मिन् निरुपपदात् शब्दात् सम्प्रत्ययः स मुख्यः, यस्मिन् सोपपदात् स गौणः'—इति। नैतत् युक्तम्,—यस्य हि शब्दस्य रूपं कस्यचित् अर्थस्य निमित्तं, सोपपदस्यापि तदेव रूपं, निरुपपदस्यापि; न च शक्यं निमित्ते सति नैमित्तिकेन न भवितुम्। 'किमतः?'। यद्येवम्, इदं न शक्यते वदितुम्,—उपपदादृते न सोऽर्थो भवति, उपपदे तु सञ्जाते सञ्जनिष्यते—इति। न चासौ समुदायार्थः शक्यते . अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हि विभागोऽवगम्यते । '
ऽयम्,—इत्युच्येत'। नैवं शक्यं, न हि अनन्वितः

भा वाक्यार्थः। तदेवं दृश्यताम्,—अग्निशब्द एव अयं ज्वलनवचनः अग्निशब्द एव माणवकस्याभिधाता—इति, तस्मात् न गौणो मुख्यः—इति कश्चिद्विशेषः। 'अथोच्यते, यः सुष्ठु प्रसिद्धः स मुख्यः, यो मनागिव, स गौणः'—इति। इदमपि नोपपद्यते, प्रसिद्धिर्नाम प्रज्ञानम्, न च प्रज्ञाने कश्चिद्विशेषोऽस्ति। 'अथो च्येत, यस्य बहुशः प्रयोगोऽस्ति स मुख्यः, अल्पशः प्रयुज्यमानो गौणः'—इति। नैतदेवम्, अल्पप्रयोगोऽपि प्रयुज्यमानो नार्हति सामर्थ्यं प्रत्याययेत्, अतः सोऽपि शब्दात्प्रतीयते—इति मुख्य एव"।

अत्र उच्यते,—अस्ति अत्र विशेषः, माणवको न अग्निशब्दात् प्रतीयते। कथमवगम्यते?। उक्तम् (१।३।२६ सू०) 'अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्'—इति। कथं न विपर्ययः?। उच्यते,—अनादृत्यैव माणवकमत्ययं ज्वलनम् अग्निशब्दात् प्रतियन्तो दृश्यन्ते, न त्वनादृत्य ज्वलनं, माणवकम् अग्निशब्दात् प्रतियन्ति। कुतः एतत्?। यो योऽग्निसदृशो विवक्ष्यते, तत्र तत्राग्निशब्दो नियतः —इति। अत एव विगतसादृश्यादपयन्तु दृश्यते। अतोऽग्नि सादृश्यमस्य प्रवृत्तौ निमित्तं न च ज्वलने अप्रतीते तत्सादृश्यं प्रतीयते। तस्मात् ज्वलनस्य अग्निशब्दो निमित्तं न माणवकस्य; तस्मात् ज्वलने मुख्यो न माणवके। एवमेव तृणप्रत्ययस्य बर्हिःशब्दो निमित्तं न तृणसदृशप्रत्ययस्य। तदेवं द्वैते सति मुख्यपरता शब्दस्य, उत गौणपरतापि?—इति युक्तो विचारः।

किं तावत्प्राप्तम्?—मुख्ये गौणे च विनियोगः। कुतः?। उभयस्य शक्यत्वात् उभयमपि बर्हिःशब्देन शक्यते प्रत्याययितुम्, तृणं च तृणसदृशं च, तृणं साक्षात्, तृणसदृशं तृणप्रत्ययेन। यत्र नाम दर्शपूर्णमासयोः साधनभूतेन बर्हिःशब्देन शक्यते प्रत्याययितुम्, तत् सर्वं प्रत्याययितव्यं विनिगमनायां हेत्वभावात्।

॥ अपि च एवं आश्रीयमाणे पूषाद्यनुमन्त्रणादीनि दर्शपूर्णमासाभ्यां नोत्कृष्यन्ते* तत्र एव गौणेन अभिधानेन मन्त्रास्तां देवतामभिवदिष्यन्ति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मुख्ये एव विनियोक्तव्यो मन्त्रः न गौणे—इति। कुतः?। उभयाशक्यत्वात्, प्रकरणे हि समाम्नानात् प्रधानेन एकवाक्यतामुपैति, तत्रैतदापतति यत् शक्नुयात् अनेन मन्त्रेण साधयितुम्, तथा साधयेत्—इति। स चासावर्थाभिधानसंयोगात् शक्नोत्युपकर्त्तुम्, न गौणमर्थं शक्नोत्यभिधातुम्, तस्मात् न गौणे विनियोगः।

'ननु मुख्यप्रत्ययात्, शक्यते गौणः प्रत्याययितुम्'। सत्यमेतत्, मुख्यप्रत्यायनेन एवास्य प्रयोजनवत्ता निर्वृत्ता—इति न गौणं प्रति विनियोगे किञ्चित् प्रमाणमस्ति। मुख्ये विनियोगेन स्यानर्थक्यं परिह्रियते, परिहृते आनर्थक्ये न गौणाभिधानमापतति, न हि, अनभिधाय मुख्यं, गौणमभिवदति शब्दः। अतः प्रमाणाभावात् न गौणे विनियुज्येत।

अपि च गौणस्य प्रत्यायने सामर्थ्यात् बहवोऽभ्युपायाः प्राप्नुवन्ति, सामर्थ्यं च शब्दैकदेशः—इत्युक्तम् (१।४।३०) 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्'—इति तत्र मन्त्रे नियोगतो गौणं प्रति विनियुज्यमाने उपायान्तरं, विना प्रमाणेन बाध्येत। 'प्रत्याम्नानं प्रमाणम्'—इति चेत्। न तस्य उपायान्तरनिवृत्तौ सामर्थ्यमस्ति। 'ननु मुख्येऽपि विनियुज्यमानस्य एष एव दोषः'। न इत्युच्यते,—यदि मुख्येऽपि न विनियुज्येत, नैव प्रधानस्योपकुर्यात् तत्र चास्योत्पत्तिः अनर्थिका एव स्यात्। तस्मात् अस्ति गौणे मुख्ये च विशेषः। अपि च यो गौणे मन्त्रं विनियुङ्क्ते, स वक्तव्यः,—किमर्थं मुख्यं प्रत्याययसि?—

* 'नोत्सृज्यन्ते' इति क्वचित् पाठः।

भा. इति, स चेत् ब्रूयात्,—नान्यथा गौणप्रत्ययोऽस्ति—इति, प्रतिब्रूयादेनम्,—अन्येऽपि गौणप्रत्ययस्याभ्युपायाः सन्ति—इति। अथ स एवम् अभियुक्तः प्रतिब्रूयात्,—मुख्यप्रत्ययोऽपि प्राप्तिको ऽभ्युपायः—इति, ब्रूयादेनं,—न तर्हि नियोगतो गौणे विनियोजनीयः, यदा गौणप्रत्ययाय मुख्यमुपादत्ते, तदेतदापतितं भवति,—मुख्य एव विनियोगः—इति। अर्थेन च प्रतीतेन प्रयोजनं, न प्रत्यायकेन मन्त्रेण, अतोऽन्येनाप्युपायेन गौणः प्रत्याययितव्यः, न स एव मन्त्र आदर्त्तव्यः। अथापि मन्त्र-प्रत्यायकेन प्रयोजनं स्यात्, तथापि मुख्यप्रत्यायनेनैव निर्वृत्तं प्रयोजनम्—इति नतरां गौणे विनियुज्येत। तस्मात् मुख्य-गौणयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः—इति सिद्धम्॥

सू. संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात्॥२॥ (आ० नि०)।

भा. अथ यदुक्तं,—'पूषाद्यनुमन्त्रणादीनाम् उत्कर्षो न भविष्यति—इति, युक्तः तेषाम् उत्कर्षः, संस्कारको हि मन्त्रः, सोऽसति संस्कार्येऽनर्थकः—इति यत्र अर्थवान् तत्र नायिष्यते, न च कश्चित् दोषो भविष्यति॥ (३।२।१ अ०)॥

---

इन्द्रप्रकाशकमन्त्राणां गार्हपत्ये विनियोगाधिकरणम्। (गार्हपत्यन्यायः)।

सू. वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्॥३॥

भा. अथो श्रूयते,—'निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्—इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'*—इति। तत्र सन्देहः,—किम् इन्द्रस्योपस्थानं कर्त्तव्यम्, उत गार्हपत्यस्य?—इति। 'कुतः पुनर्गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इत्येवं विस्पष्टे वचने संशयः?'—इति। उच्यते,

---

* 'केषाञ्चित्तु कदाचनस्तरीरसीत्येषा पठ्यते' इति वार्त्तिकम्।

सू गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूत्रम्)। 'अथ कस्मात् न गुणादवहन्ति ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्तिः, तस्मात् हविष्कृत्। किमेः भविष्यति?। रूपादेवावहन्तौ भवे प्राप्ते केवलं विराहत्तिमेः वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेदः'—इति। अत्र उच्यते,—गुणाभावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, नखपी आक्षतोऽस्मि—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आह्वानं स्यात्। यजमानस्य पत्न्यां हविष्कृति दृष्टार्थम् आह्वानम्। तस्मात् न हन्तिमयः—इति ॥

सू लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा लिङ्गं च भवति, 'वाग्वै हविष्कृद्वाचमेव एतत् आह्वयति'—इति, न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः शब्दः, अवहन्तिस्तु न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति। 'ननु अवहन्तेरपि स्त्रीलिङ्गः शब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति'। अत्र ब्रूमः,—न नियोगतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः, पुलिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघातः—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति। अपि च, पत्न्याः स्वरूपेण सादृश्यम्, अवहन्तेः पररूपेण शब्देन। तस्मात् पत्न्या हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

सू विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा. अवहन्तिभवे सति अस्मिन् भवे विध्नारकोपः स्यात्। 'अपहतं रक्ष इत्यवहन्ति अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति। तत्र मन्त्रे अभावात् नित्यवत् श्रुतिः उपरुध्येत, तस्मात् अवघ्नन्

भा. —इति काललक्षणार्थः। मन्त्रोऽप्यकालार्थः—इति॥ (३।२। २ अ०)॥

---

अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाधिकरणम्॥

सू. तयोत्थानविसर्जने॥ १०॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'उत्तिष्ठन् अन्वाह, अग्नीदग्नीन्विहर'—इति, तथा, 'व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति'*—इति। तत्र सन्देहः,—किमुत्थानं वाग्विसर्जनं च प्रतिमन्त्रयोरुपदेशः, उत कालार्थः संयोगः?—इति। अत्र पूर्वाधिकरणन्यायोऽतिदिश्यते, यः तत्र पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः; यः तत्र सिद्धान्तः स इह सिद्धान्तः। अग्नीदग्नीन्—इत्येवमुत्तिष्ठन् अन्वाह—इति, व्रतं कृणुत—इत्येवं वाचं विसृजति—इति पूर्वः पक्षः। लक्षणाभावात्, उत्तिष्ठन् अन्वाह—इति सिद्धान्ते सम्बन्धः। व्रतं कृणुत —इत्युच्यमाने वाचं विसृजति—इति। वाक्येन पूर्वः पक्ष', लिङ्गेन सिद्धान्तः।

यद्यपि च अच्यते, उत्थानक्रियाऽग्नीदग्नीन् विहरेति वक्तुम्, उत्थानेन अग्निरिष्यते, वह्निश्च विह्रियते—इति। व्रतं कृणुत —इति च वागभिधानं। तथाप्यदृष्टार्थं वचनं भवति—इति न मन्त्रयोः उत्थानविसर्जनार्थता कल्प्येत। कल्प्यमानाया च मन्त्रान्तरं विहितं बाधेत,—'याः पशूनामृषभो वाचः'—इति। अपि च उत्थानवाग्विसर्गौ प्रतिमन्त्रौ विधीयमानावदृष्टार्थौ स्यातां, प्रैषणे तु दृष्टार्थौ। तत् लक्षणैव अत्र न्याय्या॥ (३। २।४ अ०)॥

---

* व्रतं चरतेति वाचो विसृजतीति पाठ० व्या० सो० पु०।

सू गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इदं पदोत्तरं सूत्रम्)। 'अथ कस्मात् न गुणादवहन्तिं ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्ति, तस्मात् हविष्कृत्। किमेवं भविष्यति?। स्वरूपादेवावहन्तौ मन्त्रे भाषिते केवलं विराडहन्तिमेव वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेद'—इति। अत्र उच्यते,—गुणाभावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, नह्यसौ आहूतोऽस्मि—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आह्वानं स्यात्। यजमानस्य पत्न्यां हविष्कृति दृष्टार्थम् आह्वानम्। तस्मात् न हन्तिमन्त्र —इति ॥

सू लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा लिङ्गं च भवति, 'वाग्वै हविष्कृद्वाचमेव एतत् आह्वयति'—इति, न च वाचोऽवहन्तिना सारूप्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः शब्दः, अवहन्तिस्तु न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति। 'ननु अवहन्तेरपि स्त्रीलिङ्गः शब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति'। अत्र ब्रूमः,—न नियोगतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः, पुंलिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघात—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति। अपि च, पत्न्या स्वरूपेण सारूप्यम्, अवहन्तेः पररूपेण शब्देन। तस्मात् पत्न्यां हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

सू विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा अवहन्तिमन्त्रे सति अस्मिन् मन्त्रे विध्यन्तरकोपः स्यात्। 'अप हत रक्ष इत्यवहन्ति अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति। तत्र पक्षे अभावात् नित्यवत् श्रुति उपरुध्येत, तस्मात् अवघ्नन्

सू   गुणाभावात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा   (इदं पदोत्तरं सूत्रम्)। 'अथ कस्मात् न गुणादवहन्तिं ब्रूते? हविष्करोति हि अवहन्तिः, तस्मात् हविष्कृत्। किमेवं भविष्यति?। रूपादेवावहन्तौ मन्त्रे प्राप्ते केवलं विराडाप्तिमेव वक्ष्यति न भविष्यति वाक्यभेदः'—इति। अत्र उच्यते,—गुणाभावात् गौणमभिधानमवहन्तौ न सम्भवति—इति, न ह्यसौ आकृतोऽस्ति—इत्यवगच्छति, तत्र अदृष्टार्थम् आह्वानं स्यात्। यजमानस्य पत्न्यां हविष्कृति दृष्टार्थम् आह्वानम्। तस्मात् न हन्तिमन्त्रः—इति ॥

सू   लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥ (यु० १) ॥

भा   लिङ्गं च भवति, 'वाग्वै हविष्कृद्वाचमेव एतत् आह्वयति'—इति, न च वाचोऽवहन्तिना सादृश्यमस्ति, अस्ति तु यजमानस्य पत्न्या, सा हि स्त्री, वागिति च स्त्रीलिङ्गः शब्दः, अवहन्तिस्तु न स्त्री न पुमान् न नपुंसकम्—इति। 'ननु अवहन्तेरपि स्त्रीलिङ्गः शब्दोऽस्ति,—क्रिया—इति'। अत्र ब्रूमः,—न नियोगतोऽवहन्तेः स्त्रीलिङ्गः शब्दः, पुंलिङ्गोऽपि तस्यास्ति,—अवघात—इति, नपुंसकलिङ्गोऽपि,—कर्म—इति। अपि च, पत्न्या स्वरूपेण सादृश्यम्, अवहन्तेः पररूपेण शब्देन। तस्मात् पत्न्यां हविष्कृति लिङ्गमनुरूपतरं भवति ॥

सू   विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ॥ ९ ॥ (यु० २) ॥

भा   अवहन्तिमन्त्रे सति अस्मिन् मन्त्रे विध्यन्तरकोपः स्यात्। 'अव हत रक्ष इत्यवहन्ति अपहता यातुधाना इत्यवहन्ति'—इति। तत्र पक्षे अभावात् नित्यवत् श्रुतिः उपरुध्येत, तस्मात् अवघ्नन्

भा.—इति काललक्षणार्थः। मन्त्रोऽप्यक्लानार्थः—इति॥ (३।२।१३ अ०)॥

---

अग्निविहरणादिप्रकाशकमन्त्राणां तत्रैव विनियोगाधिकरणम्॥

सू. तयोत्थानविसर्जने॥ १०॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'उत्तिष्ठन् अन्वाह, अग्नीदग्नीन्विहर'—इति, तथा, 'व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति'*—इति। तत्र सन्देहः,—किमुत्थानं वाग्विसर्जनं च प्रतिमन्त्रयोरुपदेशः, उत कालार्थः संयोगः?—इति। अत्र पूर्वाधिकरणन्यायोऽतिदिश्यते, यः तत्र पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः; यः तत्र सिद्धान्तः स इह सिद्धान्तः। अग्नीदग्नीन्—इत्येवमुत्तिष्ठन् अन्वाह—इति, व्रतं कृणुत—इत्येवं वाचं विसृजति—इति पूर्वः पक्षः। लक्षणाभावात्, उत्तिष्ठन् अन्वाह—इति सिद्धान्ते सम्बन्धः। व्रतं कृणुत—इत्युच्यमाने वाचं विसृजति—इति। वाक्येन पूर्वः पक्षः, लिङ्गेन सिद्धान्तः।

यद्यपि च शक्यते, उत्थानक्रियाऽग्नीदग्नीन् विहरेति वक्तुम्, उत्थानेन अग्निरिध्यते, वह्निश्च विह्रियते—इति। व्रतं कृणुत—इति च वागभिधानं। तथाप्यदृष्टार्थं वचनं भवति—इति न मन्त्रयोः उत्थानविसर्जनार्थता कल्प्येत। कल्प्यमानायां च मन्त्रान्तरं विहितं बाधेत,—'याः पशूनामृषभे वाचः'—इति। अपि च उत्थानवाग्विसर्गौ प्रतिमन्त्रौ विधीयमानावदृष्टार्थौ स्यातां, भेषणे तु दृष्टार्थौ। तत् लक्षणैव अत्र न्याय्या॥ (३।२।१४ अ०)॥

---

* व्रतं चरतेति वाचो विसृजतीति पाठः व्या० सो० पु०।

सूक्तवाकस्य प्रस्तरप्रहरणाङ्गताधिकरणम् ॥ (प्रस्तरप्रहरणन्याय)।

सू सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ॥ ११ ॥ (पू०)।

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'*—इति। तत्र सन्देहः,—किं सूक्तवाकः प्रस्तरप्रहरणम् प्रत्युपदिश्यते, उत, इयं काललक्षणा?—इति। तदुच्यते, काललक्षणा—इति। कुतः?। सूक्तवाकस्य देवतासङ्कीर्त्तनार्थत्वात्, प्रस्तरप्रहरणं च प्रत्यप्राप्तेः, प्रस्तरस्य च स्रुग्धारणार्थत्वात् ॥

सू उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ॥ १२ ॥ (सि०)।

भा. उपदेशो वा प्रस्तरप्रहरणम् प्रति मन्त्रस्य स्यात्, एवं श्रुतिविहितोऽर्थो भवति, सूक्तवाकेन—इति करणविभक्तिसंयोगात्, इतरथा लक्षणा स्यात्, सूक्तवाकेन लक्षणेन प्रस्तरं प्रहरेत्—इति। एवं च कृत्वा याज्याशब्दः उपपन्नो भवति, सूक्तवाक एव याज्या, प्रस्तर आहुतिः—इति ॥

सू स देवतार्थस्तत्संयोगात् ॥ १३ ॥ (पू० नि०)

भा यदुक्तम्,—देवतासङ्कीर्त्तने सूक्तवाकः समर्थो, न प्रस्तरप्रहरणे—इति। उच्यते,—न, देवतावचनं प्रहरणेन न सम्बध्यते, प्रहरणं हि यजिः, मान्त्रवर्णिको देवताविधिः,—एवमभिसम्बन्धः। 'अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत'—इत्येवं देवताम् अनुक्रम्य, 'आशास्तेऽयं यजमानः'—इत्युक्त्वा, 'इदमिदम् आशास्ते—इति च यदनेन हविषा आशास्ते तदस्य स्यात्†—

* 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' इत्यादिमन्त्रः सूक्तवाकः। दर्भमुष्टिः प्रस्तरः, तस्य प्रहरणम् अग्नौ प्रक्षेपः इति माधवः।

† तदश्यात् इति का० सं० पु०।

भा. इति प्रस्तरं हविर्निर्दिशति, अग्न्यादींश्च देवताविशेषान्, तेन प्रहरतिर्यजतिः। एवं सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रहर्तुम् शक्यते, यदि प्रहरतिर्यजतिः, अग्न्यादिदेवताकस्य। तस्मात् सूक्तवाकस्य प्रहरतिसंयोगेऽपि देवतार्थता घटते एव। यदि 'अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत'—इत्येवमाद्येव श्रूयेत, न, 'आशास्तेयं यजमानः'—इत्येवमादीनि अपराणि, ततोऽग्न्यादय एवेष्टा-नान्तरिताः इत्येव पर्यवसितं वाक्यं भवेत्। यतस्तु खलु आशास्तेयं यजमानः इत्येवमादीन्यपराणि श्रूयन्ते, तेन इह पर्यवसानम्, अग्न्यादयः पुरोडाशादिभिः इष्टाः, अपरं तु यजमान आशास्ते तदनेन प्रस्तरेण प्राप्नुयात्—इति।

'ननु सत्स्वप्येतेषु देवतासंकीर्तने एव पर्यवस्येत्, पुरोडा-शादिभिः इष्टा अग्न्यादयः, तत एव यजमान आयुरादीन्यपि आशासानः प्राप्नुयात्—इति। उच्यते,—उभयथा सम्बन्धे सति प्रहरणे विनियोक्तयाः, लिङ्गं च न बाधितं भविष्यति, वाक्यं चानुग्रहीष्यते—इति।

अथ वा 'अग्निरिदं हविरजुषत'—इति प्रस्तरः एव हवि-र्निर्दिश्यते ; एवम् 'इदम्'—इति सन्निहितवचनमुपपन्नं भवि-ष्यति—इति ॥

सू. प्रतिपत्तिरिति चेत्, स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात् ॥ १४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'अथ स्रुग्धारणे विनियुक्तस्य प्रस्तरस्य प्रहरणं प्रतिपत्तिः' —इत्युच्यते। तत्र प्रतिवचनं,—स्विष्टकृद्वदेतत् स्यात्—इति, यथा, इज्यार्थात् पुरोडाशात्, वचनप्रामाण्यात् स्विष्टकृत् इज्यते, यागश्च स भवति,* प्रतिपाद्यते च पुरोडाशः, एवं

* यागार्थेव सम्भवति इति का० सं० पु०।

भा प्रतिपाद्येत एव हि प्रस्तरः, यागश्च निर्वर्त्यते—इति न दोषः। प्रतिपाद्यमानोऽपि हि त्यज्यते, प्रत्यक्षतः प्रतिपाद्यते, वचनादिज्यां साधयति—इत्येवं गम्यते। तस्मात् सूक्तवाकः प्रहरतिमन्त्रः—इति॥ (३।२।५ अ०)॥

---

सूक्तवाकानामर्थानुसारेण विनियोगाधिकरणम्॥ (सूक्तवाकन्यायः)॥

सू काल्योपदेशादुभयत्र सर्व्ववचनम्॥ १५॥ (पू०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः,—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'—इति श्रूयते। तत्र सन्देहः,—किं पौर्णमास्यां कृत्स्नः सूक्तवाकः प्रयोक्तव्यः, कृत्स्नोऽमावास्यायाम्, उत यथासामर्थ्यं निष्कृष्य यथायथं प्रयोगः?—इति। तदुच्यते,—'उभयत्र सर्ववचनम्'—इति। कुतः?। कृत्स्नो हि मन्त्रः सूक्तवाकः—इत्युच्यते, स पदेनापि विना, सूक्तवाको न स्यात्, तत्र सूक्तवाकेन न प्रहृतं भवेत्। तस्मात् उभयत्र कृत्स्नः सूक्तवाको वदितव्यः॥

सू यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात्॥ १६॥ (सि०)॥

भा. ये पौर्णमासीदेवतावाचिनः शब्दाः, ते पौर्णमास्यां प्रयोक्तव्याः, न अमावास्यायां, ये अमावास्यादेवतावाचिनः, ते अमावास्यायां, न पौर्णमास्याम्। शेषभूतमर्थं संस्कुर्वन्तो मन्त्रा उपकुर्वन्ति, नान्यथा इत्युक्तम् (३।२।२ सू०)। तस्मात् ये यत्रोपकुर्वन्ति, ते तत्र प्रयोक्तव्याः—इति न कृत्स्नः पौर्णमास्यां, न कृत्स्नश्चामावास्यायामिति॥

सू वचनादितिचेत्॥ १७॥ (आ०)॥

भा अथ यदुक्तं,—वचनमिदं* भविष्यति,—सूक्तवाकेन प्रहरति—

---

* वचनादिदं भविष्यति इति का० स० पु०।

भा. इति, तत्र पदेनापि अनेन न सूक्तवाकेन प्रहृतं भवेत्, हात्स्नस्य हि सूक्तवाकस्योपदेशः—इति । तदुच्यते,—

सू. प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥ १८ ॥ (आ॰ नि॰) ॥

भा. उभे पौर्णमास्यमावास्ये प्रति एष कृत्स्नशब्दः उभयोः प्रकरणात् उभयोरसौ कृत्स्न उच्यते, अवयवेऽवयवे—इति ।

'नैतदेवं, न हि सापेक्षाणाम् इतिकर्त्तव्यतया सम्बन्धः, न हि, इतिकर्त्तव्यता एतद्विशिष्टा श्रूयते, इतिकर्त्तव्यताविशिष्टास्त्वेते गम्यन्ते । कुतः ?। न हि, इतिकर्त्तव्यतां प्रति कर्माणि विधीयन्ते, फलम् प्रति तेषां विधिः, इतिकर्त्तव्यता तु कर्मणां विधीयते, तत्र सन्निधानाविशेषात्, कस्य किं विधीयते, कस्य न ?—इति न गम्यते विशेषः, साधनत्वेन च सर्वेषां निर्देशात् इतिकर्त्तव्यतायाः सन्निधानाच, वचनाच्चास्य,* प्रकरणलिङ्गस्याविशेषात्, एकैकस्य कृत्स्नं प्रकरणं निराकाङ्क्षस्य, न सहायमपेक्षमाणस्य । तस्मात् एकैकं प्रति कृत्स्नः सूक्तवाक उपदिश्यते, स विभागेऽपि प्रधानानां, कृत्स्न एव प्रयोक्तव्यः—इति यानि यत्र अनर्थकानि पदानि, तान्यपि तत्र प्रयोक्तव्यानि अदृष्टाय भविष्यन्ति, सूक्तवाकेन प्रहरति—इति वचनात्, नास्ति वचनस्यातिभारः, गुणेन वा केनचित् अभिधानं तासां देवतानां निर्वर्त्तयिष्यन्ति —इति !

अत्र उच्यते,—नैतदेवं, उक्तं,—मुख्यमेव कार्य्यं मन्त्राणां, न गौणम्—इति, संस्कारार्थत्वात् वा उत्कर्षो न्याय्यः, न गौणमभिधानम्—इति । कस्तर्हि कृत्स्नसंयोगस्य समाधिः उच्यते ?—इति । एष समाधिः, न ह्येतदेकं वाक्यम्, यः

---

* वचनाचास्य इति का॰ सो॰ पु॰ ।

भा उच्यते सूक्तवाकः, भवन्त्येतानि वाक्यानि, येषां प्रधानदेवताभिधायीनि पदानि मध्ये, साधारणानि तत्रपदानि पुरस्तात् उच्चार्यन्ते, तथा परस्तात्, यथा 'अग्निरिदं हविरजुषतावीवृधत महोज्यायोऽकृताग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेताम्' —इत्येवमादीनि, तेषां पुरस्ताच्च,—यथा 'इदं द्यावापृथिवी' —इति, परस्तादपि यथा,* 'अस्यामृधेत्'—इति, तान्येतानि सर्वाणि सूक्तवचनेन सूक्तवाकशब्दं लभन्ते। न च, तेषां समुदायः कश्चिदर्थं वदति। तस्मात् न समुदायः सूक्तवाकः, न च, वाक्यात्साधनं, सूक्तवाकसामान्यस्य एकत्वात्, सूक्तवाको वर्त्तते इत्येकवचनं भवति। सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति—इति तु येन-केनचित् सूक्तवाकेन प्रह्रियमाणे यथाश्रुतं कृतं भवति, तस्मात् न समुदायः सूक्तवाकः। यत्तु, अमावास्यादेवतावाचीनि पदानि, न पौर्णमास्यां प्रयुज्यन्ते, न तत्र सूक्तवाकशब्दो बाध्यते, प्रकरणं तत्र लिङ्गेन बाधितं भवति, तच्च न्याय्यमेव। तस्मात् पौर्णमास्याममावास्यायां च विभज्य सूक्तवाकः प्रयोक्तव्य — इति॥ (३।२।६ अ०)॥

---

काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डानां काम्यमात्राङ्गताधिकरणम् ।

सू लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥ १९ ॥

भा इह काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम् उदाहरणम् 'इन्द्राग्नी रोचनादिवः, प्रचर्षणिभ्यः, इन्द्राग्नी नवतिं पुरः, श्नथद्वृत्रम्'— इत्येवमाद्या ऋचः। अपरा अपि काम्या इष्टयः,—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् यस्य सजाता वियायुः, ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् भ्रातृव्यवान्, अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपाल

---

* प्रथेथामिति का० सो० पु०।

भा० निर्वपेत् रुक्कामः, अग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालं निर्वपेत् सपत्नमभिद्रोष्यन्—इत्येवमाद्याः। तदेता याज्यानुवाक्याः प्रति सन्देहः,—किं यावत् किञ्चित् ऐन्द्राग्नं कर्म, तत्र सर्वत्रानेन ऐन्द्राग्नेन याज्यानुवाक्यायुगलेन भवितव्यम्, उतैतस्यामेव ऐन्द्राग्न्याम् इष्टौ काम्यायाम्?—इति। एवं वैश्वानरीययोः याज्यानुवाक्ययोः, एवं सर्वत्र।

किं तावत्प्राप्तम्?—यावत्किञ्चित् ऐन्द्राग्नं वैश्वानरीयमग्नीषोमीयं जातवेदसं च सर्वत्रैता याज्यानुवाक्या भवेयुः। कुतः?। लिङ्गात्। 'ननु क्रमसमाख्याने विशेषके भविष्यतः'। सत्यं, तथापि क्रमं समाख्यां च शक्नोति लिङ्गं बाधितुम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—लिङ्गक्रमसमाख्यानात् तास्वेव काम्यासु एता याज्यानुवाक्याः—इति गम्यते, य एव हि लिङ्गक्रमः एषां कर्मणां, स एवासां याज्यानुवाक्यानां, तेन तासामेव ताः शेषभूताः—इति।

'ननु, लिङ्गं बलवत्तरम्—इत्युक्तम्'। सत्यमेतत्, इह तु समाख्या बलीयसी, न ह्येताः समाख्यानादृते एषां काम्यानां कर्मणां प्राप्नुवन्ति, न भिन्नदेशानां कर्मणाम्। कुतः?। समाख्यामन्तरेण आसां ऋचां याज्यानुवाक्यात्वमेव न विज्ञायते, कुतः भिन्नदेशानां कर्मणां याज्यानुवाक्या भविष्यन्ति?—इति, या च एषां समाख्या, सा काम्यानामेव याज्यानुवाक्यात्वमाचष्टे न सर्वेषाम्। यदि समाख्या नाद्रियते, याज्यानुवाक्यात्वमेव एषां न भवति, यदि आद्रियते, तदा काम्यानामेव, एवं हि तत् समाख्यायते,—काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डम्—इति।

'अथ किमर्थम् उभयमुपदिश्यते,—लिङ्गक्रमात्—इति, समाख्यानात्—इति च'। अस्ति तत्र पाथिकृतीयं व्रातपतीयं च कर्म, सामिधेनीकार्यमप्यस्ति, याज्यानुवाक्याकार्यमपि। यदि लिङ्गक्रमात्—इत्येतावदेवोच्येत, सामिधेनीकार्येऽपि लिङ्गेन

भा तावत् विनियोगः स्यात्। 'अथ किमर्थं लिङ्गक्रमौ व्यपदिश्येते'?। सर्वा याज्यानुवाक्याकार्ये एव विनियुज्येरन्, सामिधेनीषु विनियोगो न स्यात्' अथ पुनः समाख्यानात् लिङ्गक्रमाच्च निर्हृत्ते याज्यानुवाक्याकार्ये, सामिधेनीषु विनियोगः सिद्धो भवति, यथा अग्निवारुण्या इष्टेः क्रमेऽन्तीते चौमारौद्रीणामनागते, मनोर्ऋचस्ताः* सामिधेनीषु धाय्या इत्युच्यन्ते, तथा,—'पृथुपाजास्तं सम्बाधे'—इति द्वे धाय्ये कल्प्येते। तस्मात् उभयं व्यपदेष्टव्यम्—इति॥ (३।२।७ अ०)॥

---

यथोभ्योपस्थाने प्रावृत्ता मन्त्राणां विनियोगाधिकरणम्॥

सू अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात्॥ २०॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्नेय्या अग्नीध्रमुपतिष्ठते,* ऐन्द्र्या सदः, वैष्णव्या हविर्धानम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं महतामिरेवंलिङ्गवतीभिरुपस्थातव्यम्, उत द्वाशतयीभ्यः एवंलिङ्गा आगमयितव्या?—इति।

किं तावत्प्राप्तम्?—प्रकरणे च मन्त्रो लिङ्गेन विधीयमानो द्वाशतयीभ्य एवागमयितव्यः, आग्नेयी—इत्येवमादिभिर्हि शक्या द्वाशतय्योऽभिवदितुम्। यश्चायं महातः, स कार्यान्तरे विनियुक्तो, न इहाभ्युपदेशमर्हति, उपदिष्टोपदेशो हि न न्याय्यः एवञ्जातीयकस्य। कथञ्जातीयकस्य?। यः कस्मिंश्चिद्विशेषेणोपदिष्टः, नासौ सामान्येन लिङ्गेन अन्यत्रोपदेशमर्हति। कथं?। यदि तत् लिङ्गं तस्य लक्षणत्वेन, ततः स विशिष्टो लक्ष्येत

---

* उपस्पृशेत इति आ० सो० पु०।

भा येनानेन एवंलिङ्गेन एतत् करोति—इति, ततो नोपदिष्टो भवति; अथ उपदिश्यते,—एवंलिङ्गेन करोति—इति, ततो न लक्ष्यते, तेन उपदिष्टस्य एवञ्जातीयकस्य एवञ्जातीयकः पुनरुपदेशो न न्याय्यः, तस्मात् दाशतया लिङ्गवन्तो मन्त्रा ग्रहीतव्याः।

"ननु प्रकरणसामर्थ्यतः प्रकृता ग्रहीतुम् न्याय्याः'। न—इत्युच्यते, लिङ्गं हि प्रकरणाद्बलीयः। 'आह, विरोधे सति लिङ्गेन प्रकरणं बाध्येत, न च एतयोर्विरोधः, न वयं प्रकरणमनुजिघृक्षन्तः प्रकृतं लिङ्गवन्तम् उपाददाना लिङ्गम् उपबाधेमहि। यदि तु प्रकृतं विलिङ्गम् उपददेमहि, ततो बाधेमहि लिङ्गम्; उभयं सम्पादयिष्यामः प्रकरणं लिङ्गञ्च'। नैतदेवं,—लिङ्गेन प्रत्ययो भवति, दाशतयेनापि कर्त्तव्यम्—इति, दाशतय्योऽपि हि आग्नेयीशब्देन शक्यन्ते वदितुम्, स प्रत्ययो लिङ्गजनितो यत् मिथ्येति कल्प्यते, तत् प्रकरणानुरोधात्; स चेत् प्रकरणम् अनुरुध्यते, मिथ्या—इति कल्प्यते, अथ नानुरुध्यते सम्यक्—इति, तस्मात् विरोधः; विरोधे च प्रकरणदौर्बल्यम्।

'उच्यते, तत् लिङ्गवताऽनेन उपस्थानेन अनुग्रहीतव्या, न दाशतयी मन्त्रव्यक्तिः, सा च प्रकृते मन्त्रे उपादीयमाने निरवशेषा उपात्ता भवति, दाशतय्यां पुनर्मन्त्रव्यक्तौ उपादीयमानायां प्रकरणात् या मन्त्रव्यक्तिः प्राप्नोति, सा बाधिता भवति, भवति विरोधे। न च, इह लिङ्गप्रकरणयोर्विरोधः, प्रकरणात् व्यक्तिः प्रतीयते, लिङ्गात् सामान्यं, अन्या च व्यक्तिः, अन्यत् सामान्यम्। तस्मात् प्रकृतो लिङ्गवान् उपादेयः—इति। उच्यते, सत्यमेवमेतत् प्रकृते उपादीयमाने प्रकरणं न बाधितं भवति, लिङ्गमप्यनुगृहीतम्, लिङ्गजनितस्तु प्रत्ययः कश्चित् मिथ्या—इति कल्पितो भवति। 'ननु व्यक्तिरपदार्थः, कथं व्यक्तावनुपादीयमानायां प्रत्ययो बाध्येत?'। उच्यते, एतदेव न

भा विजानीमः लिङ्गवता अत्राङ्गं न वेति, किन्तु तद्धितनिर्देशोऽर्थं, तत्र देवताया मन्त्रो लक्ष्यते, मन्त्रप्रतिर्हि साधनं, न सामान्यं नाम किञ्चिद्‌परं, देवतैव अत्र सामान्यम्, यथासाधनं लक्षयितव्यम्। न च गम्यते विशेषः,—अयमसौ मन्त्रो नायमसौ—इति, अनवगम्यमाने विशेषे सर्वे तल्लिङ्गा ग्रहीतव्याः इति दाशतय्यामपि मन्त्रव्यक्तौ भवति प्रत्ययः, स प्रकरणानुरोधेन बाध्येत। इत्यन्याय्यम्। एवं सति न दाशतय्य एव उपादातव्याः भवन्ति, प्रकृतमप्युपाददीरन्। 'नन्वेतदुक्तं, कार्यान्तरे प्रकृतस्य उपदेशो नावार्थान्तरे उपदेक्ष्यते'—इति। उच्यते, न नियोगतः स एव अर्थान्तरे वर्तते, स चान्यश्च सामान्येन लिङ्गेन, नैवं सति किञ्चित् दुष्यति। 'नन्वेतत् दुष्यति,—न उभयमनुगृहीतं भवति लिङ्गं प्रकरणं च'। सत्यं, न अनुगृहीतं भवति, किन्तु अननुग्राह्यमेव प्रकरणं लिङ्गप्रत्ययविरुद्धत्वात्। अपि च न लिङ्गं प्रकरणं वा अनुग्रहीतव्यम्—इति, तत्परिच्छिन्ने प्रवृत्तिर्भवति, यदवगम्यते,—'एतत् पालयत्'—इति, तत्र प्रवर्तते। 'किमतो यद्येवं ?'। एतदतो भवति, न लिङ्गम् अनुगृहीतं क्वचित्,—इत्यपरिच्छिन्नतत्परिच्छिन्ने न प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति। तस्मात् दाशतय्यो ग्रहीतव्याः—इति गम्यते ॥

## सू तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥ २१ ॥ (सि०) ॥

भा तदाख्यो (ज्योतिष्टोमसमाख्यातः) एव ग्रहीतव्यः। कुतः ?। प्रकरणोपपत्तिभ्याम्, प्रकृतो हि असौ, प्रकृतप्रत्ययश्च न्याय्यः। कथं ?। न ज्योतिष्टोमं प्रति मन्त्रस्य व्यापारविधानम् उपपद्यते, प्राप्तत्वादेव, व्यापारविशेषविधानं तु उपपद्यते, अप्राप्तत्वात् व्यापारविशेषस्य, अनपेक्ष्य च प्रकरणं दाशतये विधीयमाने वाक्यभिद्येत।—उपस्थानं च कुर्यात्, तथैवंलिङ्गेन—इति ॥

सू अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता, नह्युपस्थानं फलवत् ॥ २२ ॥ (यु० १)॥

भा 'ननु च प्रकरणात् ज्योतिष्टोमस्य उपकारकं स्यात्'। यदि उपस्थानज्योतिष्टोमसम्बन्धो विवक्ष्येत, तदा उपस्थानं ज्योतिष्टोमे उपदिश्येत, प्रकरणात् तेनैकवाक्यताम् इयात्। यदा तु खलूपस्थानस्य मन्त्रसम्बन्धो विवक्ष्यते सर्वोपस्थानेषु, तदा मन्त्रः प्राप्नोति, प्रकरणं बाधित्वा, न प्रकरणं विशेषकं भवितुमर्हति, उभयसम्बन्धे वाक्यभेदः। अस्मत्पक्षे न पुनरयं दोषः, येन आग्नेयेन ऐन्द्रेण वा ज्योतिष्टोमे व्यापारः क्रियते, तेन उपस्थानव्यापारविशेषः तदा ज्योतिष्टोमिको* विधीयते अन्यत् सर्वमनूद्यते—इति न दोषो भवति। अथवा अग्नीध्र-हविर्धानसदःसम्बन्धमात्रं विधीयते, उपतिष्ठते—इत्ययमनुवादः, अनेन मन्त्रेण अग्नीध्रमुपतिष्ठते—इति समासीदति—इत्यर्थः। तस्मात् प्रकृता मन्त्रा एवञ्जातीयका उपादातव्याः—इति ॥

सू सर्व्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥ २३ ॥ (यु० २)॥

भा. यदप्युक्तमुपदिष्टा हि ते प्रकृता कार्यान्तरे—इति। तदुच्यते, —उक्तोत्तरमेतत्। अपि च न केनचित् नोपदिष्टाः, सर्वे वाचस्तोमे आश्विने शस्यमाने सूर्य्येऽनुद्यति, तेन न प्रकृते कश्चिद्विशेषः। तस्मात् प्रकृतस्य एव ग्रहणम् ॥ (३ । २ । ८ अ०) ॥

---

* ज्यौतिष्टौमिक इति का० स पु० ॥

भक्षमन्त्राणां यथालिङ्गं ग्रहणादौ विनियोगाधिकरणम् ।

सू लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥ २४ ॥

(पू०) ॥

भा भक्षमन्त्रः श्रूयते,—'भक्षेहि मा विश दीर्घायुत्वाय शन्तनुत्वाय रायस्पोषाय वर्चसे सुप्रजास्त्वाय। एहि वसो पुरोवसो प्रियो मे हृदोऽस्यश्विनोस्त्वा बाहुभ्यां सध्यासं। नृचक्षसन्त्वा देव सोम सुचक्षा अवख्येषम्। हिन्व मे गात्रा हरिवो गणान्मे मा वितीतृषः, शिवो मे सप्तर्षीन् उपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जुषाणा सोमस्य तृप्यतु वसुमद्गणस्य रुद्रमद्गणस्य आदित्यमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातःसवनस्य माध्यन्दिनस्य सवनस्य तृतीयसवनस्य गायत्रच्छन्दसस्त्रिष्टुप्छन्दसो जगच्छन्दसोऽग्निहुतइन्द्रपीतस्य नराशंसपीतस्य पितृपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि'—इत्येवमादिः। तत्र सन्देहः,—किं कृत्स्न एषोऽनुवाको भक्षणे विनियोजनीयः, उत कश्चिदस्य अवयवोऽन्यत्रापि?—इति।

किं प्राप्तम्?—लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थता अनुवाकस्य, सर्वोऽनुवाको भक्षणे विनियोजनीयः। कुतः? भक्षयामि—इत्येष शब्दो यतः भक्षणे विनियोजनीयः, भक्षणमेव शक्नोति वदितुम्, नान्यत् किञ्चित्। अन्यानि चास्य पदानि भक्षण विशेषणवचनान्येव, यत्र यत्र भक्षयामि—इति, तत्र तत्र प्रयुज्यन्ते।

'ननु एहि वसो—इत्येवमादि सध्यासम्—इत्येवमन्तं ग्रहणार्थं, स्वेन पदसमूहेन परस्पराकाङ्क्षिणा एकार्थं, विभिन्नं भक्षानुवाक्यात्। नृचक्षसम्—इत्येवमादि अवख्येषम्—इत्येवमन्तमवेक्षणवचनं। हिन्व मे गात्रा हरिव—इत्येवमादि च

भा. मा मेऽव्याड्नाभिमतिगाः—इत्येवमन्तं सम्यग्जरणार्थम्। तत् बहुत्वादर्थानां, बहूनि वाक्यानि, कथमेतत् शक्यं वदितुम् सर्वमिदमेकं वाक्यं भक्षणे विनियुज्यते'—इति।

उच्यते,—सर्वाण्येतानि भक्षणविशेषणानि—इत्युक्तम्। 'आह एवमपि भिद्येत वाक्यं विशेषणविशेष्याणां युगपद्वचनासम्भवात्'। उच्यते, न विशेषणानि विवक्ष्यामो, विशेषणैर्ग्रहणावेक्षणादिभिर्विशिष्ट एकोऽर्थो विवक्ष्यते। 'नैवं सम्यक् भवति, विशेषणवचनानामविवक्षितस्वार्थवचनता, भक्षणविशेषणपरता च—इति, लक्षणया तु गम्यते; श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा, तस्मात् न एकं वाक्यम्—इति'।

अत्रोच्यते, यद्यप्यमी ग्रहणादयो बहवोऽर्था गम्यन्ते, न तु सर्वे ईप्सिताः—इति, भक्षणमेव एकं प्रत्याययितव्यम्, तद्धि श्रुतं, विशेषणान्यश्रुतानि, न तैः प्रतीतैः प्रयोजनं, प्रयोजनं च यावतः पदसमूहस्य एकं, तावदेकं वाक्यम्। तस्मात् विशिष्टभक्षणार्थमेतत् एकं वाक्यम्, इति भक्षणे विनियोक्तव्यम्। समाख्यानं च भवति,—भक्षानुवाक'—इति, कृत्स्नश्च अनुवाको नावयवः।

'ननु च समाख्या लौकिकः शब्दः कथं वैदिकमङ्गं नियंस्यति' —इति। यद्यपि लौकिकः, तथाप्यनादिः तस्यानुवाकेन सम्बन्धः। किमतो यद्येवम्? । एतदतो भवति, भक्षणसमभिव्याहृतमनुवाकं ब्रूते, समभिव्याहारश्च सति सम्बन्धे भवति, यथा पाचको लावकः—इति समभिव्याहारात् सम्बन्धमनुमास्यामहे। 'आह नानुमानगम्य एवञ्जातीयकोऽङ्गभावो, विधानादेवावगम्यते, नान्यथा, न च समाख्या विधात्री'। अत्र उच्यते, समाख्या सम्बन्धिनौ बुद्धौ सन्निधिमुपनेष्यति, प्रयोगवचनो विधास्यति—इति। तस्मात् ुनाको विनियोक्तव्यः—इति ॥

सू० तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्॥ २५॥ (सि०)॥

भा नैतदेवं,—छन्दोऽनुवाको भक्षणे विनियुज्यते—इति, रूपात् पृथग्वाक्यं ग्रहणे विनियुज्येत एहि—इत्येवमादि सधासम्—इत्येवमन्तम्। नृचक्षसम्—इत्येवमादि च अवख्येषम्—इत्येवमन्तं दर्शने। कुतः?। मुख्यार्थमेवं तत् वाक्यं भवति, इतरथा लक्षणार्थता स्यात्, मुख्यार्थता च न्याय्या न लक्षणार्थता।

'उच्यते, विशेषणानामभिधाने, न किञ्चित् अस्ति प्रयोजनम्—इत्युक्तम्। अत्रोच्यते,—नैव एतानि विशेषणानि, पृथगेव एतानि ग्रहणादीनि सर्वैर्वाक्यैरुच्यन्ते—इति। कुतः?। अस्ति हि तैः प्रतीतैः प्रयोजनं, चोदितानि हि तानि, कानिचित्तु पृथग्वाक्यैः, कानिचिदर्थप्राप्तानि, तान्यवश्यं प्रकाशयितव्यानि, तानि प्रकाशयिष्यन्ति एतानि वाक्यानि; रूपं च एषां तत्प्रकाशनसामर्थ्यम्, अतो नानार्थत्वात् न एकं वाक्यम् उच्यते। 'ननु भक्षणवाक्यशेषीभवितुमप्येषां रूपम्—इति'। उच्यते, बाढमस्ति रूपं, न तु तद्विशेषणान्येतानि कल्प्यन्ते। कस्य हेतोरदृष्टार्थानि तथा भवन्ति? उक्तैरनुक्तैर्वा विशेषणैस्तावानेव सोऽर्थः, इतरथा ग्रहणादीनि प्रकाशयिष्यन्ति, तथा दृष्टार्थानि भविष्यन्ति। तस्मात् रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षो भवेत् केषाञ्चित् अत्र—इति॥ (३।२।९ अ०)॥

---

अथ मन्द्राभिभूतिरित्यादेः भक्षयामीत्यन्तस्य एकमन्त्रताधिकरणम्॥

सू० गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात्॥ २६॥

भा भक्षानुवाके श्रूयते,—'मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वागजु-

भा. षाणा सोमस्य तृप्यतु। वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातः-सवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निहुत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहूत-स्योपहूतो भक्षयामि'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् मन्द्रादिः तृप्यतु—इत्येवमन्त एको मन्त्रः, वसुमद्गणादिरपरः, उत मन्द्रा-दिर्भक्षयाम्यन्त एक एव मन्त्रः?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—द्वौ मन्त्रौ, द्वौ ह्येतावर्थौ, अन्या तृप्तिरन्यत् भक्षणं, ततोऽर्थभेदात् वाक्यभेदः। तदुक्तं,—'तस्य रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्'—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणाभिधानात् मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—इति, तृप्तिर्भक्षणविशेषणत्वेन अभिधीयते—इति, भक्षयामि वाक् तर्प्स्यति—इति।

'ननु तृप्यतु—इत्येषोऽन्यः शब्दः, अन्यश्च तर्प्स्यति—इति, एषा भविष्यन्ती क्रियायाम् उपपदभूतायां भवति—इति, तत्र द्वयोः क्रिययोरस्ति सम्बन्धो भक्षयामि वाक् तर्प्स्यति—इति, इह पुनर्भक्षयामि तृप्यतु—इति नास्ति कश्चित् सम्बन्धः'। उच्यते, न ह्ययं विधौ तृप्यतु—इति विज्ञायते। क्व तर्हि?। प्रार्थनायां वा प्राप्तकाले वा,—यदि भक्षयामि वाक् तर्प्स्यति—इति एवमभिसम्बन्धः क्रियते, यदि वा भक्षयामि वाचस्तर्पितुं प्राप्तः कालः—इति, तेन विशेषणविशेष्यभावात् एकार्थतायाम् एकवाक्यत्वे मन्त्रैक्यमुपपद्यते। 'ननु निराकाङ्क्षे एते वाक्ये भङ्क्त्वा रूपं साकाङ्क्षे क्रियेते'। अत्र उच्यते,—यद्यप्येते वाक्ये भिन्नार्थे निराकाङ्क्षे द्वावर्थावभिवदेयाताम्, तथापि भक्षणस्य प्रकाशनं दृष्टं प्रयोजनं न तर्पणस्य, इति छत्वा ऐकार्थ्यमेव भवेत्, किमङ्ग पुनर्गुणभावे गम्यमाने एवाथ। तस्मात् गुणाभि-धानात् मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—इति॥ (३।२।१० अ०)॥

---

सू. तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्॥ २५॥ (सि०)॥

भा नैतदेवं,—कृत्स्नोऽनुवाको भक्षणे विनियुज्यते—इति, रूपात् भक्षणवाक्यं भक्षणे विनियुज्येत एहि—इत्येवमादि सर्थासम्—इत्येवमन्तम्। उपहूतम्—इत्येवमादि च अवभृथम्—इत्येवमन्तं दर्शने। कुतः?। मुख्यार्थमेवं तत् वाक्यं भवति, इतरथा लक्षणार्थता स्यात्, मुख्यार्थता च न्याय्या न लक्षणार्थता।

'उच्यते, विशेषणानामभिधाने, न किञ्चित् अस्ति प्रयोजनम्—इत्युक्तम्'। अत्रोच्यते,—नैव एतानि विशेषणानि, पृथगेव एतानि भक्षणादीनि स्वैस्वैर्वाक्यैरुच्यन्ते—इति। कुतः?। अस्ति हि तैः प्रतीतं प्रयोजनं, चोदितानि हि तानि, कानिचित्तु पृथग्वाक्यैः, कानिचिदर्थप्राप्तानि, तान्यवश्यं प्रकाशयितव्यानि, तानि प्रकाशयिष्यन्ति एतानि वाक्यानि; रूपं च एषां तत्प्रकाशनसामर्थ्यम्, अतो नानार्थत्वात् न एकं वाक्यम् उच्यते। 'ननु भक्षणवाक्यशेषीभवितुमप्येषां रूपम्—इति'। उच्यते, बाढमस्ति रूपं, न तु तद्विशेषणान्येतानि कल्प्यन्ते। कस्य हेतोरदृष्टार्थानि तथा भवन्ति? उक्तैरनुक्तैर्वा विशेषणैस्तावानेव सोऽर्थः, इतरथा भक्षणादीनि प्रकाशयिष्यन्ति, तथा दृष्टार्थानि भविष्यन्ति। तस्मात् रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षो भवेत् केषाञ्चित् मन्त्र—इति॥ (३।२।९ अ०)॥

---

अथ मन्द्राभिभूतिरित्यादेः भक्षयामीत्यन्तस्य एकमन्त्रताधिकरणम्।

सू. गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात् तयोरेकार्थसंयोगात्॥ २६॥

भा भक्षानुवाके श्रूयते,—'मन्द्राभिभूतिः केतुर्यज्ञानां वाग्जु

भा. यायाः सोमस्य तृप्यतु। वसुमद्गणस्य सोमदेवते मतिविदः प्रातः-सवनस्य गायत्रच्छन्दसोऽग्निहुत इन्द्रपीतस्य मधुमत उपहूतस्योपहूतो भक्षयामि'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् मन्त्रादिः तृप्यतु—इत्येवमन्त एको मन्त्रः, वसुमद्गणादिरपरः, उत मन्त्रादिर्भक्षयाम्यन्त एक एव मन्त्रः?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—द्वौ मन्त्रौ, द्वौ ह्येतावर्थौ, अन्या तृप्तिरन्यत् भक्षणं, ततोऽर्थभेदात् वाक्यभेदः। तदुक्तं,—'तस्य रूपोपदेशाभ्याम् अपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्'—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणाभिधानात् मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—इति, तृप्तिर्भक्षणविशेषणत्वेन अभिधीयते—इति, भक्षयामि वाक् तर्प्स्यति—इति।

'ननु तृप्यतु—इत्येषोऽन्यः शब्दः, अन्यस्तु तर्प्स्यति—इति, यथा भविष्यन्ती क्रियायाम् उपपदभूतायां भवति—इति, तत्र द्वयोः क्रिययोरस्ति सम्बन्धो भक्षयामि वाक् तर्प्स्यति—इति, इह पुनर्भक्षयामि तृप्यतु—इति नास्ति कश्चित् सम्बन्धः'। उच्यते, न ह्ययं विधौ तृप्यतु—इति विज्ञायते। क्व तर्हि?। प्रार्थनायां वा प्राप्तकाले वा,—यदि भक्षयामि वाक् तर्प्स्यति—इति एवमभिसम्बन्धः क्रियते, यदि वा भक्षयामि वाचस्तर्प्तुं प्राप्तः कालः—इति, तेन विशेषणविशेष्यभावात् एकार्थतायाम् एकवाक्यत्वे मन्त्रैक्यमुपपद्यते। 'ननु निराकाङ्क्षे एते वाक्ये भङ्क्त्वा रूपं साकाङ्क्षे क्रियेते'। अत्र उच्यते,—यद्यप्येते वाक्ये भिन्नार्थे निराकाङ्क्षे द्वावर्थावभिवदेयाताम्, तथापि भक्षणस्य प्रकाशनं दृष्टं प्रयोजनं न तर्पणस्य, इति कृत्वा ऐकार्थ्यमेव भवेत्, किमङ्ग पुनर्गुणभावे गम्यमाने एवात्र। तस्मात् गुणाभिधानात् मन्त्रादिरेकमन्त्रः स्यात्—इति॥ (३।२।१० अ०)॥

---

इन्द्रपीतस्येत्यादिमन्त्राणां सर्वेषु भक्षणेषु ऊहेन विनियोगाधिकरणम् ॥

सू लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वनैन्द्राणाम मन्त्रत्वम् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा एष एव भक्ष उदाहरणम्,—इह च महाग्रहानि ऐन्द्राणि अनैन्द्राणि च विद्यन्ते, तेषां भक्षणान्यपि सन्ति। तत्र सन्देहः,—किम् ऐन्द्रेषु अनैन्द्रेषु च मन्त्रः, उत ऐन्द्रेष्वेव मन्त्रः, अनैन्द्राणाम् अमन्त्रकं भक्षणम्?—इति। किं तावत्प्राप्तम्? अनैन्द्राणाम् अमन्त्रकं भक्षणम्—इति। कुतः?। समानविधानान्येतानि महाग्रहानि, तेषु 'इन्द्रपीतस्य'—इति मन्त्रोऽनिन्द्रपीतं न शक्नोति वदितुम्, न च समानप्रकरणे ऊहः सम्भवति, असति वचने अन्यार्थाभिधानात्। तस्मात् अमन्त्रकं भक्षणम् एवञ्जातीयकेषु—इति॥

सू यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥ २८ ॥ (सि०)॥

भा अथ वा यथादेवतम् ऊहेन भक्षयितव्यम्। कस्मात्?। ध्रुवचमसा हि प्रकृतिभूताः। के पुनर्ध्रुवचमसाः?। ये शुक्रामन्थिप्रचारे सवनमुखीयाः, ऐन्द्राः ते भवन्ति, तेषां प्रकृतिभूतं ग्रहानं, विकृतिभूतान्यन्यानि। कथम् अवगम्यते?। तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति। कथं?। अनुष्टुप्छन्दसः—इति षोडशिनि अतिरात्रे भक्षमन्त्रं नमति—इति। किमत्र दर्शनं?। नमति—इति विपरिणामं दर्शयति।

'ननु वचनमेतत् स्यात्'। न—इत्युच्यते, नैतत् नमति—इति श्रूयते, कथं तर्ह्येवं नमति—इति, अनुष्टुप्छन्दसः—इति भक्षमन्त्रं नमति—इति, स एष ऊहो विकारेषु उपपद्यते,

भा. तस्मात् एते विकाराः अतोऽनैन्द्रेष्वपि चोदकप्राप्तो मन्त्र ऊहितव्यो भवति। 'उच्यते,—विकारा एते—इति लिङ्गमपदिष्टम्, न्यायोऽभिधीयताम्—इति'। उच्यते,—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च, तेन ऐन्द्रेषु सोमोऽनैन्द्रेषु सोम एव नास्ति—इति सर्वे सोमधर्मा ऐन्द्रेष्वेव, अधर्मका इतरे साकाङ्क्षाः। कथं पुनर्ज्ञायते,—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च—इति? । मन्त्रवर्णात्, इन्द्राय त्वा वसुमतः—इत्येवमादिर्मन्त्र ऐन्द्रं सोमं वदितुम् शक्नोति—इति नान्यम्। तस्मात् ऐन्द्रः सोमः, तेन ऐन्द्रेषु सोमधर्माः, अन्यानि तु मदानानि साकाङ्क्षाणि, अतो धर्मान् ग्रहीष्यन्ति—इति न्यायः। तस्मात् यथादेवतमूहितव्यो मन्त्रः —इति। एवं स्थितं तावदपर्यवसितं, तत एवं सति चिन्तान्तरं वर्त्तिष्यते॥ (३।२।११ अ०)॥

---

अभ्युन्नीतसोमभक्षणे इज्यस्याप्युपवयणाधिकरणम् ॥

## सू पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात्॥ २९॥ (पू० १)॥

भा सन्ति पुनरभ्युन्नीताः सोमाः, शुक्रामन्थिप्रचारे एव सवनमुखीयाः, तेषां होतुर्वषट्कारेऽनुवषट्कारे च चतुर्भिर्मध्यतःकारिणां चमसैर्हुत्वा होत्रकाणां चमसैः सकृत् सकृत् वषट्कारे एव हुत्वा पुनः सर्वेष्वेव पात्रेषु सोमोऽभ्युन्नीतः, एवं हि तत्र अध्वर्युः सम्प्रेष्यति, 'मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो वषट्कृतेऽनुवषट्कृते जुहुत होत्रकाना चमसाध्वर्यवः सकृत्* हुत्वा शुक्रस्याभ्युन्नीयोपावर्त्तध्वम्'—इति। तत्र होत्रका नानादेवता यजन्ति, मैत्रावरुणो मित्रावरुणौ 'मित्रं वयं हवामहे'—इति,

---

* 'सकृत्सकृत्' इति का० म० पु०।

भा ब्राह्मणाच्छंसी इन्द्रं 'इन्द्र त्वा वृषभं वयम्'—इति, पोता मरुतः 'मरुतो यस्य हि क्षये'—इति, नेष्टा त्वष्टारं पत्नीश्च, 'अग्ने पत्नी: इहावह'—इति, आग्नीध्रोऽग्निम् 'उक्षा नायवशां नाय'—इति। तत्र तैश्चमसैः पूर्वस्मिन् वषट्कारे इन्द्र इष्टः पुनरभ्युन्नीय मित्रावरुणाद्या देवता इष्टाः, शेषः तत्र इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां च। तत्र सन्देहः,—किं प्रस्थितदेवतायाश्च इन्द्रस्य मित्रावरुणादीनां चोपलक्षणम्, उत इन्द्रो नोपलक्षयितव्यः?—इति।

किं तावत्प्राप्तम्?—पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषाम् उपलक्षणम्। कस्मात्?। द्विशेषत्वात्, चमसे चमसे तत्र द्वयोः शेषः, प्रदातो यस्यै हुतं, तच्छेषः तत्प्रीतः—इत्युक्तं, इहापि तदेव दर्शितम्। तस्मात् चमसे चमसे द्वयोरुपलक्षणम्॥

सू अपनयाद्वा पूर्व्वस्य अनुपलक्षणम्॥ ३०॥ (पू० २)॥

भा अपनीतं प्रस्थितदेवतायाः शेषं मन्यामहे। कुतः?। मित्रावरुणादिभ्यः तत्पात्रस्थम् अभ्याश्राव्यते। कथमेतत्?। उच्यते,—मित्रावरुणादयो हि इज्यन्ते, तत् यथा आचार्यशेषं देवदत्तो भुञ्जानो यदि शेषं पूर्णकाय प्रयच्छन्ति, पूर्णको देवदत्तमुपलक्षयति, देवदत्तशेषं भुञ्जे—इति नाचार्यशेषम्। तस्मात् न प्रस्थितदेवता इन्द्र उपलक्षयितव्यः—इति॥

सू ग्रहणाद्वापनयः स्यात्॥ ३१॥ (सि०)॥

भा नचैतदस्ति, इन्द्रो नोपलक्षणीयः—इति, तस्यापि ह्यसौ शेषः प्रत्यक्षमवगम्यते। 'ननु अपनीतः—इति'। उच्यते,—नासावपनीयते। यद्धुतान् चमसानभिह्रोणकलशात् गृह्णाति, सशेषश्चमसो लक्षणमन्यस्योन्नीयमानस्य, ततश्चमसस्थो होतुम् उभेतश्च प्रेषितो वा। यत्तु 'यक्ष्यमाणा देवता' प्रति आश्रा

भा. वितः'—इति। उच्यते,—आश्राव्यते तत्र देवताभ्यो नत्विदं वा तर्दैति, तेन यद्धोतुम् गृहीतं तत् आश्रावितम्—इति गम्यते। न च, आश्रावणवेलायां देवताभिसम्बन्धः, यत् यत् देवताभिसम्बद्धं, तत् आश्राव्यते, तस्मात् अस्ति इन्द्रशेषः, लक्ष्यते च। अतः सर्वेषामुपलक्षणम्—इति। क्त्वाचिन्तैषा, न अत्र प्रयोजनं वक्तव्यं, पूर्वाधिकरणस्य एव एतत्प्रयोजनमवधार्यते॥ (३।२।१२ अ०)॥

---

पात्नीवतभक्षणे इन्द्रादीनामनुपलक्षणाधिकरणम्॥

सू. पात्नीवते तु पूर्ववत्॥ ३२॥ (पू०)॥

भा. अस्ति पात्नीवतो ग्रहः, यदुपांशुपात्रेणाग्रयणात् पात्नीवतं गृह्णाति—इति, द्विदेवत्यानां शेषा आग्रयणस्थाल्यामुपनीताः, ततः पात्नीवतो गृह्यते। अथ हुते पात्नीवते, तच्छेषे भक्ष्यमाणे भवति सन्देहः,—किम् इन्द्रवाय्वादय उपलक्षयितव्या नवा?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्याः। तेषामपि ह्यसौ शेषो यथा प्रस्थितदेवतायाः—इति॥

सू. ग्रहणाद्वापनीतं स्यात्॥ ३३॥ (सि०)॥

भा. अपनीयते हि स शेष इह, न यथापूर्ववत्, तत्र हि पात्रलक्षणत्वेन सङ्कीर्त्यते न सोमो ग्राह्यत्वेन, इह त्वाग्रयणात् गृह्णाति—इति, स्थालीस्थः सोमो निर्दिश्यते होतुम्, यक्ष्यमाणदेवतां प्रति। 'ननु स्थाल्यामाग्रयणो नाग्रयणश्च, तत्र यस्तस्मात् आग्रयणात् गृह्यते, स पात्नीवतः, यस्तु सम्पातात्रासौ पात्नीवतः'—इति। उच्यते,—आग्रयणोऽपादानं, तस्मात् योऽपैति आग्रयणो नाग्रयणो वा, स सर्व. पात्नीवतः, आग्रयणाद्ध एष सर्वोऽपैतः।

भा. 'ननु अनाग्रयणादप्यपेतः'। नैष दोषः, आग्रयणात्तावदपेतः तेनासौ पूर्वदेवताभिः पीतः—इति न शक्यते वक्तुम्; यो हि इन्द्रार्थस्य सोमस्यावयवः शेषः स इन्द्रपीतः—इति मन्त्रौ उच्यते, इहापि तद्वदेव पूर्वदेवतार्थस्यावयवो वदितव्यः। 'ननु योऽसौ पूर्वदेवतार्थः, तस्यैवायमवयवः'। न—इति ब्रूमः,—न हि ऊतस्यावयवो दृश्यते। 'ननु मन्त्रावपि ऊतस्यावयवो न दृश्यते'। उच्यते,—ऊताऊतस्य समुदायस्य तत्र अवयव उपलक्ष्यते तद्देवतस्य। 'ननु इहापि समुदाय एवासीत् तद्देवत्यः, तस्यैवायमवयवः'। न—इत्युच्यते, आसीदयं समुदायः तद्देवत्यः, इदानीं तस्य अवयवोऽन्यदेवत्यो जातः, तेन समुदायः तद्देवत्यत्वादपेतः।

'अथ पूर्वदेवतापीतस्यासावयव आसीत्तेन भूतपूर्वगत्या भविष्यति'। उच्यते,—मन्त्रौ न भूतपूर्वगत्याभिधानं कृतम्, इहापि तद्वदेव न कर्त्तव्यमिति। अपि च इन्द्रदेवत्यस्तत्र 'इन्द्रपीतः'—इत्युक्तं, अनपनीता च तस्य इन्द्रदेवत्यता, अस्य पुनः पूर्वदेवतासम्बन्धोऽपगतः। तस्मात् न अत्र पूर्वदेवता उपलक्षणीयाः—इति॥ (३।२।३३ अ०)॥

---

पात्नीवतशेषभक्षे त्वष्टुरनुपलक्षणीयताधिकरणम्॥

सू त्वष्टारन्तूपलक्षयेत्पानात्॥ ३४॥ (पू०)॥

भा अस्ति पात्नीवतः सोमः, तत्र मन्त्रः, 'अग्नाइ पत्नीवन्* सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब'—इति। तत्र सन्देहः,—किं त्वष्टा उपलक्षयितव्यो न वा?—इति। किं प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्यः। कुतः?। पानात्, पानं श्रूयते,—'सजूर्देवेन त्वष्टा

---

* पत्नीवन् इति पाठः का० को० पु०। पत्नीवाः इति का० सं० पु०।

भा. सोमं पिब'—इति। तेनायम् अग्नये पत्नीवते सह त्वष्ट्रा दीयते—इति गम्यते। यस्मै च येन सह दीयते, उभाभ्यां तद्दीयते, एवं तत्सहदानं भवति, यथा देवदत्ताय यज्ञदत्तेन सह शतं दीयताम्—इत्युक्ते, तत्रोभाभ्यामपि दीयते, तस्मात् त्वाष्ट्रोऽप्यसौ सोमः—इति त्वष्टा उपलक्षयितव्यः। असावपि इन्द्र इव पिबति—इति॥

सू. अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ३५॥ (सि०)॥

भा. नैतदेवं, शब्दप्रमाणका वयं, यत् शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणं, शब्दश्चाग्नेः पत्नीवतः पानमाह त्वष्टुः सहभावमात्रं, न हि अननुष्ठीयमाने सहभावः सिध्यति—इति त्वष्टरि पानमनुमीयते। 'ननु त्वष्ट्रे पानं* चोदितम्'। सत्यं, चोदितं मन्त्रवर्णेन, न चोदनया। चोदना हि 'पात्नीवतं गृह्णाति'—इति, लोके तु कार्यं कृत्वा चोदितम्† अनुष्ठीयत एव, लोकतश्च एतत् परिच्छिन्नं, नैवज्ञातीयकेन वाक्येन, त्वष्टुः सोमः हुतो भवति—इति॥ (३।२।१४ अ०)॥

---

पात्नीवतशेषभक्षे त्रिंशतामनुपञ्चणाधिकरणम्।

सू. विग्रह परार्थत्वात्॥ ३६॥

भा. 'तस्मिन् एव पात्नीवते मन्त्रः,—'एभिः अग्ने सरथं याह्यर्वाक् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः। पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमावह‡ मादयस्व'—इति। तत्र सन्देहः,—किं त्रयस्त्रिंशतो

---

* दानमिति पाठः का० स० पु०।

† चोदितमचोदितमपि इति पाठः का० सं० पु०।

‡ माधवीये अनुष्वधमिति पाठः। तत्र अनुस्वधमनुपदानमित्यर्थः।

भा देवानामुपलक्षणं कर्त्तव्यम्, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—
त्रयस्त्रिंशतं देवानुपलक्षयेत्। कथं?। दीयते हि सोमः त्रय
स्त्रिंशते देवेभ्यः; एवं हि, 'अग्निमग्नीद्धीरूहति, आयाहि
अग्नेर्वाचीनं, त्रयस्त्रिंशता देवैः सह समानं रथमधिष्ठाय
नानारथैर्वा विभक्ति हि ते अश्वाः। तदिदमनुष्वधमावह
त्रयस्त्रिंशतं पत्नीवतः देवान् आगमय तर्पय च'—इति। अत्र
हि अग्निमग्नीद्धीरूहति त्रयस्त्रिंशतो देवानां तृप्तये—इति
गम्यते, यत्प्रधानस्य अत्र भक्षः, तत्परः सोमः, तस्मात् उच्यते,
—त्रयस्त्रिंशत् देवा उपलक्षयितव्याः—इति।

'ननु चोदनायां पत्नीवान् केवलोऽग्निर्देवतात्वेन श्रूयते'।
सत्यं, चोदनायां पत्नीवान् देवतात्वेन श्रूयते, न तु देवतान्तरं
निषिध्यते। किमतो यद्येवम्?। एतदतो भवति, मान्त्रवर्णिकाः
त्रयस्त्रिंशत् देवा अविरुद्धाश्चोदनायां प्रतीयन्ते—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—न त्रयस्त्रिंशत् देवा उपलक्षयितव्याः—इति,
न अत्र मन्त्रे अग्निः आकाता परिवेष्टा वा तर्पयिता वा अभिध्यते;
न अत्र त्रयस्त्रिंशद्देवेष्विष्टेषु प्रयोजनं निर्वर्त्यते। कः तर्हि
यष्टव्य.?। पत्नीवान्। कुतः एतत्?। स हि चोद्यते,—पात्नीवतं
गृह्णाति—इति। 'ननु मान्त्रवर्णिकानां त्रयस्त्रिंशतो देवानामत्र
सङ्कीर्तनम्'। उच्यते,—परार्थत्वेन ताः सङ्कीर्त्यन्ते। कथं?।
न हि अप्रत्तम् अग्नेः, तत् भवति, न च परकीयस्य दानम्
अवकल्पते। तस्मात्, त्वममूभ्यः त्रयस्त्रिंशद्देवताभ्यो देहीत्य-
समञ्जसं वचनं, अग्नये त्वनेन दानम् उक्तं भवति। कथं?।
ईशानो हि विलम्भयति* इत्य, तदिह विलम्भनं सङ्कीर्तयन्
त्वमस्य ईशानः—इति प्रत्याययति।

---

* विलिम्भयति इत्य तदिह विलिम्भनमिति पाठः का० म० पु०
एव धृत्य।

भा 'ननु मादयस्व—इत्युच्यते, न विलम्भय—इति'। उच्यते,—न हि माद्यन्ति देवताः, तस्मात् मदकरणसङ्कीर्त्तनम् अदृष्टाय स्यात्, दृष्टाय तु त्यागसङ्कीर्त्तनं लक्षणया, लक्षणा हि अदृष्टकल्पनाया ज्यायसी, प्रमाणात् हि सा भवति। 'ननु त्यागेऽपि लक्ष्यमाणेऽग्निः कर्त्ता अधीष्यते'। तदुच्यते,—अग्नेः अध्येषणाऽदृष्टायैव, तस्मात् अग्नेः ऐश्वर्यकरणमेतत् वाक्यं लक्षयति—इति न्याय्यम्। अपि च पात्नीवते सोमस्योद्यते,—पात्नीवतं गृह्णाति—इति।

'ननु उक्तं, मान्त्रवर्णिकं न प्रतिषेधति चोदना—इति'। उच्यते,—तदपि मान्त्रवर्णिकं नास्ति—इत्युक्तम्। अपि च सामर्थ्यात् प्रतिषेधति—इति गम्यते, न हि सापेक्षः पत्नी-वच्छब्दः, तद्धितार्थेन संलक्ष्यते, तस्मात् केवलः पत्नीवान् देवता—इति। एतच्चोदनावशेन मन्त्रो वर्णनीयः। तस्मात् यथैवा-स्माभिर्वर्णितो मन्त्रः, तथैव भवितुमर्हति—इति पत्नीवाच्य अग्निः अग्ने पत्नीवन्—इति सामानाधिकरण्येन निर्दिश्यते। तस्मात् अग्निः उपलक्षयितव्यो न चयस्त्रिंशत् देवताः—इति॥ (१।२। १५ अ०)॥

---

भक्षणेऽनुवषट्कारदेवताया अनुपलक्षणाधिकरणम्।

सू वषट्कारश्च कर्तृवत्॥ ३७॥

भा अस्ति अनुवषट्कारदेवता, 'सोमस्याग्ने वीहीत्यनुवषट् करोति'—इति। तत्र सन्देहः,—किमनुवषट्कारदेवता उप-लक्षयितव्या, न वा?—इति। किं प्राप्तम्?—उपलक्षयितव्या—इति, न तत्र पारार्थ्यं किञ्चित् पूर्ववत् उपलक्ष्यते। तस्मात् उपलक्षयितव्या—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अनुवषट्कारदेवता नोपलक्षयितव्या, कर्तृवत्, यथा कर्त्ता नोपलक्ष्यते,— ऽोतृ ि

भा. स्याध्वर्युपीतस्य—इति, एवमेवानुवषट्कारदेवतापि, न हि सा प्रकृतौ उपलक्षिता, यत्र नाम प्रकृतौ दृष्टं, तदिह करणीयम्। तस्मात् नोपलक्षयितव्या—इति॥ (३।२।१६ अ०)॥

---

अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाधिकरणम्॥ (क्त्वाचिन्ताख्यम्)॥

सू. छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात्॥ ३८॥

भा. स्थितादुत्तरम् उच्यते*,—नैतदस्ति,—यदुक्तमूहेन मन्त्रवत् भक्षणं कर्त्तव्यम्—इति, अमन्त्रकं भक्षणं कर्त्तव्यम्। कस्मात्?। उच्यते,—समानविधानत्वात्, नास्ति अत्र प्रकृतिविकृतिभावः। कथं?। प्रकरणस्य तुल्यत्वात्, यस्मिन्नमुष्मिन्, छन्दःप्रतिषेधः स इत्युच्यते, तृतीयसवनत्वात् जगतीच्छन्दसः—इति प्राप्ते अनुष्टुप्छन्दसः—इति षोडशिनि भक्षमन्त्रं नमति—इति समानविधानेऽप्यवकल्पते। यत्तूक्तम्, (२६७।४ प०)—ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च—इति, नैते ऐन्द्रा अनैन्द्राश्च भिन्ना यागाः, एकस्यैव एतेऽभ्यासविशेषाः, न चाभ्यासविशेषाणां धर्माः गुणत्वात्, सर्वे एते यागधर्माः। तेन कृत्स्नस्य यागस्य चोद्यन्ते सोमधर्माः, सोमश्चेति। यत्र, इन्द्रो गृह्यते मीयते च—इति, इन्द्रस्य सवाम्नानानाम् मन्त्रेण ग्रहणं प्रकाशयितव्यम्, इतरासां देवतानाम् ध्यानादिना—इति। तस्मात् अनैन्द्राणाम् अमन्त्रकं भक्षणम्—इति॥ (३।२।१७ अ०)॥

---

* उक्ताभ्यः पञ्चभ्यः क्त्वाचिन्ताभ्यः पूर्वस्मिन्नेवाधिकरणे योऽयमनिन्द्रेष्वमन्त्रं भक्षणमित्येवंरूपः प्रथमः पक्षः तमेव मनसि निधाय क्त्वाचिन्तानां त्रयमभिधीयते इति माधवः।

ऐन्द्राग्नभक्षस्यामन्त्रकताधिकरणम् ॥

सू  ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा  एवं स्थिते चिन्त्यते,—अस्ति तत्र ऐन्द्राग्नः सोमः,—ऐन्द्राग्नं गृह्णाति—इति। तत्र सन्देहः,—किं मन्त्रवत् भक्षणम्, अमन्त्रकं वा?—इति। किं प्राप्तम्?—ऐन्द्राग्ने तु मन्त्रः स्यात्, यस्य हि इन्द्राग्नी देवता तस्य इन्द्रः, शक्यते हि स इन्द्रपीतः—इति व्यपदेष्टुम्, यस्य हि अवयवान्तरम् इन्द्रेण पीतं, स इन्द्रपीतः, तस्य इन्द्राग्निभ्यां पिबद्भ्यां पीतमवयवान्तरम् इन्द्रेण। तस्मात् मन्त्रवत् भक्षणम्—इति ॥

सू० एकस्मिन् वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा  न अस्य अवयवान्तरम् इन्द्रेण पीयते, न च अवयवान्तरेण इन्द्रपीतेन तत्पीतं भवति, तेन पीतः—इति लक्षणाशब्दोऽयम् इन्द्रम् उद्दिश्य य' सङ्कल्पितः इन्द्रो यस्य देवता—इति, यथैव च साकाङ्क्षस्य तद्धितार्थेन असम्बन्धः, एवं समासेऽपि इन्द्रपीतस्य —इति साकाङ्क्षस्य नावकल्पते, तदुक्तं, 'अवस्था वाऽर्थसंयोगात् (३।९।२७ सू०)—इति।

'आह, ननु तेनैवाधिकरणेनैतद्गतं किमर्थं पुनश्चिन्त्यते'?—इति। उच्यते,—यत् तत्र विचारितं सिद्धमेव तत्। 'कथं पुनर्विचार्यते? नैव साकाङ्क्षस्य देवतासम्बन्धः—इति'। नैव इह देवतासम्बन्धः—इति पूर्वः पक्षः, पानमात्रसम्बन्धोऽत्र—इति, पानमात्रसम्बन्धेन यत्र द्वाभ्यां पीयते, तत्रैकेन देवतासम्बन्धः—इत्युत्तरः पक्षः, तस्मात् न पुनरुक्तम्—इति ॥ (३।२।१८ अ०) ॥

गायत्रच्छन्दस —इत्यादिमन्त्राणामनेकच्छन्दस्के विनियोगाधिकरणम् ।

सू छन्दश्च देवतावत् ॥ ४१ ॥ (पू०) ॥

भा अस्मिन् मन्त्रे गायत्रच्छन्दसः—इत्युच्यते, तत्र सन्देहः,—किमेकच्छन्दसि सोमे मन्त्रः, उत नानाच्छन्दस्यपि?—इति। उच्यते, छन्दश्च देवतावत्, यथा अन्यसहितेन्द्रे न मन्त्रः, एव मनेकच्छन्दस्के सोमे न स्यात् मन्त्रः—इति। अत्रापि हि गायत्रच्छन्दसः—इति सविशेषणस्य समासो नावकल्पते ॥

सू सर्व्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा सर्व्वेषु वा मन्त्रः स्यात्। कुतः?। अभावादेकच्छन्दसः, नैव कश्चित् एकच्छन्दाः सोमोऽस्ति, तेन यथाभूतोऽयं, तथाभूतस्य छन्दो विशेषणं, तस्मात् अनेकच्छन्दस्के सोमे मन्त्रः स्यात्—इति॥ (२।२।१९ अ०) ॥

---

एकादशाधिकरणोक्तस्य उपसंहारः ।

सू सर्व्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात् सवनाधिकारो हि ॥ ४३ ॥

भा यदुक्तम्,—अनैन्द्राणाम् अमन्त्रक भक्षणम्—इति, तत् न, सर्व्वथा समन्त्रकं भक्षणम्—इति, यथासमाम्नातस्य मन्त्रः स्यात्। न इन्द्रपीत—इति सोम उच्यते, किं तर्हि? सवनं, प्रातः सवनशब्देन सामानाधिकरण्यात्। 'ननु सोमेऽपि षष्ठी'। सत्यम् अस्ति षष्ठी, न तु तेन सामानाधिकरण्यम्। नासौ विन्द्रेण सोम पीतः, नापि इन्द्राय दत्त', अन्य एव पीतो दत्तो वा, स गत एव, न चातीतः समुदायो व्यपदिश्यते,

भा प्रत्यक्षवचनो हि अयं शब्दः, सवने तु न दोषः, इन्द्रपीतं भवति सवनं, यत्र इन्द्रेण पीतम्। तस्मात् अनैन्द्रोऽपीन्द्रपीत सवनेऽन्तर्भवति—इति शक्यते मन्त्रेण वदितुम्। शक्यत चेत् समानविधाने कथमिव मन्त्रो न भविष्यति। भक्त्या ह्यपीतः पीतः—इत्युच्यते। एवमेव ऐतिशायन आचार्यो मन्यतेस्म। अस्माकमप्येतदेव मतम्। आचार्यग्रहणम्, तस्मात् आगतम्—इति तस्य सङ्कीर्त्यर्थम्॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

तृतीये अध्याये तृतीयः पादः ।



उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणम् ॥

सू श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषा'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् ऋगादिजातिमधिकृत्य एते शब्दाः प्रवृत्ताः, उत वेदमधिकृत्य ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—जाताधिकारः स्यात् । कुतः ? । श्रुतेः, एषां शब्दानां श्रवणादेव जातिं प्रतिपद्यामहे, तेन उपांशुत्वं जात्याऽधिकृततया सम्बध्यते, वेदानामधिकारकः शब्दो नास्ति—इति । अपि च ऋग्वेदव्यतिक्रामिणामृचां यजुर्वेदे उच्चैः प्रयोगो भविष्यति, इतरथा तस्या एव ऋच उभौ धर्मौ वैकल्पिकौ स्याताम्, तत्र पक्षे बाधः स्यात्, प्रकारश्च एवमनुगृहीतम् भवति, इतरथा वेदसंयोगे सर्वस्मिन् अपि ऋतौ उपांशुत्वं स्यात् । तस्मात् जाताधिकारा एते शब्दाः—इति ॥

सू वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा वेदं वा अधिकृत्येदमुच्यते । कुतः ? । प्रायदर्शनात् । किमिदं प्रायदर्शनात्—इति ? । वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमाना इमे शब्दाः श्रूयन्ते, 'प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत् स तपो ऽतप्यत, तस्मात् तपस्ते पानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायु रादित्य', ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्ते पानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः'—इत्येवमुप क्रम्य निगमने इदं श्रूयते, 'उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैः साम्ना

भा. उपांशु यजुषा'—इति ; एतस्मात् कारणादेभिः प्रकृतैरुपांश्वादि कर्त्तव्यम्, न जात्या ऋगादिभिः—इत्युच्यते । कुतः एतदव-गम्यते ?। वाक्योपसंहारे श्रुतत्वात्, यस्मादेत एते वेदा जाताः, तस्मात् एतैरुपांश्वादि कर्त्तव्यम्—इति, ऋगादिभिरपि वेद-वचनैरेवोपसंहारेण भवितव्यम्; इतरथा वाक्यमेव नावल्पेत, प्रचानर्थका एव भवेयुः, तस्मात् वेदाधिकाराः—इति ॥

सू. लिङ्गाच्च ॥ ३ ॥ (यु० १) ॥

भा. लिङ्गमप्यस्मिन् अर्थे भवति, यथा ऋगादयः शब्दाः शक्नुवन्ति वेदमभिवदितुम्—इति, 'ऋग्भिः मार्तदिवि देव ईयते । यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वदैरशून्यैस्त्रिभिरेति* सूर्यः,—इति, द्वौ वेदौ सङ्कीर्त्य, ऋक्-शब्दं च त्रिषु पादेषु, चतुर्थे पादे उपसंहरति, एकवचनेन, वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः—इति ऋक्शब्दं वेदवचनं दर्शयति । तस्मात् अपि पश्यामः ; वेदाधिकारा एते शब्दाः—इति ॥

सू. धर्म्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥ ४ ॥ (यु० २) ॥

भा. धर्मोपदेशश्च भवति साम्नः, उच्चैः साम्ना—इति, स वेदा-धिकारपक्षे युज्यते । जाताधिकारे तु ऋच उच्चैस्त्वेन साम्न उच्चैस्त्वं सिद्धम्, नास्य सामद्रव्येण सह सम्बन्धो वेदितव्यः, तस्मात् अपि वेदाधिकाराः—इति ॥

सू. त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥ ५ ॥ (यु० ३) ॥

भा. त्रयी यस्य विद्या स त्रयीविद्यः, यः त्रीन् वेदानधीते, स एवं समाम्नायते । त्रयीति चैष शब्द ऋक्सामयजुःषु प्रसिद्धः, यदि

* अशून्य इति का० सं० पु० ।

भा ऋक्सामयजूंषि—इति षयो वेदा उच्यन्ते, एवं तद्विद् षयीविद्याख्या युज्यते, भवति च। तस्मात् वेदाधिकारा एते॥

सू　व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत्॥ ६॥ (आ०)॥

भा अथ यदुक्तम्,—ऋग्वेदमतिक्रान्तानामृचां यजुर्वेदेऽप्युच्चैस्त्वं भविष्यति—इति, तच मत्पक्षे यथाश्रुतः प्रयोगो भविष्यतीति यदुक्तं, तत्परिहर्त्तव्यमिति। (प्रमाणार्थं सूत्रम्)॥

सू　न सर्व्वस्मिन्निवेशात्॥ ७॥ (आ० नि०)॥

भा नैष दोषः, सर्वस्मिन् ऋग्वेदे उच्चैस्त्वं सर्वस्मिंश्च यजुर्वेदे उपांशुत्वं, तत्र यदि ऋग्वेदव्यतिक्रान्ताया ऋचो यजुर्वेदे उपांशुत्वं भवति—इति नैतद्दूष्यति, वेदधर्मः सन् ऋक्धर्मः—इति, वेदस्य च न धर्मद्वयेन सम्बन्धः॥

सू वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत॥ ८॥ (आ० नि०)॥

भा यदुक्तं,—प्रकरणमेवमनुगृहीतं भवति—इति, वेदसंयोगात् वाक्येन प्रकरणे बाध्यमाने न दोषो भविष्यति॥ (३।१।१ अ०)॥

---

आधाने सामस्योपांशुताधिकरणम्॥

सू गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः॥ ९॥

भा अस्ति आधाने,—'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते'—इति। तत् याजुर्वैदिकं, तत्र सामगानमामनन्ति,—'य एवं विद्वान् वारवन्तीयं गायति, य एवं विद्वान् यज्ञायज्ञीयं गायति, य एवं विद्वान् वामदेव्यम् गायति'—इति। तत्र सन्देहः,—किमाधाने सामगानमुच्चैः, उत उपांशु?—इति।

भा. उच्चैः—इति प्राप्तम्। कुतः?। सामवेदेनैतत् क्रियते यत् वारवन्तीयादिभिः, तस्मात् उच्चैरेतानि सामानि गेयानि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—गुणानुरोधेन वा मुख्यं व्यतिक्रमेत्, मुख्यानुरोधेन वा गुणम्—इति गुणो व्यतिक्रमितव्यो न्याय्यः मुख्यस्यानुगृहीतव्यः—इति। कुतः?। मुख्यार्थत्वात् गुणस्य, गुणस्यानुष्ठानेन मुख्यः सगुणः कथं स्यात्?—इति गुणे प्रवर्त्तते, गुणप्रवृत्त्या चेत् मुख्यस्य गुणहानिर्भवति, गुणप्रवृत्तौ फलमेव नावाप्तं भवति। अथ प्रधानं सगुणं करिष्यामि—इति गुणे प्रवर्त्तमानो गुणस्य गुणं विनिपातयति,* नास्य स्वार्थो हीयते, नासौ गुणं सगुणं कर्त्तुम् प्रवर्त्तते, गुणश्च सामगानं, प्रधानमाधानं, आधानस्य याजुर्वैदिकत्वात्, उपांशुता गुणः, स गुणधर्ममुच्चैस्त्वं सामवैदिकं बाधते। तस्मात् उपांशु सामानि गेयानि—इति॥ (३।३।२ अ०)॥

---

ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकताधिकरणम्।

सू. भूयस्त्वेन उभयश्रुति॥ १०॥

भा. यजुर्वेदे ज्योतिष्टोमं समामनन्ति,—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति, तथा सामवेदेऽप्यस्य एवमेव समाम्नानं, सत्सु सतायां बुद्धौ द्वितीयं गुणार्थं श्रवणं भवति। तत्र सन्देहः,—किं याजुर्वैदिकमाम्नानं क्रियार्थं, सामवैदिकं गुणार्थं उत विपरीतम्?—इति। यतरच्चाम्नानं क्रियार्थं तद्धर्मा भविष्यन्ति। किं तावत् प्राप्तम्?—सामवैदिकं क्रियार्थं याजुर्वैदिकं वेत्यनिश्चयो विशेषानवगमात्—इति।

---

* विनिपातयति इति शा० मी० पु०।

भा एवं प्राप्ते ब्रूमः,—भूयस्त्वेन गुणानां परिच्छिद्येत, यत्र भूयांसो गुणाः समाम्नाताः, तत्र क्रियायां चोदना—इति गम्यते, यत्र हि कर्त्तव्यतया चोदना, तत्र इतिकर्त्तव्यता आकाङ्क्षते, यत्र चाकाङ्क्षिता इतिकर्त्तव्यता, तत्र इतिकर्त्तव्यतावचनं न्याय्यम्। ये च भूयांसो गुणाः, सा इतिकर्त्तव्यता, तदितिकर्त्तव्यतालिङ्गेन कर्त्तव्यताचोदनामनुमिमीमहे, यथा यक्षेषु राजप्रतिमेषु उपविष्टेषु यस्य श्वेत छत्रं बालव्यजनं च, स राजेत्यवगम्यते, अनाख्यातोऽपि राजलिङ्गेन। एवं कर्त्तव्यतालिङ्गेन गुणानां भूयस्त्वेन ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकस्य चोदना अनुमीयते। तस्मात् ज्योतिष्टोमस्योपांशुप्रयोग, यजुर्वेदेन हि ज्योतिष्टोमः क्रियते, यत्नेन चोद्यते। अचोदितं न शक्यते कर्त्तुम्—इति॥ (३।३।३ अ०)॥

---

प्रकरणस्य विनियोजकत्वाधिकरणम्॥

सू असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात्॥ ११॥

भा उक्तानि विनियोगकारणानि श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यम्—इति। श्रुतिः ऐन्द्र्या गार्हपत्यम्—इति द्वितीया विभक्तिः, लिङ्गं मन्त्रेषु वचनसामर्थ्यं बर्हिर्देवसदनं दामि—इति, वाक्यम् अरुणया क्रीणाति इति। अथ किमेतान्येव विनियोगकारणानि?। न—इत्युच्यते, किमपरं कारणम्?—इति प्रश्नेनैवोपक्रमः, भवति च प्रश्नेनैवोपक्रमो यथा का नामेयं नदी? को नामायं पर्वतः? किमिदं फलम्? इति।

तदुच्यते,—असंयुक्तं प्रकरणात्, इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात्, यत् असंयुक्तं श्रुत्या लिङ्गेन वाक्येन वा, तत् प्रकरणात्, इतिकर्त्तव्यतार्थित्वात्, यदितिकर्त्तव्यताकाङ्क्षिणः सन्निधौ पूरणसमर्थमुपनिपतति यत् वचनं, तत् तेन सहैकवाक्यतां याति।

भा तस्मात् प्रकृते विनियुज्यते, किमिहोदाहरणं? किं च प्रयोजनम्?—इति। दर्शपूर्णमासौ प्रकृत्य श्रूयते,—'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'—इति, तानि तत्रैव प्रकरणसामर्थ्यात्* विनियुज्यन्ते, न अग्निहोत्रे ज्योतिष्टोमे वा॥ (३।३।४ अ०)॥

---

क्रमस्य विनियोजकताधिकरणम्।

सू क्रमश्च देशसामान्यात्॥ १२॥

भा अथ किमेतावन्त्येव विनियोगकारणानि?। न,—इत्युच्यते। किं च?। क्रमश्च देशसामान्यात्,† क्रमवतामानुपूर्व्येणोपदिश्यमानानां यस्य पर्याये यं धर्ममामनन्ति, तस्य तं प्रति आकाङ्क्षा अनुमीयते, सत्यामाकाङ्क्षायामेकवाक्यभावः, तस्मात् ततो विनियोगः—इति। किमिहोदाहरणम्? किं च प्रयोजनम्?। आनुपूर्व्यवता यागानामनुमन्त्रणेष्वाम्नातेषु उपांशुयाजस्य क्रमे दब्धिर्नामासीति‡ समाम्नातः, तस्य आकाङ्क्षामुत्पाद्य तेन एकवाक्यता यात्वा तत्र एव विनियोगमर्हति—इति, तथा च ऐन्द्राग्नं कर्म वियातसजातस्य अस्ति भ्रातृव्यवतः, तस्य याज्यानुवाक्यायुगलमप्याम्नायते ऐन्द्राग्नं, 'इन्द्राग्नी रोचनादिवः प्रचर्षणिभ्यः'—इत्येकम्, अपरं 'इन्द्राग्नी नवतिं पुरः

---

* किं प्रयाजादेः फलं किं वा दर्शपूर्णमासयोरुपकारणमित्याकाङ्क्षाया सम्पन्नं वाक्यैकवाक्यतारूपं प्रकरणमिति माधवः।

† समानदेशत्वं क्रम इति क्रमस्य स्वरूपं। तच्च द्विविधं पाठकृतमर्थकृतञ्च, तत्र पाठकृतमपि द्विविधं यथासंख्यं सन्निधिश्चेतीति माधवः। अत्र उदाहरणं तत एवावगन्तव्यम्।

‡ दब्धिर्घातकमायुधमिति माधवः।

भा श्लथद्भ्रुत्तम्'—इति। तत्र लिङ्गादिविनियोगे सिद्धे विशेषविनियोगो भवति, पूर्वं युगलं पूर्वस्य ऐन्द्राग्नस्य, उत्तरमुत्तरस्य—इति, एतत् उदाहरणम् प्रयोजनञ्च—इति॥ (३।३।५ अ०)॥

---

समाख्याया: विनियोजकताधिकरणम्॥

सू आख्या चैवं तदर्थत्वात्॥ १३॥

भा अथ किमेतावन्त्येव विनियोगकारणानि?—इति। न इत्युच्यते। किं च?। समाख्या चैवं स्यात्। कथं विनियोगकारणम्?—इति। समाख्या सति सम्बन्धे भवति, यथा पाचकः लावकः—इति, तत्र पाचकशब्दमुपलभ्य पचतिना अस्य सम्बन्धः—इति गम्यते, एवं वेदेऽपीति। अज्ञातकार्यसम्बन्धं समाख्यार्थं शब्दम् उपलभ्य भवति सम्बन्धे तस्मिन् सम्प्रत्ययः। किमिहोदाहरणम् प्रयोजनञ्च?। आध्वर्यवम्—इतिसमाख्यातानि कर्माणि अध्वर्युणा कर्तव्यानि, हौत्रम्—इति च होत्रा; एतत् उदाहरणम् प्रयोजनञ्चेति॥ (३।३।६ अ०)॥

---

श्रुत्यादीनां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वाधिकरणम्॥

सू श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्॥ १४॥

भा उक्तानि विनियोगकारणानि, श्रुतिर्लिङ्गं वाक्यं प्रकरणं स्थानं समाख्यानम्—इति, तेषां समवाये किं बलीयः?—इति चिन्त्यते,—एकार्थप्राप्तित्वाद्वाचो युगपत् असम्बन्धात् द्वयोर्द्वयोः सम्प्रधारणा। तत्र श्रुतिलिङ्गयोः किं श्रुतिर्बलीयसी आहो-स्विल्लिङ्गम्?—इति। किं? पुनः अत्रोदाहरणम्। 'ऐन्द्रा

भा गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति, अत्र चिन्त्यते,—किम्? इन्द्रस्य गार्हपत्यस्य वा उपस्थानं कर्त्तव्यम्—इत्यनियमः, उत गार्हपत्यस्यैव?—इति। यदि तुल्यबले एते कारणे ततो विकल्पः, अथ श्रुतिर्बलीयसी, गार्हपत्य एवोपस्थेयः।

का पुनः अत्र श्रुतिः? किं लिङ्गम्?। श्रुतिर्गार्हपत्यशब्दश्रवणं, लिङ्गं पुनः, 'कदा च नस्तरीरसि नेन्द्रसश्चसि दाशुषे'*—इति इन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यम्। अथ किं वाक्यं नाम?। संहत्य अर्थमभिदधति पदानि वाक्यम्। 'यद्येवमिदमपि वाक्यम्,—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति, इदमपि,—कदा च नस्तरीरसीति, उभयथापि संहत्य अर्थमभिदधति पदानि, तेन वाक्यस्य वाक्यस्य चैषा समधारणा, न श्रुतिलिङ्गयोः, यदि वा श्रुतिलिङ्गवाक्यानि विवेक्तव्यानि, इदं श्रुतिवाक्ययोः अन्तरम्, इदं लिङ्गवाक्ययोः—इति'।

तदभिधीयते,—यत् तावच्छब्दस्यार्थमभिधातुम् सामर्थ्यम्, तल्लिङ्गं, यदर्थस्याभिधानं शब्दस्य श्रवणमात्रादेवावगम्यते, स श्रुत्याऽवगम्यते, श्रवणं श्रुतिः। एकार्थम् अनेकं पदं वाक्यम्—इत्युक्तमेव। तदेतत् सर्वेष्वेव वाक्येषु समवेतं विविक्तञ्च दृश्यते, इह तावत् कदाच नस्तरीरसि—इत्यनेन मन्त्रेण इन्द्र उपस्थातव्यः—इति, नैतत् कस्यचित् शब्दस्य श्रवणादेवाव गम्यते, नापि शब्दान्तरस्य समीपे उच्चारितस्य सामर्थ्यम् अस्ति, येनैतत् अवगम्येत। एतस्या खलु ऋचि इन्द्रशब्दो विद्यते, यो विशिष्टा देवतामवगमयितुम् शक्नोति, तया च अवगमितया प्रयोजनमस्ति—इति, तेन इन्द्रोपस्थाने इन्द्रशब्दः प्रयुज्यते, तदेकवाक्यत्वाच्चावशिष्टानि पदानि, न तु

---

* भो इन्द्र कदाचिदपि घातको न भवसि, किन्त्वाहुतिं यजमानाय प्रीयसे इत्यर्थ इति माधवः॥

भा. एवमस्यामृचि कस्यचिच्छब्दस्य सामर्थ्यात् गार्हपत्यस्य उपस्थानं भवति; श्रवणादेव तु गार्हपत्यशब्दस्य, वयमग्निं प्रतीमो न लिङ्गात्। यदि तु लिङ्गम् बलीयः, इन्द्र उपस्थातव्यः, यदि गार्हपत्यश्रवणं, ततो गार्हपत्यः।

एवं तर्हि लिङ्गवाक्ये विरुध्यमाने इह सम्प्रधार्ये न श्रुतिलिङ्गे, इन्द्रशब्दस्य विशिष्टदेवताभिधानसामर्थ्यात् इन्द्रोपस्थानं, यदि लिङ्गम् बलीयः; अथ तु वाक्यं, गार्हपत्य उपस्थेयः; वाक्यं ह्येतत् ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति'। नैतदेवं, यद्यप्येतत् वाक्यं श्रुतिरप्यत्रास्ति, या त्वत्र श्रुतिः, सा लिङ्गेन विरुध्यते, न यत् वाक्यम्। कथं?। बलीयसि अपि हि लिङ्गे, ऐन्द्र्योपतिष्ठते—इत्येतत् गार्हपत्यशब्देन सहैकवाक्यतामुपैत्येव, यदि हि नोपेयात्, ततो लिङ्गेन विरुध्येत, यस्तु गार्हपत्यश्रवणादेवार्थः प्रतीयते, स लिङ्गे बलीयसि परित्यक्तो भवति, नासावुपस्थानेन सम्बध्यते, तदा हि इन्द्रं गार्हपत्यशब्दोऽभिवदेत् अग्निसमीपं वा। अथ तु श्रुतिः प्रमाणं भवति, ततो लिङ्गेन अवगतम् इन्द्रोपस्थानं बाध्येत। तस्मात् श्रुतिलिङ्गयोरेवैष विरोधो न लिङ्गवाक्ययोः—इति। अथ वा नार्थैकवाक्यत्वात् इन्द्रप्राधान्यं गार्हपत्यप्राधान्यं वा उपस्थानस्य। कुतस्तर्हि?। इन्द्रशब्दवत्त्वात् मन्त्रस्य, इन्द्रप्राधान्यं, द्वितीयाविभक्तिश्रवणात् गार्हपत्यप्राधान्यं, तस्मात् श्रुतिलिङ्गयोर्विरोधः।

किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति। कथं?। इदमपि कारणम्, इदमपि, (श्रुतिरपि लिङ्गमपि)। न हि विज्ञानस्य विज्ञानस्य च कश्चिद्विशेष उपलभ्यते रूपं प्रति, अस्य भङ्गुरस्य इव रूपम्, अस्य दृढस्य इव—इति। 'ननु लिङ्गस्य भङ्गुरस्य इव रूपं, सविचिकित्सो हि भवति लिङ्गात् प्रत्ययः, निर्विचिकित्सः श्रुतेः'। नैतत् युक्तं, यतो लिङ्गात्

भा. सविचिकित्सः प्रत्ययः, तस्य च श्रुतेश्च नैव सम्प्रधारणास्ति। यतस्तु खलु लिङ्गात् निर्विचिकित्सः प्रत्ययः स श्रुत्या विकल्पितुमर्हति। "ननु नैव कदाचिल्लिङ्गात् निर्विचिकित्सः प्रत्ययोऽस्ति'। नैतदेवम्,—एवं हि सति नैव लिङ्गम् नाम किञ्चित् प्रमाणम् अभविष्यत्। "'कामं माभूत् प्रमाणं, भवति तु संशयो लिङ्गपरिज्ञातेषु अर्थेषु। यदि वा विस्पष्टमेवाप्रामाण्यं न संशयः। कथं? । समर्थमेतत् इममर्थमभिनिर्वर्त्तयितुम्—इति लिङ्गादेतावत् अवगम्यते। न च, यत् यस्य निर्वर्त्तनायालं, तदसत्येव वचने तन्निर्वर्त्तयितुमर्हति, तस्मात् न लिङ्गम् विनियोजकम्—इति'।

अत्राभिधीयते,—प्रकरणवतोऽर्थस्य सन्निधाने यमर्थमामनन्ति, स तस्य साधनभूतः- इत्येव गम्यते, कथं खलु उपकरिष्यति?—इति सन्दिह्यमाने भवति सामर्थ्यात् परिनिश्चयः,—यत्रायं समर्थः, तत्र शक्यो विनियोक्तुम्—इति, तस्मात् भवति लिङ्गम् प्रमाणम्—इति। न च, लिङ्गप्रामाण्ये* विनिगमनायां हेतुः अस्ति। तस्मात् तुल्यबले एते कारणे, कदा च नस्तदीरसि—इतिलिङ्गात् इन्द्र उपस्थातव्यः, श्रुतेर्गार्हपत्यः—इति। अविरोधात् खल्वपीममेवार्थं प्रतिपद्यामहे। बलीयानपि हेतुर्विरुध्यमानम् अबलीयांसम्बाधितुमर्हति नाविरुद्धम्, न च कश्चन विरोधी, यत् इन्द्रम् उपतिष्ठेतानेन मन्त्रेण, गार्हपत्यमपि।

'नन्वयमेव विरोधः,—सकृत् उपस्थानं चोदितं, असकृत् अभिनिवर्त्त्यते'—इति। 'उपस्थेयभेदात् प्रतिप्रधानमावर्त्तन्ते गुणाः'—इतिन्याय एवैष न विरोधः। 'अयं तर्हि विरोधः,—गार्हपत्ये उपस्थीयमाने अग्निवचन इन्द्रशब्दो गुणं क्रियायोगं वाऽपेक्षमाणो भवितुमर्हति, इन्द्रे तूपस्थातव्ये निरपेक्ष इन्द्र-

---

* नणाच प्रामाण्ये इति क्वचित् पाठ ।

भा. वचन एव, 'गौणमुख्ययोश्च मुख्ये सम्प्रत्ययः'—इति'। न— इति ब्रूमः,—विरोधे मुख्येन गौणः बाध्येत, न च कश्चित् विरोधः, युगपदभिधाने हि विरुध्येयाताम्, इह च अन्यस्मिन् प्रयोगे अग्निवचनोऽन्यस्मिन् इन्द्रवचनः। अतः तुल्यबले एते कारणे—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतिर्बलीयसी। कुतः?। 'अर्थविप्रकर्षात्'। किमिदमर्थविप्रकर्षात्—इति?। अर्थस्य विप्रकर्षोऽर्थविप्रकर्षः। कः पुनरर्थः श्रुत्यर्थः?। गार्हपत्यमुपतिष्ठते—इति सन्निकृष्टः श्रुत्यर्थः, इन्द्र उपस्थेयः—इति विप्रकृष्टः। कथं?। कदा च न स्तरीरसि—इत्यनेन मन्त्रेण इन्द्र उपस्थातव्यः—इति न श्रूयते। सत्यपि इन्द्राभिधानसामर्थ्ये वचनाभावात् अनुपस्थानीय इन्द्रः—इत्येव गम्यते।

'ननु इदम् उक्तं,—प्रकरणाम्नानादिदङ्गम्—इत्यवगम्यते, सामर्थ्यात् विनियोगः'—इति। नैतदस्ति, उक्तमेव एतत्,—(१।२।४ सू०) धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात् —इति, यदेतत्प्रकरणं लिङ्गम् च उभयमप्येतदशब्दम्। न चातिक्रान्तप्रत्यक्षविषये एवंलक्षणके अर्थे शब्दमन्तरेण परिच्छेदोऽवकल्पते। अतो मन्यामहे,—विप्रकृष्टं श्रुत्यर्थात् लिङ्गम् —इति। 'यद्येव श्रुतिर्यत्र विरोधिनी न विद्यते, तत्रापि न लिङ्गादर्थपरिच्छेदः, तथैतदेव नास्ति लिङ्गम् प्रमाणम्— इति। कुतः एतेन श्रुतिर्विरोत्स्यते—इति, तत्र श्रुतिलिङ्गयोर्बलीयस्त्वं प्रति सम्प्रधारणैव नोपपद्यत—इति ब्रूमः'।

अत्र उच्यते,—इतिकर्त्तव्यतार्थिनः प्रकरणवतोऽर्थस्य सन्निधावुपनिपतितो मन्त्र आम्नानसामर्थ्यात् इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य वाक्यशेषतामभ्युपेत्य एतेन मन्त्रेण यजेत—इति। किमुक्तं भवति?। यागेन अभीप्सिते साध्यमानेऽनेन मन्त्रेणोपकुर्यात्— इति, न चान्तरेण इन्द्राभिधानम् अयं मन्त्र उपकर्त्तुम् शक्नोति,

भा. तेनैतदुक्तं भवति, अनेन इन्द्रोऽभिधातव्यः—इति। अतः श्रुतिमूल एवायमर्थः। 'यदि श्रुतिमूलो, न श्रुत्यन्तरेण बाधितुम् शक्यः। तदेतत् लिङ्गं यदि वा नैव प्रमाणं, यदि वा श्रुत्या विकल्पितुमर्हति'—इति। नाप्यप्रमाणं भविष्यति, नापि विकल्पिष्यते—इति ब्रूमः। कथं?। श्रुतिलक्षणोऽयमर्थ इत्युपपादितं, तस्मात् न अप्रमाणम्। यतस्तु खल्वानुमानिकीमेकवाक्यतां लिङ्गसामर्थ्यं च अपेक्ष्य श्रौतोऽयमर्थः, यत्,—इन्द्रस्य उपस्थानमनेन मन्त्रेण—इत्यवगम्यते, प्रत्यक्षा तु श्रुतिर्गार्हपत्यम् उपतिष्ठते—इति, स एषोऽर्थविप्रकर्षः। प्रथमं तावत् लिङ्गज्ञानं, ततः सामर्थ्यात् शब्देन अयमर्थोऽभिहितो भवति, तदेतत् श्रुतिविरोधे न अवकल्पते, विस्पष्टं हि अवगतमेतत्,—अनेन मन्त्रेण गार्हपत्य उपस्थेयः—इति, तत्र विज्ञातमेतदेवमयमुकरोति मन्त्रः—इत्येतस्मिंश्च निर्ज्ञाते ज्ञातसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रकरणयोर्नैतदेवं कल्पयितुम् शक्यम्, इन्द्रोपस्थानं शब्देनाभिहितम्—इति। तस्मात् अर्थविप्रकर्षात् श्रुत्या लिङ्गं बाध्यते —इति।

विकल्पस्य चान्याय्यत्वात्, अन्याय्यश्च विकल्पः, तत्र हि अभावः पक्षे नित्यवच्च, ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठते—इति श्रूयमाणे यदभावः पक्षे परिकल्प्यते, तदश्रुतं भवति, श्रुतं च हीयते, यावांश्च श्रुतस्यार्थस्योत्सर्गे दोषः, तावान् अश्रुतपरिकल्पनायाम्, उभयत्र हि प्रसिद्धिर्बाध्यते। तस्मात् अन्याय्यत्वात् विकल्पस्य श्रुतिलिङ्गयोः श्रुतिर्बलीयसी इत्यवगच्छामः।

अथ यदुक्तं,—सति विरोधे न्याय्यो बाधः, न च अत्रास्ति विरोधः—इति, अयमस्ति विरोधः, यदज्ञातसामर्थ्ययोर्वाक्यप्रकरणयोः इन्द्रोपस्थानवाचिनी श्रुतिर्भवति, ज्ञातसामर्थ्ययोस्तु नावकल्पते, न च वाक्यप्रकरणाभ्यां युगपत् ज्ञातसामर्थ्याभ्याम्

भा. प्रकृतसामर्थ्याभ्यां च शक्यं भवितुम्, तस्मात् विरोधः, विरोधे च श्रुतिर्लिङ्गाद्बलीयसी—इति।

लिङ्गवाक्ययोर्विरोधे किमुदाहरणम्?। 'स्योनन्ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः'—इति। अथ सन्देहः,—किं कृत्स्नो मन्त्र उपस्तरणे पुरोडाशासादने च प्रयोक्तव्यः, उत कल्पयाम्यन्त उपस्तरणे, तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पुरोडाशासादने?—इति। यदि वाक्यं बलीयः, ततः कृत्स्न उभयत्र। कथं?। सुशेवं कल्पयामि—इत्येतदपेक्ष्य, तस्मिन् सीदेत्येवमादिः पूर्वेण एकवाक्यतामुपैति,—यत् कल्पयामि, तस्मिन् सीद—इति। अथ लिङ्गं बलीयः, ततः कल्पयाम्यन्तः सदनकरणे। कथं?। स्योनन्ते सदनं कृणोमि—इति, सदनकरणमभिवदितुमयमलम्—इति। तस्मिन् सीदेत्ययमपि पुरोडाशं सादयितुम्—इति, सादने विनियुज्यते।

किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति, यथा लिङ्गं प्रति श्रुतेर्बलीयस्त्वमुक्तं, न तथा वाक्यं प्रति लिङ्गस्य उच्यते। अथ वा वाक्यमेव लिङ्गाद्बलीयः। कुतः?। तद्धि श्रुत्यापि बाध्यते, न च बलीयः कारणं शक्यते बाधितुम्। तेन अस्य प्रकृष्टतमबलवत्त्वम्, यत्स्वैकेन बाध्यते, अशक्योऽसावन्येनापि बाधितुम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलीयः—इति। कुतः?। 'अर्थविप्रकर्षात्'। कोऽर्थविप्रकर्षः?। प्रकरणवत् सन्निधानाम्नानात् दर्शपूर्णमासाङ्गमयं मन्त्रः—इत्यवगम्यते, तस्मिन् सीदेति पुरोडाशासादनाभिधानसामर्थ्यात् सादने विनियुज्यमाने कृतसामर्थ्यं मन्त्राम्नानम्—इति, नास्ति प्रमाणं येनोपस्तरणेऽपि विनियुज्येत। तथा स्योनन्ते सदनं कृणोमि—इत्येषोऽपि प्रकरणाम्नानसामर्थ्यादेव दर्शपूर्णमासाङ्गतामापन्नः

भा. सामर्थ्यादेवोपस्तरणे विनियोगात् कृतप्रयोजनो न पुरोडाशासादने विनियोगमर्हति, न हि अस्मिन् वियुज्यमानस्य किञ्चित् अपि प्रयोजनमस्ति। एवमुपस्तरणे तस्मिन् सीदेत्यस्य नास्ति सामर्थ्यम्। पुरोडाशासादनेऽपि स्योनन्ते इत्यस्य। पूर्वेण एकवाक्यतामुपेत्योपस्तरणे सामर्थ्यं, पूर्वस्य परेण एकवाक्यत्वात् सादने, न तु स्वरूपेण उभयोः, तदेवोऽर्थविप्रकर्षः।

यत्तु स्योनन्ते इत्यस्य प्रत्यक्षं सदनकर्मणोऽभिधानसामर्थ्यं, तत् मुख्यम्। तस्मिन् सीदेत्यस्य पुनः पूर्वेण सह एकवाक्यतामुपगतस्य भवति जघन्यं। तदच पूर्वस्य मन्त्रस्य अभिधानसामर्थ्यात् उपस्तरणे विनियोग उक्तो भवति—इति, सन्निकृष्टो लिङ्गस्य श्रुत्यर्थः, उत्तरस्य तु उपजनितेऽभिधानसामर्थ्ये ततः श्रुत्यर्थः—इति लिङ्गान्तरितो विप्रकृष्टो भवति। एवम् उत्तरस्य सादने सन्निकृष्टः पूर्वस्य च लिङ्गान्तरितः। तस्मात् अर्थविप्रकर्षात् लिङ्गवाक्ययोर्लिङ्गं बलवत्तरम्, ततः स्योनम्—इत्येष शब्दो यद्यपि उत्तरेण आकाङ्क्षितः—इति सादनेऽपि प्रयोगमर्हति, तथापि भित्वा वाक्यम् उपस्तरणे एव विनियोक्तव्यः, तस्मिन् सीदेत्येष च सादने।

'ननु स्योनन्ते इत्यस्य शब्दस्य यथैव उपस्तरणाभिधानसामर्थ्यम्, एवम् उत्तरेण एकवाक्यतामुपगन्तुम् सामर्थ्यम्, सामर्थ्यं च लिङ्गम्—इत्युच्यते। तस्मात् भिद्यमाने वाक्ये लिङ्गमेव बाधितं भवति—इति'*। सत्यमेवम्, एतदपि लिङ्गं, लिङ्गमपि खल्वेतदेवंलक्षणकं विप्रकृष्टार्थमेव भवति, लिङ्गात् एकवाक्यता, तस्मात् अभिधानसामर्थ्यं, ततः श्रुत्यर्थः—इति विप्रकृष्टार्थता, विप्रकृष्टार्थता च बाधने हेतुभूता। तस्मात् न

---

* बाधितं भवतीति जघन्यम्'। एतदपीति पाठः का० सं० पु०।

भा उत्तरेणैकवाक्यतां यास्यति—इति। एवं तस्मिन् सोदेरयुत्तरं न पूर्वेणापि।

अपि च उत्तरेणैकवाक्यतामुपगतस्य न किञ्चित् अपि दृष्टमस्ति कार्यं, उपस्तरणप्रत्यायनन्तु दृष्टम्। कुतः?। श्रुतत्वात् उपस्तरणस्य सादनस्य च। एवम् उत्तरस्य सादनप्रत्यायनं, न तु पूर्वेणैकवाक्यतायां, न च, एतौ पूर्वोत्तराभ्याम् एकवाक्यतामन्तरेण पृथक् यथायथं कार्ये न कुरुतः। तस्मात् पूर्वः पूर्वेण विनियोजनीयः, उत्तरः उत्तरेण—इति।

'अथ यदुक्तं,—अस्यापि तद्बाधितम्—इति वाक्येन अपि तद्बाधितव्यम्—इति'। नैतदेवं, न हि बाधितस्यान्येन अपि बाधनमेव न्याय्यं, बाधितं हि अनुगृहीतव्यमर्थवत्त्वाय, श्रुतिं प्रति विप्रकृष्टार्थम्, वाक्यं प्रति सन्निकृष्टार्थम्, तस्मात् लिङ्गं बलीयः—इति।

अथ वाक्यप्रकरणयोर्विरोधे कथम्?—इति। किं पुनः प्रकरणं नाम?। कर्तव्यस्य इतिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम्। प्रारम्भो हि स तस्या वचनक्रियायाः, स एव विध्यादिर्विध्यन्तापेक्षः। वाक्यमुक्तमेव। तयोर्विरोधे किमुदाहरणम्?। सूक्तवाकनिगदः। तत्र हि पौर्णमासीदेवता अमावास्यादेवताश्चाम्नाताः, ताः परस्परेण एकवाक्यतां नाभ्युपयन्ति, तत्र लिङ्गसामर्थ्यात् पौर्णमासीप्रयोगात् इन्द्राग्निशब्द उत्कृष्योऽमावास्यायां प्रयोक्तव्यः। अथ इदानीं सन्दिह्यते, योऽस्य शेषः 'अवीवृधेतां महो ज्यायो क्राताम्'—इति, स किं यावत्त्वः सूक्तवाके समाम्नातः, तावत्त्वः उभयोः पौर्णमास्यमावास्ययोः प्रयोक्तव्यः, प्रकरणं बलवत्तरम्—इति, उत यत्र इन्द्राग्निशब्द उत्कृष्य नीतः, तत्र एव प्रयोक्तव्यः, वाक्यं बलवत्तरम्—इति। एवं सर्वेषु संशयः।

किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति। कुतः?।

भा. इतरत्रापि आकाङ्क्षा, इतरत्रापि, तुल्यायाम् आकाङ्क्षायां नास्ति विनिगमनायां हेतुः, तस्मात् तुल्यवत्त्वे—इति। अथ वा वाक्यं दुर्बलं, बाधितं हि तल्लिङ्गेन।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणात् वाक्यं बलीयः। कथं?। अर्थविप्रकर्षात्। कोऽत्रार्थविप्रकर्षः?। वाक्ये एकैकं पदं विभज्यमानं साकाङ्क्षं भवति, कृत्स्नं परिपूर्णं भवति, तत्र प्रत्यक्ष एकवाक्यभावः, प्रकरणे त्वप्रत्यक्षः। कथम्?। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य समीपे उपनिपतितं पूर्णमिति* तस्य प्रद्धातस्य साकाङ्क्षत्वमवगम्यते, नैकवाक्यभूतम् इत्यनुमीयते। एकवाक्यतया चाभिधानसामर्थ्यमवकल्प्य अभिहितोऽयमेवं भवति—इति परिकल्पना। एषोऽत्रार्थविप्रकर्षः,—यत् वाक्यस्य समासन्ना श्रुतिः, प्रकरणस्य विप्रकृष्टा। तस्मात् 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' —इति पौर्णमासीदेवतावाचिनाममावास्यादेवतावाचिनां च निष्कृष्य प्रयोगे तच्छेषाणामपि निष्कृष्य प्रयोगः, तेन यद्यपि प्रकरणसामर्थ्यात् पौर्णमासीदेवतापदशेषाणां अमावास्यादेवतावाचिभिः सह एकवाक्यता अनुमीयते, प्रत्यक्षा तु अमावास्यादेवतापदैः सह, न च प्रत्यक्षविरोधे अनुमानं सम्भवति। अर्थवति च प्रकरणे सञ्जाते न निराकाङ्क्षाणाम् आकाङ्क्षा शक्योत्पादयितुम्।

अथ यदुक्तं,—लिङ्गेनापि हि तद्बाध्यते, अतः प्रकरणेनापि बाधितव्यम्—इति, न, यदन्येनापि बाध्यते, तत् भङ्गुरमन्यथापि इत्यवगन्तव्यम्। अथ भङ्गुरं, प्रमाणमेव नाभविष्यत्; किञ्चित् तु प्रति कस्यचित् प्रभावः, वाक्यस्य प्रकरणं प्रति बाधकशक्तिर्न तु लिङ्गं प्रति, लिङ्गं प्रति विप्रकृष्टार्थमेतत् प्रकरणं प्रति सन्निकृष्टार्थं, तेन वाक्येन प्रकरणं बाध्यते—इति।

* परिपूर्णमधीति आ० सो० प० एवं का० .

भा. अथ प्रकरणस्य क्रमस्य च विरोधे किमुदाहरणम्?। राजसूयप्रकरणेऽभिषेचनीयक्रमे शौनःशेपाख्यानादि आम्नातं, यदि प्रकरणं बलवत्, सर्वेषां तदङ्गम्, यदि क्रमः, अभिषेचनीयस्यैव। किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे—इति। कुतः?। न तावत् विशेषमुपलभामहे, येनावगच्छाम इदं बलीयः—इति। तस्मात् तुल्यबले एते कारणे—इति। अपि च प्रकरणं वाक्येन बाधितं, तस्मात् बाधेत क्रमेणापि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकरणं क्रमात् बलीयः। कुतः?। अर्थविप्रकर्षात्। कोऽर्थविप्रकर्षः?। प्रकरणवतः साकाङ्क्षत्वात् तत्सन्निधानाम्नातेन परिपूर्णेनाप्यवकल्पेत एकवाक्यत्वम्, न तु क्रमवतः क्रमे आम्नातेन, अनेकस्याम्नायमानस्य सन्निधिविशेषाम्नानमात्रं हि क्रमः, तत्र सन्निधिविशेषाम्नानसामर्थ्यात् क्रमवतः सन्निधावाम्नातस्यानुपलभ्यमानमेव आकाङ्क्षात्वमस्ति—इत्यवगन्तव्यम्। प्रकरणे तु प्रकरणवतः प्रत्यक्षम्, न च प्रकरणवता क्रमवता च यौगपद्येन एकवाक्यता सम्भवत्याम्नातस्य—इति विरोधः। तत्र प्रकरणे प्रत्यक्षं साकाङ्क्षत्वं, यतः आनुमानिकं बाधितुमर्हति, साकाङ्क्षत्वात् एकवाक्यत्वम्, एकवाक्यत्वादभिधानसामर्थ्यं, सामर्थ्यात् श्रुत्यर्थः—इति सन्निकृष्टः प्रकरणस्य श्रुत्यर्थो, विप्रकृष्टः क्रमस्य। तस्मात क्रमप्रकरणयोः प्रकरणं बलवत्तरम्—इति।

अथ यदुक्तं,—वाक्येनापि हि तत् बाधितम्, अतोऽन्येनापि तत् बाधितव्यम्—इति, नैतत्, बाधितस्यानुग्रहो न्याय्यो, न बाधितं बाधितव्यम्—इति।

अथ क्रमसमाख्ययोर्विरोधे किमुदाहरणं? किं बलवत्तरम्?—इति। पौरोडाशिकम्—इतिसमाख्याते काण्डे सान्नाय्यक्रमे 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे'—इति शुन्धनार्थो मन्त्रः समाम्नातः। तत्र सन्दिग्धे,—किं समाख्यानस्य बलीयस्त्वात् पुरोडाश-

भा. पाचाणां शुन्धने विनियोक्तव्यः, उत क्रमस्य बलीयस्त्वात् साम्नाय्यपाचाणाम्?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—तुल्यबले एते कारणे स्याताम्। कुतः?। अविशेषात्, यदि वा समाख्यैव बलीयसी, बाधितो हि क्रमः प्रकरणेनापि इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—क्रमो बलीयान्। कुतः?। अर्थविप्रकर्षात्। कः पुनरत्रार्थविप्रकर्षः?। निर्ज्ञाते प्रकरणेन केनापि सहैकवाक्यत्वे यत् सन्निधावाम्नायते, तत्र आकाङ्क्षा परिकल्प्यते, नैकवाक्यतेत्यवगम्यते, लौकिकश्च शब्दः समाख्या, न च, लोक एवंविधेषु अर्थेषु प्रमाणम्। तस्मात् क्रमो बलीयान्—इति।

'यद्येवं भवत्येवंलक्षणकेषु क्रमेण विनियोगः, न तु अर्थविप्रकर्षात् क्रमो बलीयान्। कथं?। द्वयोर्हि प्रमाणयोर्बलीयस्त्वं प्रति सम्प्रधारणं, नचैवं सति समाख्या प्रमाणं, लौकिकत्वात् शब्दस्य, पुरुषस्य प्रमाणता भवति—इति'। नैष दोषः, न अत्राङ्गभावः पुरुषप्रामाण्यात् गम्यते, पौरोडाशिकशब्दः एतस्य काण्डस्य,—इत्येतदत्र पुरुषप्रमाणकं, भवति च अस्मिन् अर्थे पुरुषः प्रमाणं, यथा साम्नाय्यक्रमे आम्नानं पुरुषप्रमाणकम्, यथाप्रकरणमेकवाक्यत्वं, वेदशब्दश्चायम्—इति। न हि एतेऽनिन्द्रियविषया अर्था उपपद्यन्ते, एष्वभियुक्तानां प्रामाण्यं, ये त्वनिन्द्रियविषयास्तेष्वभियुक्ता न प्रमाणम्। तस्मात् समाख्या कारणं, कारणत्वे च सति बलीयस्त्वं परीक्ष्यम्—इति।

'उच्यते अर्थविप्रकर्षः तर्हि वक्तव्यः समाख्यायाः'। अयमर्थविप्रकर्षः। उपदिश्यते हि क्रमे समाम्नानात् साम्नाय्यसम्बन्धो, नोपदिश्यते समाख्यायां, शब्दमुच्चार्यमाणम् उपलभ्य अर्थापत्त्या नूनमस्ति—इति कल्प्यते। तस्मात् पूर्ववदेवार्थविप्रकर्षात् क्रमेण समाख्या बाध्यते—इति।

'अथ यत्तत्र तत्रोच्यते,—इदमनेन बाध्यते, इदमनेन—इति तत्र यत् बाध्यते, तत् किं बाधकविषयं प्राप्तम् उत अप्राप्तम्?—

भा इति। किं प्राप्त.?। यद्यप्राप्तम्, किं बाध्यते?। अथ प्राप्तं, कथं शक्येत बाधितुम्?। प्राप्तं बाधकविषयं पूर्वविज्ञानम्—इति ब्रूमः। कथं?। सामान्यस्य कारणस्य विद्यमानत्वात्। अथ कथं निवर्त्तते?। मिथ्याज्ञानम्*—इति प्रत्ययान्तरं भवति। किन्तु खल्वमिथ्याज्ञानस्य स्वरूपं?। यस्य बाधकः प्रत्ययो विमृश्यमाणस्य अपि नोपपद्यते, न तत् मिथ्या। तदेतेषां श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्यानां पूर्वं पूर्वं यत्कारणं तत्परं परं प्रति बलीयो भवति, न एतस्य उत्पन्नस्य विमृश्यमाणस्य बाधकं विज्ञानान्तरमस्ति। तस्मात् तेषां समवाये (विरोधे) पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्—इति॥ (३।३।७ सू०)॥

द्वादशोपसत्ताया अहीनाङ्गताधिकरणम्॥

सू अहीनो वा प्रकरणाद्गौणः॥ १५॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य समामनन्ति,—'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य'†—इति। तत्र सन्देहः,—किं द्वादशोपसत्ता ज्योतिष्टोमे उत अहीने?—इति। किं तावत्प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे—इति। कुतः?। प्रकरणात्, एवं प्रकरणमनुगृहीतं भवति। 'ननु वाक्येन बाध्यते'। न बाध्यते, अहीनशब्देन ज्योतिष्टोमं वक्ष्यामः। कुतः?। न हीयते इत्यहीनः, दक्षिणया क्रतुकरणैर्वा फलेन वा न हीयते, तेन ज्योतिष्टोमोऽहीनः। वाशब्देन संशयो निवर्त्त्यते॥

---

* नैव निवर्त्तते मिथ्याविज्ञानमिति प्रत्ययान्तरं भवति। किन्तु यत्नापि मिथ्याज्ञानस्य स्वरूपमिति पाठः का० सं० पु०।

† एतेन उक्ता मिथ्याज्ञानात् साङ्गो ज्योतिष्टोमे, दीक्षादिवसादूर्ध्वं सोमाभिषवदिवसात् पूर्वं कर्त्तव्या होमा उपसद इति माधवः।

सू. असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत ॥ १६ ॥ (सि०) ॥

भा अपकृष्येत द्वादशोपसत्ता। कुतः?। असंयोगात् ज्योतिष्टोमेन। कथम् असंयोगः?। अहीनेन एकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षत्वात्। 'ननु ज्योतिष्टोमः एव गौणोऽहीनः'। न,—इत्युच्यते, न हि मुख्यसम्भवे गौणग्रहणमर्हति। 'ननु नञ्समासो भविष्यति'। न—इति ब्रूमः,—तथा सति आद्युदात्तोऽहीनशब्दोऽभविष्यत्, मध्योदात्तस्त्वयम्। तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा अहीनस्य धर्मः।

अपि च व्यपदेशो भवति,—तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य—इति, यद्यन्यः साह्नोऽन्यश्चाहीनः, तत एवं व्यपदेशोऽवकल्पते, विद्यते च व्यपदेशवचनं, तस्मात् अहीनस्य —इति ॥ (३।३।८ अ०) ॥

---

कुलायादौ प्रतिपदोरुत्कर्षाधिकरणम् ॥

सू द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'युवं हि स्थः स्वःपती—इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं* कुर्यात। एते असृग्रमिन्दवः†—इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः'—इति। तत्र सन्देहः,—ज्योतिष्टोमे एव निविशेते प्रतिपदौ, उत द्वियज्ञं कश्चित्कुलायादिं बहुयज्ञञ्च द्विरात्रादिमुत्कृष्येते?—इति। किं प्राप्तम्?—द्वित्वबहुत्वयुक्ते (ज्योतिष्टोमेन असंयोगात) उत्कृष्येयातां प्रतिपदौ, न हि

---

* स्तोत्रस्य उपक्रमे पठनीयास्त्वचं प्रतिपच्छब्दोऽभिधत्ते इति माधवः।

† असृग्रमिन्दवः इति पाठः आ० सो० पु०। तथा का० ~ ~ एवं उत्तरत्रापि।

भा ज्योतिष्टोमस्य द्वौ यजमानौ श्रूयेते, यथा कुलायस्य, 'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्'—इति ॥

सू पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा इति चेत् पश्यसि—प्रतिपदावुत्कृष्येते—इति, नैतदेव, प्रकरणे हि बाध्येत। 'बाध्यताम् असंयोगात् द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बहुभिश्च यजमानैर्ज्योतिष्टोमस्य'—इति चेत्। असत्यपि वचनेऽर्थात् द्वौ यजमानौ भविष्यतः, य एको न शक्ष्यति ससहाय स उपधास्यते, अवस्थयुक्ते सति यथा शक्यते, तथा यष्टव्यम्—इति बाधित्वापि कश्चित् प्राप्ति यजमान सहाय मुपादास्यते, एवं प्रकरणे प्रतिपदौ भविष्यतः तस्मात् नोत्कृष्येते—इति ॥

सू न प्रकृतेरेकसंयोगात् ॥ १९ ॥ (पू० नि०) ॥

भा प्रकृतिर्हि ज्योतिष्टोमः, प्रत्यक्षास्तत्र धर्मा आम्नाताः, न कुतश्चिच्चोदकेन प्राप्यन्ते। किमतः?। यद्येवं, प्रत्यक्षश्रुता न शक्या बाधितुम्। विकृतौ तु चोदकप्राप्ताः सन्त आनुमानिका बाध्येरन्—इति विवक्षितं हि ज्योतिष्टोमे कर्तुरेकत्वं प्रत्यक्षश्रुतं न सामर्थ्येन बाध्येत। यद्यपि हि अवश्यकर्तव्यता श्रूयते, तथाप्येक एव यजमानः श्रूयते—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत'—इति। तस्मात् ज्योतिष्टोमात् उत्कृष्येते प्रतिपदौ—इति।

'अथ कस्मात् पक्षाभिप्रायमेतत् न भवति? एकस्यां पक्षौ यजमाने च युवं हि स्थ—इति, द्वयोर्बहुषु वा पक्षेषु एते द्रष्टव्ये—इति यथा 'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्'—इति क्षौमवसानपरं वचनम् एवमिहापि प्रतिपद्विधानपरम्। उच्यते, असम्भवात् तत्र मुख्यस्य, प्रकरणामष्ट पुणो

भा. वाचकः स्त्रियाम्, इह तु द्वियज्ञे बह्वयज्ञे च सम्भवति न लक्षणाशब्दो भवितुमर्हति, बहुभ्यो यजमानेभ्यः—इति। यदप्येतत् द्विवचनं द्वयोर्यजमानयोः—इति, अत्रापि यः, एकशेषः पुमान् स्त्रियेति असावपि लक्षणाशब्द एव। अपि च, उपास्मै गायता नर इति प्रतिपदोर्निरवकाशत्वमेव स्यात्, तस्मात् उत्कृष्ये एते प्रतिपदौ—इति सिद्धम्॥ (३।३। ९ अ०)॥

---

जाघन्या अनुत्कर्षाधिकरणम्॥

सू. जाघनी चैकदेशत्वात्॥ २०॥ (पू०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति'*—इति। तत्र संशयः,—किमेतद्विधानं दर्शपूर्णमासयोः, उत पशौ?—इति। कथं दर्शपूर्णमासयोः? कथं च पशौ?—इति। यदि जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते ततः उत्कर्षः, अथ पत्नीसंयाजेषु जाघनी विधीयते ततो दर्शपूर्णमासयोरेव। किं प्राप्तम्?—उत्कर्षः। कुतः एतत् उत्कृष्यते?। जाघन्यां पत्नीसंयाजा विधीयन्ते—इति। कथं?। शब्दात् पत्नीसंयाजानां विधानम्, वाक्येन जाघन्याः, शब्दश्च बलवान् न वाक्यम्।

'ननु पत्नीसंयाजा विहिता एव'। सत्यं विहिताः, जाघन्याम् इदानीं पुनर्विधीयन्ते, या तत्सम्बद्धा कर्त्तव्येत्युच्यते। एवं सति दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजा विनापि जाघन्या न विगुणाः, जाघनी तु तत्र प्रतिपाद्यते। तस्मात् यत्र जाघनी प्रयोजनवती तत्र तस्याः प्रतिपत्तिः, पशौ च सा, न दर्शपूर्ण-

---

* जाघनी पशोः पुच्छं। पत्नीशब्दोऽत्र आकृतिचतुष्ट्यात्मकस्य कर्मणो नामधेयैकदेश इति माधवः।

भा मासयोः। एकदेशस्य आघनी प्रतिपाद्यमाना न पशुं प्रयोच्यते, तस्मात् अस्य विधानस्य उत्कर्षः—इति॥

सू **चोदना वाऽपूर्वत्वात्॥ २१॥ (सि०)॥**

भा आघनी वा पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन विधीयते। कुतः?। अपूर्वत्वात्, अप्राप्ता आघनी पत्नीसंयाजानां गुणत्वेन। तत्र सम्बन्धेन पत्नीसंयाजा विहिता आघनीसम्बन्धः तेषाम् अविहितः, यत्र च सम्बन्धो विधीयते, तत्र अन्यतरस्य अन्यत्र विधानं, सम्बन्धो नान्तरीयकः। यदा सम्बन्धस्य विधानं नान्तरीयकौ सम्बन्धिनौ, यथोभौ लक्षणत्वेन, तत्र सम्बन्धेन सम्बन्धो विधीयते, यत्र त्वन्यतरो लक्षणत्वेन, तत्र एकं लक्षयित्वा अन्यतरो विधीयते, लक्षणत्वेन च अत्र पत्नीसंयाजाः। कथम् अवगम्यते?। पत्नीसम्बन्धात् न सर्वो यागः, कश्चिदेव तु लक्ष्यते यस्य पत्नः साधनत्वेन।

'अथ कस्मात् न आघनीं लक्षयित्वा पत्नीसंयाजा विधीयन्ते'?। न अस्य अपूर्वस्य यागस्य पत्नः शक्यन्ते विधातुम्, आघन्यां तु लक्ष्यमाणायां यागे सपत्नीके विधीयमाने वाक्यं भिद्येत। अस्ति त्वत्र विहितः सपत्नीको यागो यः पत्नीभिर्लक्ष्यते। तस्मात् यागं लक्षयित्वा आघनी विधीयते। यत्तु, वाक्येन आघनीविधानं श्रुत्या यागस्य—इति, तदिह याग विधानं न सम्भवति—इत्युक्तम्, वाक्यभेदप्रसङ्गात्, तस्मात् आघनीविधानम्। एवञ्चेत् दर्शपूर्णमासयोर्विना आघन्या विगुणः पत्नीसंयाजयागः स्यात्, तस्मात् अनुत्कर्षः—इति॥

सू **एकदेश इति चेत्॥ २२॥ (आभा०)॥**

भा अथ यदुक्तं,—एकदेशो आघनी न पशुं प्रयोच्यते, तस्मात् उत्कर्षः—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्॥

सू. न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥ २३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोर्जाघनी शास्त्रेण उच्यते। एवं पशोर्निष्पन्नया जाघन्या पत्नीसंयाजा यष्टव्याः—इति। अविशिष्टा जाघनी विधीयते, सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः क्रीत्यानीयमाना, तस्मात् अनुत्कर्षः—इति॥ (३।३।१० अ०)॥

---

सन्तर्दनस्य संस्थाविशेषाधिकरणम्॥

सू. सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात्॥ २४॥ (पू० प०)॥

भा. ज्योतिष्टोमे अभिषवणफलके प्रकृत्य श्रूयते,—'दीर्घसोमे सन्तृद्यात् धृत्यै'*—इति। तत्र सन्देहः,—किं सन्तर्दनं ज्योतिष्टोमे एव, आहोस्विद्दीर्घकालेषु सोमेषु†—इति। उच्यते,—नैतत् लुप्तार्थं प्रकृतौ, तस्मात् नोत्कृष्येत—इति। 'आह नन्वसन्तर्दनमपि श्रूयते,—असन्तृण्णे भवत—इति'। उच्यते,—क्रयणवत् विकल्पिष्यते, यथा 'हिरण्येन क्रीणाति गवा क्रीणाति'—इत्येवमादीनां विकल्पः, एवमत्रापि विकल्पो भविष्यति,—सन्तर्दनम् असन्तर्दनं वा भविष्यति—इति॥

सू. उत्कर्षो वा, ग्रहणाद्विशेषस्य॥ २५॥ (पू० सि०)॥

भा. उत्कृष्यते वा सन्तर्दनं, गृह्यते हि विशेषो,—'दीर्घसोमे

---

* सोमयागविशेषो दीर्घसोमः। अन्योन्यवियोगेन शैथिल्यं मा भूदिति दृढसंश्लेषः सन्तर्दनमिति माधवः।

† एते अत्र पक्षाः सम्भवन्ति,—किं शुद्ध एव ज्योतिष्टोमे निवेशः, दीर्घयजमानके वा, अथ वा उक्थ्यादिसंस्थास्वेव, अथवा सत्राहीनयोरेव, उत ज्योतिष्टोमान्यमात्रे? इति वार्त्तिकम्।

भा. सत्त्वात्'—इति ; ज्योतिष्टोममपेक्ष्य सत्राणि कालतो दीर्घाणि भवन्ति ॥

सू. कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥ (आ०)॥

भा. नोत्कृष्येत वा सन्नर्दनं ज्योतिष्टोमात्। एवं प्रकरणम् अनुगृहीतं भवति, दीर्घसोमशब्दस्य कर्तृतो भविष्यति,—दीर्घस्य यजमानस्य सोमो दीर्घसोमः—इति ॥

सू. क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥ २७ ॥ (आ० नि०)॥

भा. नचैतदस्ति,—ज्योतिष्टोमे सन्निवेशः—इति, दीर्घकाले सोमे क्रियेत, क्रतुत एव दीर्घत्वं न कर्तृतः। कुतः?। अर्थवादानुपपत्तेः, धृत्या—इत्यर्थवादो भवति, धारणायेत्यर्थः, दीर्घकाले सोमे पुनःपुनर्ग्रावभिरभिहन्यमाने सोमाभिषवणफलकयोर्धारणप्रकाशाम् धृत्या—इत्यर्थवाद उपपद्यते, तस्मात् उत्कर्षः—इति ॥

सू. संस्थाश्च* कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥ २८ ॥ (पू०)॥

भा. इदं पदोत्तरं सूत्रम्। कानि पदानि?। 'अथ किमर्थम् संस्थासु न निवेशः? तथा सति प्रकरणम् अनुगृहीतम् भविष्यति, दीर्घसोमशब्दश्च ; दीर्घकालो हि अग्निष्टोममपेक्ष्योक्थ्यादिषु संस्थासु सोमः'—इति। उच्यते,—न संस्थासु दीर्घकालत्वेऽपि सोमेत्यर्थवाद उपपद्यते, तावानेव हि तत्र सोमो 'दशमुष्टीर्मिमीते—इति' वचनात्। तत्र धारणे न विशेषः कश्चित्, तस्मात् उत्कर्ष एव ॥

---

* संस्थासु इति पाठः केवलं का० सं० पु० ॥

सू. उक्थ्यादिषु वार्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २९ ॥ (सि०)॥

भा. नचैतदस्ति,—उत्कर्षः—इति, प्रकरणानुग्रहादनुत्कर्षः, दीर्घसोमशब्दश्च दीर्घकालत्वात् उपपद्यते, तत्राप्यधिकोऽग्निष्टोमात् सोमः, प्रदानानि हि विवर्द्धन्ते, तान्यविवृद्धे प्रदेये न शक्यानि विवर्द्धयितुम्, पूर्णे च ग्रहे ग्रहशब्दो भवति, तेन न शक्यानि न्यूनानि पात्राणि ग्रहीतुम्। तस्मात् दारणाशङ्कायां धारणमाशंसितव्यं भवति, तत्र धृत्या—इत्युपपद्यते—इति॥

सू. अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०)॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—संस्थास्वपि अर्थवादोऽवकल्पते प्रदेयविवृद्ध्या—इति, नैतदेवं, व्यर्थैव हि स्तुतिर्भवेत्। कुतः?। सोमाविशेषात्, यावानेव अग्निष्टोमे सोमः, तावानेवोक्थ्यादिषु अपि संस्थासु, उक्थ्यादिष्वपि दशमुष्टिरेव सोमो गृहीतव्यः। 'नन्वर्थात् प्रदेयं विवर्त्स्यति'—इति। दशमुष्टिः स कथं शक्येत विवर्द्धयितुम्? चिपर्वेति च पर्वसङ्ख्यानियमात् न शक्यो बहुपर्वा ग्रहीतुम्, तस्मात् धारणविशेषादर्थवादानुपपत्तिः संस्थासु स्यात्, तस्मात् उत्कर्षः॥

सू. स्यादनित्यत्वात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०)॥

भा. नैतदस्ति,—उत्कर्षः—इति, संस्थासु स्यात्, प्रकरणानुग्रहात्। अर्थाच्च प्रदेयविवृद्ध्या दारणशङ्कायाम् अर्थवादः उपपद्यते, केन प्रकारेण प्रदेयं विवर्द्धिष्यते—इति, विप्रकृष्टपर्वा सोमो ग्रहीष्यते। अपि च तृतीये सवनेंऽशुरेकोऽभिषूयते, तस्य प्रमाणं च नाम्नातं, तमनेकपर्वाणं स्थूलपर्वाणं च ग्रहीष्यति,

भा तेन मद्देयविदद्विर्भविष्यति अतोऽर्थवादोऽवकल्पिष्यते, तस्मात् सर्वासु* निवेश —इति सिद्धम् ॥ (३।३।११ अ०) ॥

---

प्रवर्ग्यनिषेधस्य प्रथमप्रयोगविषयताधिकरणम् ।

सू सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे प्रवर्ग्यं मह्णस्य समाम्नायते,—'न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात् द्वितीये तृतीये वा प्रवृञ्ज्यात्'—इति। तत्र सन्देह, —किं ज्योतिष्टोमे सर्वत्वेव प्रयोगेषु न प्रवर्जितव्यम्, उत प्रथमे प्रयोगे प्रतिषेध?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे प्रतिषेध। कुत?। यज्ञसंयोगात् प्रथमशब्देन यज्ञोऽभिधीयते ज्योतिष्टोम, तस्य हि प्रथमसंयोग, एव समाम्नायते,—'एष वाव प्रथमो यज्ञाना यत् ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वा अथान्येन यजेत'—इति। यज्ञाना प्रथम—इति श्रुत्वा प्रथमशब्देन ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते एव च प्रकरणमनुगृह्यते, यदि क्रतोरेष वाद। तस्मात् सख्यायुक्त प्रतिषेधो ज्योतिष्टोमस्य प्रवर्ग्यं प्रतिषेधेत्—इति ॥

सू नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति,—यज्ञस्य एष वाद—इति, चतुर्ष्वपि वेदेषु न, प्रथमयज्ञ इत्येवसञ्ज्ञक कश्चित् यज्ञोऽस्ति, भवति तु प्रथमो

---

* अतः अविशेषात् संख्यासु द्विरात्रादिषु च उत्कर्षः। न च सप्तास्वेवेति मन्तव्यम् अविशेषादेव इति शास्त्रदीपिका। तत्र सप्तास्वेवेत्यवधारयितव्यमित्यादि तत्र दीर्घसोमत्वाविशेषात् सप्तदशीनेष्वपि तुल्यमिति सर्वधर्मसेत्यत्र वार्त्तिकव्याख्यानुसरणीयम् ।

भा. यज्ञस्य प्रयोगः, कर्तृसंयोगात्, पूर्वस्य द्वितीयादीनपेक्ष्य प्रथमशब्दो भवति, स प्रयोगस्य उपपद्यते, न क्रतोः। प्रयोगः श्रवणात् गम्यते, क्रतुः प्रयोगसम्बद्धत्वात्, श्रुतिश्च बलीयसी न लक्षणा। तस्मात् प्रथमे प्रयोगे न प्रवर्जितव्यम्—इति।

अथ यदुक्तं,—ज्योतिष्टोमेन सामानाधिकरण्यात् तद्वचनः—इति, लक्षणया सामानाधिकरण्यम्—इति तत् परिहृतम्। यत्तु प्रथमयज्ञः—इति यज्ञशब्देन सामानाधिकरण्यम्, तदपि यज्ञशब्दस्य यागवचनत्वात् अस्मत्पक्षस्य अबाधकम्॥ (३।३।१२ अ०)॥

---

पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकरणम्।

सू. पौष्णम्पेषणं विकृतौ प्रतीयेताचोदनात्प्रकृतौ॥ ३४॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः समामनन्ति,—'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि सः'—इति। तत्र सन्देहः,—किं पौष्णम्पेषणं प्रकृतौ, उत विकृतौ?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रकृतौ—इति। कुतः?। प्रकरणात्। 'ननु प्रकृतौ पूषणं न कस्यचित् हविषो देवतां समामनन्ति—इति'। उच्यते, प्राकृतीं काञ्चित् देवतां पूषशब्दो वक्ष्यति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यत्र पौष्णं हविरस्ति, तत्र तस्य पेषणं विधातुम् शक्यं, न च प्रकृतौ पूषास्ति, तस्मात् उत्क्रष्टव्यं पेषणम्—इति। यदुक्तम्,—काञ्चित् देवतां पूषशब्दो वक्ष्यति—इति, ब्रूयात्, यद्यन्यत्रापि मुख्यः पूषा न स्यात्। 'नन्वन्यत्र क्रियमाणे प्रकरणम् उपरुध्येत'। उपरुध्यतां, वाक्यं हि अस्योपरोधकम्। अथ वा नैव अत्र सन्देहः, एवमेव प्राप्तम् उच्यते,—पौष्णं पेषणं विकृतौ न प्रकृताविति, नास्ति पूष्णः प्रकृतौ

भा चोदना—इति। 'किमर्थं प्राप्तम् उच्यते?'। उत्तरत्र कथा वर्त्तिष्यते॥ (३।२।१३ अ०)॥

---

पौष्णपेषणस्य चरावेव निवेशाधिकरणम्॥

सू तत्सर्वार्थमविशेषात्॥ ३५॥ (पू०)॥

भा पौष्णं पेषणं प्रकृतौ श्रूयमाणं विकृतौ इत्युक्तम्। तत्र सन्देहः,—किं चरौ पशौ पुरोडाशे च, उत चरावेव?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—तत् सर्वत्र स्याच्चरौ पशौ पुरोडाशे च। कुतः?। अविशेषात्, न कश्चिद्विशेष आश्रीयते, तस्मात् सर्वत्र—इति।

सू चरौ वा, अर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात्पशौ न स्यात्॥ ३६॥ (सि०)॥

भा चरौ पौष्णं पेषणं विनियुज्येत, पुरोडाशे तावत् पेषणम् अर्थादेव प्राप्नोति नैवान्यथा पुरोडाशो भवति, तदर्थं तावत् न वचनं। पशौ च न स्यात् हृदयादिषु पिष्यमाणेषु तेषाम् आकारविनाशः स्यात्। तत्र को दोषः?। 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति'—इति न हृदयादवदायिष्यते तथान्यदप्यवदानं न यथा श्रुतादवदास्यते।

'ननु शक्यते पिष्टेभ्योऽपि हृदयादिभ्योऽवदातुम्'। न—इति ब्रूमः, आकारा हृदयादयो न मांसानि, उक्तमेतत् 'आकृति शब्दार्थः' (१।३।३३ सू०)—इति। यद्यपि पुनः तदाकृतिकं क्रियते, तथाप्यस्योत्पादनप्रदेशं प्रति मुह्येयुः, तस्मात् चरौ पौष्णं पेषणं भविष्यति इत्येवमर्थं वचनम्॥

सू चरावपीति चेत्॥ ३७॥ (आ०)॥

भा इति चेत् पश्यति भवान्—अर्थविप्रतिषेधात् न पश्वर्थम्—

भा. इति ; ननु चरावपर्थविप्रतिषेधो, विशदसिद्धे ओदने चरुशब्दम् उपचरन्ति, पिष्यमाणो हि पिष्टकं यवागूर्वा स्यात् खलिर्वा ॥

सू. न पक्तिनामत्वात् ॥ ३८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अत्रोच्यते,—सत्यं विशदसिद्धे ओदने चरुशब्दः प्रयुज्यते, विशदसिद्धः* चरुर्दीयते—इति, न त्वस्य विशदसिद्धिर्निमित्तम्। यदि विशदसिद्धिर्निमित्तं स्यात्, न पिष्टसिद्धे प्रयुज्येत। तथापि हि प्रयुज्यते,—पिष्टकाचरुः साध्यते—इति, अतोऽन्यदेतयोः सामान्यं, तन्निमित्तम्, तदेतत् उच्यते,—न पक्तिनामत्वात्—इति, न चरौ विप्रतिषेधः। कथम्?। पक्तिनामत्वात्, पक्तिनामैतत्,—चरुः—इति। अनवस्रावितान्तरूष्मपाकेन अभिनिर्वर्त्यस्य भवति चरुशब्दो वाचकः, तेन पिष्टे ओदने विशदौदने च प्रयोक्तारो भवन्ति,—चरुः—इति। यच्चोक्तमेव प्रयोजनम्, पूर्वपक्षे यथावपि पेषणं, सिद्धान्ते चरावेव॥ (३।३।१४ अ०)॥

---

पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाधिकरणम् ॥

सू. एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥ ३९ ॥ (सि०) ॥

भा. पौष्णं पेषणं विहतौ भवति चरावेव—इत्युक्तम्। अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किमेकदेवत्ये पौष्णे एतत् भवति, उत द्विदेवत्येऽपि?—इति। किं द्विदेवत्य उदाहरणम्?। राजसूये उत्तरे त्रिसंयुक्ते सोमापौष्णे एकादशकपाले ऐन्द्रापौष्णश्चरुः श्यावो दक्षिणा—इति, तत्र ऐन्द्रापौष्ण उदाहरणम्। किं प्राप्तम्?—एकदेवत्यस्य एव पेषणम्—इति। कुतः?। केवलसंयोगात्, यथा चतुर्द्धाकरणे॥

---

* चरुः सिद्ध, चरुर्दीयते इति पाठ० आ० सो०॥

सू. धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥ ४० ॥ (हे०) ॥

भा. द्विदेवत्ये विप्रतिषिध्येत धर्मः, पूष्णः पेषणं, न इतरस्य, तत्र यदि पूष्णो भागः पिष्येत, अपिष्ट इतरस्य स्यात्, तत्र विषमः पाको भवेत्, पाकनिमित्तश्च चरुशब्दः स विप्रतिषिध्येत। 'अथ अविरोधं मन्यमाना अपरस्यापि भागं पिंष्युः'। भागसंमोहः स्यात्। तत्र को दोषः?। अन्यस्य भागोऽन्यस्मै अवदीयेत। तथाऽयथाश्रुतं क्रियेत, तस्मात् अप्येकदेवत्ये पेषणम्—इति ॥

सू. अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ॥ ४१ ॥ (पू०) ॥

भा. देवतानिमित्तमेतत् पेषणं श्रूयते,—पूषा प्रपिष्टभागः कर्त्तव्यः —इति, स च द्विदेवत्येऽपि भागे पिष्यमाणे प्रपिष्टभागः कृतो भवति, न यथा चतुर्द्धाकरणे, तत्र हि तद्धितो निरपेक्षस्य भवति, न सद्वितीयस्य, आग्नेयीत:—इति समासोऽपि निरपेक्षस्य, न सद्वितीयस्य, इह तु प्रपिष्टशब्दस्य भागशब्देन सहान्यपदार्थो बहुव्रीहिः समासः, स्योऽपि समर्थयोरेव, न त्वत्र द्विदेवत्ये कश्चिदेवञ्जातीयको दोषः। तस्मात् एकदेवत्ये द्विदेवत्येऽपि वा चरावस्य भागः पेष्टव्य एव ॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४२ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गमप्येवं भवति,—'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' —इति, देवतानिमित्तं पेषणम्—इति स्तुतिर्दर्शयति। तथा 'सौमापौष्णं चरुम् निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः'—इति नेमपिष्टतां दर्शयति। तथा अर्द्धं पिष्टमर्द्धमपिष्टं भवति द्विदेवत्यत्वाय— इति देवतानिमित्तमेव पेषणं दर्शयति ॥

सू. वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावात् द्विचरावपेषणं भवति ॥ ४३ ॥ (पू० आ० नि०) ॥

भा. इदं पदोत्तरं सूत्रम्, नेमपिष्टं भवति—इति कस्मात् एतत् न वचनम्?—इति, उच्यते, यदि वचनमेतत् भवेत् सौमापौष्णमाचमनूद्य सर्वत्र पेषणं विदध्याच्चरौ पशौ पुरोडाशे च, तत्र सौमापौष्णस्य चरुसम्बन्धे नेमपिष्टसम्बन्धे च उभयस्मिन् विधीयमाने वाक्यम्भिद्येत। तस्मात् यो यः सौमापौष्णः तत्र तत्र नेमपिष्टता, 'तं प्रति' (सौमापौष्णमात्रं प्रति) शास्त्रवत्त्वं अर्द्धपेषणस्य, पुरोडाशेऽर्थात् सर्वपेषणे प्राप्ते अर्थाभावाच्च पशौ चरौ वा अपेषणे प्राप्ते वचनम् इदं भवेत्। तत्र चरुशब्दो न विवक्षितस्त्वार्थः स्यात्, प्रदर्शनार्थः कल्प्येत, पेषणानुवादश्च पुनर्नैष विरोधो भवति, तस्मात् भवत्येव लिङ्गम्। 'ननु अङ्गनाशभयात् पशोरपेषणम्'। न—इति ब्रूमः,—अर्द्धपेषणे न अङ्गनाशः अपिष्टादवदास्यते, पेषणं च अदृष्टार्थम् ॥

सू. एकस्मिन् वार्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ॥ ४४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. एकदेवत्ये वा पौष्णे पेषणं भवितुमर्हति, न ऐन्द्रापौष्णे। कुतः?। नैष देवताधर्मो विधीयते, पूष्णो भागः पिष्ट उपयोक्तव्यः—इति। कस्य तर्हि?। अर्थस्य धर्मः। कः पुनरर्थः?। यागः। कथमवगम्यते? न देवताधर्मः—इति। उच्यते, न हि तस्य भागोऽस्ति।

'ननु यत् देवतायै दीयते, तत् तस्या भागो भवति'। उच्यते, एतत् हि देवताम् उद्दिश्य त्यज्यते, न च त्यागमात्रेण देवतास्वत्वं भवति, परिग्रहणेन हि स्वस्वामिसम्बन्ध आपद्यते, न च परिगृहीतं देवतयेति किञ्चन प्रमाणमस्ति। यच्च यं भजते, स

भा. तस्य भागः, न च हविर्देवता भजते, तस्मात् नास्ति पूष्णो भागः।

अथापि कथञ्चित् भवेत् भागः, तथापि न देवताया धर्मः पेषणं भवितुमर्हति, निःप्रयोजनो हि तथा स्यात् अयागधर्मत्वात्। 'कथं तर्हि प्रकरणान्तरे समाम्नातो यागधर्मो भविष्यति?—इति'। उच्यते, वाक्यसंयोगात्। 'ननु च देवतया एव संयोगः श्रूयते न यागेन'—इति। उच्यते,—भागाभावात् अनर्थकत्वाच्च न देवतासंयोगः—इत्युक्तम्।

'तथापि तु यथा यागसम्बन्धो भवति, तथा वक्तव्यम्'। तदुच्यते; अयमत्र पूष्णो भागः यः पूषणमुद्दिश्य त्यज्यते, यस्य द्रव्यस्य त्यागे पूषा देवता, नचैन्द्रापौष्णे भवति पूषा देवता, न स चरुः पूष्णः स्वत्वेन सम्बध्यते, तस्मात् ऐन्द्रापौष्णे न कश्चिदस्ति पूषणश्चरुणा सम्बन्धः; केवले तु पूषणि देवताभूते तस्मै सङ्कल्पितो भागो भवति। कथं?। यमुद्दिश्य सङ्कल्पो भवति स तस्य भागः—इति प्रसिद्धिरेषा, तेन यद्यपि पूषा स्वेनोच्चारणेन इन्द्रापूष्णोः उपकारकमुच्चारणं कुर्वन् उपकारको भवेत्, तथापि न तस्य द्विदेवत्यो भागः—इत्युच्यते, असङ्कल्पनात्। केवले पूषणि देवताया चरोः पेषणं क्रियते, न ऐन्द्रापौष्णेषु द्विदेवत्येषु—इति॥

सू. हेतुमात्रमदन्तत्वम्॥ ४५॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. यदुक्तम्,—अदन्तको हि—इति देवताधर्मं दर्शयति—इति; अर्थवाद एव इतरस्मिन् अपि पक्षे उपपद्यते॥

सू. वचनं परम्॥ ४६॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. अथ अपरं यत्कारणम् उक्तं,—नेमपिष्टम्—इति द्विदेवत्ये पेषणं दर्शयति, अर्द्धपिष्टं भवत्यर्द्धमपिष्टं द्विदेवत्यत्वायेति

भा. देवताधर्मं दर्शयति—इति; अनोच्यते, एवं सति वचनमिदमप्राप्ते भवतीति। 'नन्वनेकार्थविधानमेकं वाक्यं प्राप्नोति'। उच्यते, सति पक्षान्तरे अनेकार्थविधिः पक्षान्तराश्रयणेन परिह्रियते, असति पुनः पक्षान्तरे उच्चारणानर्थक्यमसत्परिजिहीर्षयाऽनेकार्थं वाक्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। तस्मात् न द्विदेवत्ये मेषणम्—इति सिद्धम्॥ (२।३।२५ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य तृतीयश्चरणः समाप्तः॥

तृतीये अध्याये चतुर्थः पादः ॥

अथ निवीतस्यार्थवादताधिकरणम् ॥

सू निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते'—इति। निवीतं मनुष्याणाम् इत्यत्र सन्देहः,—किमयं विधिरुतार्थवादः? —इति। यदा विधिः, तदा किमयं पुरुषधर्मः उत कर्मधर्मः?। अथ यत्प्रकरणे मनुष्याणां, तत्र विधिः, उत मनुष्यप्रधाने कर्मणि निविशते?—इति।

किं प्राप्तम्?—विधिर्मनुष्यधर्मश्च—इति, यदि विधिरेवम् पूर्वमर्थं विदधदर्थवान् भवति, इतरथा अर्थवादमात्रम् अनर्थकम्। विधिश्चेत् पुरुषधर्मो 'निवीतं मनुष्याणाम्'—इति पुरुषप्रधानो निर्देशः। कथमवगम्यते?। न, अत्र मनुष्या विधीयन्ते, मनुष्याणाम् निवीतं विधीयते न चाविज्ञातम् अङ्गम् भवति, यदि मनुष्या अपि विधीयेरन् वाक्यम्भिद्येत। तस्मात् निवीतं मनुष्याणाम् उपकारकम्।

'ननु प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयो उपकारकम्। प्रकरणात् हि वाक्यं बलवत्तरम्। अपि च गुणभूतेषु मनुष्येषु कारक सम्बन्धस्य विवक्षितत्वात् तृतीया भवेत् षष्ठी त्वेषा सम्बन्ध लक्षणा, तत्र गुणभूतेषु मनुष्येषु मनुष्यग्रहणं नैव कर्त्तव्यम् स्यात्, मनुष्यैरेव तत् क्रियमाणं क्रियेत, मनुष्यप्रधानपक्षे तु कर्त्तव्यम् ॥

सू अपदेशो वा, अर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ (आ०) ॥

भा अपदेश—इति ज्ञायमानस्य वचनम्। स एष न विधि अनुवाद एष । कुत ?। अर्थस्य विद्यमानत्वात्। प्राप्त एवार्थो, —यत् निवीत मनुष्याणाम् निवीत हि मनुष्या मायश स्वार्थं कुर्वन्ति, तस्मात् अनुवाद ॥

सू विधिस्त्वपूर्व्वत्वात् स्यात्* ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा विधिरेव भवेत् तथा प्रयोजनवान् इतरथा वादमात्रम् अनर्थकम् पूर्ववान् अनुवादो भवति, अय त्वपूर्वो,—यत् नियमेन निव्यातव्यम्—इति ॥

सू स प्रायात्कर्म्मधर्म्मः स्यात् ॥ ४ ॥ (२य पू०) ॥

भा यदुक्तं—विधि इति एतत् गृह्यते यत्तु मनुष्यधर्मः—इति, तत् नानुमतम् क्रतुधर्मोऽयं प्रकरणात् प्रकृत्य एव हि कर्ममायेषु धर्मेषु उच्यमानेष्वेतदभिधीयते तस्मात् कर्मधर्म ॥

सू वाक्यशेषत्वात् ॥ ५ ॥ (२य पू० यु०) ॥

भा निवीतं मनुष्याणाम् इत्यस्य वाक्यशेष समाख्या—आध्वर्यवम्—इति, यदि दर्शपूर्णमासयो शेष ततोऽध्वर्युणा कर्त्तव्यम् तत्र समाख्याऽनुगृहीष्यते ॥

सू तत्प्रकरणे, यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥ ६ ॥
(३य पू०) ॥

भा उच्यते,—प्रकरणात् समाख्यानाच कर्मधर्मो विज्ञायते,

---

* विधिस्तु पूर्वत्वात स्यादिति पाठः का० स०

भा. वाक्यात् मनुष्यधर्मः, तस्मात् उत्कर्षमर्हति'। न—इति ब्रूमः, —प्रकरणे एवाभिनिविशमानस्य मनुष्यप्रधानताऽवकल्पिष्यते। कथ ?। यत् दर्शपूर्णमासयोर्मनुष्यप्रधानं, तत्र निवेक्ष्यतेऽन्वा हार्यकर्मणि, प्रकरणं च एवमनुग्रहीष्यते, वाक्यञ्च ॥

सू. तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसङ्ख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ७ ॥ (४र्थ पू०) ॥

भा न एतदस्ति,—प्रकरणे निवेशः—इति, मनुष्यप्रधाने कर्मणि निवीत स्यात् आतिथ्ये। कुतः ?। तुल्यवत्प्रसङ्ख्यानात्, तुल्यानि च एतानि प्रसङ्ख्यायन्ते। यत्तावत्, उपवीतं देवतानामुपव्ययते —इति, तत्प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोः उपवीतं विदधाति। यत् प्राचीनावीतं पितॄणाम्—इति, तत् पितृप्रधाने कर्मणि प्राचीनावीतं विदधाति। यदप्येतत्, निवीतं मनुष्याणाम्—इति, तदप्यातिथ्ये निरपेक्षं विदधाति। 'कथं गम्यते ?—मनुष्य प्रधाने विदधाति—इति'। मनुष्याणाम्—इति षष्ठ्यन्तेन सम्बन्धात्। 'मनुष्याणामेव प्राप्नोति, न मनुष्यप्रधाने'। उच्यते, मनुष्याणाम् कल्प्यमाने फलं कल्पनीयं, मनुष्यप्रधाने पुनः षष्ठी भविष्यति, सम्बन्धश्च एवमवकल्पिष्यते, फलं च एवं न कल्पनीयम्, तदुक्तं, (२।१।४३ सू०)—समेषु वाक्यभेदः स्यात्—इति।

'ननु मनुष्यप्रधानेन सहैकवाक्यता प्राप्तम्, पुनः प्रकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यामेकवाक्यतां यास्यति'। न हि द्वौ सम्बन्धौ एकस्मिन् वाक्ये विधीयेते, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। इतरस्य मनुष्यग्रहणस्य निवीतसम्बन्धार्थत्वात्, तेनैव सहैकवाक्यता भविष्यति प्रत्यक्षेण शब्देन, तदेकवाक्यतया च अर्थवत्त्वे सति न प्रकृतेन एकवाक्यता अवकल्प्यते। तस्मात् प्रकरणं बाधित्वा आतिथ्ये निवेक्ष्यते—इति ॥

सू. अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ (सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—विधिः स च मनुष्यप्रधाने कर्मणि—इति। मनुष्याणाम्—इति मनुष्यसम्बन्धोऽत्र श्रूयते, न मनुष्यप्रधानेन कर्मणा सम्बन्धः, मनुष्यप्राधान्ये च सति फलं कल्पनीयम्; आतिथ्यकर्मणा त्वनिर्दिष्टेन अप्रकृतेन अनुमेयेन सम्बध्येत। तत्र को दोषः?। प्रकरणात् उत्कृष्येत सम्भवन् तत्र। 'कथं सम्भवः?—इति चेत्'। अर्थवाद एषः स प्रकृतं स्तुवन् प्रकरणे सम्भविष्यति, विधिः सन् उत्कृष्येत। तस्मात् न विधिर्मनुष्यप्रधाने कर्मणि—इति ॥

सू. विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥ ९ ॥ (यु०) ॥

भा. इतश्च न विधिः। कुतः?। विधिना एकवाक्यत्वात्,—'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते'—इत्येष विधिः, अनेनास्य सहैकवाक्यता भवति, यदि इतरोऽपि विधिः स्यात्, वाक्यम्भिद्येत, न हि विधेश्च विधेश्चैकवाक्यता भवति, वचनव्यक्तिभेदात्। तत्र एकवाक्यतारूपं बाध्येत। किमेकवाक्यतारूपम्?। निवीतं मनुष्याणाम्—इति प्राप्तानुवादः। प्राप्तस्य किमर्थेन पुनर्वचनम्?। उपवीतस्तुत्यर्थेन। कथमुपवीतस्तुतिः?। निवीतम् अयोग्यं देवकर्मणि दर्शपूर्णमाससंज्ञके, मनुष्याणां हि तत; तथा प्राचीनावीतं पितृणाम्, न देवकर्मणि; उपवीतं तु तत्र योग्यं, तस्मात् उपव्यातव्यम्—इति। यथा, यादृशोऽस्य वेशः, तादृशो नटानां, यादृशो देवदत्तस्य तादृशो ब्राह्मणानाम्—इति, देवदत्तवेशप्रशंसार्थम् इतरवेशसङ्कीर्तनम्. एवम्, इहाप्युपव्यानस्तुत्यर्थेन निवीतसङ्कीर्तनम्; नास्त्यत्र विधायकः शब्दो,—निवीतं मनुष्याणां कर्त्तव्यम्—इति। 'आतिथ्यप्रयोगवचनं, तस्य कर्त्तव्यताविधायकम्—इति चेत्'।

भा स्तुत्यर्थेनार्थवत्त्वे सति न शक्यं कल्पयितुम्, परोक्षं हि तत् आनर्थक्यपरिजिहीर्षया कल्प्येत, परिहृते त्वानर्थक्ये इह पुनर्न किञ्चित् कल्पनीयम् तस्मात् अर्थवादः, एवं च वाक्येन अविरुद्धं प्रकरणम् अर्थवत् भवति ॥* (२ । ४ । १ अ०) ॥

---

दिग्विभागस्यानुवादताधिकरणम् ।

सू **दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात् ॥ १० ॥**

भा ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते,—'प्राचीं देवा अभजन्त दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्या उदीचीमसुराः †—इति। (अपरेषाम् 'उदीचीं रुद्राः —इति।) तत्र सन्देहः,—किं विधिरुतार्थवादः ?

---

* "अतः परं षट् सूत्राणि भाष्यकारेण न लिखितानि। तत्र व्याख्यातारो विवदन्ते, केचिदाहुः विस्मृतानीति। लिखितो ग्रन्थः प्रलीन इत्यपरे। प्रकाशत्वादुपेक्षितानीत्यन्ये। अनर्थकत्वादित्यपरे, तथा च दिग्विभागश्च तद्वदिति निवीताधिकरणातिदेशस्तदानन्तर्यादुपपद्यते इति। वृत्त्यन्तरकारैस्तु सर्वैर्व्याख्यातानि। सन्ति च जैमिनेरेव प्रमाणान्यप्यत्यन्तसारभूतान्यपि सूत्राणि व्यवहितातिदेशाच्च पारम्पर्य-मथ तद्वदित्यादिषु व्याप्यता। तस्मात् सूत्रार्थमात्रं व्याख्येयम्। तत्र केचित् त्रीण्यधिकरणानि कल्पितानि, 'यथैतत्तादि' इत्यादि वार्त्तिक-मत्रानुसन्धेयम्। यानि सूत्राणि न सन्ति, तानि एतानि,—'उपवीते लिङ्गदर्शनात् सर्वधर्मः स्यात् ।१। न वा प्रकरणात्तस्य दर्शनम् ।२। विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् ।३। उदक्त्वाप्यपूर्वत्वात् ।४। सतो वा लिङ्ग-दर्शनम् ।५। विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात् ।६। इति। एतेषां सूत्राणां व्याख्या वार्त्तिकादवधार्या ॥

† उदीचीं रुद्राः इति। अपरेषामुदीचीम् मनुष्या इति—इति पाठः का० की० पु० ॥

भा विधिः सन् किं मनुष्यधर्मः, उत कर्मधर्मः? अथ वा प्रकरणे मनुष्यप्रधाने कर्मणि निवेशः? किं वा आतिथ्ये?—इति।

किं तावत् प्राप्तम्?—दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्य अर्थहेतुत्वात्, य एष दिग्विभागः, स निवीतवत् विचार्यः, यो निवीते पूर्वपक्षः, स इह पूर्वपक्षो, यो प्रथमः, स प्रथमः, यः सिद्धान्त, स सिद्धान्तः। अर्थवत्त्वात् विधिर्मनुष्यसम्बन्धात् मनुष्यधर्मः—इति पूर्वपक्षः। प्रत्यङ्मुखा उदङ्मुखा वा पृष्ठत आदित्यं प्रांशु पदार्थान् अनुतिष्ठन्ति मनुष्याः—इत्यनुवादः। विधिरेव प्रकरणानुग्रहाच ज्योतिष्टोमधर्मः, वाक्यप्रकरणानुग्रहाय ज्योतिष्टोमे मनुष्यप्रधाने दक्षिणाव्यापारे निवेशः—इति अपरः पक्षः। भिन्नत्वात् वाक्यानाम् आतिथ्ये निवेशः—इति अपरं मतम्। अर्थवादोऽयं प्रकरणानुग्रहाय, 'प्राचीनवंशं करोति'—इत्यनेन विधिना एकवाक्यत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्—इति सिद्धान्तः॥ (२।४।२ अ०)॥

---

परुषि दितादीनामनुवादताधिकरणम्॥

सू परुषि दित-पूर्ण-घृत-विदग्धञ्च तद्वत्॥ ११॥

भा दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—'यत् परुषि दितं* तत् देवानाम्, यदन्तरा, तत् मनुष्याणां, यत् समूलं, तत् पितृणाम्'—इति। तथा, यो विदग्धः, स नैर्ऋतः, योऽशृतः, स रौद्रः, यः शृतः, स सदेवत्यः, तस्मात् अविदहता श्रपयितव्यं सदेवत्वाय'—इति। ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'यत् पूर्णं, तत् मनुष्याणाम् उपरि, अधो देवानामधः पितृणाम्'—इति। तथा,—'घृतं

* परुषि पर्व्वणि दित खण्डितमिति माधव।

भा देवानां मस्तु* पितॄणां निष्पक्वं मनुष्याणाम्—इति। तत्र मनुष्यसम्बद्धेषु रौद्रे च सन्देहः—किं मनुष्याणां धर्मा विधय उत कर्मधर्मा अनुवादाः ?। अथ यत् प्रकरणं मनुष्यप्रधानं रौद्रं च तत्र निविशन्त उत आतिथ्ये उत अर्थवादः ?—इति।

किं तावत् प्राप्तम् ?—एतान्यपि तद्वत् यो निवीते पूर्वः पक्षः स एतेषां पूर्वः पक्षः यो मध्यमः स मध्यमः च सिद्धान्तः स एव सिद्धान्तः। अर्थवत्त्वात् मनुष्यसम्बन्धाच्च विधयो मनुष्यधर्माश्च—इति पूर्वः पक्षः। उपरि मूले च अनियमात् लाघवम् अञ्जत रोगहरत्वात् रौद्रे पूर्णेऽपि शरण्यत्वात् लाघवम् एव घृतं शिरसि निहितं मनुष्याणां सुखकरमेव अर्थप्राप्तत्वात् अनुवादः—इत्युत्तरः पक्षः। विधिः कर्मधर्मप्रायात् समाख्यानाच्च कर्मधर्मः—इति पक्षः। अन्वाहार्ये दक्षिणासु च—इति वाक्यप्रकरणानुग्रहात्पक्षः। आतिथ्ये—इति वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अर्थवादः—इति प्रकरणात् विधिना एकवाक्यत्वात्—इति 'यवं प्रतिलुनाति उपरि बिलात् गृह्णाति नवनीतेनाभ्यङ्क्ते अविद्वता अपयितव्यम्—इत्येभिः सर्वेषामेकवाक्यभावः। तस्मात् एते न विधयोऽर्थवादाः—इति॥ (२।४।३ अ०)॥

---

अन्ततवदनप्रतिषेधस्य क्रतुधर्मताधिकरणम्॥

सू अकर्म क्रतुप्रयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात्॥ १२॥ (पू०)॥

भा दर्शपूर्णमासयोराम्नायते—नानृतं वदेत्—इति। तत्र सन्देहः—किमयं प्रतिषेधो दार्शपौर्णमासिकस्य पदार्थस्य

---

* मस्तु दधिभवं मण्डम्। निष्पक्वं शिरसि प्रक्षेपणीयद्विलीनं नवनीतम्। पक्वं वा इति माधवः।

भा. प्रकरणे एव निवेशः, अथ प्रायेण प्राप्तस्य कर्मणः पुरुषं प्रति प्रतिषेधः पुरुषधर्मोऽयम्?—इति। किं प्राप्तं?—पुरुषधर्मः स्यात्, पुरुषस्यायम् उपदिश्यते न दर्शपूर्णमासयोः। कुतः?। पुरुषप्रयत्नस्य श्रवणात्, वदेत्—इति वदनमनुतिष्ठेत्—इति श्रुत्या गम्यते, तस्य पुरुषसम्बन्धः श्रुत्यैव, कर्मसम्बन्धः प्रकरणात्; श्रुतिश्च प्रकरणात् बलीयसी, इतरथा वदनं भवति—इत्येतावत्यर्थे वदनम् अनुतिष्ठेत्—इत्यविवक्षितस्वार्थः परार्थो विध्यर्थो भवेत्, पुरुषस्योपदेशे पुनर्विवक्षितस्वार्थ एव शब्दः, तस्मात् पुरुषस्य उपदेशः, यस्य च उपदेशः, तस्यायं प्रतिषेधः। स चायमर्थ उपनयनकाल एव पुरुषस्य प्रतिषिद्धः, तेन संयोगेन अयं नित्यानुवादः।

'नन्वेषा श्रुतिः तस्या स्मृतेर्मूलम्'। नैषा तस्या मूलं भवितुमर्हति, यदि इयं तन्मूलिका भवेत्, दर्शपूर्णमासयोः—इति स्मर्येत, उपनयनकाले एव च अस्य उपदेष्टारो भवन्ति। अपि च पुरुषधर्मः इत्युपदिशन्ति, तस्मात् नैषा स्मृतिरतः श्रुतेरिति॥

सू विधिर्वा संयोगान्तरात्॥ १३॥ (सि०)॥

भा विधिर्वायं दर्शपूर्णमासयोर्नानृतं वदेत्—इति, न अनुवादः। कुतः?। संयोगान्तरात्, नियमानुष्ठानेन पुरुषस्य सम्बन्धः स्मर्यते, पदार्थप्रतिषेधेन इह संयोगः पुरुषस्य, कथम् अन्यत् श्रूयमाणम् अन्यस्यानुवादो भविष्यति, तस्मात् विधिः प्रतिषेधस्य अयम्। 'आह गृह्णीम एतत्,—विधिः—इति; पुरुषधर्मः—इति तु गृह्णीमः पुरुषप्रयत्नस्य श्रुतत्वात्'। अत्र ब्रूमः,—सर्वेषु आख्यातेषु क्रियानुष्ठानं श्रूयते न कारकं किञ्चित्। कथमेतत् गम्यते?। प्रत्ययात्, यतः क्रियामनुष्ठेयां प्रतीमः।

'ननु कर्त्तारमपि प्रतियन्ति'। सत्यं प्रतियन्ति, न तु शब्दात्। कुतः तर्हि?। अर्थात्, यदा क्रिया अनुष्ठातव्या विधीयते,

भा तदा अर्थात् कारकव्यापारो गम्यते, यस्यार्थात् गम्यते न च श्रौत यश्च न श्रौतो न स वाक्यात् गम्यते, कथमसौ प्रकरणं बाधिष्यते।

आह — प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत —इत्याचार्योपदेशात् कर्ता शब्दार्थ कर्म चेत्यवगम्यते कर्त्तरि शप् कर्मणि यक्—इति प्रत्यायार्थं कर्त्तारं कर्म च समामनन्ति आचार्या तस्मात् शब्दार्थ कर्ता कर्म च—इति।

उच्यते —न आचार्यवचनात् सूत्रकारवचनात् वा शब्दार्थो भवति प्रत्ययादसौ गम्यत। अनुष्ठेया च क्रिया प्रतीता सती कारकाणि प्रत्याययति—इत्यवगतमेतत्। अपि च नैव कर्ता प्रत्ययार्थ कर्म वेति आचार्या आह। ननु कर्त्तरि कर्मणि च लकार श्रूयते। नासौ कर्त्तरि कर्मणि वा श्रूयते कि तु एकस्मिन् एकवचन द्वयोर्द्विवचन बहुषु बहुवचनम्—इति तत्र अपर वचन तत्र एवमभिसम्बन्ध क्रियते—एकस्मिन् कर्त्तरि द्वयो कर्मणोर्बहुषु कर्तृषु—इति। एव कर्मण्येकत्वादि सम्बन्ध। तत्र नैव भवति —कर्त्तरि भवति एकस्मिश्च—इति कथ तर्हि?—कर्त्तरि एकस्मिन् एकवचन कर्त्तु एकत्वे—इत्यर्थं। एव द्वित्वे बहुत्वे कर्मणि च। एव वर्ण्यमाने लौकिकन्यायानुगत सूत्रार्थो वर्णितो भवति सूत्राक्षराणि च न्यायानुगतानि भवन्ति आगमोऽपि चायमेव। यदा एकत्वादयो विभक्त्यर्था तदा कर्मादयो विशेषणत्वेन—इति।

ननु एतदप्यस्ति यदा कर्मादयो विभक्त्यर्था तदा एकत्वादयो विशेषणत्वन—इति। उच्यते —अर्थप्राप्ता हि कर्मादयस्ते न भवन्ति शब्दस्य अभिधेयभूता, न तु एकत्वादयोऽर्थात् प्राप्नुवन्ति तेन ते शब्दार्थभूता तस्मात् यद्यपि विशेषणम एकत्वादय तथापि विशेषणमेव अभिधीयते यथा हिरण्य मालिन ऋत्विज प्रचरन्ति—इति हिरण्यमालित्वं विशेषण

भा. त्वेन, तथापि तदेव विधीयते, तस्मात् कर्त्तुः एकत्वं शब्दार्थो न कर्त्ता ।

'ननु कर्त्तुः एकत्वात् एकवचनं, कर्त्तुर्द्वित्वात् द्विवचनं, कर्त्तुर्बहुत्वात् बहुवचनं. तेन नूनं कर्त्ता शब्दार्थः—इति गम्यते'। उच्यते,—नैतदनुमानात् शक्यं, कर्त्ता अनुष्ठेयक्रियावगमादेव अवगम्यते—इति प्रत्यक्षं; तत्तावत् केनचित् न बाध्यते; एकवचननिर्देशे कर्त्रेकत्वं गम्यते, द्विवचननिर्देशे कर्त्तुर्द्वित्वं, बहुवचननिर्देशे कर्त्तृबहुत्वं, तदपि प्रत्यक्षं, कतरदत्रानुमानं बाधितुमर्हति—इति, यथा आकृतिवचने शब्दे द्विवचने द्रव्यभेदोऽवगम्यते, एकवचने द्रव्यैकत्वम्, एवम् इहापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् न श्रौतः, न चेत् श्रौतः, न प्रकरणं बाधिष्यते।

'यत्तु 'पुरुषप्रयत्नोऽनर्थको भवति कर्मधर्मपक्षे प्रयोगवचनेन कर्त्तव्यतावचनात्'—इति। तदुच्यते,—अङ्गं यत् प्रकरणेन गृह्येत, न चाविहितम् अङ्गं भवति, तस्मात् अङ्गत्वाय विधातव्यम्, अस्मिन् अपि पक्षे; अतो मन्यामहे,—प्राकरणिकस्य अयं निषेधः—इति। तस्मात् तत् अङ्गं, यदनृतं तत् न वाच्यम्—इति, तेन यत् सङ्कल्पितं, तदङ्गं, तदेव कर्त्तव्यं, भ्रीहिमयं सङ्कल्प्य न यवमयः प्रदेयः।

'आह यदा उभयोः अपि पक्षयोर्नानृतं वदितव्यं, तदा को विचारेणार्थः?'—इति। उच्यते,—पूर्वस्मिन्पक्षे पुरुषधर्मः, तत्र भेदे स्मार्त्तं प्रायश्चित्तम्, सिद्धान्ते दर्शपूर्णमासधर्मः, तत्र भेदे याजुर्वेदिकं प्रायश्चित्तम्॥ (३।४।४ अ०)॥

---

अङ्गाभ्यमानधर्माणां प्रकरणे निवेशाधिकरणम् ॥

सू. अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पू०)॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः स्वर्गं

भा लोकमायन्नोऽस्य दीक्षातपसी प्रावेशयंस्तीर्थे स्नाति तीर्थमेव हि सजातानां भवति'* —इति। दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—'तस्मात् अभ्यज्यमानोऽनुब्रूयात्† मयि दक्षक्रतू—इति, प्राणापानावेवात्मन्धत्ते'—इति। तत्र सन्देहः,—किमयं धर्मः प्रकरणे निविशते, उत पुरुषस्य उपदिश्यते?—इति। किं तावत्प्राप्तम्? —'यज्ञोत्कर्षवत् पुरुषः, तदर्थत्वात्', एष विधिः प्रकरणात् उत्कृष्येत। कुतः?। पुरुषश्रुतेः,—ब्रूयात्—इति पुरुषप्रयत्नस्य विवक्षितत्वात्।

'ननु प्रकरणं बाध्यते'। उच्यते, बाध्यतां प्रकरणं, वाक्यं ह्यस्य बाधकं, अभ्यज्यमानसंयोगात्, प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः उपदिश्यते—इति गम्यते, वाक्यात् अभ्यज्यमानस्य, वाक्यञ्च प्रकरणात् बलीयः। तस्मात् उत्कृष्येत—इति। फलमप्याम्नन्ति,—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति, स च संयोगो बाध्यते। तस्मात् पुरुषधर्मः, प्रकरणात् उत्कृष्येत यज्ञोत्कर्षवत्, यथा यज्ञोत्कर्षसंयोगात् द्वादशोपसत्ता प्रकरणात् उत्कृष्यते, एवं अभ्यज्यमानसंयोगात् मयि दक्षक्रतू—इतिवचनम्॥

सू प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत्॥ १५॥ (सि०)॥

भा न वा उत्कर्षणम्। कुतः?। प्रकरणविशेषात्, प्रकरणयुक्तः एव अभ्यज्यमानो वचनेन संस्क्रियते, यथा यवादिद्रव्यं प्रोक्षणा-

---

* 'सुनर्मा लोकमायन्से' इत्यतः 'यस्य दीक्षा यजमानं प्रावेशयन् यस्य स्नाति साक्षादेव दीक्षातपसी अवभृथे तीर्थे स्नाति तीर्थे हि ते तां प्रावेशयन् तीर्थे स्नाति तीर्थमेव सजातानां भवति' इति पाठः का० सं० पु०।

† मार्जनकाले विदारितमुखः पुरुषो अभ्यज्यमान इति सायणः।

भा. दिना। 'ननु न शक्नोति प्रकरणं जञ्जभ्यमानशब्दम् एकदेशेऽवस्थापयितुम्, वाक्यं हि प्रकरणात् बलवत्तरमिति'। उच्यते, न ब्रूमः,—जञ्जभ्यमानशब्दः प्रकरणेन अप्राकरणिकात् पुरुषात् निवर्त्त्यते—इति ; किं तु फलं तत्र कल्पनीयम्। 'ननु प्रत्यक्षं श्रूयते फलं,—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति'। न—इति ब्रूमः, —न अत्र विधायकं शब्दम् उपलभामहे, य एषः,—प्राणापानावेवात्मन्धत्ते—इति, वर्त्तमानापदेश एष, न विधायकः ; स्तावकस्तु भवति प्रकृतवचनस्य, तस्मात् दर्शपूर्णमासाभ्याम् अन्यत्र एतत् न फलवत्। अतः पुरुषस्य दर्शपूर्णमासौ कुर्वतः संस्कारकर्म—इति गम्यते।

'आह पुरुषसंस्कारकर्म—इति गृह्यते, दर्शपूर्णमासावेव कुर्वतः—इत्येतत् न। कथं?। योऽपि हि अन्यत्र दर्शपूर्णमासाभ्यां, जञ्जभ्यते, सोऽपि जञ्जभ्यमानशब्देन उच्यते एव। न च, प्रकरणेन व्यावर्त्त्यते,—इत्येतत् उक्तम्, तस्मात् उत्कृष्यते'। अत्र उच्यते, नैव व्यावर्त्त्यते, संस्कृतेन तु तेन नास्ति प्रयोजनम्। 'ननु प्रकरणे पुरुषसंस्कारेणापि नास्ति प्रयोजनम्'। उच्यते, संस्कृतपुरुषो दर्शपूर्णमासावनुष्ठास्यति। 'आह उत्कर्षेऽपि सति संस्कृतोऽन्यत् अनुष्ठास्यति'। उच्यते,—नान्यस्य संस्कारो गुणो भवति, अप्रकृतत्वात्। 'आह प्रकृतस्यापि न गुणः, वाक्येन पुरुषधर्मः इत्यवगमात्'। उच्यते, आनर्थक्यात् न पुरुषधर्मोऽवगम्यते। तस्मात् अस्य प्रकृताभ्यां दर्शपूर्णमासाभ्याम् एकवाक्यता, न अन्येन फलवतापि कर्मणा, प्रकरणाभावात्, तस्मात् नोत्कर्षः।

यत्तु, प्रकरणे निवेशः—एतस्मिन्पक्षे ब्रूयात्—इत्यनुष्ठानवचनम् अविवक्षितस्वार्थम्—इति, एवं सति अत्यनुवादी भविष्यति, न पुरुषसम्बन्धविधानस्य प्रयोजनम् अस्ति—इति ॥

सू व्यपदेशादपकृष्येत ॥ १६ ॥ (आ० नि०)॥

भा अथ यदुपवर्णितं,—द्वादशोपसत्ता यथा उत्कृष्यते, तथेदमपि उत्क्रष्टव्यम्—इति। उच्यते, तद्धि वाक्येन अहीनानां व्यपदिश्यते, फलवन्तश्च अहीनाः, न च, तत्र ज्योतिष्टोमेऽहीनशब्दः, गौणत्वात्, व्यपदेशाच्च,—'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादश अहीनस्य'—इति। ततो युक्तं, द्वादशोपसत्ता यत्, प्रकरणात् उत्कृष्यते, न तु इह पुरुषसम्बन्धी निष्प्रयोजनत्वात्, अन्यस्य च प्रयोजनवत् प्रकरणेऽभावात्॥ (३।४।५ अ०)॥

---

अवगोरणादीनां पुमर्थताधिकरणम्।

सू शंयौ* च सर्वपरिदानात् ॥ १७ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'देवा वै शंयुं बार्हस्पत्यमब्रुवन् हव्यं नो वह—इति प्रहत्य, वचनमिदं भवति,—'किं मे प्रजायाः?—इति तेऽब्रुवन् यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयात् यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात् यो लोहितं करवत् यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानीयात्—इति। तस्मात् न ब्राह्मणायावगुरेत् न हन्यात् न लोहितं कुर्यात्—इति।

तत्र सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासयोरवगोरणप्रतिषेधः, उत पुरुषस्य उपदिश्यते?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोरवगोरणादिप्रतिषेधः,—न दर्शपूर्णमासयोर्ब्राह्मणस्य अवगोरितव्यम् प्रघातो वा कार्यो लोहितं वा प्रस्कन्दनीयम्। अन्य उपाय आरब्धस्य आनतये, तेनाप्याहार्येणानमति—

* सर्वार्थेति ब्राह्मणावगोरणादिप्रतिषेधवाक्योपपन्नमिति वार्त्तिकम्।

भा इति प्रकरणात् प्राप्नोति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—शयौ च प्रकरणात् उत्कर्षः। कस्मात्? । सर्वपरिदानात्, सर्वावस्थस्य ब्राह्मणस्यायं प्रतिषेध उक्तः, न दर्शपूर्णमासगतेनैव नावगोरणादि कर्त्तव्यम्—इति। 'ननु प्रकरणात् दर्शपूर्णमासधर्मोऽयम्'। सत्यं प्रकरणात्, एवं वाक्येन अवगुरमाणस्य धर्मः, वाक्यं च प्रकरणात् बलीयः।

'ननु जञ्जभ्यमानस्य इव प्रकरणे निवेशो भवेत्'। न—इत्युच्यते, तत्र फलं कल्पनीयं, इह क्लृप्तम्, अस्ति हि अत्र विधायकविभक्तिः,—शतेन यातयात्, सहस्रेण यातयात्, स्वर्गं लोकं प्रजानीयात्—इति, तस्मात् उत्कर्षः एवञ्जातीयकस्य—इति॥ (३।४।६ अ०)॥

---

मलवद्वास-संवादनिषेधस्य पुरुषधर्मताधिकरणम्॥

सू प्रागपरोधात्* मलवद्वाससः ॥ १८ ॥ (सि०)॥

भा दर्शपूर्णमासयो' श्रूयते,—'मलवद्वाससा न संवदेत्, नास्या अन्नमद्यात्—इति। तत्र सन्देहः,—किं मलवद्वाससा सह दर्शपूर्णमासाङ्गस्य संवादस्य प्रतिषेधः, उत पुरुषस्य सर्वत्र प्रतिषेधः?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयोः प्रतिषेधविधिः।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मलवद्वाससा सह संवाद उत्कृष्येत प्रकरणात्। कस्मात्?। प्रागपरोधात्, एवं श्रूयते,—'यस्य व्रत्ये ऽहनि पत्नी अनालम्भुका स्यात् तामपरुध्य यजेत'—इति। पत्न्या च सह संवादोऽध्वर्योर्दर्शपूर्णमासयोः अस्ति,—'पत्नि पत्नि एष ते लोकः'—इति, प्रसज्यमानः प्रतिषिध्येत, स चाप्राप्त

---

* अवरोधादिति क्वचित् पाठः एव भाष्येऽपि।

भा एव प्रागपरोधात् अपनीयता यागमनुतिष्ठताम् कथ सवाद प्रसज्येत? यत प्रतिषेधमर्हेत्। तस्मात् उत्कृष्येत मलवद्वाससा सह संवाद ॥

सू अन्नप्रतिषेधाच्च ॥ १९ ॥ (हे०)॥

भा अन्नप्रतिषेधश्च भवति —'नास्या अन्नमद्यादभ्यञ्जनं वै स्त्रिया अन्नम्'-इत्युपगमनप्रतिषेध एव विधीयते, स च प्रकरणे न प्रसक्त —इति प्रकरणात् उत्कृष्ट पुरुषधर्म एव निश्चीयते॥ (३।४।७)॥

---

सुवर्णधारणादीनां पुरुषधर्मताधिकरणम्॥

सू अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात ॥ २० ॥ (सि०)॥

भा अनारभ्य श्रूयते —'तस्मात् सुवर्णं हिरण्य भार्य्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति'—इति। सुवाससा भवितव्य रूपमेव बिभर्त्ति —इति। तत्र कि प्रकरणधर्म उत पुरुषधर्म ?—इति संशय। अत उच्यते,—'अप्रकरणे तु तद्धर्म ततो विशेषात्', पुरुषधर्म एवञ्जातीयक स्यात्। कुत ?। 'तत (प्रकरणाधीतात्) विशेषोऽस्य नाय प्रकरणाधीत यदि अप्रकरणे समाम्नात सर्वप्रकरणधर्म स्यात् अप्रकरणे समाम्नान न कञ्चित् विशेष कुर्यात्। तस्मात् एवञ्जातीयक पुरुषधर्म —इति॥

सू अद्रव्यत्वात्तु शेष स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०)॥

भा तुशब्द पक्षव्यावृत्तौ। न पुरुषधर्मो भवेत् अग्निहोत्रादीना शेष स्यात्। कस्मात्?। अद्रव्यत्वात् नात्र द्रव्यदेवत श्रूयते, यच्छ्रवणात् भाव्य यष्टव्यम्—इति परिकल्प्येत। असति तु द्रव्यदेवतासम्बन्धे विभक्तिरय धारणावचन सस्कारमात्री,

भा. संस्कारश्च शेषभूतस्य अवकल्पते नान्यथा, तस्मात् कर्मणाम् अग्निहोत्रादीनाम् शेषः। एवं, सुवाससा भवितव्यम्—इति ॥

सू. वेदसंयोगात् ॥ २२ ॥ (पू० यु० १) ॥

भा. आध्वर्यवम्—इति वेदसंयोगः शेषभूतस्य युज्यते, शेषभूतो हि अध्वर्युणा क्रियते, न पुरुषधर्मः,* दर्शपूर्णमासादीनां हि कर्मणां साङ्गानामङ्गानामध्वर्युः कर्त्ता। तस्मात् अपि कर्मधर्मा एवञ्जातीयकाः—इति ॥

सू. द्रव्यसंयोगाच्च ॥ २३ ॥ (पू० यु० २) ॥

भा. द्रव्यपरश्च अयं भवति निर्देशः,—सुवर्णम् भार्यम्—इति द्वितीयार्थसंयोगात्। द्रव्यसंस्कारश्च कर्मशेषपक्षे प्रयोजनवान्, अनर्थकः पुरुषधर्मे ॥

सू. स्याद्वास्य संयोगवत् फलेन सम्बन्धस्तस्मात् कर्मेति शायनः ॥ २४ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. स्यात् वा फलेन एवञ्जातीयकानाम् सम्बन्धः पुरुषधर्मः—इत्यर्थः, सुवर्णस्य वाससो वा धर्मा भवन् निःप्रयोजनः स्यात्।

'ननु सत्कृतेन सुवर्णेन वाससा च कर्म सेत्स्यति'। नैतदेवं, सुवर्णस्य अङ्गं न कर्मण उपकुर्यात्; श्रुत्यादीनामभावात् न कर्माङ्गम्। तस्मात्, दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति—इत्येवमादिना एवञ्जातीयकानाम् फलेन सम्बन्धः।

'ननु वर्त्तमानापदेशोऽयम्'। सत्यमेवमेतत्, आनर्थक्यपरिहाराय फलचोदनया सम्बन्ध एषितव्यो भवति। अन्यस्माच्च एषितव्यादेकवाक्यगतस्य विपरिणामो लघीयान्। कुतः?।

* पुरुषप्रधान इति का० सं० पु० ॥

भा प्रत्यक्षा तेनैकवाक्यता, परोक्षा अन्येन, विपरिणामश्च वर्तमानकालस्य अविवक्षा सम्बन्धस्य च तात्पर्याध्यवसानम्। तस्मात् एवञ्जातीयकं प्रधानकर्मापदेशं स्यात्, यथा प्रजापतिव्रतानां फलेन सम्बन्धः,—'एतावता हैनसाऽवियुक्तो भवति'—इति। एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् एवञ्जातीयकं पुरुषधर्मं—इति॥ (३।४।८)॥

---

जयादीनां वैदिककर्माङ्गताधिकरणम्।

सू शेषो प्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम्॥ २५॥ (पू०)॥

भा इह कर्मसंयुक्ता होमा जयादय उदाहरणम्। 'येन कर्मणा ईर्त्सेत् तत्र जयान् जुहुयात्'* राष्ट्रभृतो जुहोति—इति, 'अभ्यातानान् जुहोति'—इति। तत्रैते किं सर्वकर्मणाम् इष्ट्यादीनाम् शेषभूता, उत वैदिकानाम् अग्निहोत्रादीनाम्?—इति। शेषत्वं तु निर्ज्ञातकर्मसम्बन्धात् फलाश्रवणाच्च। किं तावत् प्राप्तम्?—सर्वकर्मणाम् शेषा, विशेषानभिधानात्—इति॥

सू होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात्॥ २६॥ (सि०)

भा न चैतदस्ति—सर्वकर्मणाम् कर्षणादीनामङ्गभूता—इति, होमा एते अतो व्यवतिष्ठेरन् आहवनीयसंयोगो भवति होमेषु—'यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति—इति, तेन यस्याहवनीयः तस्य एते अङ्गम्। न

---

* ईर्त्सेत् सिद्धिमिच्छेत्। चित्तञ्च स्वाहा इत्येवमादयो जयाः। ऋताषाडित्यादयो राष्ट्रभृतः। अग्निर्भूतानामित्यादयोऽभ्यातानाः इति माधवः।

भा. च, छध्यादीनि आहवनीये वर्त्तन्ते, न च, एषां गार्हपत्योऽस्ति, यतः प्रणीते आहवनीयः स्यात्। तस्मात् न कर्षणादीनाम् जयादयः ॥

सू शेषश्च समाख्यानात् ॥ २७ ॥ (सि०)॥

भा. इतश्च पश्यामो वैदिकानाम् शेषभूताः—इति। कुतः?। समाख्यानात्, आध्वर्यवम्—इति हि समाख्याते वेदे जयादयः समाम्नाताः सन्तोऽध्वर्युणा करिष्यन्ते। कर्षणादिषु अध्वर्योः अभावात् अनध्वर्युणापि क्रियमाणाः समाख्यां बाधेरन्, तस्मात् वैदिकानाम् शेषभूताः—इति॥ (३।४।९ अ०)॥

---

वैदिकाश्वप्रतिग्रहे इष्टिकर्त्तव्यताधिकरणम् ॥

सू दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०)॥

भा अस्त्यश्वप्रतिग्रहेष्टिः,—'वरुणो वा एतं गृह्णाति, योऽश्वं प्रतिगृह्णाति*, यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे इष्टिः, अथ वैदिके?—इति। कः पुनर्लौकिकोऽश्वप्रतिग्रहः? को वा वैदिकः?—इति। लोके भिक्षमाणो वा अभिक्षमाणो वा यथार्थं लभते, तत्र लौकिकाश्वप्रतिग्रहः। वैदिकोऽपि, पौण्डरीकेऽश्वसहस्रं दक्षिणा ज्योतिष्टोमे गौश्चाश्वश्च—इति।

तत्र उच्यते,—वैदिकाच्छसामान्यात् वैदिके—इति प्राप्ते,

---

* अत्र प्रतिग्रहशब्दो दानपर इति माधवः ॥

भा. उच्यते,—'दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्', दोषो हि श्रूयते,—वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति—इति, स चायम् अनुवादो यत्र दोषः, तत्र—इति, स च लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे शूद्रात् अन्यस्मात् वा पापकर्मणः स्नातो भवति—इत्युपपद्यते, दोषसंयोगात् लौकिके—इति गम्यते। 'आह न दोषसङ्कीर्तनं प्रायश्चित्तविषयविशेषणं, किन्तु प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थम्'। उच्यते,—दोषनिर्घातार्थे सत्येवं स्यात्, वरुणप्रमोचनम् इदं कर्म, तत् लौकिके भवितुमर्हति, लोके वरुणग्रहणस्य विद्यमानत्वात्, वैदिके त्वश्वप्रतिग्रहे तत् न स्यात्, शास्त्राद्धि (वचनेन) तस्य कर्त्तव्यता अवगम्यते। यदि च ततः पापं स्यात्, न तस्य कर्त्तव्यता अवगम्येत, अकर्त्तव्यम् हि पापफलम्।

'ननु वैदिकेऽपि प्रतिग्रहे अप्रतिग्राह्यात् प्रतिगृह्णतः पापमस्ति'। उच्यते,—भवेदेवं, यदि प्रतिग्रहस्य कर्त्तुरिष्टिर्भवेत्, सा तु खलु यथा हेतुकर्त्तुः, तथोत्तराधिकरणे वक्ष्यामः। तस्मात् न वेदचोदितेऽश्वप्रतिग्रहे इष्टिः,—इत्येतावत् इह अधिकरणे सिद्धम्॥

सू. अर्थवादो वा अनुपपातात्* तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत॥ २९॥ (सि॰)॥

भा. न च एतदस्ति, यदुक्तम्,—'यः शूद्रादन्यस्मात् वा पापकृतो लोकेऽश्वं प्रतिगृह्णीयात् स एतामिष्टिं निर्वपेत्'; स हि वरुणगृहीतः इत्युच्यते, जलोदरेण यो गृहीतो, यस्य उदरं जलपृष्ठा श्वयति, जलोदरम्—इत्येव लोके तत् प्रसिद्धम्, न च, तस्य अश्वप्रतिग्रहो लौकिको निदानम्—इति प्रति

* अनुपघातादिति पाठः का॰ स॰ मु॰। एवं भाष्येऽपि पाठः।

भा. ध्यायते, न च, अनेन विधीयते; तस्मात् न अश्वप्रतिग्रहात् जलोदरोपघातः।

'अथ पापं वरुणशब्देन उच्यते, गृणीते—इत्येषोऽभिप्रायः—इति'। तदा प्रसिद्धौ त्यक्तायां क्लेशमात्रं, एवत् वरुणशब्देन उच्यते, तत्र याज्ञेऽपि प्रतिग्रहे वरुणगृहीतः स्यात्, दक्षिणीयणविचिकित्सादिना क्लेशेन नैष पक्षो व्यवतिष्ठेत,—लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे—इति, प्रसिद्धिश्च बाध्येत। तस्मात् अर्थवाद एषः,—यावत् वरुणगृहीतस्य वरुणोन्मोचने श्रेयः, तावत् एतेन—इति उपमानेन एषा स्तुतिः, योऽस्य प्रतिग्रहः, तत् वरुणग्रहणमिव, या इष्टिः, सा तदुन्मोचनीव, यथा वरुणगृहीतेन उन्मोचनम् अवश्यकर्त्तव्यम्, तादृगेवैतत्—इति, तस्मात् यज्ञे प्रतीयेत। लौकिके हि फलं कल्पनीयम्, वैदिके यस्मिन् अश्वप्रतिग्रहः, तस्याङ्गभूता भविष्यति, तत्र प्रयोगवचनेन सह एकवाक्यता सम्बन्धात् अवकल्प्यमाना, परीक्षायाः फलवचनेन सह एकवाक्यताया लघीयसी—इति युक्तम् इष्टिः वैदिके दाने—इति॥ (३।४।१० अ०)॥

---

दातुर्वारुणीष्ट्यधिकरणम्।

सू. अचोदितं च कर्मभेदात्॥ ३०॥ (पू०)॥

भा. 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्, तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्'—इति। तत्र एतत् समधिगतं,—वैदिके अश्वप्रतिग्रहे इष्टिः—इति। अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किं प्रतिग्रहकर्त्ता कर्त्तव्या, यस्मै दीयते; उत हेतुकर्त्ता, यो ददाति? इति। किं प्राप्तम्?—'अचोदितं च कर्मभेदात्', न कर्त्तुः इष्टिश्चोद्यते, प्रतिग्रहकर्त्तुः तामवगच्छामः,

भा प्रतिगृह्णीयात् तावतश्चतुष्कपालान् वारुणान् निर्वपेत्—इति, तस्मात् प्रतिग्रहीत्रा ऋत्विजा कर्त्तव्या—इति ॥

सू . सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥ ३१ ॥ (सि०) ॥

भा नैषा प्रतिग्रहकर्त्तुः, किं तर्हि हेतुकर्त्तुः स्यात्। कुतः?। लिङ्गात्। किं लिङ्गम्?। पूर्वपदानाम् उत्तरैः पदैर्यथार्थम् अभिसम्बन्धः, इदं श्रूयते,—'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्'—इति, प्रजापतिः अश्वस्य दाता कीर्त्तितः, वरुणः प्रतिग्रहीता, 'स स्वां देवतामार्च्छत्'—इति, 'सः'—इति सापेक्षं पूर्वप्रकृतं वाक्यशेषमपेक्षते, सः—इति प्रजापतिं प्रतिनिर्दिशति—इति तेन सह एकवाक्यतां याति। सामानाधिकरण्याच्च प्रजापतेरेव प्रतिनिर्देशोऽवकल्पते, न तु वरुणस्य, वैयधिकरण्यात्। 'स पर्यदीर्यत'—इत्येषोऽपि प्रजापतिमेव प्रतिनिर्दिशति पूर्वप्रकृतं, तेन च सह एकवाक्यतां याति। स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्—इति प्रजापतिरेव—इति, निरवपत् प्रजापतिरेव—इति, ततो वै स वरुणपाशात् अमुच्यत प्रजापतिः। 'वरुण एतं गृह्णाति'—इति हेत्वपदेशोऽयम्,—यस्मात् एव प्रजापतिर्वरुणाय अश्वं दत्त्वा पर्यदीर्णः, तस्मात् योऽश्वं प्रतिगृह्णाति (प्रयच्छति) तं वरुणो गृह्णाति, स पर्यदीर्यते—इति। यतस्तु वारुणेन प्रतिमुक्तः, तस्मात् अन्येनापि अश्वं प्रयच्छता वारुणो निर्वप्तव्यः,—इत्यश्वस्य दातुर्वारुणी इष्टिः प्रशस्यते, कर्त्तव्या अनेनाख्यातेन। तस्मात् अश्वं दत्त्वा वारुणीम् इष्टिं निर्वपेत्—इति।

'आह, ननु यः अश्वं प्रतिगृह्णाति स निर्वपेत्—इत्युच्यते'। एवं सत्यन्यथोपक्रान्ते वाक्ये अन्यथोपसंहृते उपक्रमोऽप्यनर्थकः स्यात्, उपसंहारोऽपि। तस्मात् उपक्रमे वा शब्दार्थ उपसंहारवशेन कल्पनीयः, उपसंहारे वा उपक्रमवशेन। तत्र

भा. 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्'—इति, वरुणात् अश्वम् प्रत्यगृह्णात्—इति उपसंहारानुरोधेन कल्प्येत, यद्वा उपक्रमवशेन उपसंहारः. 'योऽश्वं प्रतिगृह्णाति'—इति, योऽश्वं प्रतिग्राहयति—इति?। तत्र 'मुख्यं वा पूर्वं चोदनात् लोकवत्'—इति प्रथममनुगृहीतव्यं विरोधाभावात्; पश्चात्तनं तु विरोधात् लक्षणया कल्पनीयम्।

अपि च,—'प्रजापतिर्वरुणाय अश्वमनयत्'—इति वरुणात् अश्वं प्रत्यगृह्णात्—इति असमञ्जसं कल्पयितव्यम्। 'प्रतिगृह्णाति'—इत्येष शब्दः, प्रतिग्राहयति—इत्येतम् अर्थम् शक्नोति यथा-कथाचित् शक्त्या वक्तुम्, यो हि तत् आचरति, येन च क्रिया प्रणाड्यापि सिध्यति, स तस्याः क्रियायाः कर्त्ता—इति शक्यते वदितुम्, यथा षड्भिर्हलैः कर्षतीति संविधानं कुर्वन् विलेखनमकुर्वन्नप्युच्यते, तत्प्रथमम् आचरति—इति। एवम् इहापि स प्रतिग्रहसमर्थम् आचरति (यो ददाति); तस्मात् ददत् प्रतिगृह्णाति—इति शक्यते वदितुम्। तस्मात् अश्ववधार्य्यं इदमवक्लृप्तम्. ददत् प्रतिगृह्णाति—इत्युच्यते, तस्य च वारुणी इष्टिः—इति॥ (३।४।११ अ०)॥

---

वैदिकपानव्यापदि सौमेन्द्रचरुविधानाधिकरणम्॥

सू. पान-व्यापञ्च तद्वत्॥ ३२॥ (पू०)॥

भा. इदं समामनन्ति,—'सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेत् श्यामाकं सोमवामिनः'—इति। तत्र सन्देहः,—लौकिकस्य सोमपानस्य वमने सौमेन्द्रश्चरुः, उत वैदिकस्य?—इति।'। किं लौकिकं सोमपानम्? किं च वैदिकम्?। उच्यते,—वैदिकं सोमपानं ज्योतिष्टोमे तद्विकृतिषु च, लौकिकं सोमपानं यत् सत्रात्रेषु

भा इह धातुसाम्यार्थमासेव्यमाने सोमे। किं तावत् प्राप्तम्? —'पानव्यापच्च तद्वत्', लौकिके वमने इष्टिर्भवितुमर्हति, न वैदिके, तद्वत्—इति पूर्वः पक्षः प्रतिनिर्दिष्टः,—यथा तत्र दोषसंयोगेन श्रवणात्, लौकिकेऽश्वप्रतिग्रहे—इत्युक्तम्, एवम् इहापि दोषसंयोगेन श्रवणं भवति,—'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते यः सोमं पिबति'—इति लोके धातुसाम्यार्थमासेविते वमनेन विनष्टे धातुसाम्यव्यापदा इन्द्रियेण व्यृद्धिरुपपद्यते, अर्थाद्धि वैदिके न दोषः स्यात्, तत्र, शेषः पातव्यः—इति मन्त्रचोदिते निर्वृत्ते नास्ति दोषः। यद्यपि वम्यते, तथापि पानक्रिया तत्र निर्वर्तिता, अतो वचनार्थः—इति न दोषः स्यात्। तस्मात् लौकिकस्य सोमपानस्य व्यापदि सौमेन्द्रः स्यात्॥

सू दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात्॥ ३३॥ सि०,॥

भा वैदिकस्य पानस्य व्यापदि भवितुमर्हति, न लौकिकस्य। कस्मात्?। 'दोषात्' दोषसम्बन्धोऽत्र श्रूयते,—'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते'—इति। लौकिके पुनर्धातुसाम्यार्थे क्रियमाणे न किञ्चित् दुष्यति, वमनाय एव हि तं पिबन्ति लोके। यद्यपि अयमर्थवादः, तथापि फलकल्पनापरिहाराय वैदिके एव—इति कल्पना न्याय्या॥ (३।४।१२ अ०)॥

---

सौमेन्द्रचरोर्यजमानपानव्यापद्विषयताधिकरणम्॥

सू तत्सर्वत्राविशेषात्॥ ३४॥ (पू०)॥

भा तदेतत् सोमपानव्यापदि सौमेन्द्रं कर्म, सर्वत्र वमने स्यात्, आर्त्विज्ये याजमाने च। कुतः?। अविशेषात्, न विशेषः

भा. कश्चित् आश्रीयते,—अस्य वमने स्यात्, न अस्य—इति, तस्मात् सर्वंच भवेत् ॥

सू. स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥ ३५ ॥ (सि०) ॥

भा. स्वामिनो वा वमने स्यात्। कुतः?। तदर्थत्वात्, तदर्थं कर्म (यजमानार्थं); यत्र सोमो वम्यते, यत् तत्र सौमेन्द्रं कर्म; तदपि तदर्थमेव; इदं हि सोमवामिन उपकाराय श्रूयते, तत् सोमवामिनः, यत् यजमानस्य उपकर्तुम् शक्नोति नार्त्विजः, न हि तत् ऋत्विगर्थं कर्म, यत्र सोमो वम्यते। अथ उच्येत, —'सोमवामिनोऽध्वर्य्यादिहोतुर्वा आत्मीया ऋत्विजः, तदीयेषु अग्निषु निर्वर्त्तयिष्यन्ति'—इति। तथा सति यदि वा इतद्ग-सोमस्य कर्मणो न अङ्गं, न सोमवामिनोऽध्वर्य्याद्धोतुर्वा, तत्र प्रत्यक्षगुणभूता अध्वर्य्यादयः स्वैर्ऋत्विग्भिः कारयन्तो न फलं प्राप्नुवन्ति, तदर्थं च क्रियमाणं न यजमानस्य उपकारे वर्त्तते—इति न ऋत्विजो वमने क्रियेत ॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (हे०) ॥

भा. लिङ्गं च भवति, यजमानस्य सोमवामिनः—इति। कथं?। 'सोमपीथेन* वा एष व्यृध्यते यः सोमं वमति'—इति। यजमानः, सोमसंस्कारे विनष्टे विगुणमस्य कर्म—इति व्यृध्येत, न कथञ्चित् ऋत्विजो व्यृद्धिः। ऋत्विजो यस्य सोमं वमन्ति —इति वमनेन सम्बन्धः स्यात्, न यः सोम वमति—इति। तस्मात् अपि पश्यामो यजमानस्य वमने सौमेन्द्रम्—इति ॥ (२।४।१२ अ०) ॥

---

* पीतेन इति का० क्री० पु०॥

आग्नेयाष्टाकपालचरोर्हविरवदानमात्रस्य होतव्यताधिकरणम् ।

सू सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥ ३७ ॥ (पू०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र समाम्नायते,—'यत् आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'—इति । तत्र सन्देह,—किं कृत्स्नं हविः अग्नये प्रदातव्यम्, उत शेषयितव्यं किञ्चित्, किञ्चित् दातव्यम्?—इति । किं प्राप्तम्?—कृत्स्नं हविः प्रदीयेत । कुतः?। तदर्थत्वात् 'पुरोडाशं आग्नेय कार्यम्'—इति वचनम् । तस्मात् सर्वं प्रदातव्यम्—इति ॥

सू निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा निष्कृष्यावदानं निरवदानं । तद्धि श्रूयते,—'द्विर्हविषो ऽवद्यति'—इति । अपरमपि वचनं,—'अवदानं जुहोति'—इति, तेन अवदानमात्रं* होतव्यम्, अन्यत्परिशेषणीयम् ॥

सू उपायो वा तदर्थत्वात् ॥ ३९ ॥ (आ०) ॥

भा न चैतदस्ति,—अवदानमात्रं होतव्यम्—इति, यत् जुहोति, तत् द्विरवखण्डनेन संस्कर्तव्यम्—इति, होतव्ये द्विरवखण्डनमात्रं विधीयते, न अद्विरवखण्डितस्य होमः प्रतिषिध्यते, कृत्स्नं च होतव्यमिति तदेव न्याय्यं, नान्यथा ॥

सू कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्यात् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ ४० ॥ (आ० नि०) ॥

भा उच्यते,—यदा द्विरवखण्डनविशिष्टे होमे श्रुतं, तदा सकृद

---

* 'अवदेयम् अङ्गुष्ठपर्वमात्रम्, तथा च कल्पसूत्रकारः आग्नेयस्य पुरोडाशस्य मध्यादङ्गुष्ठपर्वमात्रमवदाय निदधीनमवद्यतीति' इति माधवः ।

भा. वदानन्नं (यावत् श्रुतं) तत्सर्वं हुतं, तदा न अपरं द्रव्यमस्ति —इति पुनर्यागो न आवर्त्तितव्यः। कथं?। तद्धि द्रव्यं यागनिर्वृत्त्यर्थं, न द्रव्यं यागेन सम्बन्धयितव्यम्—इति, यदि हि यागेन हविः सम्बन्धयितव्यं स्यात्, ततो यागेन द्व्यवदाने सम्बन्धिते अपरमपि सम्बन्धनीयमस्ति—इति, तत्सम्बन्धार्थं पुनर्यागः आवर्त्तेत। न तु यागो द्रव्यसम्बन्धार्थः, किं तर्हि, द्रव्यं यागे गुणभूतं, यागः कथं निर्वृत्तिमुपेयात्?—इति द्रव्यमुपादीयते। तेन निर्वृत्ते यागे सिद्धे च पुरुषार्थे न नियोगेन गुणानुरोधेन प्रधानावृत्तिर्युक्ता—इति।

'कथं न द्रव्यं प्रधानं, येन आवृत्तिर्न भवेत्?'। यतो यागात् फलम्, 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'—इति। न च, यागेन द्रव्यस्य उपकारो निर्वर्त्यते प्रत्यक्षः कश्चित्, तस्मात् द्व्यवदानं हुत्वा शेषयितव्यम्—इति। यत्तु उक्तं,—आग्नेयं हविः—इतिवचनात्, सर्वं होतव्यम्*—इति गम्यते—इति, तत्र आनुमानिको होमसम्बन्धः, इह तु प्रत्यक्षो द्विरवदाने। अपि च अहुतत्वसम्बन्धेऽपि तद्धितस्य उपपत्तिः,—ततो गृहीतव्यम्—इति। सामान्यं खलु आग्नेयः—इति, द्व्यवदानं जुहोति —इति विशेषः। तस्मात् शेषयितव्यं किञ्चित्—इति॥

सू. शेषदर्शनाच्च ॥ ४१ ॥ (हे०)॥

भा. 'शेषात् इडामवद्यति शेषात् स्विष्टकृतं यजति'—इत्यनुवादात् अस्ति शेषः—इति पश्यामः॥ (३।४।१४ अ०)॥

---

* सर्वप्रदानमिति पाठः का० सं० पु०।

सर्व्वशेषैः स्विष्टकृदनुष्ठानाधिकरणम् ।

सू अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरन् शेषस्य गुणभूतत्वात् ॥ ४२ ॥ (पू०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ तत्र शेषकार्याणि ऐडमाग्नित्रसौविष्टकृदादीनि। तत्र सन्देहः—किं हविषो हविषः कर्त्तव्यानि उतैकस्मात् हविषः ?—इति। किं प्राप्तम् ?—अप्रयोजकत्वात् एकस्मात् क्रियेरन् अप्रयोजकानि शेषकार्याणि हविषाम् यदि शेषकार्ये प्रयुक्तानि भवेयुः सर्वाणि प्रयुक्तानि—इति सर्वेभ्यः क्रियेरन् अन्यार्थानि त्वेतानि न अवश्यं शेषकार्येषु विनियोक्तव्यानि सन्निधानात्तु यतः—कुतश्चिदनुष्ठातव्यानि शेषो हि साधनसमोपाम्— इति ॥

सू संस्कृतत्वाच्च ॥ ४३ ॥ (हे०) ॥

भा सकृच्च एवञ्जातीयकेन शेषकार्येण संस्कृतं प्रधानम्—इति कृत्वा न अपरस्मादपि कर्त्तव्यम्—इति ॥

सू सर्व्वेभ्यो वा कारणाविशेषात्, संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वेभ्यो वा हविर्भ्यः शेषकार्याणि कर्त्तव्यानि। कुतः ? कारणाविशेषात् यत् एकस्य हविषः शेषकार्यक्रियायां कारणं तत् सर्वेषां स हि शेषः प्रतिपादयितव्यः यस्य एव न प्रतिपाद्यते तस्य तेन संस्कारेण वर्जनं स्यात् तस्मात् सर्वेभ्यः कर्त्तव्यानि—इति ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४५ ॥ (हे०) ॥

भा लिङ्गं च दृश्यते —'देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन् हव्य नो वह

भा.—इति, सोऽब्रवीत् वरं वृणे भागो मेऽस्त्विति, वृणीष्वेति तेऽब्रुवन्, सोऽब्रवीत् उत्तरार्द्धादेव मत्त्वं यज्ञान् यज्ञदवद्यात्— इति वीप्सादर्शनम्। तस्मात् सर्वेभ्यः श्रेयकार्याणि—इति॥ (३।४।१५ अ०)॥

---

प्राथमिकश्रेयात् स्विष्टकृदाद्यनुष्ठानाधिकरणम्॥

सू एकस्माच्चेत् यथाकाम्यविशेषात्॥ ४६॥ (पू०)॥

भा. अथ ज्ञात्वाचिन्ता। यदा एकस्मात् भवेयुः, किं तदा यतः— कुतश्चित्, उत प्रथमात्?—इति। किं प्राप्तम्?—यतःकुतश्चित् —इति। कुतः?। न कश्चिद्विशेष आश्रीयते—इति, तस्मात् अनियमः—इति॥

सू मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात्॥ ४७॥ (सि०)॥

भा मुख्याद्वा कर्त्तव्यानि। कुतः?। पूर्वकालत्वात्, ततः कर्त्तव्येषु नास्ति निमित्तविघातः, असति निमित्तविघाते नैमित्तिकम् कर्त्तव्यम्—इति, ततः कृतेषु द्वितीयादीना निमित्तविघातः— इत्यक्रिया। तस्मात् मुख्यादेव क्रियेरन्—इति॥ (३।४। १६ अ०)॥

---

पुरोडाशविभागस्य भक्षार्थताधिकरणम्॥

सू भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये॥ ४८॥ (पू०)॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'इदं ब्रह्मणः, इदं होतुः, इदमध्वर्योः, इदम् अग्नीधः'*—इति। तत्र सन्देहः,—किमयम्

---

* 'अग्नीधस्य' इति पाठः का० की० पु०॥

भा ऋत्विजां विभागः परिक्रयाय, उत भक्षणाय ?—इति। किं प्राप्तम् ?—परिक्रयार्थो विभागः। कुतः ?। भक्षाश्रवणात्, न श्रूयते,—भक्षयितव्यम्—इति, यः एव श्रुतस्योत्सर्गे दोषः स एव अश्रुतपरिकल्पनायाम्। कर्मकरेभ्यश्च दीयते तस्मात् परिक्रये एव ॥

सू तत्संस्तवाच्च ॥ ४९ ॥ (हे०) ॥

भा 'एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा'—इति दक्षिणासंस्तवाच्च परिक्रयार्थं मन्यामहे ॥

सू भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥ ५० ॥ (सि०) ॥

भा भक्षार्थ एव विभागः। कुतः ?। दानस्य अभावात्। कथम् अभावः ?। प्रभवता हि शक्यं दातुम्, न अप्रभवता। कथं न प्रभुत्वम् ?। सङ्कल्पितं हि यजमानेन, देवतायै एतत्—इति न च देवतायै सङ्कल्पितेन शिष्टाः स्वेन एव व्यवहरन्ति। तस्मात् शिष्टाचारम् अनुवर्तमानेन अशक्यं प्रभवितुम्, तस्मात् न परिक्रयः।

'अथ यत् उक्तं—न श्रूयते भक्षयितव्यम्—इति यावांश्च श्रुतस्य उत्सर्गे दोषः तावान् अश्रुतपरिकल्पनायाम्—इति। उच्यते,— इदं ब्रह्मणः—इत्येवमादिभिर्ब्रह्मादीनां भागैरभिसम्बन्धः, तत्र भागाः ब्रह्मादीनाम् उपकुर्युर्ब्रह्मादयो वा भागानां ब्रह्मादिभिर्भागानाम् उपकुर्वद्भिर्न किञ्चित् दृष्टमस्ति भागैस्तु ब्रह्मादीनाम् उपकारः शक्यते केनचित् प्रकारेण दृष्ट उपकारः कर्तुम्, भक्ष्यमाणैः। तस्मात् भक्षणाय विभागः—इति। 'कः पुनः उपकारः ?' इति चेत्। तृप्तानां कर्मशेषपरिसमापने सामर्थ्यं भवति—इति ॥

सू  व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥ ५१ ॥

भा  अथ यत् दक्षिणासस्तवः—इति, व्यादेशसामान्यात् तत्, अपरिक्रयार्थेऽपि भविष्यति—इति ॥ (३।४।१७ अ०) ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

तृतीये अध्याये पञ्चमः पादः ॥



अथ ध्रुवाज्यादिभिः स्विष्टकृदादिशेषानुष्ठानाधिकरणम्।

सू **आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥ १ ॥ (पू०)॥**

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयते,—'उत्तरार्धात् स्विष्टकृते समवद्यति'—इति, तथा 'इडामुपह्वयति'—इति, तथा अन्यानि शेषकार्याणि। तत्र सन्देहः—किं आज्यात् उपांशुयाजद्रव्यात् स्विष्टकृदिडमवदातव्यम् उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—अवदातव्यम्—इति। कुतः? सर्वसंयोगात्, साधारणप्रकरणसमाम्नानात् सर्वेषां शेषकार्याणि। अपि च सर्वसंयोगो भवति—'तद्यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति'—इति। तस्मात् आज्यादपि शेषकार्याणि क्रियन्ते ॥

सू **कारणाच्च ॥ २ ॥ (हे० १)॥**

भा कारणं श्रूयते,—'देवा वै स्विष्टकृतमब्रुवन् हव्यं नो वह—इति, सोऽब्रवीद्वरं वृणै भागो मेऽस्त्विति वृणीष्वेत्यब्रुवन् सोऽब्रवीत् उत्तरार्धात् एव मह्यं सकृत् सकृदवद्यात्—इति तुल्यं कारणम् अन्येषाम् आज्यस्य चार्थवादे सङ्कीर्त्यते। तस्मा दाज्यात् अवदातव्यम्—इति ॥

सू **एकस्मिन्समवत्तशब्दात् ॥ ३ ॥ (हे० २)॥**

भा आदित्ये चरौ प्रायणीये श्रूयते,—'अग्नये स्विष्टकृते सम वद्यति'—इति, आज्यादेकस्माच्च हविषोऽवद्यति—इति, मिश्रस्य अन्येन हविषा समवद्यति—इति यदि च आज्यादपि स्विष्ट कृतेऽवदीयेत, ततश्चोदकेन प्रायणीये आज्यावदाने क्रियमाणे

भा. समवद्यति—इत्युपपद्यते ; इतरथा चतुरैकस्मात् अवद्यति—इत्यभविष्यत् ॥

सू. आज्ये च दर्शनात्स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥ ४ ॥ (हे० ३) ॥

भा. ध्रौवे च आज्ये स्विष्टकृदर्थवादो भवति,—'अवदाय अवदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयति, स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति, न हि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति'—इति, प्रत्यभिघारणस्य एतत् प्रयोजनं दर्शयति,—'ततः परामाहुतिं होष्यति'—इति। यौविष्टकृते हुते ततः पराहुतिर्नास्ति—इति न प्रत्यभिघार्येत। स्विष्टकृदर्थं ध्रुवायां भवति प्रत्यभिघारणम्—इति दर्शयति ॥

सू. अशेषत्वात्तु नैवं स्यात्सर्वादानात्* अशेषता ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा. नैवं,—ध्रौवाज्यात् स्विष्टकृदिदम् अवदातव्यम्—इति। कस्मात्?। अशेषत्वात्। कुतो न अस्य शेषः?। सर्वादानात् ॥

सू. साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥ ६ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. 'ननु उपांशुयाजार्थं गृहीते यत् ध्रुवायां शिष्टं, तत् शेषभूतम्'। नैतत्, साधारणं हि तत्, उपांशुयाजाय, अन्येभ्यश्च प्रयोजनेभ्यः ; यावत् आज्येन प्रष्टव्यं, तत् तत् आज्यं प्रयोजयति ; यस्य यस्यौज्यं, तस्य तस्यैवं ग्रहीतव्यं संस्कर्त्तव्यञ्च—इति, तस्मात् साधारणं ध्रौवम् आज्यम्। दर्शयति च,—'सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायाम् आज्यम्'—इति। 'किमतो यद्येवम्?'—इति। यत् साधारणम् उपांशुयाजाय अवत्तं ध्रुवायामाज्यं, तेन अन्यानि प्रयोजनानि कार्याणि, न

* सर्व्वदानादिति पाठः का० श्रौ० पु०। एवं क० सं० पु० ॥

भा. तु तत् प्रतिपाद्यं, यद्धि ज्ञातप्रयोजनम् आकीर्णकरम् अवतिष्ठते, तत् प्रतिपादयितव्यम्—इति। क्वचिच्च, यत्प्रतिपादयितव्यम्, तत् सर्वं—प्रतिपादयितव्यम्—इति, यत्तु प्रयोजनवत् उपात्तं तत् न प्रतिपादयितव्यम्। तस्मात् न ध्रुवाया उपांशुयाजस्य सौविष्टकृतस्य कश्चित् शेषः प्रतिपादनीयः, यथा यत्र एकस्या मुत्वाया वक्ष्नामोदनः श्रुतो भवति, तत्र एकस्मिन् भुक्तवति, न, तस्य शिष्टं भृत्येभ्यः प्रतिपादनीयमुखायामस्ति—इति गम्यते, प्रयोजनवद्धि तत्। एवम् उपांशुयाजाज्येऽपि द्रष्टव्यम् —इति॥

'आह जुह्वा तर्हि आज्यस्य शेषो भविष्यति, चमसवत्, यथा चमसेषु ग्रहेषु च सोमस्य चोदनया—इति'। तत्र प्रत्याह,—

सू अत्र तत्वाच्च जुह्वां, तस्य च होमसंयोगात्॥ ७॥
(आ० नि० २)॥

भा ध्रुवाया तावत् नास्ति शेषः उपांशुयाजस्य साधारणत्वात् —इत्युक्तम्। 'अथ कस्मात् न, जुह्वा यच्छिष्टं, तेन शेषकार्यं' यथा होमार्थं चमसे शेष.'—इति। उच्यते, यत् जुह्वामवत्तं, तत् सर्वं होमेन सम्बद्धं, तस्मात् न जुह्वा शेष.॥

सू चमसवदिति चेत्॥ ८॥ (आभा०)॥

भा इति पुनर्यदुक्तं, तत्परिहर्त्तव्यम्॥

सू न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनत्वाच्च॥ ९॥
(आ० नि० ३)॥

भा नैतदेवम्। कुतः?। चोदनाविरोधात्, 'सोमस्य अग्नेर्वीही त्यनुवषट्करोति'—इति तत्र चोदना। अपि च, तत्र 'ऐन्द्र वायवं गृह्णाति—इत्येवमादीनि ग्रहणानि न सोमसंयुक्तानि.

भा हविःप्रकल्पनान्येव, इह पुनर्होमसंयोगः,—'चतुर्गृहीतं जुहोति' —इति ॥

सू. उत्पन्नाधिकारात्सति सर्व्ववचनम् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—'तत् यत्सर्व्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति'—इति। उच्यते,—उत्पन्नं शेषमधिकृत्य एतत् उच्यते, न अविशेषेण, तस्मात् ये इह शेषास्तेभ्यः सर्वेभ्य.—इति, यथा सर्वः ओदनो भुक्तः, सर्वे ब्राह्मणा भुक्तवन्तः—इति प्रकृतापेक्षः सर्वशब्दः, एवम् अत्रापि—इति ॥

सू जातिविशेषात् परम् ॥ ११ ॥ (आ० नि० ४) ॥

अथ यदुक्तम्,—'प्रापणीये केवले चरौ समवत्तशब्दो न अवकल्पते, यदि न तत्र चोदकेन आज्यादपि स्विष्टकृदवदानम्' —इति। उच्यते,—असत्यपि आज्यात् शेषकार्ये समवत्तशब्दो जातिविशेषापेक्ष उपपद्यते, ओदनजातिमाज्यजातिं च अपेक्ष्य; अनुवादो हि सः, यथासम्भवं च अनुवादः कल्प्येत ॥

सू अन्त्यमरेकार्थे ॥ १२ ॥ (आ० नि० ५) ॥

भा अथ यदुक्तम्—'स्विष्टकृदर्थं ध्रुवायामभिघारणं दर्शयति'—इति, न तत् स्विष्टकृदर्थं, शेषाभावात्—इत्युक्तम्। तस्मात् अयं तस्यार्थः, न हि तत्र आहुतिं यक्ष्यन् भवति—इति न रेचयते, ध्रुवातो यदि आहुतिः अपरा होतव्या भवेत्, न च प्रत्यभिघार्येत। ध्रुवातः किल रिचेत, न रेच्यते, अपरस्या आहुतेः अभावात्, किं प्रत्यभिघारणेन—इति ॥ (३।५। १ अ०) ॥

---

साकप्रस्थाय्ये शेषकर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. साकंप्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ॥ १३ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'साकम्प्रस्थायीयेन यजेत'—इति। तत्र सन्देहः,—किं स्विष्टकृदिडम् अस्ति, नास्ति?—इति। अस्ति—इति ब्रूमः। कुतः?। दर्शपूर्णमासविकारो हि साकं प्रस्थायीयम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—नास्ति—इति। कुतः?। अशेषत्वात्, सर्वादानाच्च अशेषता। कथम्?। एवं तत्र श्रूयते, —'आज्यभागाभ्यां प्रचर्य आग्नेयेन पुरोडाशेन अग्नीधे स्रुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामन् आह'—इति। तस्मात् न ततः शेषकार्यम्—इति॥ (३।५।२ अ०)॥

---

सौत्रामण्यां शेषकर्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु ॥ १४ ।

भा अस्ति सौत्रामणी, तत्र ग्रहाः श्रूयन्ते, आश्विनसारस्वतैन्द्राः, तत्र चोदकेन स्विष्टकृदिडं प्राप्तम्। अथ इदानीं सन्देहः,— किं निवर्त्तते, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—चोदकानुग्रहाय कर्त्तव्यम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सौत्रामण्यां च ग्रहेषु न कर्त्तव्यम्—इति चशब्देन अतिदिश्यते। कुतः?। अशेषत्वात्, सर्वादानात् अशेषता। तथापि हि ग्रहैरेवं होतुम् प्रतिष्ठन्ते, यत् पयोग्रहांश्च सुराग्रहांश्च गृह्णन्ते—इति, ग्रहस्थं खल्वपि तत् द्रव्यम् अभिगृहीतमप्यनुक्रमम् अभ्याग्रावितम् देवता प्रति। यथा,—'गृहीतान् ग्रहानृत्विज आददते*, आश्विनमध्वर्युः, सारस्वतं ब्रह्मा, ऐन्द्रं प्रतिप्रस्थाता'—इति, होमार्थम्

---

* उपाददते इति पाठः का॰ कौ॰ पु॰ ।

भा अग्नेयादानं भवति, होमसंयोगश्चैषा श्रूयते,—'उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुहोति दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहान् जुहोति'—इति ॥

सू तद्वच्च शेषवचनम् ॥ १५ ॥ (यु०) ॥

भा एतमेव न्यायं, शेषवचनमुपोद्बलयति। 'उच्छिनष्टि, न सर्वं जुहोति'—इति, सर्वहोमे प्राप्ते, प्रतिषेधोऽवकल्पते। वाचनिकत्वाच्च स्विष्टकृदिडं न भवति, तस्य अन्यत्रोपयोगवचनात्, —'ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्'—इति, अपरस्यापि शेषस्य वाचनिको विनियोगः,—'शतातृणाया विधारयन्ति'*—इति ॥ (२ । ५ । ३ अ०) ॥

---

सर्व्वपृष्ठेष्टौ स्विष्टकृदिडादीनां सकृदनुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति सर्वपृष्ठेष्टिः,—'इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्कराय'—इति। तत्र पुरोडाशो बहूना कर्मणा साधारणः। तत्र सन्देहः, —किं प्रति कर्म, स्विष्टकृदिडं कर्त्तव्य, सकृदेव वा?—इति। किं प्राप्तम्?—चोदनानुग्रहात् प्रति कर्म, कर्त्तव्यम्, एकस्मिन् अपि द्रव्ये बहुत्वात् कर्मणाम् ॥

सू अविभागाच्च शेषस्य, सर्वान् प्रति अविशिष्टत्वात् ॥ १७ ॥ (सि०) ॥

भा सकृदेव कर्त्तव्यम्—इति ब्रूमः, अविभागात् शेषस्य,—न

---

* समवनयेदिति पाठः माधवीये। शतात्या शतच्छिद्रा कुम्भीति माधवः ॥

भा, अत्र विभागः सर्वेषां कर्मणां पुरोडाशस्य, उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृदवदातव्यम् एकस्यासौ उत्तरार्द्धं, ततोऽवदीयमाने न गम्यते विशेष,—कस्य अवत्तम्, कस्य न—इति, एवम् इडायामपि। तस्मात् सकृत् अवदातव्यम्—इति ॥ (३।५।४ अ०)॥

---

ऐन्द्रवायवग्रहे द्विःभक्षणाधिकरणम् ।

सू ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म्म भक्षः स्यात् ॥ १८ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोम,—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति। तत्र ऐन्द्रवायवे ग्रहे सन्देह,—किं सकृत् भक्षणम्, उत द्वि?—इति। सोमसंस्कारार्थत्वात् सकृत्—इति प्राप्ते ब्रूम—ऐन्द्रवायवे द्विर्भक्षयितव्यम्—इति। कुत?। वचनात् वचनमिदं भवति—'द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयति, द्विर्ह्येतस्य वषट्करोति'—इति, नास्ति वचनस्यातिभार ॥ (३।५।५ अ०)॥

---

सोमे शेषभक्षणाधिकरणम् ।

सू सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते ॥ १९ ॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे समामनन्ति सोमान्। तेषु सन्देह,—किं तेषां शेषो भक्षयितव्य उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—सोमे भक्षो न विद्यते। कस्मात्?। अवचनात् न शक्यम् असति वचने अध्यवसातुम् भक्षणम्। तस्मात् सोमशेषो न भक्षयितव्य—इति ॥

सू स्याद्वा अन्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥ (सि०,॥

भा भवेत् वा भक्ष, अन्यार्थं हि वचनं भक्षं दर्शयति—'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति भक्षिताप्यायिताङ्गमसान्

भा. दक्षिणस्यानसोऽवलम्बे सादयन्ति'—इति । न अश्नाति भक्षणे एवञ्जातीयका भक्षविशेषा सम्भवन्ति ॥

सू. वचनानि तु अपूर्वत्वात्तस्मात् यथोपदेशं स्युः ॥ २१ ॥
(आ॰ नि॰) ॥

भा. 'ननु दर्शनमिदं, प्राप्तिर्वक्तव्या'। उच्यते,—वचनानि तर्हि भविष्यन्ति,—'सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति। तस्मात् सर्वा दिशः शृणोति'—इति विशिष्टं भक्षणं विधीयते। अपूर्वत्वात् भक्षानुवादो न अवकल्पते। अपि च, एवम् अपूर्वम् अर्थं विदधतः अर्थवत्ता भविष्यति। तस्मात् यत्र एव विशिष्टं भक्षणं श्रूयते, तत्र एव भवति, न अतिप्रसज्यते॥ (२।५। ६ अ॰) ॥

---

चमसिनाम् सोमभक्षाधिकरणम् ॥

सू. चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २२ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे एव श्रूयते,—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणां प्र यजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानाम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं चमसिनाम् अस्ति भक्षः, न?—इति। किं प्राप्तम्?—न—इति ब्रूमः, नातिप्रसज्यते—इति उक्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—चमसेषु अस्ति भक्षः—इति। कुतः?। समाख्यानात्, होतुश्चमसो ब्रह्मणश्चमसः उद्गातुश्चमसः—इति समाख्यया निर्दिश्यते, होता यत्र चमति चमिष्यति अचमीद्वा स होतुश्चमसः। यद्यत्र होता न चमेत् न होतुश्चमसो भवेत्, तस्मात् चमति—इति।

'आह, का अस्य लिङ्गस्य प्राप्तिः?—इति'। सामर्थ्यम्—इति ब्रूमः,—होतुः चमसेन प्रैतव्यम्, यदि च अत्र होता न

भा चमेत् न शक्य भवेत् होतृचमसेन मेतुम्। न च अवान्यत होता श्रोऽन्नादि चमिष्यति सोमचमस—इति हि तं समाचक्षते। अपि च न तद्धोतुर्द्रव्यं यजमानस्य तत् द्रव्यम् होतृ तत्र चमन कर्तव्यम्। सोमे च भक्ष्यमाणे तेन होमोऽवकल्पते पवित्र हि सोमो न तस्मिन् भक्षिते पात्र व्यापद्यते तत्र चमसेन शक्यते होतुम्। 'वचनसामर्थ्यात् उच्छिष्टेन होष्यति—इति चेत्। नैतदेवम् असति अवकाशे वचन बाधक भवति अस्ति च अवकाश सोमभक्षण तस्मात् चमसिभिर्भक्षयितव्य सोम—इति।

अथ भक्षणादीनि आश्रीयेरन्। तथा सम्बन्धापकर्षात् अतचमसतेव स्यात् द्रव्यान्तर स्यात्। तस्मात् च अब्राह्मणस्य सोमं प्रतिषेधति—'स यदि राजन्य वैश्य वा याजयेत् स यदि सोम बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ता सपिष्य दधनि उन्मृज्य* तमस्मै भक्ष प्रयच्छेत् न सोमम्'—इति भक्षा निवृत्ति दर्शयति। सा एषा भक्षाशङ्का एव सत्युपपद्यते यदि चमसिनाऽस्ति भक्ष तस्मात् अस्ति—इति मन्यामहे॥ (३।५।७)॥

---

उद्गातृणा सह सब्राह्मणेन भक्षाधिकरणम्॥

सू उद्गातृचमसमेक श्रुतिसयोगात॥२३॥ (१म पू०)॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोम—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत—इति। तत्र अस्ति—प्रेतु होतुश्चमस प्र ब्रह्मण प्रोद्गातृणाम्—इति। अस्ति समाख्यानात् भक्ष—इत्युक्तम्। तत्र सन्देह—किमेक एव एन चमसम् उद्गाता भक्षयेत् उत सर्वे

---

* उन्मृज्य इति का० श्री० पु०॥

भा भक्षयेयुः? अथ सुब्रह्मण्यवर्जिताः छन्दोगा भक्षयेयुः, अथ वा सह सुब्रह्मण्येन?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—एको भक्षयेत् उद्गातैव। कुतः?। श्रुतिसंयोगात् उद्गातैक श्रुत्या संयुज्यते —'चमसेन मोद्गातॄणाम्'—इति।

'ननु बहुवचनं श्रूयते,—तेन बहवो भक्षयेयुः। उच्यते श्रूयते बहुवचनं, तत् उद्गातृप्रातिपदिकगतं, तत् विवक्षितं सत् उद्गातृबहुत्वं ब्रूयात् एकश्चोद्गाता तत्र बहुत्वं श्रूयमाणम् अपि न शक्नुयात् उद्गातृभेदं कर्त्तुम्। तस्मात् अविवक्षितं बहुवचनम् अनुमानं हि एतत् बहूनां चमसः —इति। कथं?। यत् बहुषु प्रातिपदिकं वर्त्तते, ततो बहुवचनं भवति, बहुवचनं तु ततो दृश्यते, मोद्गातॄणाम्—इति। तस्मात् नूनं बहूनां चमसः—इति अनुमानं प्रत्यक्षं तु एक उद्गाता न द्वितीयः न तृतीयः। अनुमानाच्च प्रत्यक्षं कारणं बलवत् भवेत्। तस्मात् एकस्य चमसः, यश्चोद्गातुः—इति॥

सू सर्व्वे वा सर्व्वसंयोगात् ॥ २४ ॥ (२य पू०)॥

भा सर्वे वा भक्षयेयुः, एकस्मिन् उद्गातरि भक्षयति बहुवचनं प्रमादाधीतम्—इति गम्यते, न हि तत् अनूद्यते, न विधीयते —इति। 'ननु सर्व्वेष्वपि भक्षयत्सु उद्गातृशब्दः प्रमादो गम्यते। उच्यते —लक्षणार्थोऽपि तावत् सम्भविष्यति, उद्गातृप्रभृतयः —इति॥

सू स्तोत्रकारिणां वा* तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ॥ २५ ॥ (३य पू०)॥

भा 'उच्यते,—नैतदस्ति —बहूनां चमसः—इति। कुतः?।

---

* स्तोभकारिणो वा इति पाठः का० स० पु०।

भा उद्गातृशब्दस्य चमसेन सम्बन्धः अन्यत्रेण वाक्येन, बहुवचनस्य पुनः उद्गातृशब्देन श्रुत्या सम्बन्धः, अन्येन ऋत्विजा तु बहुवचनस्य नैव कश्चित् अस्ति सम्बन्धः। तस्मात् बहूनां चमस इत्यनुपपन्नम्—इति। अत्र उच्यते,—शक्नोत्ययमुद्गातृशब्दो बहुत्वं वदितुम्, क्रियायोगेन, उद्गायन्ति इत्युद्गातारः। के ते ?। प्रस्तोता उद्गाता प्रतिहर्त्ता—इति तदेतेन बहुवचननिर्देशेन आनुमानिकक्रियायोगनिमित्त उद्गातृशब्दो विवक्षित इत्यवगमिष्यामः। बहुवचनं हि एवमवकल्प्तं भविष्यति, उद्गातृशब्दस्य। तस्मात् स्तोत्रकारिणां चमस —इति॥

सू सर्वे तु वेदसंयोगात् कारणादेकदेशे स्यात् ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वे छन्दोगाः सदस्यब्रह्मण्या भक्षयेयुः। किमिति ?। गानसंयोगात्—इति नायं पक्ष उपपद्यते। कथं ?। एकस्तत्र उद्गानेन सम्बन्धः इतरो गानेन अन्यद्धि गानम् अन्यदुद्गानं, गीतिमात्रं गानं लौकिकं वैदिकञ्च द्वितीयं साम्न अर्थः, उत्पूर्वस्य गायतेः अभिधेयं प्रसिद्धम् तत्र एक एवोद्गीथं करोति —इति एक एवोद्गाता न बहवः। तस्मात् उद्गानसंयोगात् बहवो भविष्यन्ति—इत्येतदपि नोपपद्यते। कथं ?—तर्हि —'वेदसंयोगात्' औद्गात्रं नाम प्रवचनं तथा, औद्गात्राणि कर्माणि औद्गात्रस्य कर्त्ता वा अध्येता वा उद्गातेत्युच्यते। कथं ?। उद्गातुः कर्म औद्गात्रम्—इति प्रसिद्धम् एवञ्चेत् यत्कृत्स्नम् औद्गात्रस्य कर्त्ता उद्गातेति गम्यते। यस्य उद्गाता प्रसिद्धः, तद्विशिष्टं कर्म अनाख्यातमपि औद्गात्रम्—इति वदति। शब्दस्य यस्य औद्गात्रं प्रसिद्धं स तस्य कर्तारमुद्गाता—इति वदति अनाख्यातमपि यथा यस्योदमेघः प्रसिद्धः, स तस्य अनाख्यातमप्यपत्यमौदमेघि —इति ब्रूते, यस्य औदमेघिः, स तस्य

पितरमनाख्यातमभ्युदमेघ प्रतिपद्यते। एवम् औद्गात्रसम्बन्धात् उपपद्यते उद्गातृशब्द प्रस्तोतापि उद्गातापि प्रतिहर्त्तापि, सुब्रह्मण्योऽपि। एव बहुवचनम् उद्गातृशब्दस्य उभयम् अप्युप पन्न भविष्यति, न च अन्य कश्चित् दोष।

तस्मात् औद्गात्रेण सम्बद्धाश्चत्वार उद्गातृचमस भक्षयेयु — इति। यत्र कारणमस्ति तत्रापसुब्रह्मण्या उद्गातार, यथा, उद्गातशब्द 'विनिपद्योद्गातार साम्ना स्तुवते — इति स्तोत्र कारिषु तथा इदमपि वचनम् — उद्गातारो नापव्याहरे युरत्तमायामिषोत्तमा — इति अपसुब्रह्मण्यानामेव॥ (३।५। ८ अ०)॥

---

ग्रावस्तुतोऽपि सोमभक्षणाधिकरणम्॥

सू ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात्॥ २७॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे ग्रावस्तुन्नामहोतृपुरुष[1]। तत्र सन्देह,— किं स सोम भक्षयेत् न?— इति। उच्यते ग्रावस्तुत् न भक्षयेत्। कुत?। यतोऽस्य भक्ष नामनन्ति। (हारियोजने चमसि नामधिकार — इति मन्यमान एव ह स्माह — नास्याम्नायत भक्ष)— इति॥

सू हारियोजने वा सर्व्वसयोगात्॥ २८॥ (सि०)॥

भा हारियोजनस्य वा ग्रावस्तुत भक्षयितार मन्यामहे, एव हि आमनन्ति —'यथा चमसमन्याश्चमसाश्चमसिनो भक्षयन्ति।

---

[1] चतुर्णां होतॄणां मध्ये चतुर्थो ग्रावस्तुत॥

भा 'अथैतस्य हारियोजनस्य* सर्वे एव लिप्सन्ते'—इति। 'यदा हारियोजनस्य सर्वे लिप्सन्ते, तदा यावत्तुदपि—इति॥

सू चमसिनां वा सन्निधानात्॥ २९॥ (आ०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति यावन्तुतो हारियोजने भक्ष—इति, चमसिनां तत्र अधिकारो न सर्वेषाम्। कथम्?। चमसिनाम् एव विभाग, चमसिनः अन्याश्चमसान्, यथा, 'चमस भक्षयन्ति'—इत्यनूद्य चमसिन एव वदति, 'अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वे एव लिप्सन्ते'—इति। एवं हीदं वाक्यम्, 'अथैतस्य—इत्यथशब्दप्रयोगात् अनन्तरवृत्तमपेक्षते, अथ 'सर्वे एव—इत्येवशब्द, सामर्थ्यात् सर्वान् पूर्वप्रकृतानपेक्षते, अतो मन्यामहे,—'यथा चमसमन्याश्चमसाश्चमसिनो भक्षयन्ति'—इत्यनेन पूर्वेण, 'अथैतस्य हारियोजनस्य' इत्येतस्य एकवाक्यता भवति—इति। तेन चमसिनां सन्निहितानाम् एव विभागो, यथा चमसमन्यत्र, हारियोजने तु सर्वे एव—इति॥

सू सर्व्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः॥ ३०॥ (आ० नि०)॥

भा तुशब्द पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति,—चमसिन एव हारियोजने लिप्सन्ते—इति अत्र तु विधीयते हारियोजने, सर्वे भक्षयन्ति—इति, न पुन चमसिन —इति सम्बन्ध शक्यते विधातुम् द्वौ हि सम्बन्धौ एकस्मिन् वाक्ये अपूर्वौ न शक्येते विधातुम्। तस्मात् अन्या वचनव्यक्तिः।

---

* पर्य्यन्ते हारियोजन इत्यनेन मन्त्रेण गृह्यमाणो ग्रह हारियोजन इति माधव।

भा. का पुनरसौ ?। 'यथा चमसमन्वांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति'—इत्यनुवादः, चमसिनश्चमसान् भक्षयन्तीत्य, ते भक्षयन्तो यथा चमसमेव, अर्थैतस्य हारियोजनस्य न केवलं चमसिनः, सर्व एव—इति। किमेवं भविष्यति ?। सर्वशब्दस्य सर्वान् वदन् न एकदेशे कल्पितो भविष्यति। न च, द्वौ सम्बन्धौ अपूर्वौ एकस्मिन् वाक्ये भविष्यतः। तस्मात् एष पक्षो ज्यायान्—इति 'तदर्था' हि एषा 'चमसिश्रुतिः', (हारियोजनस्य प्रशंसार्था)' चमसिनः कीर्त्यन्ते हारियोजनम् प्रशंसितुम्। कथम् ?। महाभागो हि हारियोजनः, यस्मात् अत्र सर्वे लिप्सन्ते, अन्यान् चमसान् एकैकः, न ते महाभागाः, न्यूना हारियोजनात्—इति॥ (३।५।८ अ०)॥

---

वषट्कारस्य भक्षनिमित्तताधिकरणम्॥

सू. वषट्काराच्च भक्षयेत्॥ ३१॥

भा अथ किं समाख्यैवैका भक्षकारणम् ?। न—इति ब्रूमः,—'वषट्काराच्च भक्षयेत्', वषट्कारस्य भक्षणे निमित्तम्। कथम् ?। वचनात्, एवं हि श्रूयते,—वषट्कर्तुः* प्रथमभक्षः—इति, भक्षणस्य अप्राप्तत्वात्, न प्राथम्यविधानार्थ एष शब्दः, प्राथम्य विशिष्टं भक्षणमेव विदधाति—इति॥ (३।५।९० अ०)॥

---

होमाभिषवयोरपि भक्षनिमित्तताधिकरणम्॥

सू. होमाभिषवाभ्याञ्च॥ ३२॥

भा. अपरमपि कारणं होमाभिषवौ। कथम् ?। हविर्धाने—

---

* वषट्कर्त्ता होता इति माधवः।

भा 'ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति'—इति, न तावत्, एष क्रमो विधीयते, होमे निर्वृत्ते ततो भक्षणस्य प्राप्तत्वात्। द्वयोश्च क्रमयोर्विधानात्, अभिषुत्य हुत्वेति वाक्यभिद्येत। अर्थेन च प्राप्तत्वात् अस्य क्रमस्य। न ह्यन्यते प्रयोजने कश्चित् प्रतिपादनमर्हति। न च, भक्षणाङ्गभावेन होमाभिषवौ चोद्येते। अभिषवस्य होमार्थत्वात्, होमस्य च फलार्थत्वात्। तस्मात् होमाभिषवयोः कर्तॄणां भक्षणं विधीयते, येऽभिषुण्वन्ति जुह्वति च, ते भक्षयन्ति—इति॥ (३।५।११ अ०)॥

---

वषट्कर्त्रादीनां चमसे सोमभक्षाधिकरणम्।

सू प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे॥ ३३॥ (पू०)॥

भा इदं श्रूयते,—'प्रैतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातॄणाम्'—इति। तत्र सन्देहः,—चमसेषु होमाभिषवयोः कर्तारो वषट्कर्त्तारश्च किं भक्षयेयुः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—न भक्षयेयुः, प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानां चमसिनः प्रति; 'प्रैतु होतुश्चमसः'—इत्येवमादिभिर्विशेषवचनैः, होमाभिषवकारिणा सामान्यवाक्येन, यः सोमो भक्षणेन संस्कर्तव्यः, स चमसेषु चमसिभिः—इति, अथ इदानीमन्यत् निमित्तं क्व भविष्यति?। 'अव्यक्तः सामान्यनिमित्तं' क्व?। शेषे भविष्यति,—यत्र न चमसिनः॥

सू स्यात् वा कारणभावात् अनिर्देशश्चमसानाम् कर्त्तुः तद्वचनत्वात्॥ ३४॥ (सि०)॥

भा स्यात् वा चमसेषु वषट्कर्त्रादीनां भक्षः, प्राप्यते हि तेषां तत्र कारणम्, न च प्रतिषिध्यते। 'ननु चमसिनाम् प्रत्यक्षो

भा. पदेशान्निवर्त्तेरन्। उच्यते,—'अनिर्देशश्चमसानाम् कर्त्तुस्तद्वचनत्वात्, 'प्रैतु होतुश्चमसः'—इत्येवमादयः शब्दाः न शक्नुवन्ति वषट्कर्त्रादीन् प्रतिषेद्धुम्, उपदेष्टारो हि ते, न प्रतिषेद्धारः, तस्मात् वषट्कर्त्रादयोऽपि चमसेषु भक्षयेयुः॥

सू चमसे चान्यदर्शनात्* ॥ ३५ ॥ (यु०)॥

भा चमसे चान्यांश्चमसिनो दर्शयति,—'चमसांश्चमसाध्वर्य्यवे प्रयच्छति। तान् स वषट्कर्त्रे हरति'—इति। एको हि स्वश्चमसो वषट्कर्त्रे ह्रियते, तेन बहुहरणदर्शनं न अवकल्पते, यदि वषट्कर्त्रादयो न चमसेषु भक्षयेयुः। तस्मात् भक्षयन्ति—इति॥ (३।५।१२ अ०)॥

'अथ यत्रैकस्मिन् पात्रे बहवो भक्षयन्ति, कः तत्र क्रमः?'—इति। उच्यते,

होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम्॥

सू एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत्॥ ३६ ॥ (पू०)॥

भा तस्य हि क्रमो भक्षयितुम्, यस्य हस्ते सोमः॥

सू होता वा मन्त्रवर्णात्॥ ३७ ॥ (सि०)॥

भा होता वा पूर्वो भक्षयेत्, 'मन्त्रवर्णात्', मन्त्रवर्णो हि तथा, 'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्य माशत'—इति, तथा 'होतेव नः प्रथमः पाहि'—इति॥

सू. वचनाच्च॥ ३८ ॥ (हे० १)॥

भा वचनमिदं भवति,—'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः'—इति। वचन-

* इदम् सूत्रम् सूत्रसंग्रहे नाधारि।

भा मेव इदम्, न मन्तव्यम्,—अनेकगुणविधानात् अविवक्षितं साध्यम्—इति; अप्राप्तत्वात् साध्यस्य, नायम् अनुवादः, विधिरेव, समासेन च विदधतो नानेकगुणविधानं दुष्करम् ॥

सू **कारणानुपूर्व्याच्च ॥ ३९ ॥ (हे० २) ॥**

भा प्रथमं हि वषट्करणं निमित्तं होतुः, ततो होमः अध्वर्योर्निमित्तं, निमित्तानुपूर्व्याच्च नैमित्तिकानुपूर्व्यं क्रमानुरोधः ॥ (३।५।१३ सू०) ॥

---

भक्षस्यानुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम् ।

सू **वचनादनुज्ञातभक्षणम् ॥ ४० ॥**

भा अथ य एकपात्रे सोमोऽनेकेन भक्ष्यते, किं तत्र, अनुज्ञाप्य अननुज्ञाप्य वा भक्षयितव्यम् उत अनुज्ञाप्य एव?—इति। लाघवादनियमे प्राप्ते उच्यते,—अनुज्ञाप्य भक्षयितव्यम्—इति। कस्मात्?। 'वचनात्', इदं वचनं भवति,—'तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पेयः'—इति, उपह्वानं च अनुज्ञापनम्। (भाष्यस्थमेतत्) ॥ (३।५।१४ सू०) ॥

---

वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम् ।

अथानुज्ञातेन भक्षयितव्यम्—इति स्थिते, किं लौकिकेन वचनेन अनुज्ञापयितव्यम्, उत वैदिकेन?—इति। अनियमात् लौकिकेन—इति प्राप्ते उच्यते,

सू **तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेन अनुज्ञापयेल्लिङ्गात् ॥ ४१ ॥**

भा अनुज्ञापनलिङ्गोऽयम् मन्त्रः, लिङ्गात् अनुज्ञापने समाम्नातः,

भा. सामर्थ्यात् विनियुज्यते. तत्र छतेऽर्थे लौकिको निवर्त्तते ॥ (३। ५। १५ अ०)॥

---

वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम्।

सू. तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ॥ ४२ ॥

भा. एतदवगतम्,—'तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेन अनुज्ञापयेत्'—इति। अथ प्रतिवचने सन्देहः,—किं लौकिकं प्रतिवचनम् उत, एतदेव?—इति। किं प्राप्तम्, एतत् वैदिकं, प्रश्ने विनियुक्तम्; लौकिकम् अन्यत् प्रतिवचनं भवितुमर्हति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तत्र' एतदेव प्रतिवचनम्—इति।

'ननु प्रश्नलिङ्गमेतत् उपह्वयस्व'—इति। उच्यते,—यदस्य पूर्वम्,—उपहूतः—इति प्रतिवचनस्य समर्थम्, तत् प्रतिवचनकार्यं भविष्यति। 'आह विपरीतमेतत् समाम्नानं, पूर्वं हि प्रश्नेन भवितव्यम्, ततः प्रतिवचनेन'। उच्यते,—'अर्थात्', पूर्वं, प्रतिवचनकार्यं भविष्यति, अर्थो हि क्रमाद्बलीयान्—इति ॥ (३। ५। १६ अ०)॥

---

एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम्।

सू. तदेकपात्राणां समवायात् ॥ ४३ ॥

भा. इदं सन्दिह्यते,—किं यः—कश्चित् अनुज्ञापयितव्यः, उत समानपात्रः—इति। अविशेषाभिधानात् यः—कश्चित्,—इति प्राप्ते उच्यते,—तत् खल्वनुज्ञापनमेकपात्राणां स्यात्। कुतः?। अनुज्ञापनम् इदाह्रम्, अनुज्ञापनस्य च एतद्रूपम्, यत्र अन्येन कर्त्तव्यम् अन्यश्चिकीर्षेत्, सोऽनुमन्यम्—इति मते,

भा. नादि* वा आचरितुकामास्तम् अन्यस्यानुकूलयति। तदेतत् नानापात्रेषु नैव सम्भवति, न हि तत्र अन्येन कर्त्तव्यम्, अन्यो वा चिकीर्षति—इति, सहभोजनादौ वापदार्थे सम्मानयति। एकपात्रे तु सोमे साधारणे संस्कर्त्तव्ये न्यायेन समो विभागो प्राप्नोति, तत्र अविभज्य पीयमाने कदाचित् अन्येन पातव्यम् अन्यः पिबेत्, तत्र अनुज्ञापनं सम्भवति,—त्वया अर्द्धं पातव्यं, मया अर्द्धं, कदाचित् अहमभ्यधिकं न्यूनं वा पिबेयं, तदनु ज्ञातुमर्हसि—इति, एकपात्रे वा पानं त्वया सहाचरन् अहं तव चित्तप्रसादनं आहन्याम्—इति सम्भवत्यनुज्ञापना। तस्मात् एकपात्रेष्वेव एतत् स्यात्—इति॥ (२।५।१७ अ०)॥

---

स्वयंयष्टुर्भक्षास्तित्वाधिकरणम्॥

सू. याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत्॥ ४४॥ (पू०)॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र ऋतुयागेषु श्रूयते,—'यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति होतरेतत् यजेति स्वयं वा निषद्य यजति' —इति। यदा स्वयं यजति, तदा सन्देहः,—किमस्य भक्षोऽस्ति, नास्ति?—इति. तदुच्यते,—याज्यायाम् अपनीयमानायां नापनीयेत भक्षणम्, होतुरेव तु भक्षणं स्यात्, न यजमानस्य —इति। कुतः?। अन्या हि याज्या अन्यत् भक्षणं, न च, अन्यस्मिन् अपनीयमानेऽन्यत् अपनीयते। यथा तस्यामेव याज्यायाम् अपनीयमानायां प्रवरो नापनीयते, तद्वदेतदपि —इति।

'ननु 'याज्याया अधि वषट्करोति'—इति, यत्र याज्या, तत्र वषट्कारः, यत्र वषट्कारः, तत्र भक्षणमपि'—इति। न

---

* सम्भोजनादि इति पाठः का० म० पु० स्व पत्र।

भा. इत्युच्यते,—न तावत् याज्यायाम् अवयवभूतो वषट्कारः, येन याज्याग्रहणेनासौ न गृह्यते। यत्तु, तस्या अधि वषट्करोति —इति, अन्येनापि प्रयुज्यमानाया उपरि होता वषट्करिष्यति, याज्यापनयो हि वचनात्, न वषट्कारापनयः, यावद्वचनम् वाचनिकं भवत्येव, वचनं हि तद्विषयमेव॥

सू. वषट्कारो वा कारणागमात् ॥ ४५ ॥ (सि०)॥

भा. वषट्कारो भक्षः स्यात्। कुतः?। कारणागमात्, भक्षस्य कारणं वषट्कारः, स च याज्यायाम् आगच्छन्त्याम् आगच्छति, एवं हि श्रूयते,—'याज्याया अधि वषट्करोति'—इति।

'नन्वेतदुक्तं,—यजमानेनापि प्रयुज्यमानायां होता अधि वषट्करोति'—इति। नैष समाधिः,—अनवानता वक्तव्यम्, वषट्कारेण यागः क्रियते, न याज्यामात्रेण। तस्मात् आ वषट्कारात् न अवानितव्यं यजमानेन, अन्यश्चेत् वषट् कुर्यात्, अवान्यात् याजमानः' न च यजेत। यश्चैव चासौ चोद्यते, न याज्यामात्रवचने, 'स्वयं निषद्य यजति'—इति साङ्गस्य निषद्ययागे विधानात्* ॥

सू. प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥ (आ० नि०)॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा प्रवरो नापनीयते, एवं भक्षोऽपि—इति। उच्यते,—अशक्यत्वात् प्रवरो न अपनीयते, अतिक्रान्तो हि स कथम् अपनीयेत होतुः? भक्षे चावसरे, अनुष्ठीयमानो यजमानस्य विगुणः स्यात्। न च, विगुणः कथंचित् अर्थं साधयेत्। न अत्र चोदकेन प्राप्नोति। 'अथोच्येत,—यत् शक्यं तच्चोदकेन प्रापितं, यत् न शक्यं, न तत् प्रापितम्'—इति। प्रकृतिरियम्,

* साङ्गे यागे विधानात् इति पाठः का० को० पु०।

भा अपूर्वस्य अत्र विधानं, यादृशम् उक्तं तादृशं यदि शक्यते, कर्त्तव्यम् यदि न शक्यते, यत्र एव शक्यते, तत्र एव कार्यम् न यत्र विगुणम्—इति। तस्मात् प्रवरस्यानपायो युक्तो न भक्षस्य—इति ॥ (२।५।१८ अ०)॥

---

फलचमसस्य इज्याविकारताधिकरणम् ।

## सू फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥ ४७ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत् स यदि सोमं बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीः* आहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्'—इति। तत्र सन्देहः—किं फलचमसो भक्षविकारः, उत इज्याविकारः?—इति, (किं फलचमसं भक्षयेत्—इत्यर्थः, उत फलचमसेन यजेत?—इति)। किं प्राप्तम्?—'फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः', भक्षणेन हि श्रुतेन एकवाक्यता भवति—इति,—'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्—इति न तेन यजेत'—इतिशब्दो ऽस्ति तस्मात् भक्षविकारः ॥

## सू इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥ (सि०) ॥

भा इज्याविकारो वा फलचमसः (फलचमसेन यजेतेत्यर्थः)। कथम्?। यदेतत् भक्षणं एतत् सोमसंस्कारार्थं फलचमसस्यापि यदि भक्षणं फलचमससंस्कारार्थं, फलचमसस्यान्यत्र अनुपयोगादनर्थकम्। 'अथ भक्षणं प्रधानं। तथा 'न सोमम्'—

---

* 'निभिनी' इति माधवीये पाठः। न्यभीनी मुकुलमिति तदर्थः।

भा इत्यनुवादो नावकल्पते। यदि त्विज्याविकारो भवेत्, तत फलचमसस्संस्कारोऽवकल्पते। तस्मात् इज्याविकार ।

'आह,—कथं यजिसम्बन्धेऽसति इज्याविकारो भविष्यति?' —इति। उच्यते,—अस्ति यजिसम्बन्ध । कथम्?—इति। 'यदि राजन्य वा वैश्य वा याजयेत् न्यग्रोधस्तिभी सम्पिष्य तम् अस्मै भक्ष प्रयच्छेत्', याजयितुम्—इति गम्यते। भक्ष सम्बन्धे हि न पूर्वम् उत्तरेण सम्बध्यते, यदि सोम भक्षणेन सस्कर्तुमिच्छेत् न्यग्रोधस्तिभी सस्कुर्यात्—इति। तस्मात् न भक्षणसम्बन्ध, यागो हि प्रकृतोऽस्ति, तेन सह सम्भत्स्यते, न दोषो भविष्यति।

'ननु तमस्मै भक्ष प्रयच्छेत्'—इतिवचनात् भक्षसाधनम्—इति गम्यते, न, यागसाधनम्—इति, भक्षशब्दानर्थक्यात्'। उच्यते,—श्रूयमाणे सम्बन्धे अनर्थकम्—इति कृत्वा प्रकृतसम्बन्ध' —इत्युच्यते, कथ तु भक्षसम्बन्ध?—इति। यद्धि यागद्रव्यं भक्षयितव्य तत् चोदकेन भवति तस्मात् भक्षसम्बन्ध लभते, भक्षसम्बन्धेन च यागसम्बन्ध एव उच्यते, यदि तेनेज्यते, तत' स भक्षो भवति, तस्मात् भक्षवचनात् सुतरा तेन इज्यते—इति गम्यते, सेयं व्यवधारणकल्पना 'तमस्मै भक्ष प्रयच्छेत्', तमस्मै भक्ष कुर्यात्—इत्यर्थ यथा स भक्षो भवति, तथा कुर्यात्—इति यदि च तेन इज्यते, ततोऽस्य भक्षो भवति। तस्मात् तेन यष्टव्यम्—इति॥

सू        होमात्॥ ४९॥ (छे॰ १)॥

भा होमविशेषवचनं भवति—'यदान्याश्चमसान् जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहत्य जुहोति—इति। इज्याविकारे सति दर्भतरुणकेन—इति जुहोतौ गुणवचनम् अवकल्पते। तस्मादपि इज्याविकार॥

सू चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ॥ ५० ॥ (हे० २) ॥

भा 'यदान्यांश्चमसान् उन्नयन्ति, अथैनं चमसं उन्नयन्ति'—इति। इज्याविकारे सति उन्नयनदर्शनं युज्यते, न भक्षविकारे। तस्मात् अपि इज्याविकारः ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५१ ॥ (हे० ३) ॥

भा. इतश्च पश्यामः,—इज्याविकारः—इति। कुतः?। लिङ्गदर्शनात्। किं लिङ्गं भवति?। सोमप्रतिषेधानुवादः,—तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत्, न सोमम्—इति, इज्याविकारे सति सोमो न भक्ष्यते। तस्मात् पश्यामः,—इज्याविकारः—इति ॥ (३।५।१९ अ०) ॥

---

ब्राह्मणानामेव राजन्यचमसानुप्रसर्पणाधिकरणम् ।

सू अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ॥ ५२ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति राजसूये दशपेयः, तत्र श्रूयते,—'शतं ब्राह्मणाः सोमान् भक्षयन्ति, दशदशैकैकचमसमनुप्रसर्पन्ति'—इति। अथ राजन्यचमसे सन्देहः,—किं, तं राजन्या अनुप्रसर्पेयुः, उत ब्राह्मणाः?—इति। किं प्राप्तम्?—राजन्याः—इति। कथम्?। दशदशैकैकं चमसम् अनुप्रसर्पेयुः—इति अनुप्रसर्पतां सङ्ख्या विधीयते। एकस्यां राजन्यजातौ दशसङ्ख्या विधीयते, राजन्यजातिः सैव, तेन तं दश राजन्या अनुप्रसर्पेयुः एवं शतं ब्राह्मणा राजन्याश्च, तेषु शतशब्दोऽनुवादः। अनुवादसरूपश्च, शतं भक्षयन्ति—इति। तस्मात् राजन्या राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पेयुः—इति। केचिदाहुः,—'ब्राह्मणराजन्यानामेकस्मिंश्चमसे भक्षं

भा. विरुध्यते'—इति। न च दोषः, न हि सोमेन उच्छिष्टा भवन्ति —इति श्रूयते॥

सू. ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात्॥ ५३॥ (सि॰)॥

भा. ब्राह्मणा वा राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पेयुः। कथम्?। 'शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति'—इतिविधिः श्रुत्या ब्राह्मणगतामेव सङ्ख्यामाह। तस्मात् शतं ब्राह्मणाः, तेषां भक्षणार्थम् अनुप्रसर्पतामेकैकस्मिंश्चमसे दशदशोपदिश्यन्ते। तस्मात् ब्राह्मणशतस्य दश ब्राह्मणा राजन्यचमसम् अनुप्रसर्पेयुः—इति॥

इति शबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः समाप्तः॥

तृतीये अध्याये षष्ठः पादः ।



अथ स्रुवादिषु खादिरतादिविधेः प्रकृतिगामिताधिकरणम् ।

सू सर्वार्थमप्रकरणात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा अनारभ्य किञ्चित् उच्यते — यस्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति । यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति — इत्येवमादि । तत्र सन्देहः — किं खादिरता स्रुवे पालाशता जुह्वा प्रकृतौ निविशते उत प्रकृतौ विकृतौ च ? — इति । किं प्राप्तम् ? — सर्वार्थम् अप्रकरणात् प्रकृतिविकृत्यर्थम् एवञ्जातीयकम् । कुतः ? । अप्रकरणात् न कस्यचित् प्रकरणे श्रूयन्ते तानि वाक्येन सर्वत्र भवेयुः — इति ॥

सू प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा प्रकृतौ वा निविशेरन् अनारभ्याधीतानि पात्राणि । कुतः ? । अद्विरुक्तत्वात् — एवम् अद्विरुक्तं भविष्यति — इति । विकृतावपि को दोषः ? । असम्भवः — इति ब्रूमः — यदि प्रकृतौ विकृतौ च भवति अस्ति तत् प्रकृतौ प्रकृता चेदस्ति चोदकेन एव विकृतिं प्राप्नोति ततो न अनारभ्य—विधिमाकाङ्क्षति । तस्मात् अनाकाङ्क्षितत्वात् अनारभ्य—विधिर्न तत्र विदधाति तेन ब्रूमः —प्रकृत्यर्थ एव—इति ॥

सू तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते ॥ ३ ॥ (पुन पू०) ॥

भा अप्रकरणात् प्रकृतिविकृत्यर्थम् एव—इत्युच्यते । यत्तु, चोद

भा. केन प्राप्नोति—इति अनारभ्य—विधिना प्राप्ते न चोदकम् आकाङ्क्षति। तस्मात् अनारभ्य—विधिवर्जं चोदकः प्रापयिष्यति, अनारभ्य—विधिवाक्येन प्रत्यक्षेण स्रुवे खादिरता, चोदकवाक्येन आनुमानिकेन विहृतौ, अनुमानिकाच्च प्रत्यक्षं बलवत्। तस्मात् प्रकृतिविकृत्यर्थोऽनारभ्य—विधिः॥

सू. दर्शनादिति चेत् ॥ ४ ॥ (आ०)॥

भा. यदि अनारभ्य—विधिश्चोदकात् बलीयान्, अनारभ्य—विधिना प्राप्ते न चोदकम् आकाङ्क्षति, निराकाङ्क्षे वैकृते कर्मणि चोदको न एव प्राप्नोति, तत्र प्रयाजादीनां दर्शनं नैवोपपद्येत, दृश्यन्ते च प्रयाजादयः क्वचित्, 'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति' —इति। अथ चोदको बलीयान् ततः एतद्दर्शनम् उपपद्यते। तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः॥

सू. न चोदनैकार्थ्यात् ॥ ५ ॥ (आ० नि०)॥

भा. न प्रकृत्यर्थः, सर्वार्थः—इति ब्रूमः, अप्रकरणे समाम्नानात्। यदुक्तम्, अनारभ्य—विधिना निराकाङ्क्षस्य न चोदकः—इति, तत् नोपपद्यते, न हि अनारभ्य—विधिश्चोदनां निराकाङ्क्षीकरोति, प्राप्ते हि चोदके न स्रुवे खादिरता अनारभ्य—विधिना शक्या विधातुम्। असति चोदकेऽनारभ्य—विधिरपि नास्ति, न च अनारभ्य—विधिः स्रुवं प्रापयति, तस्य च खादिरताम्। कुतः?। 'चोदनैकार्थ्यात्', एकार्था हि चोदना,—'यस्य खादिरः स्रुवो भवति'—इति। न च, अत्र स्रुवः खादिरता चोभयं विधीयते, स्रुवस्य सतः खादिरताम् एष शब्द आह, स च चोदकेन प्राप्तः, तस्मात् अस्ति चोदकः, स हि अनारभ्य—विधिवाक्यस्य प्रत्यक्षत्वात् तं वर्जयित्वा अन्यं प्रापयति। तस्मात् प्रकृतिविकृत्यर्थः अनारभ्य—विधिः॥

सू उत्पत्तिरिति चेत् ॥ ६ ॥ (पुनः आ०)॥

भा इति चेत् पश्यसि,—उत्पत्तिरेषां प्रकृतिविधिभिस्तुल्या, प्रकृतावङ्गानि सङ्क्षेपेण विस्तारेण चोच्यन्ते,—'पञ्च प्रयाजान् यजति'—इति सङ्क्षेपेण; 'समिधो यजति'—इत्येवमादिना विस्तरेण। इहापि 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति'—इत्येवमादि विस्तारः, 'यस्यैवंरूपः स्रुवः'—इति सङ्क्षेपः। एवंरूपः प्रकृतौ विधिर्दृष्टः, अयमप्येवंरूपः, तस्मात् प्राकृतः—इति सामान्यतो—दृष्टानुमानम्। तस्मात् प्रकृत्यर्थोऽनारभ्यविधिः—इति॥

सू न, तुल्यत्वात् ॥ ७ ॥ (आ० नि०)॥

भा. नैतदेवं, न हि, एवञ्जातीयकं सामान्यतो—दृष्टं साधकं भवति, केवलम् अत्र प्राकृतविधिसारूप्यं, न तु प्रकृतावेतत् भवति—इति प्रमाणमस्ति। यपि च विकृतावपि सङ्क्षेपविस्ताराभ्याम् अङ्गानि विधीयन्ते,—'तिस्र आहुतीर्जुहोति'—इति सङ्क्षेपः, 'आमनमस्यामनस्य देवा'—इति विस्तारः। अतो वैकृतैरप्यनारभ्य—विधयस्तुल्याः, तस्मात् अयमहेतुः प्रकृतिनिवेशस्य॥

सू. चोदनार्थकार्त्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात् प्रकृत्यर्थः॥ ८॥ (पू० नि०)॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न सर्वार्थोऽनारभ्यविधिः, प्रकृत्यर्थः सः—इति ब्रूमः। कुतः?। चोदनार्थकार्त्स्न्यात्, कृत्स्नं चोदकः प्रापयति, न अनारभ्य—विधिना वैकृतम् अपूर्वं निराकाङ्क्षं, प्राचाणा हि तत् वाक्येन, न यागानां; यागाश्चोदनालिङ्गसंयोगात् प्राकृतमपेक्षन्ते, तथा सहैकवाक्यतां यान्ति। प्राकृताश्च तान् शक्नुवन्ति निराकाङ्क्षीकर्त्तुम्, न अनारभ्य—

भा. विधयः। तस्मात् अवश्यं चोदक उत्पादयितव्यः, स चेत् उपाद्यते, नार्थोऽनारभ्य—विधिना। न चासौ प्रकरणादीनामभावात् प्रवर्त्तमानोऽपि वैकृतेन यागेन सम्बध्येत, तस्मात् वैकृतेन कर्मणा न अनारभ्यविधिः सम्बध्यते, तस्य वैकृतस्य मुख्यस्य, अनारभ्यविधिर्वाक्यशेषः, प्रकृतौ वा—इतिप्रतिषेधे चोदकसामर्थ्यात्, प्राकृते वाक्यशेषे प्राप्ते अनारभ्य—विधिर्न भविष्यति। तस्मात् अनारभ्य—विधिः प्रकृत्यर्थः—इति॥ (३। ६। १ अ०)॥

---

सामिधेनीनां सप्तदशप्रसङ्ख्याया विकृतिगामिताधिकरणम्॥

सू. प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात्॥ ६॥

भा. अनारभ्य, किञ्चित् सामिधेनीनां परिमाणमाम्नातं,—'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्'*—इति। तत्र सन्देहः,—किमेतत् प्रकृतौ, उत विकृतौ?—इति। किं प्राप्तम्?—पूर्वेण न्यायेन प्रकृतौ—इति प्राप्तम्, प्रकृतौ च पाञ्चदश्यमाम्नातं, तेन विकल्पः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—विकृतौ एवञ्जातीयको विधिः स्यात्†। कस्मात्?। प्रकृतेः पाञ्चदश्येन निराकाङ्क्षत्वात्। 'ननु विकल्पो भविष्यति—इत्युक्तं। प्रकरणविशेषात् पाञ्चदश्येन न विकल्पः, विषमशासनात्, विकृतौ तु आनुमानिकं पाञ्चदश्यं बाधित्वा, अनारभ्य—विधिवाक्येन प्रत्यक्षेण साप्तदश्यं निवेक्ष्यते। अपि-

---

* प्र वो वाजा अभि द्यव इत्याद्या अग्निसमिन्धनार्था ऋचः सामिधेन्य. इति माधवः।

† एवञ्जातीयकं विरोधि स्यादिति पाठः का० सं० पु०।

भा　उक्तं च एतत् प्रयोगवचनं उपसंहरिष्यति। तस्मात् एवञ्जातीयकं विकृत्यर्थम्॥ (३।६।२ अ०)॥

---

गोदोहनादीनां प्रकृतिगामिताधिकरणम्।

सू　**नैमित्तिकं तु प्रकृतौ, तद्विकारः संयोग-विशेषात्॥ १०॥**

भा　दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्'—इति, तथा, अग्नीषोमीये पशौ श्रूयते यूपं प्रकृत्य,—'बैल्वो ब्रह्मवर्चसकामेन कार्यः'—इति। एवञ्जातीयकेषु सन्देहः,—किं प्रकृतौ निवेशः, विकृतौ?—इति। किं प्राप्तम्?—विकृतौ—इति प्रकृतिरन्येन पात्रेण यूपेन च निराकाङ्क्षा। एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतौ नैमित्तिकं निविशते, निमित्तसंयोगेन विधानात् खादिरपालाशरौहितका 'अविशेषेण उक्ता' चमसश्च गोदोहनं बैल्वश्च विशेषविहितौ, विशेषविधिना च अविशेषविधिर्बाध्यते। प्रकरणं सामान्यं, निमित्तसंयोगो विशेषः, सामान्येन यत् प्राप्नोति, तत् परोक्षं लक्षणया, यत्तु विशेषेण, तत् प्रत्यक्षं श्रुत्या, श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी, प्रत्यक्षं च परोक्षात्। तस्मात् प्रकृतौ एव स्यात्॥ (३।६।३ अ०)॥

---

आधानस्य पवमानेष्ट्यनङ्गताधिकरणम्।

सू　**इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात्॥ ११॥ (पू०)॥**

भा　सन्ति पवमानेष्टयः,—'अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत् अग्नये पावकायाग्नये शुचये'—इति। तासां प्रकरणे, समाम्नातं,—'ब्राह्मणो वसन्ते अग्निमादधीत'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अग्न्याधेयं पवमानेष्ट्यर्थम्, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?

भा —इष्ट्यर्थम्—इति। कुतः?। प्रकरणात्, तासां प्रकरणे श्रूयते, —अतः तदर्थम्॥

सू न वा तासां तदर्थत्वात्॥ १२॥ (सि०)॥

भा पवमानेष्टयो हि अग्न्यर्थाः, यदि अग्निः इष्ट्यर्थः स्यात्, ततः तदर्थम् अग्न्याधेयम् इष्टीनाम् उपकुर्यात्। निष्फलास्तु इष्टयः, तदर्थम् अग्न्याधेयमपि निष्फलं स्यात्। कथं पुनः अग्न्यर्थता पवमानेष्टीनाम्?। निष्प्रयोजनत्वादेव, प्रयोजनवत्त्वात् च अग्नीनाम्। भावयितव्या अपि इष्टयः भूतानाम् अग्नीनाम् अर्थेन क्रियेरन्। तस्मात् अग्न्याधेयं न पवमानेष्ट्यर्थम्॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च॥ १३॥ (यु०)॥

भा. लिङ्गं दर्शयति, यथा अग्न्यर्था पवमानेष्टयः—इति। किं लिङ्गम्?। 'जीर्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे निर्वपेत्, तेन वा एष न जीर्यति, तेनैनं पुनर्नवं करोति तच्च सूक्ष्मम्'—इति॥ (३।६।४ अ०)।

---

आधानस्य सर्व्वार्थताधिकरणम्॥

सू तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्य—वादाः॥ १४॥ (पू०)॥

भा तदेतत् आधानं किं प्रकृत्यर्थम्, उत सर्वकर्मार्थम्?—इति सन्देहः। किं प्राप्तम्?—उच्यते, तत् प्रकृत्यर्थम्। कथम्?। यथा अन्ये अनारभ्य—वादाः प्रकृत्यर्थाः, तेनैव हेतुना॥

सू सर्वार्थं वा आधानस्य स्वकालत्वात्॥ १५॥ (सि०)॥

भा सर्वकर्मार्थं वा आधानम्। कोऽर्थः?। सर्वकर्मार्थं द्रव्य, तदर्थमाधानं न प्रकृत्यर्थं। न प्रकृती। प्रकृत्य

भा च, श्रुत्यादयोऽस्य सन्ति ये अङ्गभावम् उपपादयन्ति। अन्येषु अनारभ्य—वादेषु अन्यतो निर्ज्ञातेऽङ्गभावे ततो विचार,— किं प्रकृते अङ्गभूतानि विकृते?—इति, तस्मात् तेषु युक्तम्। इह तु अङ्गभावे न कारणमस्ति, तस्मात् अग्निप्रयुक्तमाधान, न कर्मप्रयुक्त, सर्वकर्मार्थो अग्नय —इति 'सर्वार्थम्'—इत्युच्यते।

अपि च अस्य सत —कालो विधीयते, स न विधातव्य,— यदा ज्योतिष्टोमस्य प्रयोग, तदा इदं कर्त्तव्यम्, तदा च वसन्त। एव यदा दर्शपूर्णमासयो प्रयोग, तदा कर्त्तव्यम्, तदा पौर्णमासी अमावास्या वा। अप्रकृत्यर्थन्तु न प्रकृतिप्रयोगे क्रियेत, तत्र कालवचनं युक्तं। तस्मात् न प्रकृत्यर्थम्॥ (६।६।५ अ०)॥

---

पवमानेष्टीनामसंस्कृतेऽग्नौ कर्त्तव्यताधिकरणम्।

सू तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात्* ॥१६॥ (पू०)॥

भा सन्ति पवमानेष्टय,—'अग्नये पवमानाय'—इत्येवमाद्या। तत्र सन्देह,—किं पवमानेष्टिसंस्कृतेऽग्नौ पवमानेष्टय कर्त्तव्या, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—'तासां खलु पवमानेष्टीनां पवमानेष्टिसंस्कृतोऽग्नि प्रकृतित स्यात्। कुत?। चोदकसामर्थ्यात्, प्रयाजवत् यथा प्राकृत प्रयाजा भवन्ति चोदकेन, एव पवमानेष्टिसंस्कृता अग्नयोऽपि भवेयु॥

सू न वा तासां तदर्थत्वात् ॥१७॥ (सि०)॥

भा न वा इष्टिसंस्कार, अग्नीनां पवमानेष्टिषु स्यात्। कस्मात्?।

---

* क्वचित् स्यादिति नास्ति।

भा तासां तदर्थत्वात्, ताः पवमानेष्टयोऽग्निसंस्कारार्थाः,—इत्युक्तम्, यच्च नाम अङ्गभूतं तच्चोदकेन गृह्यते; अग्निप्रयुक्तश्च पवमानेष्टिसंस्कारो न दर्शपूर्णमासप्रयुक्तः, तेन न चोदकेन आलप्स्यते। अपि च पवमानेष्टयः इष्टिसंस्कारवर्जितां प्रकृतिमपेक्षन्ते, अविहितत्वात् तस्यामवस्थायां पवमानेष्टीनाम्॥ (२। ६। ६ अ०)॥

---

उपाकरणादीनामग्नीषोमीयधर्म्मताधिकरणम्।

सू तुल्यः सर्व्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात्॥ १८॥ (१म पू०)॥

भा. ज्योतिष्टोमे, पशुः अग्नीषोमीयो—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति, तथा सवनीयोऽनुबन्ध्यश्च। सन्ति च पशुधर्म्माः,—उपाकरणम् उपानयनम् अक्ष्णया बन्धो यूपे नियोजनं संज्ञपनं विशसनम्—इत्येवमादयः, ते, किं सर्व्वेषाम् अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यानाम्, उत अग्नीषोमीयस्य सवनीयस्य वा, उत अग्नीषोमीयस्यैव?—इति। किं प्राप्तम्?—अविशेषात्, सर्व्वपशूनाम्। कथम् अविशेषः?। ज्योतिष्टोमप्रकरणे सर्व्वे पशवः समाम्नाताः, तत्प्रकरणापन्नत्वात् सर्व्वे पशुधर्म्माः सम्बध्यन्ते, न चैषां तत्र कश्चिद्विशेषः।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सवनीयस्य एते धर्म्माः भवेयुः, तुल्यः सर्व्वेषां पशुविधिः स्यात्, यदि प्रकरणे विशेषो न भवेत्; भवति तु प्रकरणे विशेषः, सवनीयानां प्रकरणे पशुधर्म्माः समाम्नाताः,—'आग्नेयः पशुरग्निष्टोमे आलभ्यः, आग्नेयो हि अग्निष्टोमः ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये आलभ्यः, ऐन्द्राग्नानि हि उक्थ्यानि। ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि आलभ्यः, ऐन्द्रो वै वृष्णिः ऐन्द्रः षोडशी। सारस्वती मेषी अतिरात्रे आलभ्या,

भा —इति प्रकृतस्य पशुधर्मा आम्नाता, तस्मात् सवनीयस्य प्रकरणात् भवितुमर्हति ॥

सू स्थानाच्च पूर्व्वस्य ॥ १९ ॥ (२य पू०) ॥

भा यदुक्तम्,—प्रकरणात् सवनीयार्था —इति, एतत् गृह्णीम क्रमाच्च अग्नीषोमीयस्य तस्य हि क्रम औपवसथ्ये अहनि समाम्नातम्, तस्मात् द्वयोरपि—इति ॥

सू श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा एकेषां शाखिनां श्व सवनीयानामाम्नानम् तदपेक्ष्य इयमेषा गुणार्था पुनःश्रुतिः। कः पुनर्गुणः? यदर्थैषा श्रुतिः'। उच्यते,—पशून् सञ्ज्ञोप्य 'यथा व मत्स्योऽविदितो जनमवधुनुते, एव वा एते अमज्ञायमाना जनमवधुन्वते—इति वपामविज्ञाने दोषमभिधाय, एभि कथं सवनानि पशुमन्ति?—इतिप्रश्नरूपकेण वपाप्रचारो गुणो विधीयते तदर्थैषा श्रुतिः वपाप्रचारेण एकवाक्यत्वात्। किमतः?। यद्येवम् न सवनीयानां प्रकरणेन पशुधर्मा, क्रमात् अग्नीषोमीयार्था एव—इति। किं पुनः तत् श्व आम्नानम्?। 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयपशुमुपाकरोति —इति ॥

सू तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा नैतदस्ति —क्रमादग्नीषोमीयार्था एव—इति, प्रकरणात् सवनीयार्था, पूर्वद्युरेवाम्नानं विधानार्थम्, आश्विनवाक्यं कालगुणविधानार्थम्। कथम्?। तेन वपाप्रचारेण उत्कृष्टस्य काल एव विधीयते प्रातःसवने वपाप्रचारे चोदिते सति पशवा लम्भोऽपि तत्र एव प्राप्नोति, तत्र कालानियमे प्राप्ते 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा'—इति कालमात्रं विधीयते। 'त्रिवृता यूपं

भा परिवीयोपाकरोति'—इत्यनुवादः। इतरथा हि परिव्याणस्य कालो विधीयेत, उपाकरणस्य च; तत्र अनेकगुणविधानात् वाक्यम्भिद्येत। तस्मात् सवनीयार्थाः पशुधर्माः—इति ॥

सू नैकदेशत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०)॥

भा नैतदेवम्, अग्नीषोमीयार्था एवैते क्रमात्, आश्विनकाले हि आम्नानं विधानार्थम्। गुणार्थे एतस्मिन् वाक्यम्भिद्येत, न विधानार्थे, न हि, वपाप्रचारेणोत्कृष्टस्य कालविधिः सम्भवति। एकदेशो हि वपाद्रव्य तेन सन्निपातिनो वपासंस्कारात्, उत्कर्षश्चोपाकरणम्॥

सू अर्थेनेति चेत् ॥ २३ । (आ०)॥

भा आह—अर्थेन नर्हि उत्कृष्टस्य कालो विधीयते। 'मुष्टिना पिधाय वपोद्धरणमासीत आ वपाहोमात्'—इति श्रूयते, पूर्वद्युर्वपोद्धरणे मुष्टिना पिधाय न शक्नुयात् एतावन्तं कालमासीनेन अवस्थातुम्, अवश्यमाहारविहारादयस्तेन कर्त्तव्याः—इति॥

सू न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं, श्रुतिविप्रतिषेधो भवेदेवम्, न च, श्रुतिविप्रतिषेधः, तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधायिष्यते। 'ननु आस्ते—इत्युपवेशने भवति'। न अवश्यम् उपवेशने एव, औदासीन्येऽपि दृश्यते, तत् यथा,– गृहाणि परिगृह्य आस्ते, क्षेत्राणि परिगृह्य आस्ते—इति अनुपवेशनेऽपि भवति, व्यापारनिवृत्तौ। इहापि तृणमुष्टिना पर्णमुष्टिना वा पिधाय आ-वपाहोमात् उदासिष्यते। तस्मात् आश्विनकालमाम्नानं विधानार्थं, न सवनीयाना प्रकरणे पशुधर्माः, तस्मात् न सवनीयार्थाः॥

सू स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ २५ ॥
(उप०) ॥

भा नास्ति सवनीयानां प्रकरणम्—इत्येवं सति पूर्वेणैव हेतुना स्थानेन पूर्वस्य अग्नीषोमीयस्य भवितुमर्हति। संस्कारोऽयं पशुयागप्रयुक्तः, न ज्योतिष्टोमप्रयुक्तः, ज्योतिष्टोमप्रयुक्तत्वे न विशेषः पशुना स्यात् पशुयागा अपि हि धर्मान् प्रयोक्तुम् अपूर्वत्वात् समर्थाः, प्रकरणवत्त्वात्। तस्मात् क्रमात् अग्नीषोमीयधर्मा—इति ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २६ ॥ (हे०) ॥

भा इतश्च पश्यामोऽग्नीषोमीयार्था पशुधर्मा—इति। कुतः ?। 'लिङ्गदर्शनात्'। लिङ्गम् अस्मिन् अर्थे भवति,—'वपया प्रातःसवने चरन्ति पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने'—इति पशुपुरोडाशं दर्शयति। इतरथा समानविधानेषु सर्वेषु पशुषु अग्नीषोमयोर्देवतयोः संस्कारार्थः सन् पुरोडाशः सामर्थ्यात् अग्नीषोमीयस्य भवेत् न सवनीयस्य, तयोर्देवतयोरभावात्, दर्शयति च। तस्मात् अग्नीषोमीयार्था—इति ॥

सू अचोदना गुणार्थेन ॥ २७ ॥

भा (इदं मदोत्तरं सूत्रम्।) आह, ननु छिद्रापिधानार्थः पशुपुरोडाशः'। न—इति ब्रूमः 'अचोदना गुणार्थेन', तस्य छिद्रापिधानार्थेन न चोदना, अर्थवादः सः—इत्युक्तम्। तस्मात् देवतासंस्कारार्थः, तस्मात् अग्नीषोमीयार्थत्वे, सवनीये पुरोडाशस्य दर्शनम् उपपद्यते, न साधारण्ये। तस्मात् अग्नीषोमीयार्था पशुधर्मा—इति ॥ (३।६।७ अ०) ॥

---

शाखाहरणादीनामुभयदोहधर्मताधिकरणम् ।

सू· दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति सायंदोहः, तथा अस्ति प्रातर्दोहः। सन्ति तु दोहधर्माः शाखाहरणं, गवां प्रस्थापनं, प्रस्तावनं, गोदोहनम् —इत्येवमादयः, ते किं सायंदोहार्थाः, उत उभयार्थाः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—दोहयोः तयोरसंयुक्तं धर्म्मैः शृतं भवेत्। कस्मात्?। सायंदोहस्य हि क्रमे औपवसथ्येऽहनि शाखाहरणादीन् समामनन्ति, तस्मिन् एवाहनि सायंदोहः। तस्मात्, क्रमात् सायदोहार्थाः दोहधर्माः—इति ॥

सू. प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा प्रकरणं हि साधारणम्, यथैव दध्नः एवं पयसः, क्रमाच्च प्रकरणं बलवत्तरम्, तस्मात् उभयार्था दोहधर्माः। अपि च, न सायंदोहस्य पूर्वेद्युराम्नानं। क्व तर्हि?। उत्तरेद्युः। कथम्?। एवमामनन्ति—'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्'—इति, अमावास्यायां हि उभयं साङ्गं चोद्यते, स एष सायंदोहोऽर्थात् पूर्वेद्युरनुष्ठीयते, स्वभाव एष दध्नो,—यत् पूर्वेद्युरुपक्रान्तम् अपरेद्युरभिनिर्वर्त्तते। तस्मात् सायंदोहस्य क्रमे आम्नाताः—इत्येतदेव तावत् नास्ति। अत उभयार्था दोहधर्माः—इति॥ (३।६।८ अ०)॥

---

सादनादीनां सवनत्रयधर्मताधिकरणम् ।

सू तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥ ३० ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमः,—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—

भा इति। तत्र ऐन्द्रवायवाद्या ग्रहा प्रातःसवने दश आम्नाता तत्र धर्मा श्रूयन्ते—'उपोप्तेऽन्ये ग्रहा साद्यन्ते, अनुपोप्ते ध्रुवा' 'दशापवित्रेण ग्रहं समार्ष्टि'—इति। सन्ति अपरे माध्यन्दिने सवने, अपरे तृतीयसवने ग्रहा, तेषु माध्यन्दिनीयेषु तार्त्तीयेषु च सवनेषु सन्देह —किं सर्वेषु ग्रहधर्मा कर्त्तव्या, उत प्रातःसवने ये ग्रहास्तेषु?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रातःसवनग्रहेषु भवेयु, तेषां क्रमे समाम्नानात् नेतरेषाम्।

एवं प्राप्ते ब्रूम,—'सवनान्तरे प्रातःसवनात् माध्यन्दिने तृतीयसवने च ग्रहाम्नानं तद्देव भवितुमर्हति। सर्वेषां हि तुल्यं प्रकरणं, यत्रैते धर्मा समाम्नाता, वाक्येन ग्रहमात्रस्य विधीयन्ते, क्रमाच्च वाक्यप्रकरणे बलीयसी। तस्मात् सर्वार्था ग्रहधर्मा—इति॥ (३।६।८ अ०)॥

---

रशनात्रिवृत्त्वादीनां सर्वपशुधर्मताधिकरणम्।

सू रशना च लिङ्गदर्शनात्॥ ३१॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशु अग्नीषोमीय,—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र रशना श्रूयते, रशनाधर्माश्च—'त्रिवृत् भवति, दर्भमयी भवति, अपिष्टाना कार्या च'—इति। तत्र सन्देह,—किमेते धर्मा अग्नीषोमीयरशनाया सवनीयरशनायाश्च साधारणा, उत अग्नीषोमीयरशनाया एव?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रकरणात् अग्नीषोमीयरशनाया—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूम—उभयो साधारणा—इति। कुत?। 'लिङ्गदर्शनात्' लिङ्गं भवति—एवमाह—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं पशुमुपाकरोति'—इति

भा वसनीयपरिव्याणे रशना दर्शयति, सा यदि साधारणी, तत एतद्दर्शनमवकल्पते। यदि अग्नीषोमीयाथा, ततो आम्नातात् सवनीयपरिव्याणान् निवर्त्तेत। सवनीये च परिव्याणान्तर मप्राप्तम्, यच चिह्नत्वं दृश्यते। कथम्? 'स वै आश्विनं गृहं गृहीत्वोपनिष्क्रम्य यूपं परिव्ययति—इति, तत्र यदि न साधारणी रशना, वाससा परिव्याणं प्राप्नोति, रशनां तु दर्शयति। तस्मात् साधारणी रशना, तत्साधारण्याच्च तद्धर्मा अपि साधारणा। तदेतल्लिङ्गात् रशनासाधारण्यम्। कोऽत्र खलु न्यायः?—इति। उच्यते,—प्रकरणात् अग्नीषोमीयस्य, वाक्यात् यूपमात्रस्य—इति॥ (३।६।१०अ०)॥

---

अश्वदाभ्ययोरपि सादनादिधर्मवत्त्वाधिकरणम्॥

सू आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात्॥ ३२॥ (पू०)॥

भा दूरात् यत् शिष्यते ज्योतिष्टोमस्य, यथा, औपसदानुवाक्या काण्डे अश्वदाभ्यौ। तत्र सन्देहः,—किं ज्योतिष्टोमसमाम्नाता ग्रहधर्मा कर्त्तव्या, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—न कर्त्तव्या, असन्निधानात् यथा, 'पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति'—इति वचनात् मैत्रावरुणस्यैव श्रपणं, न सर्वेषाम् एवम् इदमपि धर्मजातं प्रकरणस्थानामेव, न सर्वेषाम्—इति॥

सू संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३३॥ (सि०)॥

भा संयुक्तं वा धर्मैः, एवञ्जातीयकं स्यात्, अप्रकरणस्थमपि। कुतः?। यतः प्रकरणात् वाक्यं बलीयः। 'ननु अन्यत्र क्रिय

भा मा भूत ज्योतिष्टोमस्य नोपकुर्यु'। उच्यते,—उपकरिष्यन्ति अंशदाभ्ययो 'तदर्थत्वात्, (ज्योतिष्टोमार्थत्वात्) अपेक्ष्य ग्रहधर्मं, ग्रहनिमित्तो ज्योतिष्टोमस्योपकारक, यावान् ग्रहो ज्योतिष्टोमस्य उपकरोति, तस्य सर्वस्य भवितुमर्हति। तस्मात् अंशदाभ्ययोरपि ग्रहधर्मा कर्त्तव्या —इति॥

सू **निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत॥ ३४॥ (आ० नि०)॥**

भा यदुक्तम्,—यथा मैत्रावरुणः पयसा श्रीणाति—इति, तद् युक्तं, श्रयणे वचनात् प्रकरणं बाधित्वा व्यवस्थानम्, इह तु विपरीतं, तत्र सर्वेषु ग्रहेषु प्रकरणं, विशिष्टेषु वाक्यम्, इह तु सर्वेषु ग्रहेषु वाक्यं विशिष्टेषु प्रकरणम्। तस्मात् अप्रकरणस्थस्यापि धर्मा —इति॥ (३।६।११ अ०)॥

---

चित्रिण्यादीष्टकानामप्रकृताधिकरणम्॥

सू **अप्यङ्गमप्रकरणे तद्वत्॥ ३५॥**

भा अनारभ्याग्निमुच्यते,—'चित्रिणीरुपदधाति, वज्रिणीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति'—इति। सन्ति तु प्रकरणे इष्टकाधर्मा —'अखण्डामकृष्णलाम् इष्टकां कुर्यात्'—इति, तथा 'भग्नया इष्टका प्रयुञ्ज्यात्'—इति। तत्र सन्देह,—किम् अप्रकरणे समाम्नातानाम् इमे धर्मा कर्त्तव्या, उत न? —इति। किं प्राप्तम्?—न कर्त्तव्या। कुत?। असन्निधानात्। इति प्राप्ते, उच्यते,—अप्यङ्गमेवञ्जातीयकं तद्वदेव स्यात् यद्वत् प्रधानं, प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्। अन्यथा चेष्टकानामनर्थं स्यात्॥ (३।६।१२ अ०)॥

---

मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताधिकरणम् ॥

सू. नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥ ३६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं बिभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्'—इति। ज्योतिष्टोमे सन्ति सोमधर्मा,—मानमुपावहरणं क्रयोऽभिषवः—इत्येवमादयः। तत्र सन्देहः,—किं समानविधाना इमे धर्माः सोमस्य फलचमसस्य च, उत सोमधर्माः, फलचमसस्य तु तद्विकारत्वात् —इति, (गुणकामानां प्रवृत्तिरप्रवृत्तिर्वा प्रयोजनमधिकरणचिन्तायाः)।

किं प्राप्तम्?—समानविधानाः प्रकरणाविभागात्—इति प्राप्ते, उच्यते,—नैमित्तिकम् एवञ्जातीयकम् असमानविधानं स्यात्। कुतः?। अतुल्यत्वात्, अतुल्यः सोमेन फलचमसः,—सोमो नित्यवदाम्नातः, फलचमसो नैमित्तिकः। किम् अतः?। यद्येवं, धर्मा अपि नित्यवदाम्नाताः न शक्या अनित्यवत् कर्तुम्। यदि साधारणाः, तत्र अनारभ्योऽर्था विधीयेत। अपि च नैमित्तिकः फलचमसः स सोमधर्मान् गृह्णाति, तत्र धर्माः साधारणाः सन्तः द्विरुक्ताः—इत्युच्येरन्।। तस्मात् असमानविधानाः॥ (३।६।१३ अ०)॥

---

प्रतिनिधिष्वपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥ ३७ ॥ (पू०)॥

भा. अस्ति प्रतिनिधिः, श्रुते द्रव्येऽपचरति, यथा व्रीहिष्वपचरत्सु नीवाराः। तत्र सन्देहः,—किं नीवाराः समानविधानाः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—'प्रतिनिधिश्च तद्वत्',—यथा नैमि-

भा त्रिकं नित्येन असमानविधानं एव प्रतिनिधि अतुल्यत्वात्। का अतुल्यता?। व्रीहिणा विहिता, न नीवाराणाम्—इयम् अतुल्यता, व्रीहिणा विहिता, नीवाराणाम् अर्थाभस्या भवन्ति॥

सू तदप्रयोजनैकत्वात्॥ ३८॥ (सि०)॥

भा नैतदस्ति,—असमानविधान प्रतिनिधि—इति, तद्वत् स्यात् यद्वत् श्रुत, न प्रकृतिविकारभाव। कुत?। व्रीहित्व हि व्रीहिधर्माणां व्रीहिगतो निमित्त, न च, व्रीहित्वस्य स्थाने नीवारत्वं भवति—इति श्रूयते, तस्मात् न प्रकृतिविकारभाव। 'कथम् तर्हि नीवारेषु धर्मा भवन्ति?—इति'। उच्यते,—या व्रीहित्वेन परिच्छिन्ना व्रीहिव्यक्तय, नीवारेषु ता सन्ति तासामर्थेन ते धर्मा क्रियन्ते, तासां च व्यक्तीनामन्यासां च व्रीहिगतानां तुल्य एव विधि। का तुल्यता?। उभयेऽपि व्रीहित्वलक्षिता—इति। तस्मात् समानविधाना—इति॥

सू अशास्त्रलक्षणत्वाच्च॥ ३९॥ (यु०)॥

भा इतश्च न प्रतिनिधे श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभाव। कुत?। अर्थलक्षणत्वात्, अर्थाद्धि प्रतिनिधि क्रियते, न च अर्थेनैतद्व गन्तुम् शक्यते,—व्रीहित्वस्य स्थाने नीवारत्व भवति—इति। तस्मात् न प्रतिनिधे श्रुतेन सह प्रकृतिविकारभावो भवति—इति॥ (३।६।१४ अ०)॥

---

श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्॥

सू नियमार्था गुणश्रुति॥ ४०॥

भा अथ य श्रुत प्रतिनिधि, तत्र किं सामान्यविधम् उत न?—

भा इति। यथा, 'यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्'—इति। असामानविधम्—इति ब्रूमः, अश्रुतात् द्वैतद्विपरीतम्। एवं प्राप्ते, उच्यते,—'नियमार्था गुणश्रुतिः', अत्राप्यर्थलक्षण एव प्रतिनिधिः, सोमे अविद्यमाने सोमसदृशं द्रव्यं प्राप्तम्, तत्र सुसदृशे द्रव्ये प्राप्ते ईषत्सदृशं नियम्यते। अन्यस्मिन् प्रतिनिधातव्ये अन्यत् प्रतिनिधीयते, श्रुतस्य स्थाने; न याग द्रव्यत्वेन॥ (३।६।१५ अ०)॥

---

दीक्षणीयादिधर्माणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम्॥

सू संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात्॥ ४१॥ (पू०)॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमः, तत्र संस्थाः समाम्नाताः अग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रः—इति। तत्र दीक्षणीयादयो धर्माः। तेषु सन्देहः,—किं सर्वसंस्थं ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य दीक्षणीयादयो धर्मा उक्ताः, उत अग्निष्टोमसंस्थमभिप्रेत्य?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वसंस्थासु समानं विधानम्। कुतः?। 'प्रकरणाविशेषात्, नास्ति प्रकरणे विशेषः, येन ज्ञायेत अग्निष्टोमसंस्थं प्रकृत्य—इति। तस्मात् समानविधानाः संस्थाः—इति॥

सू व्यपदेशश्च तुल्यवत्॥ ४२॥ (यु०,॥

भा तुल्य इव प्रकरणे व्यपदेशो भवति,—'यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थ्यः परिधिमनक्ति, यदि अतिरात्रः एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्येत'—इति सर्वावस्थस्य विशेषवचनात् अवगम्यते। यदपि सामान्यं, तदपि सर्वावस्थस्यैव—इति, यदि हि न समानं विधानम्, अग्निष्टोमसंस्थस्य

भा स्यात्। न इह अग्निष्टोमं सङ्कीर्त्तयेत् असङ्कीर्त्यमानेऽपि धर्मसम्बन्धो भवति—इति, सर्वावस्थस्य कीर्त्तनात् सर्वावस्थ-प्रकरणम्—इत्यवगच्छामः।

अपि च, श्रूयते,—'आग्नेयमजमग्निष्टोमे आलभेत, ऐन्द्राग्नं द्वितीयम् उक्थ्ये, ऐन्द्रं वृष्णिं तृतीयं षोडशिनि'—इति द्वितीयस्य तृतीयस्य च दर्शनं समानविधे घटते। उक्थ्ये हि द्वे निमित्ते स्तः, अग्निष्टोमस्तोत्रं उक्थ्यस्तोत्रञ्च—इति, तत्र द्वौ नैमित्तिकौ आग्नेयः पशुः, ऐन्द्राग्नश्चेति तेन द्वितीयदर्शनं तत्र युज्यते। एवं षोडशिनि अतिरात्रे च। प्रकृतिविकारभावे तु प्रत्यक्षश्रुतेः ऐन्द्राग्नादिभिरतिदेशेन प्राप्त आग्नेयो बाध्येत। तत्र द्वितीयादिदर्शनं नोपपद्येत' भवति च। तस्मात् सर्वावस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्माः—इति॥

सू विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥ ४५ ॥ ( सि० )॥

भा नैतदस्ति,—समानविधानाः—इति। किं तर्हि उक्थ्यादयः संस्थाविकारभूताः स्युः, अग्निष्टोमसंस्थमुद्दिश्य दीक्षणीयादयो धर्माः समाम्नाताः। कुतः?। उक्थ्यादीनां कामसंयोगेन श्रवणात्,—'पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्, षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्'—इति। काम्यो गुणः श्रूयमाणो नित्यमर्थं विकृत्य निविशते। कथं?। गुणात् एवञ्जातीयके काम्ये फलनिर्वृत्तिः, पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्, न ज्योतिष्टोमकाम उक्थ्यग्रहणकामो वा, यथा पशवो भवन्ति, तथा गृह्णीयात्—इत्यर्थः। कथम्?—इति। तत्र अवश्यम् इतिकर्त्तव्यता अपेक्षितव्या, सन्निधानात् नित्यस्य इतिकर्त्तव्यतयेति गम्यते।

'कथम् पुनर्ययम् इतिकर्त्तव्यता, या नित्यस्य इत्यवधार्यते,

भा. न पुनरस्य एव काम्यस्य, साधारणी वा?'—इति। उच्यते, —यत्र यत्र गुणे कामो भवति, तत्र तत्र क्रियायां साधनानायां, नान्यथा। सा तत्र इतिकर्त्तव्यता, या अन्तिकम् उपनिपतति. सा साधनस्य वा साध्यस्य वा?—इति सन्दिह्यमाना साध्यस्य भवितुमर्हति, नासौ साध्यस्याभवन्ती साधनेन सम्बध्यते, एवं हि स इतिकर्त्तव्यताविशेषश्चोद्यते, अनेन साधनेन साध्यमुपकुर्यात्—इति, न च अस्ति स प्रकारः, येन असाध्यमानायां क्रियायां तेन साधकः शक्तो भवेत्। तस्मात् साधकस्यापि इतिकर्त्तव्यताविशेषमभ्युपगच्छता, साध्यस्यापि—इत्येतदभ्युपगमनीयम्, साध्यश्च ज्योतिष्टोमः, साधिकाः संस्थाः, तस्मात् ज्योतिष्टोमस्य तावत् सा इतिकर्त्तव्यता—इति सिद्धम्।

'अथ कस्मात् न साधारणी?। नित्यवदाम्नानात्, यदैव ज्योतिष्टोमः, तदैव दीक्षा; यदा तु ज्योतिष्टोमे पशुकामः, तदा उक्थ्यसंस्थाः, सर्वदा ज्योतिष्टोमे धर्माः कर्त्तव्याः, यदा उक्थ्यसंस्थाः, तत्र सर्वदा ज्योतिष्टोमस्य धर्माः कर्त्तव्याः, न च उक्थ्यादिसंस्थस्य अर्थेन—इति पूर्वेणुत्तरेण विरुध्यते, यदि सर्वदा न उक्थ्यादीनामर्थेन; अथ उक्थ्यादीनामर्थेन न सर्वदा, उभयं विप्रतिषिद्धम्। तस्मात् न साधारणी। नित्यवदाम्नानं च यदि अनित्यस्य स्यात्, नित्यवदाम्नानं तत् अनित्यं क्रियेत, तत्र नित्यवदाम्नानं बाध्येत। तस्मात् नित्यसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य, न काम्यस्य उक्थ्यादिसंस्थस्य—इति॥

सू. अपि वा द्विरुक्तत्वात् प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥ ४४ ॥ (यु०)॥

भा. 'ननु अग्निष्टोमसंस्थापि काम्या श्रूयते'। द्वे हि तत्र आम्नाते, एकं नित्यवत्, एकं काम्यम्, तत्र द्वयोराकर्यो सामर्थ्यात् नित्य एव सकामो भविष्यति, [illegible]

भा नास्ति—इति अग्निष्टोमसंस्थस्य ज्योतिष्टोमस्य दीक्षणीयादयो धर्मा भविष्यन्ति—इति ॥

सू वचनात्तु समुच्चयः ॥ ४५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—द्वितीयतृतीयदर्शनं समानविधित्वेऽवकल्पते नान्यथा—इति, वचनं तत् भविष्यति, न दर्शनं, ऐन्द्राग्न उक्थ्ये द्वितीयो विधीयते, तथैन्द्र षोडशिनि तृतीय ॥

सू प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥ ४६ ॥ (यु०) ॥

भा इतश्च पश्यामः प्रकृतिविकारभाव —इति। कुत ?। प्रतिषेधात् पूर्वलिङ्गानाम्—'यदि अग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थ्य परिधिमनक्ति न जुहोति'—इति होमाभावदर्शनं न स्यात्। प्राप्ते निमित्ते वचनप्रामाण्यात् सामानविध्ये ॥

सू गुणविशेषादेकस्य व्यपदेश ॥ ४७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तं —व्यपदेश —इति। एकस्यैवाधिकृतस्य यथोक्तेन न्यायेन प्रथमनभिहितेन गुणेन व्यपदेश, अग्निष्टोमग्रहणञ्चानुवाद —इति ॥ (२।६।२६ अ०) ॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य षष्ठ पाद ॥

तृतीये अध्याये सप्तम पाद ॥



बर्हिरादीनां दर्शपौर्णमास०दङ्गोभयाङ्गताधिकरणम् ॥

सू प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र बर्हिर्बर्हिर्धर्माश्च, तथा वेदिर्वेदि धर्माश्च। तत्र सन्देह,—किं बर्हिरादयो बर्हिरादिधर्माश्च प्रधानस्य उत अङ्गप्रधानानाम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्? —'प्रकरणविशेषात् असंयुक्तं प्रधानस्य, प्रधानस्य एवञ्जातीयका धर्मा। कस्मात्?। प्रकरणविशेषात् प्रधानानां हि प्रकरणं नाङ्गानाम्, प्रकरणेन च एषां सम्बन्ध, तस्मात् प्रधानस्य॥

सू सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥ २ । (सि०) ॥

भा सर्वेषां वा अङ्गप्रधानानाम् इमे धर्मा, न अत्र शेषत्वं प्रकरणात् भवति, उपकारलक्षणं हि तत् यत् यस्य उपकरोति, तत्तस्य शेषभूतं, सर्वेषां च अङ्गप्रधानानाम् इमे धर्मा उप कुर्वन्ति। कथम् अवगम्यते?। वाक्यात् 'वेद्यां हवींषि आसा दयति—इति हविर्मात्र वाक्यात् गम्यते, प्रधानहवींषि प्रक- रणात् वाक्यं च प्रकरणात् बलीय, तस्मात् बर्हिषि हवींषि आसादयति—इति।

"आह यदि प्रकरणं वाक्येन बाधते, लौकिकेऽपि बर्हिषाम् इमे धर्मा उक्ता भवन्ति। 'तत्र को दोष?। सर्वत्र धर्मा कर्त्तव्या प्राप्नुवन्ति। उच्यते,—प्रकरणात् दर्शपूर्णमासयो उपकारका एव—इति गम्यते। तस्मात् लौकिकेषु न कर्त्तव्या।

'एवं चेत, अङ्गान्यपि न दर्शपूर्णमासशब्दकानि, तस्मात् तेष्वपि न प्राप्नुवन्ति'। उच्यते,—अङ्गान्यङ्गानि न दर्शपूर्णमास

भा शङ्कानि, दर्शपूर्णमासयोः उपकारकाणि, एषु क्रियमाणा धर्माः दर्शपूर्णमासयोः उपकरिष्यन्ति। तस्मात् अङ्गप्रधानेषु कर्त्तव्याः—इति॥

सू आराद्यपीति चेत्॥ ३॥ (आ०)॥

भा पिण्डपितृयज्ञेऽपि बर्हिः धर्मैर्युज्येत, सोऽपि हाते बर्हिषि वर्त्तते, तस्य चापि बर्हिषास्ति प्रयोजनं, तदप्याराच्च्छधर्मवत् स्यात्॥

सू न तत् वाक्यं हि तदर्थत्वात्॥ ४॥ (आ० नि०)॥

भा न तस्य बर्हिरेतैर्धर्मैर्धर्मवत्, वाक्यं हि एकं दर्शपूर्णमासाभ्यां सह धर्माणा, तेन दर्शपूर्णमासयोः उपकारका धर्माः यत् दर्शपूर्णमासार्थं, तत्र प्राप्नुवन्ति, नान्यत्र। तस्मात् पिण्डपितृयज्ञ बर्हिषो न भविष्यन्ति॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५॥ (हे०)॥

भा लिङ्गं भवति,—एवमाह,—'स वै ध्रुवामेवाग्रेऽभिधारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति'—इति अभिधारणस्य आज्यभागार्थतां दर्शयति॥ (२।७।९ अ०)॥

---

स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताधिकरणम्।

सू फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य॥ ६॥

भा ज्योतिष्टोमे केशश्मश्रुणोर्वपनं पयोव्रतानि तपश्चाम्नातानि, तेषु सन्देहः,—किम् अङ्गप्रधानार्थानि उत प्रधानार्थानि? किं तावत् प्राप्तम्?—अङ्गप्रधानार्थानि—इति पूर्वेण न्यायेन प्राप्तम्।

भा एवं प्राप्ते ब्रूमः,—स्वामियुक्तमेतत्, तस्मात् प्रधानस्य। कस्मात्?। फलसंयोगात्, पुरुषस्य यागेन अयं सम्बन्धः,—यागोऽपूर्वस्य दाता, पुरुषः प्रतिग्रहीता। 'ननु अपरोऽप्यस्ति सम्बन्धः,—यागो निर्वर्त्यः, पुरुषोऽभिनिर्वर्त्तकः'—इति। फलेन तु सम्बन्धो भविष्यति—इत्येवमर्थः पुरुषः श्रूयते, न हि यागं स साधयति, यागः सत्तया संभंत्स्यते—इति। किमिति तर्हि निर्वर्त्तयतः फलं भवति?—इति। संस्काराश्च सत्कुर्वन्ति—इत्युच्यन्ते, यत् तस्य संस्कर्त्तव्यस्य प्रयोजनं, तत्र सामर्थ्यं जनयन्ति—इति, फलं च ग्रहीतुम् पुरुषस्य प्रयोजनं, न याग-मभिनिर्वर्त्तयितुम्। तस्मात् ये पुरुषसंस्कारास्ते पुरुषं फल प्रतिग्रहणसमर्थं कुर्वन्ति, न यागनिर्वृत्तिसमर्थम्। 'आह, यदि यागनिर्वृत्तौ न सामर्थ्यं जनयन्ति, कथं तर्हि यागधर्मास्ते भवन्ति'। उच्यते,—यागस्य स्वार्थं साधयतः साहाय्ये वर्त्तन्ते। कश्च तस्य स्वार्थः?। यदस्य कर्त्ता फलेन सम्बध्यते। तस्मात् स्वामिसंस्काराः प्रधानार्थाः—इति॥ (३।७।२ अ०)॥

---

सौमिकवेद्यादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्॥

सू चिकीर्षया च संयोगात्॥ ७॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'षट्त्रिंशत्प्रक्रमा प्राची चतुर्विंशतिरग्रेण त्रिंशत् जघनेन इयति शक्ष्यामहे'—इति। तत्र सन्देहः,—किमेषा वेदिरङ्गप्रधानार्था उत प्रधानार्था?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—चिकीर्षया च संयोगात् प्रधानार्था—इति। का चिकीर्षा?। इयति शक्ष्यामहे—इति। यत् चिकीर्षितं, तस्य अर्थेनैषा श्रूयते,—'शक्ष्यामहे अस्या कर्त्तुम्'—इति प्रधानं च तस्य चिकीर्षितं न अङ्गानि, प्रधानं हि फलवत् न अङ्गानि।

भा 'आह यदि अङ्गानि न चिकीर्षितानि, किमर्थं क्रियन्ते?'—इति। उच्यते,—अचिकीर्षितान्यप्यङ्गानि क्रियन्ते, यद्यपि तानि न चिकीर्ष्यन्ते, तथापि तैरचिकीर्षितैरन्यच्चिकीर्ष्यते। तस्मात् तानि क्रियन्ते—इति, यत् चिकीर्षितं, तस्य वेदिः। तस्मात् प्रधानार्थेति (स्थितं तावदपर्यवसितम्*) ॥ (३।७। ३ अ०) ॥

---

अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम् ॥

सू तथाभिधानेन ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयते,—'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्रा अमावास्याम्'†—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अङ्गप्रधानार्थम् अभिमर्शनम्, उत प्रधानार्थम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—प्रधानार्थम्—इति, प्रधाननामधेयञ्च एतत्,—पौर्णमासी अमावास्या—इति च। तस्मात् प्रधानस्याभिमर्शनम्—इति ॥

सू तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥ ९ ॥ (पूर्वाधिकरणस्य सि०) ॥

भा (स्थितादुत्तरम्)। यदुक्तं,—प्रधानं चिकीर्षितं न अङ्गानि, तस्मात् प्रधानस्य वेदिः—इति, तत्र, 'तद्युक्ते फलश्रुतिः', साङ्गात् फलं श्रूयते, तस्मात् साङ्गं चिकीर्षितं। यद्यप्यङ्गानि न चिकी-

---

* अस्य सिद्धान्त पराधिकरणपूर्वपक्षप्रदर्शनान्तरं ९म सूत्रेण दर्शितः ॥

† पृथिवी होतेत्यादिकः मन्त्रः चतुर्होता। अग्निर्होतेत्यादिको मन्त्रः पञ्चहोता इति माधवः ॥

भा. र्थितानि, तथापि वेद्यां कर्त्तव्यानि; अन्यथा न साङ्गं वेद्यां कृतं भवति ॥

सू. गुणाभिधानात्सर्व्वार्थमभिधानम् ॥ १० ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तं,—प्रधाननामत्वात् पौर्णमासीशब्दस्य अमावास्याशब्दस्य च, प्रधानहविषाम् अभिमर्शनम्—इति। नैतदेवम्, अङ्गहविषामप्यभिमर्शनं स्यात्। कुतः?। गुणाभिधानात्, गुणेऽभिमर्शनम्—इत्यभिधानं भवति। कतमत् तदभिधानम्?। यत् गुणेऽभिमर्शनम्—इति ब्रूते। पौर्णमासीममावास्याम्—इति च द्वितीयान्तम् पौर्णमास्यर्थम् अभिमर्शनं कर्त्तव्यम्, अमावास्यार्थमभिमर्शनं कर्त्तव्यम्—इति, अतो यत्र यत्र क्रियमाणं पौर्णमास्याममावास्यायां वोपकरोति, तत्र तत्र कर्त्तव्यम्; यत् यत् पौर्णमास्याममावास्यायां वाभिसम्बध्यते, साक्षात्, प्रणाड्या वा, तत्र तत्र क्रियमाणं तयोः उपकरोति। तस्मात् प्रधानहविषाम् अङ्गहविषां च कर्त्तव्यम्—इति॥ (३।७।४ अ०)॥

---

दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम् ॥

सू. दीक्षादक्षिणन्तु वचनात् प्रधानस्य॥ ११॥

भा. ज्योतिष्टोमे दीक्षाः श्रूयन्ते,—'तिस्रो दीक्षा'—इति, तथा दक्षिणाः श्रूयन्ते,—'तस्य द्वादशशतं दक्षिणाः'—इति। तत्र सन्देहः,—किं दीक्षादक्षिणम् अङ्गप्रधानार्थम्, उत प्रधानानाम्—इति। किं प्राप्तम्?—पुरुषाणाम् अङ्गप्रधानार्थत्वात् दीक्षादक्षिणस्य अङ्गप्रधानार्थता—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—दीक्षादक्षिणं प्रधानस्य। कुतः?। वचनात्, वचनं हि भवति, —'दीक्षाः सोमस्य, दक्षिणाः सोमस्य'—इति, न हि वचनस्य

भा. अतिभारो नाम कश्चित्। तस्मात् दीक्षादक्षिणं वचनात् सोमस्य—इति॥

सू निवृत्तिदर्शनाच्च॥ १२॥ (यु०)॥

भा निवृत्तिं दीक्षाणां दर्शयति। कथम्?। 'अध्वर्युः यत् पशुना अयाजीरन् नास्य दीक्षा'—इति यत् पत्‍नीतारं जुहोति नास्य दीक्षा'—इति असत्यामपि दीक्षायां वचनं भवति। तस्मात् यज्ञाना दीक्षादक्षिणम्—इति॥ (३।७। ५ अ०)॥

---

अन्तर्वेदिर्धूयानद्भुताधिकरणम्॥

सू तथा यूपस्य वेदिः॥ १३॥ (पू०)॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः,—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र यूपं प्रकृत्य श्रूयते, —'यजो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात्निर्दहेत्, यत् बहिर्वेदि नवरुद्धः स्यात् अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्द्धं बहिर्वेदि अवरुद्धो भवति, न निर्दहति'—इति।

तत्र सन्देहः,—किम् अन्तर्वेदि—इति यूपाङ्गभावेन वेदिः उपदिश्यते, उत अर्द्धमन्तर्वेदि अर्द्धं बहिर्वेदि—इति देश लक्षणार्थम् उच्यते?—इति। कथम् यूपाङ्गभावेन कथं वा देशलक्षणा?—इति। यदि यूपाङ्गस्य वेद्यन्तरस्य च सम्बन्धो विवक्षितः, एवं वेदिसम्बद्धो यूपः कर्त्तव्यः, ततो यूपाङ्गभावेन; अथ यस्मिन् देशे मीयमानस्य अर्द्धं वेद्यभ्यन्तरेऽर्द्धं च बाह्यः, स देश उपदिश्यते, ततो देशलक्षणा।

किं प्राप्तम्?—'तथा यूपस्य वेदिः', यथा दीक्षादक्षिणं प्रधानस्य, तथा यूपस्य वेदिः, तथा यूपो मातव्यः, तथा मीयमानस्य

भा. अर्द्धं वेद्यभ्यन्तरे भवति। एवं वेदिश्रुतिरप्यनुग्रहीष्यते, इतरथा वेदिशब्दो लक्षयेत् देशं, श्रुतिलक्षणाविषये श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्मात् यूपाङ्गभावेन वेदिर्निर्दिश्यते ॥

सू. देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥ १४ ॥ (सि०) ॥

भा. देशमात्रं वा वेदिशब्देन लक्ष्यते न वेदियूपाङ्गम्। कुतः?। 'अशिष्येण एकवाक्यत्वात्', 'अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्द्धं बहिर्वेदि' —इत्येतेनैकवाक्यता या, सा शासितव्येन, यदि देशलक्षणा, अथ यूपाङ्गभावेन वेद्या निर्देशः, ततो न शासितव्यो बहिर्वेदिनिर्देशो भवति; वेद्यां यूपस्य अङ्गभावेन उपदिश्यमानायाम्, अर्द्धं बहिर्वेदि—इत्येतदुच्चार्यमाणं न कस्मिंश्चित् उपकारे वर्त्तते।

'अथ बहिर्वेदिदेशमपि यूपाङ्गभावेन उपदिशेत्'। वाक्यं भिद्येत। तस्मात् यूपाङ्गभावेन वेद्या निर्देशे बहिर्वेदिशब्दः सर्वथा न शासितव्यः। यदि तु देशलक्षणा, ततो विशिष्टे देशे लक्ष्यमाणेऽवश्यवक्तव्यो बहिर्वेदिशब्दो भवति, अनुच्यमाने वेद्यभ्यन्तरे यस्मिन् कस्मिंश्च प्रदेशे यूपः—इति गम्यते। अथ पुनर्बहिर्वेदिशब्दे श्रूयमाणे, यतरस्मिन्देशे मीयमानस्य अर्द्धम् अन्तर्वेदि अर्द्धं बहिर्वेदि, स देशो लक्षयितुमिष्टो भवति, स च बहिर्वेदिशब्देन विना न शक्यते लक्षयितुम्—इति, अवश्यं शासितव्यो भवति। तस्मात् देशलक्षणा—इति ॥ (३।७। ६ अ०) ॥

---

हविर्द्धानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकरणम् ॥

सू. सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात् सामिधेनीनाम् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'उत यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः'

भा —इति, हविर्द्धानयोर्यस्मिन् हविर्द्धाने सन्वन्ति, तत् सामिधेनीभिः सम्बन्धयेत्*—इत्यर्थः। तत्र सन्देहः,—किं सामिधेनीनाम् अङ्गभावेन हविर्द्धानं चोद्यते, हविर्द्धानविशिष्टाः सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः, उत हविर्द्धानेन अमूषामनूच्यमानानां देशो लक्ष्यते?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—सामिधेनीनाम् अङ्गत्वेन हविर्द्धानं चोद्यते,—यस्मिन् हविर्द्धाने सुन्वन्ति, तत् सामिधेनीभिः सम्बन्धयेत्—इति, तेन हविर्द्धानसम्बद्धाः सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—इति वचनात् सामिधेन्यङ्गभावे सति हविर्द्धानश्रुतिः अनुग्रहीष्यते, इतरथा देशं लक्षयेत्—इति। तस्मात् सामिधेन्यङ्गं हविर्द्धानम्॥

सू देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म्म सोमस्य॥१६॥ (सि०)॥

भा. देशलक्षणार्थं वा एतत् उच्यते,—यस्मिन् सुन्वन्ति, तस्मिन् देशे सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—इति, प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य तेन क्रियते,—दक्षिणे हविर्द्धाने सोममासादयन्ति—इति, सोमासादनार्थं तावदेतत् उपादेयम्, सामिधेन्योऽपि अग्निसमिन्धनार्थम् उपादेयाः—इति। इह त्वेतावत् श्रूयते,—यस्य हविर्द्धानस्य समीपे सुन्वन्ति तत्सम्बद्धाः सामिधेन्योऽपि अग्निसमिन्धनार्थम् उपादेयाः—इति, तत्र न ज्ञायते, किम् सामिधेन्यः सम्बद्धाः हविर्धानस्य उपकुर्वन्ति? किम् हविर्धानं सामिधेनीनाम्?—इति; तदुच्यते,—सामिधेन्यस्तावद्धविर्द्धानस्य न उपकुर्वन्ति, न हि तावत् विधीयन्ते,—सामिधेन्योऽनुवक्तव्याः—इति। किम् तर्हि?—हविर्धानविशेषसम्बन्धः तासां विधीयते,

* हविर्द्धानमण्डपगतयोर्दक्षिणोत्तरभागयो र्व्यवस्थितयोर्हविर्द्धाननामकयोः शकटयोर्मध्ये दक्षिणं शकटमत्र यत्तच्छब्दाभ्यामभिधीयते। तस्य समीपे सोमस्याभिषवः। उभेत्यय शब्दोऽयमन्दार्थे वर्त्तते इति माधवः।

भा. न च अविहितम् अङ्गं भवति, नाप्येवं विधीयते, हविर्धानमासामनुचरमानानां उपादातव्यं सम्बन्धयितुम्—इति। कथम् तर्हि?—हविर्धानविशेषसम्बन्धो सामिधेनीनां श्रूयते, हविर्धानसम्बन्धो विधीयते, न च सामिधेनीसम्बन्धो हविर्धानस्य प्राप्तः, यो विशेषार्थमनूद्येत। केन तर्हि हविर्धानस्य सम्बन्धः?। प्रत्यक्षं हि अर्थकर्म सोमस्य, न तु सामिधेनीकर्म प्रत्यक्षं हविर्धानस्य। भवति तु देशस्य सामिधेनीसम्बन्धः, 'अपरेण वेदिम्'—इति होतुर्देशो लक्षितः, स उत्तरस्य दक्षिणस्य वा हविर्धानस्य समासन्नः, तत्र यत् अन्वन्ति, तदन्वाङ्गः—इति उपपद्यते वचनम्। तस्मात् देशलक्षणार्थं हविर्धानग्रहणम्।

'अथैवमभिसम्बन्धः कस्मात् न भवति?—यस्मिन् हविर्धाने अन्वन्ति, तस्य हविर्धानस्य सामिधेनीसम्बन्धः—इति'। नैवं शक्यम्, एवं द्वावर्थौ विधातव्यौ भवतः, हविर्धानसम्बन्धो हविर्धानविशेषसम्बन्धश्च, तत्र वाक्यम्भिद्येत। तस्मात् नैवम् अभिसम्बन्धः—इति॥

सू. समाख्यानं च तद्वत्॥ १७॥ (यु०)॥

भा. समाख्यानं च तद्वदेव भवति, यथा अस्माभिर्न्याय उपदिष्टः, —सौमार्थम् हविर्धानम्—इति॥ (३।७।७ अ०)॥

---

यद्गानामन्यद्वारानुष्ठानाधिकरणम्।

सू. शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात्स्वयं प्रयोगे स्यात्॥ १८॥ (पू०)॥

भा. इह कर्माणि उदाहरणम्,—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एतानि कर्माणि स्वयम्

भा अनुष्ठातव्यानि, उत अथोत्सर्गमात्र स्वय कुर्या, उत शेषमन्य एव ?—इति। किं प्राप्तम् ?—स्यात्। कुत ?। यत स्वय—प्रयुञ्जानस्य फल भवत्यवगम्यते ?। 'तल्लक्षणत्वात, शब्दोऽस्यार्थस्य लक्षण,—प्रयुञ्जानस्य फल भवति—इति। कतम स शब्द ?। स्वर्ग यजेत—इति, य स्वर्ग कामयते, स एवोच्यते,—यागे च भवन् फल साधयेत्—इति, साङ्गे च कर्त्ता भवन् फलं प्राप्नोति तस्मात् स्वयप्रयोगे स्यात्॥

सू उत्सर्गे तु प्रधानत्वात शेषकारी प्रधानस्य, तस्मात् अन्य स्वय वा स्यात॥ १९॥ (पू०)॥

भा उत्सर्गे प्राधान्यमस्ति। कथम्?। य उत्सर्ग करोति तेन सर्वं कृत भवति। कथम्?। परिक्रय उत्सर्ग, तेन आनता सर्वं कुर्वन्ति। तस्मात् य परिक्रय करोति तेन स्वयमेव सर्वं कृत भवति। तस्मात् उत्सर्गमात्र स्वय कुर्यात्, शेषमन्य स्वय वा॥

सू अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि॥ २०॥ (सि०)॥

भा शेषस्यान्य एव स्यात् कर्त्ता। कुत ?। परिक्रयस्याम्नातत्वात्—पुरुषानतिप्रकारेषु बहुषु मासेषु परिक्रयो नियत। तस्मात् परिक्रयेणानते सर्वे पदार्था कर्त्तव्या—इति, विप्रतिषिद्धश्चात्मनि परिक्रय। यदि स्वय कुर्यात् अपरिक्रीतेन कृत स्यात्, तत्र परिक्रयाम्नानानर्थक्यम्, अदृष्टार्था वा प्रतिज्ञायेत। तस्मात् अन्यै परिक्रीतै शेषा पदार्था कर्त्तव्या—इति। उत्सर्ग तु स्वय कुर्वता सर्वं स्वय कृत भवति॥ (२। ७। ८ अ०)॥

———

. परिक्रीतानामृत्विजां सङ्ख्याविशेषनियमाधिकरणम् ।

सू. तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. तत्र तैः परिक्रीतैः कर्तव्येषु अनियमेन कर्तृपरिमाणं स्यात् । कुतः ?। अविशेषात्, न कर्तृपरिमाणे विशेषः कश्चिदाम्नायते; अर्थेन तत्परिमाणं, यावद्भिरसौ इतिकर्तव्यता निर्वर्त्तते, तावतो वृणीत ॥

सू. अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. यावन्ति कर्तृनामधेयानि कर्माणि श्रूयन्ते,—तावन्तो वरीतव्याः भिद्यन्ते, तानि च नामधेयश्रवणानि,—'तान् पुरोऽध्वर्युर्विभजति, प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदानयति, उन्नेता चमसान् उन्नयति'—इति, तथा, 'प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता उद्गायति, प्रतिहर्त्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह, होता प्रातरनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति, चानुचाह, अच्छावाको यजति, ग्रावस्तुत् ग्रावस्तोत्रीयामन्वाह'—एतावद्भिः कर्माणि प्रयोजनं, तेन तेऽवश्यमेतानि यथाश्रुतानि कर्तुम् वरीतव्याः, एतद्व्यतिरिक्तोऽन्यः पदार्थो न विद्यते, योऽपि वाक्येन नोपदिष्टः, स समाख्यया गम्यते । तस्मात् एतावतो वृणीत—इति ॥

सू. एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् प्रतिज्ञायते,—एतावतो वृणीतेति, तन्न, यो — तत्कर्म करिष्यति—इति सङ्कल्पते, स स ..

भा भवति एकोऽपि बहून् पदार्थान् कर्तुम् बहुभिर्नामधेयैः उच्येत, तस्मात् अनियमः॥

सू **नोत्पत्तौ हि॥ २४॥ (आ० नि०)॥**

भा नैतदेवम् उत्पत्तौ पुरुषाणाम् उत्पाद्यमानेषु पुरुषेषु नामधेयानि विधीयन्ते—'ब्राह्मणं वृणीते होतारम् वृणीते, उद्गातारम् वृणीते अध्वर्युं वृणीते—इत्येवमादि तस्मात् कर्मणि तैरेवनामकैः प्रयोजनम् अवगम्यते वरीतव्याः। तस्मात् यथा वचने सङ्कीर्त्तनं न विधिः। प्रयोजनस्य अभावात् न अनुवादः। न वेदे तावन्तो वरीतव्याः—इति ब्रूयात् अनर्थकमेव स्यात्। शक्नोति चेद् प्रत्याययितुम् सङ्ख्याविशेषम् तस्मात् यः सङ्ख्याविशेषो यथा प्रतीयते तदर्थमेतद्वचनम्। तस्मात् षोडश कर्मकारो वरीतव्याः, सोम तावत्कर्तृकस्य स्यात् एव दर्शपूर्णमासयोरपि॥ (३।७।९ अ०)॥

---

चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वाधिकरणम्।

सू **चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात्॥ २५॥**

भा सन्ति ज्योतिष्टोमे चमसाध्वर्यवः,—'चमसाध्वर्यून् वृणीत'—इति। तेषु सन्देहः—किम् एषामन्यतमाः, उतैतेभ्योऽन्ये?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—एतावता सङ्कीर्त्तनात् एषामेवान्यतमाः —इति प्राप्ते ब्रूमः चमसाध्वर्यवश्चापरे भवेयुः तेभ्योऽन्ये—इति। कुतः?। 'तैर्व्यपदेशात्' तैः परिगणितैरेषां व्यपदेशो भवति—'मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवो, होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः'—इति।

'ननु ये एव प्रकृतास्ते चमसाध्वर्यवो भवेयुः'। न—इति ब्रूमः। कुतः?। 'तैर्व्यपदेशात्, 'मध्यत'कारिणां चमसाध्वर्यवो

भा. होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः'—इति, षष्ठी सम्बन्धे सति भवति ; ऋत्विग्भिस्ते व्यपदिश्यन्ते, ऋत्विजः तेषां स्वामिनो न यजमानः, यजमानपुरुषेभ्यश्च एतेऽन्ये—इति नः प्रतिज्ञातम्, न यजमानेन चमसाध्वर्यवं कर्त्तुम् वरीतव्याः, ऋत्विग्भिस्ते वरीतव्याः—इति। अपि च, एषाम् उत्पत्तिवाक्ये एव भेदः,—'चमसाध्वर्यून्वृणीत'—इति॥ (३।७।१० अ०)॥

---

चमसाध्वर्यूणां बहुत्वनियमाधिकरणम्॥

सू. उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः॥ २६॥

भा. तस्मैव सन्देहः,—किम् अनियमः,—एको द्वौ बहवो वा, उत बहव एव?—इति। अनियमः—इति प्राप्ते उच्यते,—बहवः—इति। कुतः?। उत्पत्तौ बहुश्रुतेः, चमसाध्वर्यवः—इत्येषाम् उत्पत्तौ बहुश्रुतिर्भवति, तस्मात् बहवः—इति॥ (३।७ ११ अ०)॥

---

चमसाध्वर्यूणां दशसङ्ख्यानियमाधिकरणम्॥

सू. दशत्वं लिङ्गदर्शनात्॥ २७॥

भा. ज्योतिष्टोमे चमसाध्वर्यवः, ते च बहवः—इत्युक्तम्। कियन्तो बहवः—इति सन्देहे त्रयः, बहुवचनसामर्थ्यात्—इति प्राप्ते ब्रूमः,—'दशत्वं लिङ्गदर्शनात्', ते दश भवेयुः, तथा हि लिङ्गं ज्योतिष्टोमविकारे दशपेये श्रूयते,—'दश चमसाध्वर्यवो दशदश एकैकं चमसमनुसर्पन्ति—इति, एतस्मात् कारणात् दशपेयो भवति'—इति ब्रुवन् दश चमसाध्वर्यून् दर्शयति, यदि त्रयो भवेयुः, एतद्दर्शनं नोपपद्येत। तस्मात त्रीन् अतीत्य एषा सङ्ख्या, यदि च दश न भवेयुर्नोपपद्येत एतद्दर्शनं। तस्मात्

भा भवन्ति दश, दश चैषां स्वामिनः। तस्मात् प्रयोजनभावात् दशसङ्ख्योपादीयते,* तस्यां च उपादीयमानायां अपरापि सङ्ख्या अनुगृह्यते, तेनापि दश भवेयुः॥ (३।७।१२ अ०)॥

---

शमितृपृथक्त्वाधिकरणम्।

सू शमिता च शब्दभेदात्॥ २८॥ (पू०)॥

भा अस्ति शमिता,—'शमितार उपनयीत'—इति। स किं सङ्कीर्तितानामन्यतमः, उत अन्यस्तेभ्यः?—इति। किं प्राप्तम्?—तेषां वरणे सङ्कीर्तनात् तेषामन्यतमः,—इति प्राप्ते उच्यते—'शमिता च शब्दभेदात्',—शब्दो भिद्यते,—एवंसञ्ज्ञकेन इदं कर्म कर्तव्यम्—इति, तस्मात् एवंसञ्ज्ञक उत्पादयितव्यः। अस्य सङ्कीर्तनात् सङ्ख्याविशिष्टैर्गम्यते, तस्मात् अन्यः शमिता स्यात्। अपि च, 'श्रोणा दोर्द्वैकर्तनं च शमितुः तत् ब्राह्मणाय दद्यात् यद्यब्राह्मणः स्यात्'—इति अब्राह्मणाशङ्का भवति, सा ऋत्विजि नोपपद्यते॥

सू प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात्॥ २९॥ (सि०)॥

भा सत्यं सङ्ख्याविशिष्टैर्गम्यते, न तु उत्पद्यमानेषु या त्वनुत्पत्तिरेतेषु गम्यते, तच्च प्रकरणं कर्मभेदात्—इत्येवमप्यवकल्पते। यत्तु उक्तम्—अब्राह्मणाशङ्का भवति—इति, यजमानाभिप्राया सा,—यदि अब्राह्मणो यजमानः स्यात्—इति। 'ननु यदि अब्राह्मणः स्यात्—इति प्रकृतः शमिता सम्बध्यते'। उच्यते,—शमयति—इति शमिता, यौगिक एष शब्दः प्रकृतेष्वप्यवकल्पते। शामित्रमध्वर्यवे समाम्नानात् अध्वर्युणा कर्तव्यम्।

---

* प्रयोजनाभावात् न दशसङ्ख्या उपादीयते इति का० स० पु० पाठः।

भा तस्मात् शमनात् अध्वर्युः शमिता, एवं सति अप्रहतो यजमानः सम्बध्यते ॥ (३ । ७ । १३ अ०) ॥

---

उपगस्यापृथक्त्वाधिकरणम् ॥

सू उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥ ३० ॥

भा. ज्योतिष्टोमे सन्तुपगा नाम, ते शब्दभेदात् सङ्ख्याविशिष्टिं प्रत्याययन्ति—इत्यध्वर्य्वादिभ्योऽन्ये—इति प्राप्ते ब्रूमः,—तेषामेव केचित्स्युः—इति। कस्मात्?। उत्पत्तौ परिगणनात्, यौगिकत्वाच्च शब्दस्य। लिङ्गमिदं भवति,—'न अध्वर्युरुपगायेत्'—इति, यद्येभ्योऽन्ये भवेयुर्नाध्वर्युम् प्रतिषेधेत्। अप्राप्तत्वात्। यतस्तु प्रतिषेधति,—अतोऽवगच्छामः,—उत्पत्तौ सङ्कीर्त्तितानामेवान्यतमः—इति ॥ (३ । ७ । १४ अ०) ॥

---

सोमविक्रेतु पृथक्त्वाधिकरणम् ॥

सू विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥ ३१ ॥

भा अस्ति सोमविक्रयी तत्र सन्देहः,—स किम् अध्वर्य्वादीनाम् अन्यतमः, उतेभ्योऽन्यः?—इति। किं प्राप्तम्?—तेषां सङ्कीर्त्तनात्, तेषाम् अन्यतमः—इति प्राप्ते ब्रूमः,—'विक्रयी त्वन्यः' स्यात्—इति, विक्रयो न चोद्यते क्रयश्चोद्यते, तत्र अर्थाद्विक्रयः, ज्योतिष्टोमस्य च पदार्थान् कर्त्तुम् अध्वर्य्वादय उत्पाद्यन्ते, न तु विक्रयी ज्योतिष्टोमस्य श्रूयते। तस्मात् न अध्वर्य्वादीनामन्यतमः—इति ॥ (३ । ७ । १५ अ०) ॥

ऋत्विगितिनाम्नोऽसर्व्वगामिताधिकरणम् ॥

सू कर्म्मकार्य्यात् सर्व्वेषां ऋत्विक्त्वमविशेषात् ॥ ३२ ॥ (पू०)॥

भा. ये एते पुरुषा ज्योतिष्टोमस्य श्रूयन्ते, ते किं सर्वे एते ऋत्विजः, उत केचित् एषाम्?—इति। किं प्राप्तम्,—सर्वे। कुतः?। 'कर्मकार्यात्', सर्वे यागस्य साधनं कुर्वन्ति, तस्मात् सर्वे ऋतौ यजन्ति, ये च ऋतौ यजन्ति ते ऋत्विजः, न कश्चिद्विशेष आश्रीयते,—इमे एव ऋतौ यजन्ति—इति ऋत्विजः, इमे न—इति। तस्मात् सर्वेषाम् ऋत्विक्त्वम्।

'ननु परिसङ्ख्या श्रूयते,—'सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः'—इति। उच्यते,—परिसङ्ख्यायां बहवो दोषाः सन्तीति, अप्रत्युपवादोऽयं भविष्यति ॥

सू न वा परिसङ्ख्यानात् ॥ ३३ ॥ (सि०)॥

भा न वा सर्वे। कस्मात्?। परिसङ्ख्यानात्,—एवं हि श्रूयते, 'सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः'—इति, स एव न विधिः, बहुतराणां प्राप्तत्वात्, न अनुवादः, प्रयोजनाभावात्, न चेत् परिसङ्ख्यापि, आनर्थक्यमेव स्यात्।

'ननु परिसङ्ख्यायां स्वार्थहानं परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च'। उच्यते,—स्वार्थहानम् अदोषः प्राप्तत्वात्। परार्थकल्पना च प्रत्ययात्। कथं?। बहूनाम् ऋत्विक्त्वे प्राप्ते पुनः सप्तदश ऋत्विजः—इत्युच्यते, सप्तदशभिर्ऋत्विक्शब्दस्य सम्बन्धः पुनः प्रकाश्यते, अधिकेषु न प्रकाश्यते। तत्र विज्ञायते एतत्,—ऋत्विक्शब्दस्य पुरुषैः सम्बन्धे पुनः प्रकाश्यमाने सप्तदशभ्योऽभ्यधिका वर्जिता,—इति गम्यते, तत्र किं सप्तदशभिः सम्बन्धो

भा विवक्षितः, किम् वा अधिकानाम् वर्जनम्?—इति, सप्तदश-सम्बन्धस्य अप्रयोजकत्वात् अधिकानाम् वर्जनम् विवक्षितम्—इति गम्यते।

'आह,—ननु प्रतिषिध्यमानेष्वप्यधिकेषु प्रतिषेधो न प्राप्नोति, न हि, ते ऋतौ न यजन्ति, न वा ऋतौ यजन्तो न ऋत्विजः स्युः!'। उच्यते,—सत्यं, न, प्रतिषेधात् ऋत्विक्शब्देन न सम्बध्यते, किन्तु प्रतिषेधसामर्थ्यात् कि ऋत्विक्कार्यं न भवन्ति। किं पुनः ऋत्विक्कार्यम्?। ऋत्विज उपवसन्ति—इति, ऋत्विजो वृणीते, ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा ददाति—इति।

'आह,—यत् ऋत्विजा कार्यं, कथं तत् केषाञ्चित् ऋत्विक्-शब्दकाना न स्यात्?'। उच्यते,—एव तर्हि द्विविधोऽयं ऋत्विक् शब्दः,—ऋतुयजननिमित्त', वरणभरणनिमित्तश्च, तत्र याग निमित्तस्य ग्रहणम् अनर्थकम्, तस्मात् वरणभरणनिमित्तो गृह्यते—इति।

'आह,—नन्वितरेतराश्रयमेवं भवति,—ये ऋत्विजस्ते वरीतव्याः, ये व्रियन्ते ते ऋत्विजः—इति तदितरेतराश्रयम्'। उच्यते,—न हि ऋत्विजो वृणीते—इत्ययमर्थः,—ऋत्विजः सन्तो वरीतव्याः—इति, कथं तर्हि?—वरणेन ऋत्विजः क्रियन्ते—इति, एवं द्वितीयानिर्देशो युक्तो भविष्यति,—अध्वर्युं वृणीते—इत्येवं लक्षणः। दृष्टार्थता च वरणस्य भविष्यति।

'कथम् आत्मेच्छया अध्वर्युर्भवति'—इति चेत् कश्चित् ब्रूयात्, भवति—इति ब्रूयाम्। कथम्?। एवशब्दकेनायं पदार्थः कर्त्तव्यः—इति, नास्त्येवंशब्दकः, यस्य नास्ति, स यदि शक्यते कर्त्तुम्, कर्त्तव्यो भवति; यथा,—'जुह्वा जुहोति'—इति अविद्यमाना जुहूः क्रियते, एवमेतदपि द्रष्टव्यम्। तत्र अर्थादनियमेन ऋत्विक्शब्दसम्बन्धे कर्त्तव्ये, वरणविशेषेण कर्त्तव्यः—इति नियम्यते। तस्मात् न इतरेतराश्रयम्। तस्मात् सप्तदशैव ऋत्विजः

भा कर्त्तव्या'—इति परिसङ्ख्या,—सप्तदश ऋत्विजः संस्कारैः कर्त्तव्या —इति ॥

सू पक्षेणेति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ०) ॥

भा एवं चेत् मन्यसे,—यथोक्तपक्षेणैतदेवम् उच्यते, अवयुत्यवादपक्षेण सप्तदशर्त्विज —इति, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

सू न सर्वेषामनधिकारः ॥ ३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं, न ह्यत्र सर्वेषां पुरुषाणां वचनं, यान् अधिकृत्य अवयुत्यवादो भविष्यति, यत्र परा सङ्ख्या कीर्त्यते, तत्र अवयुत्यवादो भवति, यथा, द्वादशकपाले अष्टाकपालो भवति —इति, न च, इह परा सङ्ख्या कीर्त्यते। तस्मात् न अवयुत्यवादः—इति ॥ (३।७।१६ अ०) ॥

---

दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशर्त्विक्त्वाधिकरणम् ॥

सू नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३६ ॥

भा सप्तदश ऋत्विज —इति समधिगतम्। कतमे ते सप्तदश?—इति इह चिन्त्यते। किं प्राप्तम्?—अज्ञानम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात्', दक्षिणासम्बन्धेन नियम्येरन्, एवं ह्याम्नायते,—'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' —इति, एवम् अभिधाय दक्षिणादानक्रमपरे वाक्ये ब्रह्मादयः श्रूयन्ते,—'आग्नीध्राय ददाति'—इति, ततो ब्रह्मणे, ततोऽमुष्मै च अमुष्मै च—इति केचिदेव विशिष्टाः श्रूयन्ते,—एवं ये श्रूयन्ते ते तावत् ऋत्विजः ततोऽभ्यधिका नान्ये भवितुमर्हन्ति, दक्षिणाभिर्नियमः —इति ॥

सू॰ उक्ता च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात्॥ ३७॥ (यु॰)॥

भा. ये ऋत्विजः ते यजमानाः—इत्येवम् अभिधाय ब्रह्मादीनां दीक्षाक्रमपरे च वाक्ये दीक्षां दर्शयति। कथम्?। 'अध्वर्यु-गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो होतारम्। ततः तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्द्धिनो दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारम् उद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः। ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति, आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्त्तारम उद्गातुः, अच्छावाकं होतुः। ततस्तमुन्नेता दीक्ष यित्वा पादिनो दीक्षयति, पोतारं ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यम् उद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः। ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति, ब्रह्मचारी वाचार्य्यप्रेषितः'—इति। दीक्षा च यजमानसंस्कारः। तस्मात् ब्रह्मादय ऋत्विजः सप्तदश—इति॥ (३।७।१७ अ॰)॥

---

ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वाधिकरणम्॥

सू स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्॥ ३८॥

भा एतदुक्तं,—सप्तदश ऋत्विजः—इति, ते च ब्रह्मादयः। तत्र सन्देहः,—किम् एषां सदस्यः सप्तदशः, उत गृहपतिः?। किं तावत् प्राप्तम्?—सदस्यः—इति स हि कर्मकरः, इतरः स्वामी, यश्च कर्मकरः, स परिक्रेतव्यः, ऋत्विजश्च परिक्रीयन्ते, तस्मात् सदस्यः सप्तदश ऋत्विक्—इति। अपि च, तस्य चमसमामनन्ति वरणं च, ऋत्विक् वरीतव्यो न स्वामी, तस्मात् सदस्यः सप्तदशः।

इति प्राप्ते उच्यते,—'स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्', स्वामी एषां सप्तदशः स्यात्। कुतः?। कर्मसामान्यात्, यज्ञे कर्त्तार ऋत्विजो भवन्ति, यज्ञे च कर्त्ता गृहपतिः, तस्मात्

भा यज्ञकर्मसामान्यात्। यदुक्तं,—तं समामनन्ति तस्य चमसमामनन्ति वरणं च, तस्मात् सदस्यः सप्तदशः—इति। उच्यते,—ब्राह्मणमेव ते समामनन्ति, वरणम् अपि चमसश्च ब्राह्मण एव, स हि सदसिभव., तस्मात् स्वामिसप्तदशाः॥ (३।७।१८ अ०)॥

---

आध्वर्य्यवादिषु आग्न्यादीनां कर्त्तृनियमाधिकरणम्॥

अग्नेः प्रकृतिविकृतिसर्व्वार्थताधिकरणञ्च।

सू ते सर्व्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात्॥ ३९॥
(पू०)॥

भा स्वामिसप्तदशाः ज्योतिष्टोमस्य ऋत्विजः समधिगताः। अथ इदानीमयं सन्देहः,—किं सर्वं पुरुषकार्यं तैः कार्यम्, अग्निभिश्च गार्हपत्यादिभिः अग्निकार्यम्, उत काचिदव्यवस्था?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—'ते सर्वार्थाः, प्रयुक्तत्वात् अग्नयश्च स्वकालत्वात्', ते एताः सर्वस्मै पुरुषकार्याय स्युः, अग्नयश्चाग्निकार्याय। कुतः?। तैः कार्यैः आकाङ्क्षितत्वात्, प्रति—स्वं यद्गुणमेषाम् अनुवादः, स्वकालत्वात् अग्नयश्च सर्वार्थाः—इति, समधिगतमेतत्"॥ (३।७।१९ अ०)॥

---

* "ये पुनराहवनीयादयः, तेषां सर्व्वार्थत्वमप्रकृतमेव न च प्रसङ्गादुच्यते, स्वकालत्वस्य हेतोरप्यसमर्थत्वात्। न च तस्य उत्तरपक्षे कश्चित् पक्षस्य हेतोर्वा परामर्शोऽस्ति", इत्यारभ्य "सिद्धान्तवचनमेवैतत्, निराकरणीयाभावात्। तस्मादेव वर्ण्यते, नैतदेवामीषां सर्व्वार्थत्वं पूर्व्वपक्षीकृत, किं तर्हि अधिकरणान्तरसूत्रीकृत्यादेवाधानवदेव पूर्व्वोत्तरपक्षौ रचयितव्यौ,—किमाहवनीयादयः प्रकृत्यर्थाः आहोस्वित् प्रकृतिविकृत्यपेक्षया?। तत्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः। प्रकृतौ वा द्विरुक्तत्वादित्येव प्राप्तेऽभिधीयते,—उभयः सर्व्वार्था भवेयुः। कुतः?। स्वकालत्वात् स्वतन्त्रोत्पत्तिकत्वादित्यर्थः। तदेतत् वर्णितं सर्व्वार्थं वाधानस्य स्वकालत्वादित्यत्र', इत्येव वार्त्तिककारानुसन्धेयम्॥

आध्वर्य्यवादिष्वेवाध्वर्य्वादीनां कर्तृतानियमाधिकरणस्य सिद्धान्तः ॥

सू. तत्संयोगात्कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थवत्त्वात्* ॥ ४० ॥ (सि०) ॥

भा. 'तत्संयोगात्' विशिष्टपुरुषसंयोगात्, व्यवतिष्ठेत, ये येन पुरुषेण समाख्यायन्ते, ते तेन कर्त्तव्याः, एवं तेषां पुरुषसंयोगोऽर्थवान् भविष्यति, आध्वर्य्यवमध्वर्युणा, हौत्रं होत्रा, औद्गात्रम् उद्गात्रा—इति ॥ (३।७।२० अ०) ॥

---

समाख्यायातकर्तृत्वस्यापि क्वचित् बाधाधिकरणम् ॥

सू. तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्द्देशः ॥ ४१ ॥

भा किम् एष एवोत्सर्गः?—सर्वं समाख्यातं समाख्यातपुरुषैः कर्त्तव्यम्—इति। न—इति ब्रूमः,—तस्य उपदेशादिशेषसमाख्यानाच निर्द्देशः। यथोपदेशः,—'तस्मात् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु-चाह'—इति। समाख्या,—'पोत्रीया नेष्ट्रीया—इति। एष समाख्यायाश्च अपवादः—इति ॥

सू तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ ४२ ॥

भा यच्च होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवत उपश्रृणुयात्—इति होत्रे प्रातरनुवाके समाख्यया प्राप्तं होतारं दर्शयति, तथा इदमपरं लिङ्गं भवति,—'उद्गीथ उद्गातृणामृचः प्रणवः उक्थशंसिनां

---

* तदिदं समाख्याविनियोगस्यैवातिप्रसङ्गनिवारणेन शेषीभूतं सूत्रं नाधिकरणान्तरमिति शास्त्रदीपिका ॥

भा प्रतिहारो अध्वर्यूणाम्—इति समाख्याकृत भेद दर्शयति तथा इदमपि लिङ्गं भवति—यो वाध्वर्यो स्व वेद स्ववानेव भवति एतत् वाध्वर्यो स्व यदाश्रावयति—इति समाख्याकृत नियम दर्शयति॥ (३।७।२९ अ०)॥

---

समुच्चितयोरनुवचनप्रैषयोर्मैत्रावरुणकर्तृकत्वाधिकरणम्।

**सू प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥ ४३ ॥ (पू०)॥**

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशु अग्नीषोमीय—यो दीक्षितो यदग्नीषोमीय पशुमालभते—इति। तत्र इदं समामनन्ति—तस्मात् मैत्रावरुण प्रेष्यति चानु चाह—इति। तत्र संशय—किं सर्वानुवचनेषु सर्वप्रैषेषु च मैत्रावरुण स्यात् उत यत्र अनुवचने प्रैष?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—सर्वानुवचनेषु अविशेषात् न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते—अस्मिन् अनुवचने मैत्रावरुणोऽस्मिन् न—इति। तस्मात् सर्वानुवचनेषु सर्वप्रैषेषु च मैत्रावरुण स्यात्॥

**सू पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥ ४४ ॥ (सि० ॥**

भा पुरोऽनुवाक्या वा मैत्रावरुणोऽनुब्रूयात्। कुत?। यत्र प्रैषश्च अनुवाक्या च सहाचर्यते—तत्र मैत्रावरुण यत्र केवलानुवाक्या न तत्र मैत्रावरुण यत्र वा केवल प्रैष तत्रापि न यत्रोभे समुच्चीयेते तत्र स भवेत तथा हि समुच्चितया त समामनन्ति—तस्मात् मैत्रावरुण प्रेष्यति च अनु चाह—इति चशब्दात् समुच्चितयो—इति गम्यते॥

सू॰ प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥ ४५ ॥ (यु॰)॥

भा॰ इतश्च पश्यामो न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुणः—इति । कुतः?। यतः प्रातरनुवाके होतारं दर्शयति । कथम्?। यत्र होतुः प्रातरनुवाकम् अनुब्रुवत उपशृणुयात्, तदाध्वर्युं गृह्णीयात्—इति । तस्मात् न सर्वानुवचनेषु मैत्रावरुणः—इति ॥ (३ । ७ । २२ अ॰)॥

---

चमसहोमेऽध्वर्योः कर्तृताधिकरणम् ।

सू॰ चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥ ४६ ॥ (पू॰)॥

भा॰ सन्ति चमसाध्वर्यवस्तेषु सन्देहः,—किं चमसाध्वर्यवः चमसान् जुहुयुः उत अध्वर्युः?—इति । चमसाध्वर्यवः—इति ब्रूमः । कस्मात्?। चमसेषु आध्वर्यवं ते कुर्वन्ति—इति चमसाध्वर्यवः, तस्मात् ते जुहुयुः—इति ॥

सू॰ अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥ ४७ ॥ (सि॰)॥

भा॰ अध्वर्युर्वा जुहुयात्, एष हि न्यायः,—यदाध्वर्यवपदार्थम् अध्वर्युः कुर्यात्, आध्वर्यवश्च होमः, तस्मात् अध्वर्युर्जुहुयात् । 'ननु चमसाध्वर्यवः—इति विशेषसमाख्यानाच्चमसाध्वर्यवो होष्यन्ति'—इति । न—इत्युच्यते,—चमसेष्वेतेऽध्वर्युवत् भवन्ति—इति चमसाध्वर्यवः, यदि तैरध्वर्युर्जुहोति, ततस्तैश्चमसाध्वर्युभिरपि होतव्यम् । यदि चमसाध्वर्यवो जुह्वति, न अध्वर्युः; तदा ते न तद्वत् स्युश्चमसाध्वर्यवः । तस्मात् न जुहुयुः—इति ॥

सू॰ चमसे चान्यदर्शनात् ॥ ४८ ॥ (यु॰)॥

भा॰ चमसे च अन्यं चमसाध्वर्योर्दर्शयति । कथम्?। 'चमसांश्च-

भा. मसाध्वर्यव मयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति', अन्यो जुत्वा चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति—इति गम्यते। कथम्?। स वषट्कर्त्रे हरति', भक्षयितुम्—इति गम्यते। तस्मात् हुतस्य चमसाध्वर्यवे प्रदानं, यो जुहोति, स प्रयच्छति। तस्मात् अन्यो जुहोति—इति। अपि च, 'यो वाध्वर्योः स्वं वेद स्ववानेव भवति, स्रुग्वा अध्वर्योः स्व वायव्यमस्य स्वं चमसोऽस्य सम्—इति, न तावदस्य चमसः स्वं, यजमानस्य हि सः। 'चमसोऽस्य सम्'—इति ब्रुवन्, अध्वर्योश्चमसेन होमं दर्शयति॥

सू अशक्तौ ते प्रतीयेरन्॥ ४९॥ (आ० नि०)॥

भा अथ कथम्, चमसाध्वर्यवः—इति समाख्यानम्?। उच्यते,—'अशक्तौ ते प्रतीयेरन्', यदा व्यापृतत्वात्, न शक्नोति अध्वर्युर्होतुम्, तदा समाख्यासामर्थ्यात्ते होष्यन्ति॥ (३।७।२३ अ०)॥

---

श्येनवाजपेययोरनेककर्तृकताधिकरणम्॥

सू वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः॥ ५०॥ (पू०)॥

भा अस्ति औद्गात्रे समाख्यातः श्येनः, आध्वर्यवे वाजपेयः। तत्र सन्देहः,—किं श्येने उद्गातृभिरेव पदार्थाः कर्त्तव्याः, वाजपेये अध्वर्युभिः, उत उभयत्र नानर्त्विग्भिः?—इति। किं प्राप्तम्—'वेदोपदेशात्' (समाख्यानात्—इत्यर्थः), 'पूर्ववत्,' यथा आध्वर्यवम्—इतिसमाख्यानात् पदार्थान् अध्वर्युः करोति, एवमेव 'वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः', यो येन समाख्याते वेदे उपदिष्टः, तस्य पदार्थाः तेनैव कर्त्तव्याः, साङ्गः स तत्र उपदिश्यते तस्मात्, श्येने उद्गातृभिर्वाजपेये च अध्वर्युभिः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति॥

सू. तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥ ५१ ॥ (सि०)॥

भा. 'तद्ग्रहणात्' (प्राकृतधर्मग्रहणात्) वा 'स्वधर्मः (चोदकप्राप्तैः संयुक्तः) स्यात्, चोदकसामर्थ्यात् सहाङ्गैः कुर्यात्—इति श्रूयते, तानि च अङ्गानि ज्योतिष्टोमे सन्ति अपेक्ष्यन्ते, तत्र ज्योतिष्टोमे नानर्त्विजस्तैरस्य सहैकवाक्यता।

'ननु प्रत्यक्षा समाख्या, चोदक आनुमानिकः'। उच्यते,—सत्यं, प्रत्यक्षा समाख्या, लौकिकी तु सा, तत्र अनुमाय वैदिकं शब्दं तेन एकवाक्यता स्यात्, चोदकेन पुनर्विप्रकृष्टाधीनतया प्रत्यक्षया इतिकर्तव्यतया सहैकवाक्यता। तस्मात् चोदको बलवत्तरः।

यत्तूक्तं,—समाख्यानात्—इति। तत्र उच्यते,—'अव्यक्तः शेषे' समाख्यातो भविष्यति,—यः पदार्थो न चोदकेन प्राप्नोति, तत्र समाख्यया नियमो भविष्यति। यथा, श्येने 'कण्टकैर्वितुदन्ति' —इति उद्गातारो वितोत्स्यन्ति, वाजपेये 'चोपपुटैरर्पयन्ति'—इति अध्वर्यवोऽर्पयिष्यन्ति॥ (३।७।२४ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य सप्तमः पादः समाप्तः॥

---

तृतीये अध्याये अष्टमः पादः।

---

अथ क्रयस्य स्वामिकर्मताधिकरणम्।

सू स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

भा अस्ति परिक्रयः, ज्योतिष्टोमे द्वादशशतं, दर्शपूर्णमासयोः अन्वाहार्यम्। तत्र सन्देहः,—किम् अध्वर्युणा परिक्रेतव्या ऋत्विजः उत स्वामिना?—इति। किं प्राप्तम्?—समाख्यानात् अध्वर्युणा,—इति प्राप्ते ब्रूमः,—'स्वामिकर्म परिक्रयः'। कस्मात्? 'कर्मणः तदर्थत्वात्', फलकामो हि यजमानः, यस्य फलकामः, तेन तस्य कार्यम्, स यदि परिक्रीणीते, ततः तस्य सर्वं करोति—इति गम्यते, अथ न परिक्रीणीते, न सर्वं कुर्यात्। तस्मात् स्वामी परिक्रीणीतेति ॥

सू वचनादितरेषां स्यात् ॥* २ ॥

भा किम् एष एवोत्सर्गः?। न—इत्युच्यते,—'वचनात् इतरेषां स्यात्'। यत्र वचनं भवति, तत्र वचनप्रामाण्यात् भवति परिक्रयः,—'य एतामिष्टकाम् उपदध्यात् स त्रीन् वरान् दद्यात्'—इति ॥ (३।८।२ अ०) ॥

---

* इदमधिकरणान्तरमिति माधवीयन्यायमालासम्मतम्। न स्वतन्त्राधिकरणमिति शास्त्रदीपिकासम्मतम्।

वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम् ॥

सू संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्व्यवतिष्ठेरन् ॥ ३ ॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'केशश्मश्रू वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एवञ्जातीयका अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, उत यजमानेन?—इति। किं प्राप्तम्?—अध्वर्युणा कर्त्तव्याः, संस्कारा यथावेदं व्यवतिष्ठेरन् समाख्यानात् पुरुषेण कर्मवत्,—यथा, अन्ये पदार्थाः यस्मिन् वेदे आम्नाताः, तत्समाख्यातेन पुरुषेण क्रियन्ते, एवम् एतेऽपि—इति ॥

सू याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥ ४ ॥ (सि०)॥

भा यजमानेन वा कर्त्तव्याः। कुतः?। पुरुषप्रधानत्वात्। कथं पुरुषप्राधान्यम्?। कर्माभिप्रायं क्रियाफलं गम्यते, तस्मात् पुरुषस्य कर्मकरणसामर्थ्यम् उपजनयन्ति। न च, कश्चित्, (येन कर्मकारणेन सामर्थ्यम् उपजन्यते) तदर्थं पुरुषान् क्रीणाति—इति, ईप्सितेभ्यः पदार्थेभ्यः क्रीणाति, येन यस्य सामर्थ्यम् भवति, तत् तेनैव कर्त्तव्यम्, कर्मवत्, यथा, प्रधानकर्माणि पुरुषार्थानि यजमानस्य भवन्ति, एवमेतदपि—इति ॥

सू व्यपदेशाच्च ॥ ५ ॥ (हे०)॥

भा परस्मैपदव्यपदेशश्च भवति,—'तमभ्यनक्ति, शरेषीकयानक्ति'—इति च। अन्यो यजमानस्य अञ्जनमभ्यञ्जनं करोति—इति गम्यते ॥

सू गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥ ६ ॥ (आ० नि०)॥

भा यदुक्तं,—समाख्यानात् यथावेदम्—इति, नैतदेवम्, 'गुणत्वे

भा तस्य निर्देश , तत्र वयं समाख्या नियामिकामिच्छामो,—यत्र कर्मण प्राधान्यम्, यदर्थं केतव्या पुरुषा भागा , तत्र समाख्यया नियम , कल्प्यो हि सम्बन्धो वचनादिभि , पुरुषाणाम् अदृष्टार्थत्वात् कृत आरादुपकारके , न च, कृप्ते उपपद्यमाने कल्प्य शक्य कल्पयितुम्। तस्मात् न पुरुषप्राधान्ये समाख्या नियामिका स्यात् ॥

सू चोदना प्रति भावाच्च ॥ ७ ॥ (हे०) ॥

भा चोदना—इत्यपूर्व ब्रूम ,—अपूर्व प्रति सस्कारा विधीयन्ते ते ह्यसम्भवात् द्रव्येषु कल्प्यन्ते, सन्निकृष्टद्रव्याभावे च विप्रकृष्टेषु भवेयु यदा तु सन्निकृष्टे द्रव्ये सम्भवन्ति, तदा न विप्रकृष्टेषु प्रयोक्तव्या कृतार्थत्वात्। तस्मात् याजमाना —इति ॥

सू अतुल्यत्वादसमानविधाना स्यु ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा (इद यद्योत्तर सूत्रम्।) 'अथ कस्मात् न समानविधाना भवन्ति? अविशेषविधानाद्धि पुरुषमात्रस्य प्राप्नुवन्ति । तदुच्यते, —नैतत्समान सर्वपुरुषाणा विधानम्। कुत ?। 'अतुल्यत्वात्, अतुल्या एते एतद्विधान प्रति। का अतुल्यता ?। यत् यजमानस्य विहिता न ऋत्विजाम्। 'कथम् यजमानस्य विहिता —इत्यवगम्यते ?। अर्थो स्वयप्रयोगे स्यात्—इति।

'ननु अविशेषात् ऋत्विजामपि विहिता । प्रयोजनाभावात् अविहिता —इति पश्याम । कथम् प्रयोजनाभाव ?। ऋत्विग्भि क्रियमाणा न यजमानेन कृता न कारिता अत परार्थत्वात् परिक्रयस्य स्वयकृतास्तु नार्थिन उपकुर्वन्ति। तस्मात् अप्रयोजना , अत ऋत्विजाम् अविहिता ,—एतत् अतुल्यत्वम्। तस्मात् न समानविधाना —इति ॥ (३ । ८ । २ अ०) ॥

तपसो याजमानताधिकरणम् ॥

सू. तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥ ९ ॥

भा तपः श्रूयते,—'द्व्यहं, नाश्नाति, त्र्यहं नाश्नाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् आर्त्विजं तपः, याजमानम्?—इति। किं प्राप्तम्?—समाख्यानात् आर्त्विजम् तपः—इति प्राप्तम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—याजमानं तपः—इति। कुतः?। फलसिद्धित्वात्, फलसिद्ध्यर्थं तपः, तपःसिद्धस्य यागफलं सिध्यति। कथमेतदवगम्यते?। दुःखं हि तपः, दुःखं च अधर्मफलम्, अधर्मो याग फलस्य प्रतिबन्धको भवति, अश्रेयस्कारी हि सः, तस्मिन् सति न श्रेयो भवितुमर्हति, तस्मात् सोऽपनेतव्यः, फलभोगेन च विरुध्येते धर्माधर्मौ। तस्मात् दुःखफलभोगाय धर्मः श्रूयते। यत्तेन दुःखम् उत्पादयितव्यम्, इदं तत्—इति। एवं दृष्टार्थं भवति, न अदृष्टं कल्पयितव्यम्, तेन फलोपभोगेन क्षीणेऽधर्मेऽप्रतिबद्धो यागः फलं दास्यति—इति, फलसिद्धिश्च यजमानस्य कर्त्तव्या न ऋत्विजाम्। तस्मात् याजमानं तपः—इति ॥

सू. वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा एतमेवार्थं वाक्यशेषोऽपि द्योतयति,—'यदा वै पुरुषे न किञ्चनान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषो नश्यति, अथ मेध्यतमः' —इति, यदा अनशनं, तदा मेधार्हः—इति, मेधश्च यज्ञो, यज्ञश्च त्यागः, त्यागं कर्तुमर्हः तपसा क्रियते—इति वाक्यशेषो भवति, त्यागी च यजमानः। तस्मात् याजमानं तपः—इति ॥

सू. वचनादितरेषां स्यात् ॥ ११ ॥ (विशेषः) ॥

भा. किमेष एवोत्सर्गः?—सर्वं तपो याजमानम्—इति। न,

भा 'वचनात् इतरेषाम्, यत्र वचनं, तत्र ऋत्विजाम्' यथा,—'सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति'—इति ॥ (३।८।३ अ०) ॥

---

आकाङ्क्षानिरासः, लोहितोष्णीषतादीनां सर्वर्त्विग्धर्मताधिकरणम् ।

सू गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥ १७ ॥

भा अथ यदुक्तं—समाख्यानात् आर्त्विजं तत्—इति, गुणत्वात् न समाख्यया गृह्यते, यत्र पुरुषस्य गुणभावः, तत्र समाख्या नियामिका ।

एवं वा, श्येने श्रूयते,—'लोहितोष्णीषा लोहितवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति'—इति, तथा वाजपेये श्रूयते,—'हिरण्यमालिन ऋत्विजः प्रचरन्ति'—इति । तत्र सन्देहः,—किं श्येने उद्गातृभिर्लोहितोष्णीषता कर्त्तव्या, वाजपेये च अध्वर्युभिर्हिरण्यमालित्वम्, उत उभयमपि सर्वर्त्विजाम्?—इति । किं तावत् प्राप्तम्?—समाख्यानात् श्येने उद्गातृभिर्वाजपेये अध्वर्युभिः—इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्,'—गुणो लोहितोष्णीषता हिरण्यमालित्वं च, पुरुषः प्रधानं, यतो लोहितमुष्णीषं हिरण्यमाला च पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते, न कर्त्तव्यतया तस्मात् पुरुषप्राधान्यम् । किमतः? । यद्येवं, पुरुषाणां प्रधानभावे समाख्या न नियामिका—इत्येतदुक्तम् ।

अपि च गुणत्वश्रवणात् सर्वपुरुषाणामेतद्विधानम्—इति गम्यते, प्रधानसन्निधौ हि गुणं विधीयमानं प्रति—प्रधानम् उपदिष्टं भवति तत्र वचनेन प्राप्तम् कथम् समाख्यया विद्यमानमपि नियन्तुम् शक्येत? तस्मात् उभयत्र सर्वर्त्विग्भिः एवञ्जातीयको धर्मः क्रियेतेति—इति ॥ (३।८।४ अ०) ॥

इष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम्॥

सू तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा ज्योतिष्टोमे समामनन्ति,—'यदि कामयेत वर्षेत्पर्जन्य —इति नीचै सदो मिनुयात्—इति। तत्र सन्देह,—किम् आर्त्विज काम, अथ याजमान ?—इति। किमेव ?। यदि कामयेत अध्वर्यु —इति, उत यजमान ?—इति,—एष संशय। किं प्राप्तम् ?—आर्त्विज काम, समाख्यानात् अर्थो ह्यतो ऽध्वर्यु, स वाक्येन सम्बध्यते,—मिनुयात्—इति, तस्मात् आर्त्विज काम —इति। एव प्राप्ते ब्रूम,—'तथा काम' स्यात्, यथा तप, (याजमान काम —इत्यर्थ)। कुत ?। 'अर्थसंयोगात्', अर्थेन यागस्य साद्गुण्य, यजमान फलेन सम्बध्यते —इति गम्यते। उपपदविशेषात् 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्युपपदविशेषाच्च मिनुयात्—इत्यध्वर्यु परार्थम्—इति गम्यते। अथ यदुक्त —प्रकृतेनाधिना सहैकवाक्यत्वात्—इति, उच्यते, एवमपि प्रकृतेन वाक्येन सहैकवाक्यता, यजमाने कामयमाने मिनुयात्—इति॥

सू व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥ १४ ॥ (विशेषः) ॥

भा यत्र भवति व्यपदेश, तत्र आर्त्विज कामो भवति, यथा, 'उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वा य काम कामयते, तमा गायति —इति, यद्यात्मने—इति यजमानायेति परिकल्पयेत, यजमानग्रहण वाशब्दश्च न समर्थितौ स्याताम्। तस्मात् यजमानव्यपदेशादात्मानमेव उद्गाता प्रतिनिर्दिशति—इति गम्यते॥ (३। ८। ५ अ०)॥

---

आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम् ॥

सू मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥ १५ ॥

भा इह एवञ्जातीयका मन्त्रा उदाहरणम् 'आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि'—इति, 'वर्चोदा अग्ने असि वर्चो मे देहि'—इति। एषु सन्देहः,—किम् आर्त्विजा उत याजमाना ?—इति। समाख्यानात् आर्त्विजा —इति प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मन्त्राश्च एते तद्वत् भवेयुः, यथा कामः, एवमात्माभिधायिपदं युक्तं भवति। आयुर्मे वर्चो मे—इति आयुर्वर्चं—इत्येवमादिभिः कर्मफलमभिधीयते, अग्ने त्वं कर्मफलं मे साधयेति, तदिह कर्मफलम् उत्साहार्थं सङ्कीर्त्यते, यजमानस्य तेन उत्पद्यते, नान्यः, यत् ऋत्विजः कर्मफलं न तदर्थाग्नि, सिद्धं हि तत् यत् यजमानस्य तदर्थाग्नि, तथासिद्धं यत् आशासितव्य यत् उत्साहं जनयति अपेक्षणाय। ऋत्विगपि सिद्धे यत् उत्पद्यते, तत् यजमानस्य एव कर्मफलाय उत्पद्यते। तत्र आत्माभिधायिपदं न अवकल्पते, यजमाने च आत्माभिधायिपदं कल्प्यमानम् अगौणं भवति, तस्मात् याजमाना ॥

सू विप्रयोगे च दर्शनात् ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा विप्रयोगे च अग्नीनां मन्त्रेण उपस्थानमस्ति,—'इह एव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने—इति। न च, प्रोषितोऽग्निभ्य ऋत्विक् भवति, कर्म कुर्वत एव वाचकः शब्दः। भवति तु यजमानोऽग्निभ्यः प्रोषितोऽपि यजमानः, संविधाय स अग्निहोत्राय प्रवसति, शक्यते च विदेशस्थेनापि त्यागः कर्तुम्, स एव प्रोषितस्य उपस्थानविशेषं ब्रुवन् यजमानस्य उपस्थानं दर्शयति, तेनैव एवञ्जातीयका यजमानस्य भवेयुः—इति ॥ (३।८।६ अ०) ॥

द्वाम्नातस्योभयप्रयोज्यताधिकरणम् ॥

सू. द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थवत्त्वात् ॥ १७ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र द्वाम्नाता मन्त्रा आध्वर्यवे काण्डे याजमाने च, 'आज्यं येगृह्यते पञ्चानां त्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि'—इत्येवमादयः, तथा स्रुग्व्यूहनमन्त्राः,—'स्रुचौ व्यूहति वाजस्य मा प्रसवेन'—इति। तत्र सन्देहः,—किं ते उभाभ्याम् अपि कर्त्तव्या उत अध्वर्युणैव ?—इति। किं प्राप्तम् ?—समाख्यानात् आध्वर्यवाः—इति। इति प्राप्ते उच्यते,—उभावपि तान् प्रयुञ्जीयाताम्—इति। कुतः ?। द्व्याम्नानस्य अर्थवत्त्वात्, द्वाभ्यां समाख्यानात् द्वावपि कर्त्तारौ गम्येते, तस्मात् द्वौ ब्रूयाताम्। अध्वर्युः एतेन प्रकाशितमनुष्ठास्यामि—इति, यजमानो न प्रमदिष्यामि—इति॥ (३। ८। ७ अ०)॥

---

अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम् ॥

सू. ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान्विहितोऽस्ति ॥ १८ ॥

भा. वाजपेये श्रूयते,—'कृप्तीर्यजमानं वाचयति उज्जितीर्यजमानं वाचयति'*—इति। अत्र सन्देहः,—किं ज्ञश्च अज्ञश्च सर्वो वाचयितव्य उत ज्ञ एव ?—इति। किं प्राप्तम् ?—अविशेषात् ज्ञश्च अज्ञश्च—इति।

इति प्राप्ते ब्रूमः,—ज्ञ एव—इति। कुतः ?। न हि अविद्वान् विहितोऽस्ति, यो हि अविद्वान् न असावधिक्रियते सामर्थ्याभावात्। 'ननु प्रयोगकाले शिक्षित्वा प्रयोक्ष्यते, सामर्थ्यात्

---

* 'आयुर्यज्ञेन कल्पतामित्याद्यो मन्त्रा कृप्तयः' इति माधवः। ऊर्जयन्तीर्यजमानं वाचयतीति का० सं० पु० पाठः॥

अधिक्रियेत—इति'। न—इति ब्रूमः,—वेदाध्ययनात् उत्तर काले प्रयोगः श्रूयते, न प्रयोगश्रुतिगृहीतं वेदाध्ययनम्। कुतः? । अनारभ्य कर्माणि वेदे श्रूयते,—तस्मात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इति, सत्येतस्मिन् वचने, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्'—इत्येवमादिभिः 'वेदोऽध्येतव्यः'—इत्येतदुक्तं भवति—इति न शक्यते कल्पयितुम्। तत्र होममात्रे चोदिते वेदाध्यायी शक्तः—इत्यधिक्रियते, न अविद्वान्। 'कियता पुनर्विदितेन विद्वान् अधिक्रियते?'—इति। यावता विदितेन शक्तो भवति, यथोक्तं क्रतुमभिनिर्वर्त्तयितुम्। तस्मात् तावत् यो वेद स तेन क्रतुना अधिक्रियते।

'ननु 'वेदमधीयीत—इति वचनात् कृत्स्नो वेदोऽध्येतव्यः—इति भवति, न वेदावयवेनाधिक्रियते—इति। उच्यते—क्रतुना ज्ञानार्थं वेदाध्ययनं कार्यं, तत्र अन्यस्मिन् क्रतौ कर्त्तव्येऽन्यप्रत्युज्ञानं न दृष्टाय भवति, तस्मात् क्रत्वन्तरज्ञानम् अधिकारेणादर्शनम्, क्रत्वन्तरज्ञानाय क्रत्वन्तरमन्य, सर्वे क्रतवः कथं धारयेरन्?—पृथक् पृथगिति कृत्स्नस्य वेदस्याध्ययनं श्रूयते, तस्मात् स्वपदार्थज्ञोऽधिक्रियेत—इति। तेनास्वपदार्थज्ञस्य कर्मैव नास्ति कथम् असौ वाचयेत। तस्मात् साध्वभिधीयते,—स एव वाचयितव्यः—इति॥ (३। ८। ८ अ०)॥

---

द्वादशद्वन्द्वानामाध्वर्यवत्वाधिकरणम्॥

५　याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः॥ १९॥ (पू०)॥

भा　एतौ दर्शपूर्णमासौ, तत्र कर्माण्याम्नातानि द्वादश,—'वत्सं चोपावसृजति। उखाञ्चाधिश्रयति। अव च हन्ति। दृषदुपले च समाहन्ति। अधि च वपते। कपालानि चोपदधाति।

भा. पुरोडाशं च अधिश्रयति, आज्यं च। स्तम्बयजुश्च हरति। अभि च गृह्णाति। वेदिं परिगृह्णाति। पत्नीं च सन्नह्यति। प्रोक्षणीश्चासादयति, आज्यं च। तानि द्वादश द्वन्द्वानि दर्शपूर्णमासयोः'*—इति। अत्र सन्देहः,—किमेतान्यध्वर्योः कर्माणि, उत यजमानस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—'याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः,'—विशेषसमाख्यानात् याजमानानि—इति गम्यते, यथा पोत्रीयं नेष्ट्रीयम्—इति॥

सू. अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम्॥ २०॥ (सि०)॥

भा. अध्वर्युर्वा कुर्यात् एतानि, तदर्थो हि अध्वर्युः परिक्रीतः—इति समाख्यानात् अवगम्यते,—आध्वर्यवे एव सर्वे इमे पदार्थाः समाम्नाताः, याजमाने एषां द्वन्द्वतोच्यते, द्वन्द्वता च समभ्याशक्रिया। तत्र अध्वर्युः पदार्थान् करिष्यति, यजमानेनापि समभ्याशीकरणम्—इत्येतदशक्यम्। तत्र अङ्गगुणविरोधे च, तादर्थ्यात्—इति द्वन्द्वतागुणो बाधितव्यः। तस्मात् आध्वर्यवा एते पदार्थाः—इति।

यदुक्तं, समाख्यानात्—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्, उच्यते,—'न्यायपूर्वं समाख्यानं', समाख्यानात् यजमानेन द्वन्द्वता सम्पादयितव्या,—इदं चेदं च सम्पादय—इति यजमानो ब्रूयात्। केषुचिच्च अत्र पदार्थेषु यजमानस्यानुमन्त्रणं, तन्निमित्ता समाख्या भविष्यति, अपूर्वं त्वपलक्ष्येत। यदुक्तं,—यथा पोत्रीयम् नेष्ट्रीयम्—इति, एवम् अत्रापि—इति; तदुच्यते,—युक्तं, तत्र विशेष-

---

* पलाशशाखया वत्सापाकरणमेकं कर्म, दोहनेन सम्पादितं क्षीरं धारयितुम् पिठरस्थापनमपरं कर्म, तदेतदुभयमेकं द्वन्द्वम् इति माधवः॥

भा समाख्यानात्। इह तु द्वन्द्वता याजमानीया, पदार्थास्तु आध्वर्यवा एव। तस्मात् अदोषः॥ (३।८।९ अ०)॥

---

होतुराध्वर्यवकरणानुष्ठातृत्वाधिकरणम्॥

सू विप्रतिषेधे करणः, समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्॥ २१॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः, तस्य यूपस्य परिव्याणे मन्त्रौ,—एकः,—'अध्वर्यो परिवीरसि'—इति करणः, अपरो,—'होतुर्युवा सुवासाः'—इति क्रियमाणानुवादी। तयोश्चोदकपरम्परया कुण्डपायिनामयनम् प्राप्तयोर्भवति सन्देहः,—क पुनरसौ?—तत्र ऋत्विक्समास आम्नातः—'यो होता सोऽध्वर्युः'—इति, किं करणम् आध्वर्यवं होता कुर्यात्? किं हौत्रं क्रियमाणानुवादिनम्?—इति। किं प्राप्तम्?—अनियमः—इति।

इति प्राप्ते उच्यते,—विप्रतिषेधे करणः स्यात्,—आध्वर्यवं परिवीरसि—इति, न क्रियमाणानुवादी होतुर्युवा सुवासा—इति। कुतः? समवायविशेषात्—द्वौ तत्र समवायौ, होतुश्चोदकेन हौत्रेषु प्रत्यक्षश्रवणेन आध्वर्यवेषु—'यो होता सोऽध्वर्युः'—इति। एवं प्रत्यक्षम् अध्वर्यो कार्यं चोद्यते, प्रत्यक्षञ्चानुमानाद्बलीयः। तस्मात् आध्वर्यवं करणं परिवीरसि—इति होता कुर्यात्। 'अथ हौत्रं विरुद्धं कः कुर्यात्?'। 'इतरम् अन्यः, तेषां यतो विशेषः स्यात्, अन्यो होतृपुरुष एव स्यात् यस्याव्यापृतता प्राधान्यविशेषो वा॥ (३।८।१० अ०)॥

---

प्रैषप्रैषार्थयोः पृथक्कर्तृताधिकरणम् ॥

सू  प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥ २२ ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र प्रैषः समाम्नातः, प्रोक्षणीरासादय इध्मा बर्हिरुपसादय स्रुचः सम्मृड्ढि पत्नीं सन्नह्य आज्येनो-देहि'—इति। तत्र सन्देहः,—किं य एव प्रैषे, स एव प्रैषार्थे, उत अन्यश्च प्रैषे, अन्यश्च प्रैषार्थे?—इति। किं प्राप्तम्?—एक एव प्रैषप्रैषार्थयोः—इति। कुतः?। समाख्यानात्, अन्यः—इति चाश्रुतत्वात्।

'ननु आत्मनः प्रैषो विप्रतिषिध्यते'। उच्यते, न प्रैषो भवि-ष्यति, प्राप्तकाले लोट वक्ष्यामः। 'आह, प्राप्तकालेऽपि सति युष्मदादिष्वेवोपपदेषु मध्यमादयो व्यवस्थिताः, न पुरुषसङ्करो भवति'। उच्यते,—सत्या विवक्षाया युष्मदादिषु मध्यमादयः, यदा तव प्राप्तः कालः—इति विवक्ष्यते, तदा युष्मद्येव मध्यमो न अस्मादि प्रैषे वा। यदा खलु क्रियायाः प्राप्तः कालः—इत्येतावत् विवक्ष्यते, न तव, मम वेति, न तदा युष्मदादी-नामनुरोधेन मध्यमादयो भवितुमर्हन्ति। न च, इदं युगपत् विवक्षितुम् शक्यते, पदार्थस्य प्राप्तः कालः, तव च—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तेन, यदि वा निर्ज्ञाते पदार्थकाले तव कालः—इति शक्यते वदितुम्, यदि वा तवेति निर्ज्ञाते पदार्थस्य कालः—इति। तत्र पदार्थस्य कालो वदितव्यो, न तु युष्मदर्थस्य, तेन हि स्रुतेन प्रयोजनम्, स हि कर्त्तव्यः—इति अवगतः, न तु युष्मदर्थः तथा, तस्मात् समाख्यानात् अध्वर्योरेव प्रैषप्रैषार्थौ— इति।

इति प्राप्ते ब्रूमः,—प्रैषेष्वन्योऽन्यः तदर्थेषु—इति। कुतः?। 'पराधिकारात्', परस्मिन् हि प्रैषे उपपद्यते, न आत्मनि—इति। 'आह, ननु उक्तं प्राप्तकाले भविष्यति'—इति। उच्यते,

भा —न, सम्भवति प्रैषे, प्राप्तकालता व्याख्या, तस्या हि युष्मदर्थो गम्यमानो न विवक्षित —इत्युच्यते, सम्भवति च अत्र प्रैषार्थं। तस्मात् प्रैष, प्रैषश्चेत्, अन्य प्रैषार्थ—इति सिद्धम्॥ (३। ८। ११ अ०)॥

---

प्रैषप्रैषार्थयोः यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीध्राधिकरणम्॥

सू अध्वर्युस्तु दर्शनात्॥ २३॥ (पू०)॥

भा अथैव गते, इति सन्दिह्यते,—किम् अध्वर्युः अग्नीध प्रेष्येत् उताग्नीदध्वर्युम्?—इति। अनियमोऽविशेषात्—इति प्राप्ते ब्रूम,—अध्वर्युः उत्तमप्रैषार्थकारी स्यात्। कुत?। 'दर्शनात्' दर्शन भवति,—'तिर्यञ्च स्फ्यन्धारयेत् यदन्वञ्चन्धारयेत् वज्रो वै स्फ्यो वज्रेण अध्वर्युम् क्षिण्वीत'—इति, य प्रेष्यति तस्य हस्ते स्फ्य, स्फ्येन अध्वर्युम् क्षिण्वीतेति अन्यम् अध्वर्युम् प्रेषकात् दर्शयति, तस्मात् अग्नीदध्वर्युम् प्रेष्येत् - इति॥

सू गौणो वा कर्मसामान्यात्॥ २४॥ (सि०)॥

भा नैतदस्ति,—अग्नीध प्रैषोऽध्वर्यो प्रैषार्थं—इति, किं खलु अध्वर्युरेवाग्नीध प्रेष्येत् एवम् अध्वर्युणा प्रैष प्रैषार्थयोर्भावयितारौ भविष्यत, तथ आध्वर्यवम्—इति समाख्या अनुगृहीष्यते। तस्मात् अध्वर्यु एव मुख्यः स्यात्। किम् अस्य मुख्यत्वम्?। यदनेन सर्व कर्त्तव्य समाख्यानात्—इति। अथ यदुक्तम्—अध्वर्यु प्रचरिता दृश्यते—इति। तदुच्यते—सत्य दृश्यते न त्वस्य प्रैषार्थकरणे प्रमाणमस्ति क्रियमाणम्। तस्मात् एत मिथ्यादर्शनम् यस्य हि दर्शनस्य प्रमाण नास्ति व्यामोह स, यथा शुक्तिकायां रजतविज्ञानम्। अस्ति तु अग्नीध प्रैषार्थकरणे प्रमाणम्। तस्मात् अग्नीध प्रचरिता प्रचरितार

भा. चाध्वर्युशब्दो दृश्यते। तस्मात् गौणः, आध्वर्यवे वेदे समाम्नातान् पदार्थान् करोति—इति कृत्वा अध्वर्युरित्युच्यते, आग्नीध्रः—इति। तस्मात् आध्वर्यवः प्रैषः, आग्नीध्रः प्रैषार्थः—इति॥ (३।८।१२ अ०)॥

---

करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याशासितव्यताधिकरणम्॥ (वर्चोन्यायः॥)

सू. ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात्॥ २५॥ (पू०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु*—इति पूर्वमग्निं गृह्णाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् ऋत्विक्फलमाशासितव्यम्,—अग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु—इति, उत यजमानस्य?—इति। किम् प्राप्तम्?—अध्वर्योरेव—इति। कुतः?। एवं श्रुतिरादृता भविष्यति, इतरथा लक्षणा स्यात्, आत्मना यजमानं लक्षयेत्। तस्मात् ऋत्विक्फलमाशासितव्यम्—इति। कोऽर्थः?। अनया समिधा धार्यमाणेऽग्नौ यागः सम्भविष्यति, तत्र विहवेषु स्पर्द्धास्थानेषु अहं वर्चस्वी भविष्यामि—इति अध्वर्योर्वचनम्, एवमुत्सही भविष्यति—इति॥

सू. स्वामिनो वा तदर्थत्वात्॥ २६॥ (सि०)॥

भा. यजमानस्य वा वचनं तदर्थत्वात् कर्मणः,—यजमानार्थं हि इदं कर्म साङ्गम्, उपग्रहविशेषात्, साङ्गस्यास्य प्रयोजनं यजमानस्य फलनिष्पत्तिर्नाध्वर्योः सुप्रवरितुरपि यशः। किम् अतः?। यद्येवम्, फलसङ्कीर्त्तनात् फलकर्त्तव्यता गम्यते, तदेतत्

---

* विशिष्टं हवनं येषां मन्त्राणां ते विहवास्तेषु वर्चस्तेजसोपलक्षितं यत् फलं तत् ममास्त्वित्यर्थः इति माधवः॥

भा अग्नन्वाधाने यजमानस्य फलसङ्कीर्त्तने* क्रियमाणे अनेन मन्त्रेण फलसम्बन्धात् प्रकाशितं स्तुतं भवति न आध्वर्यवस्य कीर्त्तनेन। तस्मात् यजमानफलमाशासितव्यम्—इति। अथ कस्मात् न याजमान एव मन्त्रो भवति?—इति। उच्यते—अग्नन्वाधाने समाख्यया आध्वर्यव तथैव गुणो मन्त्रो करोत्याध्वर्यव स उच्यतेऽनेन मन्त्रेण—इति तस्मात् आध्वर्यवो मन्त्र। मम वर्चोऽस्त्वित्यपि यजमानस्य वर्चो ममेति व्यपदिशति लक्षणया यथा राजनि जय वर्तमाने सैनिका अस्माकम्—इति व्यपदिशन्ति एवम्॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च॥ २७॥ (हे०)॥

भा लिङ्गमप्यमुमर्थं दर्शयति एवं हि आह—'या वै काश्चन ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्य एव सा'—इत्याशिषो यजमानार्थकता दर्शयति। तस्मात् अपि ब्रूम—यजमान फलमाशासितव्यम्—इति। पश्चोक्तमेव प्रयोजनम्—इति। (३। ८। २६ अ०)॥

---

करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्धर्मताधिकरणम्॥

सू कर्मार्थन्तु फलन्तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात्॥ २८॥

भा इदं समधिगतं—करणेषु मन्त्रेषु स्वामिनं फलमाशासितव्यम्—इति। किमेष सर्वोत्सर्गः?। न—इत्याह क्वचित् ऋत्विजामपि फलमाशासितव्यम्—इति यत्र कर्मार्थं फलं यथा—

---

* फल सङ्कीर्त्तन इति का० स० पु०॥

† तथ एव गुणो मन्त्र करोती याध्वर्यव स उच्यतेऽनेन मन्त्रेणेति क० १० १०।

भा. 'अग्नाविष्णू मावक्रमिषं विजिह्मायां मा मा सन्ताप्तम्'*—इति, असमर्थोऽध्वर्युः कर्म शक्नोति कर्त्तुम्, कर्मसिद्धिर्यजमानस्य उपकारिका—इति ऋत्विक्फलमाशासितव्यम् अत्र—इति ॥

सू. व्यपदेशाच्च ॥ २९ ॥

भा. यत्र च व्यपदेशो भवति, तत्रार्त्विजम्,—दक्षिणस्य हविर्धान-स्याधस्ताच्चत्वार उपरवाः प्रादेशमुखाः प्रादेशान्तरालाः, तत्र हस्तौ प्रवेश्याध्वर्युर्यजमानमाह, किम् अत्र?—इति, स आह,—भद्रम्—इति, 'तन्नौ सह'—इत्यध्वर्युः मत्याहेति व्यपदेशो भवति, अध्वर्यायजमानस्य च। 'तन्नौ सहेत्युभयोर्वचनम् अध्वर्युयजमानयोः। तस्मात् अध्वर्युफलमाशासितव्यमत्र—इति॥ (३।८।१४ अ०)॥

---

द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम्॥

सू. द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥ ३० ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोर्बर्हिर्धर्मा वेदिधर्माश्च, तेषु सन्देहः,—किम् अङ्गप्रधानार्थाः, उत प्रधानार्थाः?—इति। प्रकरणात् प्रधा-नार्थाः—इति। इति प्राप्ते उच्यते, नैवं, द्रव्यसंस्कारोऽङ्ग-प्रधानार्थो, यथा व्याख्यातमेवोत्तरविवक्षया प्राप्तिरेषा क्रियते—इति॥ (३।८।१५ अ०)॥

---

* स्रुक्स्रुवरूपौ अग्नाविष्णू युवां नाभिदेशे धारयन् अहं अध्वर्युः मावक्रमिषं युवयोरतिक्रमं न कृतवान् युवाञ्च मत्तो वियुतौ भवतम्। ततो मां देहधारिणं मा सन्ताप्तम् मम देहसन्तापं ज्वरादिरूपं मा कुरुतमिति माधवः॥

अपूर्वप्राकृतधर्माणां विकृतावसम्बन्धाधिकरणम् ॥

सू निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्यानधिकारः ॥ ३१ ॥

भा ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो,—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र श्रूयते,—'बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति आज्येन यूपमनक्ति'—इति। तत्र संशयः, किं तयोराज्यबर्हिषोराज्यबर्हिर्धर्माः प्राकृताः कर्त्तव्याः, उत न?—इति। किम् प्राप्तम्?—कर्त्तव्याः—इति। कुतः?। वाक्यं हि बर्हिर्मात्रस्याज्यमात्रस्य च धर्माणां विधायकम्, तत् इहापि वाक्यं चोदकेन प्राप्तम्, न चैतत् बर्हिराज्यं निष्प्रयोजनम्। तस्मात् अत्र धर्माः क्रियेरन्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'निर्देशात् विकृतावपूर्वस्य अनधिकारः',—निर्दिष्टा एते धर्माः प्रकृतौ, यत्र प्रधानस्य उपकुर्वन्ति प्राकृतकार्ययोराज्यबर्हिषोः, ये च प्रधानस्य उपकारिणो धर्माः, ते इहातिदिश्यन्ते, प्रधानं हि चोदकोऽपेक्षते, न धर्मान्, प्रधानस्य हि चोदकेन सामान्यं न धर्माणाम्।

अपि च, न, अन्यार्थः—इति ज्ञातेन सन्निहितेनाप्येकवाक्यता भवति अन्यसम्बन्धोपपत्तौ सत्याम्, यथा भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य—इति, किमङ्ग पुनर्विप्रकृष्टेन, निर्ज्ञातं खल्वङ्गत्वं प्रधानापेक्षायां भवति, केवलमिहातिदेशः क्रियते, पदार्थापेक्षायाम् अङ्गत्वमपि साधयितव्यं स्यात्। धर्माश्चापेक्ष्यमाणाः साधारणा भवेयुः, तथा ऊहो नावकल्पेत। लिङ्गविशेषदर्शनाच्च व्यवतिष्ठेरन् धर्माः, तत्र दर्शनं नोपपद्येत, 'वपया प्रातःसवने चरन्ति, पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने'—इति, तथा 'न पिता वर्धते, न माता, न नाभिः, प्राणो हि सः'—इति। तस्मात् यद्द्वारा प्रकृतौ प्राप्ताः, तद्द्वारा एव विकृतौ, नान्यद्वाराः। न च, यूपावटस्तरणं प्रकृतावस्ति यूपाञ्जनं

भा. वा। तस्मात् न तत्र प्राकृता धर्मा भवेयुरपूर्वत्वात्॥ (३। ८। १६ अ०)॥

---

विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयबर्हिषा कर्त्तव्यताधिकरणम्॥

सू. विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे॥ ३२॥

भा. दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—'समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे करोति', तथा 'अरत्निमात्रे विधृती करोति'—इति। तत्र संशयः, किं वेदिस्तरणार्थात् बर्हिषो विधृती पवित्रे, उत अन्यतः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—वेदिस्तरणार्थात् बर्हिषः कार्ये। किं कारणम्?। तद्धि प्रकृतं, धर्मास्याविशेषात् सर्वबर्हिषामर्थेन, तस्मात् ततः। इति प्राप्ते ब्रूमः,—अन्यतः क्रियेत। कुतः?। विरोधात्। कथं विरोधः?। श्रूयते हि,—'त्रिधा तु पञ्चधा तु वा वेदीं स्तृणाति'—इति, तत् येनास्तीर्यते, कथं तत् विधृतिपवित्रं क्रियेत, न हि, सम्भवति—एकं स्तरणाय विधृतिपवित्राय च। तदेतत् उपदिष्टवचनमनेकगुणत्वं चोभे अप्यसम्भाविनी प्रतिज्ञाते स्याताम्। तस्मात् न ततः क्रियेत—इति। 'यदि न ततः, कुतः, तर्हि?'। अव्यक्त एवञ्जातीयकः शेषे, अस्ति तत्र परिभोजनीयं नाम बर्हिः, ततः कर्त्तव्यम्॥ (३। ८। १७ अ०)॥

---

प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम्॥

सू. अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात्॥ ३३॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धाना आश्विनपात्रे, पयस्यां मैत्रावरुणपात्रे'—इति। तत्र संशयः, किमन्यत एव क्रियेत, उत प्रकृतेभ्यः?—

भा इति। किं प्राप्तम्?—पूर्वेण न्यायेनान्यतः—इति। तत्र उच्यते,—तत एकदेशस्यापनयः। कुतः?। विद्यमानसंयोगात्, विद्यते हि तत्र पुरोडाशो धानाः पयस्या च, तत्संयोग एव न्याय्यो नान्यसंयोगः—इति, पुरोडाशादीनाम् एव संस्कारो न इन्द्रवाय्वादीनाम्। कुतः?। पुरोडाशादिषु द्वितीयादर्शनात्। प्रत्यक्षश्चैकदेशापनयेन उपकारो, न इन्द्रवाय्वादिसम्बन्धेन, एवं महातानुग्रहो भविष्यति, तस्मात् प्रशतस्य उपदेशेन तत् क्रियेत, न च, अत्र उपदिष्टोद्देश आग्नेयोऽनेकगुणभावश्चान्येन एकदेन होमोऽन्यश्च प्रतिपाद्यते—इति॥ (३।८।१८ अ०)॥

---

काम्येष्टिषु उपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताधिकरणम्॥

सू विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत्॥ ३४॥ (पू०)॥

भा इदमामनन्ति,—'यज्ञाथर्वणं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्त्तव्याः'—इति। अत्र संशयः,—किम् अङ्गप्रधानार्थम् उपांशुत्वम्, उत प्रधानार्थम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'विकृतौ सर्वार्थः शेषः' स्यात्, अविशेषात् अङ्गानाम् प्रधानानां च प्रकृतिवत्, यथा प्रकृतौ वेदिधर्मा आज्यधर्माश्च अङ्गप्रधानार्थाः, एवम् अत्रापि॥

सू मुख्यार्थो वा अङ्गस्याचोदितत्वात्॥ ३५॥ (सि०)॥

भा प्रधानार्थो वा एष विकृतिषु स्यात्। एवमिदं सर्वार्थम् उच्येत, प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन अङ्गप्रधानार्थम्—इति, तदेव इदानीं वाक्यं विशेषितं,—काम्या इष्टयः—इति, काम्याश्च प्रधानयागाः, अङ्गयागाः प्रधानार्थाः, तस्मात् अङ्गमचोदितम्। यत् कामेन फलवत्तोद्यते, तत् एवानया उपांशुत्वेतिकर्तव्यतया

भा. अनुबध्यते। तस्मात् प्रधानार्थम् उपांशुत्वम्॥ (३।८। १९ अ०)॥

---

श्येनाङ्गानां नवनीताज्यताधिकरणम्॥

सू. सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम्॥ ३६॥

भा. श्येने श्रूयते,—'हुतनवनीतमाज्यम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् नवनीतं प्रधानस्य, उताङ्गानाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रधानस्य, तस्य हि प्रकरणम्—इति वचनप्रामाण्यान्नवनीतेन प्रधानं निर्वर्तयितव्यम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'असम्भवे' एतस्मिन् 'तदङ्गानां' (श्येनाङ्गानां) स्यात्। कथम् असम्भवः?। सोमद्रव्यकत्वात् प्रधानस्य। 'ननु वचनान्नवनीतं भविष्यति'। न श्येने नवनीतं भवति—इत्येष वाक्यार्थः। कः तर्हि?। श्येने नवनीतमाज्यं भवति—इति नवनीताज्यसम्बन्धो विधीयते, श्येनाज्यसम्बन्धोऽनूद्यते। न च, साक्षात् श्येनस्य आज्यसम्बन्धोऽस्ति, श्येनाङ्गानां तु विद्यते। यस्यास्ति, तस्यानूद्य नवनीतं विधीयते, 'सन्निधानविशेषात्'॥

सू. आधानेऽपि तथेति चेत्॥ ३७॥ (आ०)॥

भा. एवं चेत् दृश्यते,—'श्येनाङ्गानाम् नवनीतम्—इति, आधानेऽपि पवमानेष्टिषु स्यात्। ता अपि हि श्येनस्य उपकुर्वन्ति, तत्संस्कृतेऽग्नौ श्येनो निर्वर्त्तते—इति॥

सू. नाप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३८॥ (आ० नि०)॥

भा. न, श्येनस्य प्रकरणे पवमानेष्टयोऽग्न्याधानं वा श्रूयते। किमतः?। यद्येवम्, आधानस्य च श्येनस्य च न कश्चिदस्ति

भा सम्बन्ध, अग्नीनामाधानम् अग्रयस्य श्येनस्य, तस्मात् न पवमानहविषु नवनीतम्। नैतत् श्येनाङ्गत्वे निमित्तं यत् आधानम् अग्नीनाम् उपकरोति, यदि प्रकरणादीनामन्य तमदस्ति, तत् निमित्तं भवेत्। तस्मात् न श्येनाग्न्याधानयो सम्बन्धोऽस्ति—इति ॥ (३।८।२० अ०)॥

---

सर्वेषामेव श्येनाङ्गाना नवनीताज्यताधिकरणम् ॥

सू तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥ ३९ ॥ (पू०)॥

भा इदमिदानीं सन्दिह्यते,—किं सुत्याकालानाम् अङ्गानाम् नवनीतम् उत सर्वेषाम्?—इति। सुत्याकालानाम् स्यात् 'लिङ्गदर्शनात्', इद श्रूयते,—'सह पशूनालभते'—इति। तच पुनर्वचनम्— अग्नीषोमीयस्य स्थानेऽग्नीषोमीय पुरोडाश, अनुबन्ध्याया स्थाने मैत्रावरुणीयस्य—इति, द्वे स्थाने सूत्ये दर्शयति, तेन अवगम्यते श्येनस्य वचन सुत्याकालानाम् अङ्गा नाम् विशेषं विदधाति—इति॥

सू सर्वेषां वा अविशेषात् ॥ ४० ॥ (सि०)॥

भा सर्वेषामेव च अङ्गानाम् नवनीतं स्यात्। कुत ?। अविशे षात् असति विशेषे सर्वेषाम् अपि अङ्गानाम्—इति॥

सू न्यायोक्तं लिङ्गदर्शनम् ॥ ४१ ॥ (आ० नि०)॥

भा यदुक्तं लिङ्ग,—तत्परिहरणीयम्। नास्ति तावत् प्रमाण यत् श्येनस्य वचनं सुत्याकालानामङ्गानाम्—इति। किन्तु दर्शनं, तदप्रमाणमूलत्वात् मिथ्यादर्शनं मृगतृष्णावत्। कथं तु सह पशूनामालम्भ ?—इति। न्यायात्। को न्याय ?। क्रमानुग्रह। एव वचनवर्जित क्रमोऽनुगृहीतो भवति—इति।

भा. तस्मात् सर्वेषाम् अङ्गानाम् नवनीतम्—इति॥ (३।८।२१ अ०)॥

---

सवनीयाना मांसमयताधिकरणम्॥

सू. मांसन्तु सवनीयानाम् चोदनाविशेषात्॥ ४२॥

भा. शाक्यानामयनम् षट्त्रिंशत्सम्वत्सरम्। तत्र इदं समामनन्ति, 'संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान्मृगान् हन्ति, तेषान्तरसाः पुरोडाशाः सवनीया भवन्ति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सवनीयानाम् अन्येषाञ्च सम्भवता पुरोडाशानां स्थाने तरसा उत सवनीयानामेव?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वपुरोडाशानां मांसमयता स्यात्, न शक्यते पुरोडाशानां च मांसमयता विधातुम्, सवनीयशब्देन च पुरोडाशान् विशेषयितुम्, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् सर्वपुरोडाशानां मांसमयता—इति॥

इति प्राप्ते उच्यते,—'मांस तु सवनीयाना' स्यात्, तरसाः सवनीया भवन्ति—इति तरससवनीयसम्बन्धो विधीयते, तरसाः पुरोडाशा भवन्ति—इत्ययं त्वनूद्यते। कुतः एतत्?। सर्वपुरोडाशेषु सवनीयशब्दोऽनुवादो न घटते, पुरोडाशशब्दस्तु सवनीयेष्ववकल्पते। तस्मात् पुरोडाशशब्दोऽनुवादः—इति। तस्मात् सवनीयानाम् धानादीनाम् स्थाने मांसं 'चोदनाविशेषात्'—इति॥

सू. भक्तिरसंनिधावन्याय्येति चेत्॥ ४३॥ (आ०)॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—'सवनीयेषु पुरोडाशशब्दोऽनुवादो भविष्यति—इति, धानादिषु पुरोडाशशब्दो न वर्त्तते, भक्तिश्च अन्याय्या मुख्ये सम्भवति॥

सू स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वात् वैराजवत् ॥ ४४ ॥ (श्रा० नि०)

भा प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे धानादिषु श्रयं पुरोडाशशब्दो भाक्तः, सन्निहिते प्रयुक्तः, इहापि भाक्त एव मयोच्यते, श्रत्रापि हि सवनीयशब्देन ते सन्निहिताः। प्रकृतौ लिङ्गसमवायाच्छब्द प्रवृत्तिर्विकृतावपि तथैव, यथा, छत्रिणो गच्छन्ति, ध्वजिनो गच्छन्ति—इति। यथा 'उक्थ्यो वैरूपसामा एकविंशः षोडशी वैराजसामा'—इति प्रकृतिलिङ्गेन सामशब्देन वैरूपपृष्ठो वैराजपृष्ठः—इति गम्यते, एवम् इहापि सवनीयानाम् मासनयता—इति॥ (३।८।२२ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिविरचिते मीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्याष्टमः पादः॥ समाप्तश्च तृतीयोऽध्यायः॥

## चतुर्थे अध्याये प्रथमः पादः ॥



### अथ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥

सू. अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥ १ ॥

भा. तृतीयेऽध्याये श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानैः शेषविनियोगलक्षणमुक्तम्*। इह इदानीं क्रत्वर्थपुरुषार्थौ जिज्ञास्येते,—कः क्रत्वर्थः? कः पुरुषार्थः—इति, यापि प्रयोजकाप्रयोजकफलविध्यर्थवादाङ्गप्रधानचिन्ता, सापि क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासैव। कथम्?। अङ्गं क्रत्वर्थः, प्रधानं पुरुषार्थः; फलविधिः पुरुषार्थः अर्थवादः क्रत्वर्थः; प्रयोजकः कश्चित् पुरुषार्थोऽप्रयोजकः क्रत्वर्थः। तस्मात् 'क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'—इति सूचितम्। तत्र अथातःशब्दौ प्रथमे एवाध्याये प्रथमसूत्रे वर्णितौ। अथेति प्रकृतं शेषविनियोगलक्षणमपेक्षते। अतः—इति क्रत्वर्थपुरुषार्थजिज्ञासाविशेषं प्रस्तौति। क्रतवे यः स क्रत्वर्थः, पुरुषाय यः स पुरुषार्थः। जिज्ञासाशब्दोऽपि तत्र एव समधिगतः,—ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा—इति। तदेतत् प्रतिज्ञासूत्रम्,—क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा—इति ॥ (४।१।१ अ०) ॥

---

### अथ क्रत्वर्थपुरुषार्थलक्षणाधिकरणम् वर्णकान्तरद्वयसहितम् ॥

सू यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥ २ ॥

भा. अथ किंलक्षणः क्रत्वर्थः, किंलक्षणः पुरुषार्थः?—इति लक्षणं

---

* तत्र प्रमाणत्रयम् इत्यधिकः पाठः कं० सं० पु० ॥

भा. वाचकं, तथा हि लघीयसी प्रतिपत्तिः, पृष्ठाकोटेन* उपदेशे गरीयसी; तदुच्यते,—'यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य', (यस्मिन् कृते पदार्थे पुरुषस्य प्रीतिर्भवति) स पुरुषार्थः पदार्थः। कुतः?। 'तस्य लिप्सा' अर्थेन च भवति, न शास्त्रेण, क्रत्वर्थो हि शास्त्रात् अवगम्यते, न अन्यथा; अविभक्तो हि पुरुषार्थः प्रीत्या, यो यः प्रीतिसाधनः स पुरुषार्थः। पुरुषार्थे लक्षिते तद्विपरीत. क्रत्वर्थः—इति क्रत्वर्थस्य लक्षणं सिद्धम्†। (१म वर्णकम्) ॥

एवं वा सूत्रं वर्ण्यते,—दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—'अनति दृश्यं स्तृणाति अनतिदृश्यमेवैनं प्रजया पशुभिः करोति'—इति, तथा, आहार्यपुरीषां पशुकामस्य वेदिं कुर्यात्, वत्सजानुम् पशुकामस्य वेदिं कुर्यात्, गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्—इत्येवमादीनि। तत्र संशयः,—किम् एवञ्जातीयकाः क्रत्वर्थाः उत पुरुषार्थाः?—इति। किं प्राप्तम्?—क्रत्वर्थाः—इति। कुतः?। प्रत्यक्ष उपकारस्तेभ्यो दृश्यते क्रतोः, पुरीषहरणं वेदिस्तरणं च, तदुक्तं, (३।१।३ सू०)—'द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः'—इति। तस्मात् क्रत्वर्थाः—इत्येवं प्राप्तम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य' स पुरुषार्थ एव—इति, प्रीतिस्तेभ्यो निर्वर्तते, तस्मात् एते पुरुषार्थाः—इति। 'ननु प्रत्यक्षः उपकारः क्रतोर्दृश्यते—इत्युक्तम्'। उच्यते,—सत्यं दृश्यते, न तु क्रतोरुपकाराय एभ्यः प्रदीपितेभ्यः, फलेभ्य एते श्रूयन्ते, न च, य उपकरोति स शेषः, यस्तु यदर्थः श्रूयते, स तस्य शेषः—इत्युक्तं (३।१।२ सू०),—'शेषः परार्थत्वात्—इति। (२य वर्णकम्) ॥

एवं वा, द्रव्यार्जनम् उदाहरणम्, इह द्रव्यार्जनं तैस्तैर्नियमैः

* पृष्ठावोटेन इति पाठः क० सं० पु० ॥

† 'एतदुक्तं भवति, सर्वप्रार्थितसाध्याधीनानुष्ठानः पुरुषार्थस्तदुपकारार्थः क्रत्वर्थः' इति तन्त्ररत्नानुसारीयम् ॥

भा श्रूयते, ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहादिना, राजन्यस्य जयादिना वैश्यस्य कृष्यादिना। तत्र सन्देहः,—किं क्रत्वर्थो द्रव्यपरिग्रहः उत पुरुषार्थः?—इति। किं प्राप्तम्?—क्रत्वर्थो नियमात्, यद्येष पुरुषार्थः स्यात्, नियमोऽनर्थको भवेत्, प्रत्यक्षेण एतत् अवगम्यते,—नियमादनियमाच्चार्जितं द्रव्यं पुरुषं प्रीणयति—इति, तस्मात् क्रत्वर्थः, कामश्रुतिभिश्चास्य सहैकवाक्यता दृष्टा, इतरथा, अनुमेयेन फलवाक्येन सहैकवाक्यता यायात्। लिङ्गं चापि भवति—'अग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् यस्याहिताग्नेः सतोऽग्निर्गृहान् दहेत्, यस्य हिरण्यं नश्येदाग्नेयादीनि निर्वपेत्'—इत्येवमादि, तर्हि द्रव्योपघाते चोद्यते, यदि द्रव्यपरिग्रहः कर्मार्थः, ततः एतदपि सति सम्बन्धे कर्मार्थम्—इत्युच्यते, इतरथा असति सम्बन्धे कर्मार्थम्—इत्यनुमीयते, फलं च अस्य कल्प्येत। तस्मात् यजतिश्रुतिगृहीतं द्रव्यार्जनं येन विना यागो न निर्वर्त्तते, स यागस्य श्रुत्या परिगृहीतः—इति गम्यते। तस्मात् क्रत्वर्थः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पुरुषार्थः—इति। एतस्मिन् हृते पदार्थे प्रीतिः पुरुषस्य भवति, तस्मात् अस्य लिप्सा अर्थलक्षणा शरीरधारणार्था, यस्य शरीरं ध्रियते अतः तस्यास्ति द्रव्यं शरीरिणश्च यागः श्रूयते, तस्मात् विद्यमानद्रव्यस्य विनियोग उच्यते। न द्रव्यार्जनं श्रुतिगृहीतं विनापि हि द्रव्यार्जनवचनस्तेन शब्दस्य, यागो निर्वर्त्तत एव तस्मात् पुरुषार्थो द्रव्यपरिग्रहः।

अपि च, यदि शास्त्रात् कर्मार्थं द्रव्यार्जनं, तन्नान्यत्र विनियुज्येत तथार्जितम्, तत्र सर्वतन्त्रपरिलोपः स्यात्। अपि च, उपक्रान्तानि सर्वकर्माणि द्रव्यार्जनेन भवेयुः, तत्र एतन्नोपपद्यते, अपि वा एष *सुवर्गाल्लोकाच्छिद्यते, यो दर्शपूर्णमासयाजी

---

* स्वर्गादिति का॰ क्रो॰ पु॰ पाठः ॥

भा सन्नमावास्या वा पौर्णमासीं वा अतिपातयेत्'—इति, एवञ्च सति, प्रयोगकालाद्बहिरेतदङ्गं सदनुग्रहकारकं स्यात्। न च आधानवत् भवितुमर्हति, नच हि वचन,—'वसन्तेऽग्निमादधीत' —इति, न चैतत् अङ्गम्।

अथ यदुक्त—नियमवचनम् अनर्थकं, पुरुषार्थे द्रव्यपरिग्रहे सति—इति। उच्यते, नैतावता पुरुषार्थता व्यावर्त्तते, प्रत्यक्षा हि सा, त्वया च परोक्ष युक्तिबुद्धा व्यपदिश्यते, न च, परोक्ष प्रत्यक्षस्य बाधकं भवति, तस्मात् नियमवचनात् कामम्परम दृष्ट कल्प्येत, न तु दृष्टहानम्। तस्मात् यत् पुरुषस्य प्रयोजन प्रीति, तदर्थं धनस्य अर्जनम्,—इत्येव च सति, व्रीहिणा याग कर्त्तव्य, प्रीत्यर्थमर्जितेन वा क्रत्वर्थमर्जितेन वा, न अत्र कश्चित् विशेष, प्रीत्यर्थम् उपार्जितोऽपि व्रीहि, व्रीहिरेव कर्मार्थम् उपार्जितोऽपि व्रीहि, व्रीहिरेव। तस्मात् न प्रयोग चोदनागृहीत द्रव्यार्जनम्।

अथ यदुक्तम्—अनुमेयेनाम्नातेन वा शब्देन युष्मत्पक्षे नियमस्य एकवाक्यता, अस्मत्पक्षे तु दृष्टेन प्रयोगवचनेन—इति। नैष दोष अस्मत्पक्षेऽपि दृष्टेन भुजिना, न फलवचनेन। 'कथ तर्हि ?—नियमाददृष्ट भवति—इति गम्यते'। यथैव भवदीये पक्षे। 'आह अस्मत्पक्षे फलवत एकवाक्यभावात् फलवत उपकरोति—इति गम्यते। उच्यते, अस्मत्पक्षेऽपि फलवत एकवाक्यभाव, एतावास्तु विशेष,—तव श्रुत फल, मम तु दृष्टम्—इति।

अथ यत् लिङ्गम् उक्त,—गृहदाहादिषु कर्म श्रूयते—इति। तत्र उच्यते, यद्यपि न क्रत्वर्थं द्रव्यार्जन, तथापि दाहे निमित्ते फलाय वा कर्माङ्गभावाय वा क्षामवत्यादीनां विधानम् उपपद्यत एव। तस्मात् पुरुषार्थं द्रव्यार्जनं, प्रीत्या हि तद्विभक्तम् —इति॥ (३ य वर्णकम्)॥ (४।१।२ अ०)॥

प्रजापतिव्रतानां पुरुषार्थताधिकरणम् ॥

सू. तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय, शास्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वान्नच द्रव्यं विकीर्ष्यते तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥ ३ ॥

भा. इह प्रजापतिव्रतानि उदाहरणम्,—'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत नास्तंयन्तम्'—इत्यादीनि। तत्र सन्देहः,—किं क्रत्वर्थानि प्रजापतिव्रतानि उत पुरुषार्थानि?—इति। किं प्राप्तम्?—क्रत्वर्थानि—इति। कुतः?। एवं हि, फलं न कल्पयितव्यं भविष्यति—इति। ननु श्रूयते एवैतेषां फलम्,—'एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति'—इति। उच्यते,—नैतत् फलपरं वचनं, वर्त्तमानापदेश एवैष शब्दः—इति, तेन यथादित्य ईक्षितव्यः प्राप्तः, तथायं प्रतिषेधः उद्यतोऽस्तंयतश्च नियमो वा स्यात् कश्चित् कर्माङ्गभूतः।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तदुत्सर्गे (प्रीत्युत्सर्गेऽपि) कर्माणि पुरुषार्थाय भवेयुः, एवञ्जातीयकानि; कर्त्तुरेतानि उपदिश्यन्ते, न कर्मणः। अर्थप्राप्तेन कर्त्ता सम्बन्धो यः, स विधिस्थितः, न कर्मसम्बन्धोऽविद्यमान एव। शास्त्रं च अनतिशङ्क्यं पितृमातृवचनादपि प्रमाणतरं, स्वयं हि तेन प्रत्येति, इन्द्रियस्थानीयं हि तत्, न चैवमादिभिर्द्रव्यस्य कश्चित् दृष्ट उपकारः साध्यते। तस्मात् तेन पुरुषार्थेन अभिसंयोगात् क्रियायाम् एवञ्जातीयकायां पुरुषः श्रूयते।

अपि च, पुरुषप्रयत्नः पदार्थविधिमात्रं लक्षयितुम् उच्यते, स्वयम् अविवक्षितः स्यात्।

अथ यदुक्तं,—यथादित्यस्येक्षणं प्राप्तं, तथोद्यतोऽस्तंयतश्च प्रतिषेधः—इति, सत्यं प्रतिषेधो न्याय्यः, तथा श्रुतिः अनुगच्छेत,

भा इतरथा नियमो लक्ष्येत—इति, किन्तु इह नियम शब्देन श्रूयते —तस्य व्रतम्—इति, तेन नियम एव,—नोद्यन् आदित्य इचितव्य —इति। अपि च 'एतावता हेनसा अयुक्तो भवति' —इति पुरुषसम्बद्धो दोष कीर्त्यते, न कर्मसम्बद्ध । तस्मात् पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि—इति। गोलक्षणान्यप्येवमेव कर्तरोकर्थं कर्तव्या —इत्येवमादीनि ॥

सू अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुतिफलानि स्यु ॥ ४ ॥
(आ० ) ॥

भा उच्यते —यद्येवम् —इमान्यपि पुरुषार्थानि स्यु —'समिधो यजति तनूनपात यजति नानृत वदेत्'—इत्येवमादीनि। यत्रापि पुरुषप्रयत्नसङ्कीर्तनम् यत्रापि न द्रव्य चिकीर्ष्यते— इति ॥

सू अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थस्यानभि सम्बन्धात ॥ ५ ॥ (नि० ) ॥

भा अपि वा नैतदस्ति — समिदादीन्यपि पुरुषार्थानि माभुवन्नि —इति कारणाग्रहणे पुरुषार्थानि प्रजापतिव्रतानि भवेयु न तत्र गुरुत्वादिक किञ्चित् कारण गृह्यते येन कर्मणाम् अङ्ग भूतानि—इति गम्यते तस्मात् तानि पुरुषार्थानि। अर्थस्य (कर्मण ) न अभिसम्बन्ध प्रजापतिव्रतै, इह तु समिदादीना प्रकरण नाम कारण गृह्यते येन कर्मार्थानि—इति विज्ञायन्ते। तस्मात् विषम उपन्यास , पुरुषप्रयत्नश्रव सति अनुवाद ॥

सू तथा च लोकभूतेषु ॥ ६ ॥ (यु० ) ॥

भा लोकेऽपि नित्यप्रकार्यादिषु प्रयोजनवत्सु यत् असंयुक्त फलेन श्रूयते, तत् तदङ्ग विज्ञायते—इति मन्यमाना उपवास जपं वा

भा. उपदिश्य एव क्रतिनो मन्यन्ते, न ब्रुवते,—इदमस्य प्रयोजनवतोऽङ्गम्—इति, तथा च अपरेऽपि मन्यमाना न दुरुक्तं मन्यन्ते। तस्मात् समिदादीनि कर्माङ्गानि, न प्रजापतिव्रतानि—इति सिद्धम्॥ (४।१।३ अ०)॥

---

यज्ञायुधानामनुवादताधिकरणम्॥

सू. द्रव्याणि त्वविशेषेणानर्थक्यात् प्रदीयेरन्॥ ७॥ (पू०)॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्राम्नायते,—'स्फ्यश्च कपालानि च अग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि'—इति। तत्र संशयः,—किम् एतानि द्रव्याणि प्रदातव्यानि उत स्वेन स्वेनार्थेन सम्बन्धनीयानि?। तदेतत् सिद्ध्यर्थम् इदं चिन्तनीयम्,—किम् एष विधिः उत अनुवादः?—इति। विधौ सति प्रदानमनुवादे सति यथार्थसम्बन्धः। किं प्राप्तम्?—विधिः—इति, तथा हि प्रवृत्तौ विशेषः, इतरथा वादमात्रम् अनर्थकम्। प्रदाने च एषां यज्ञायुधशब्दोऽनुगृहीतः,—यज्ञस्य आयुधानि,—यज्ञस्य साधनानि—इति, इतरथा उद्धननादीनामायुधानि भवेयुः श्रवणेन, लक्षणया यज्ञस्य, संख्या च एवम् अवकल्पते,—यागेनैकेन सम्बन्धात्, इतरथा नानार्थसम्बन्धात् दशेतिसंख्या न अवकल्पते। तस्मात् प्रदीयेरन्, अविशेषेण विहितं प्रकरणेन प्रधानस्य भवितुमर्हति॥

सू. स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्, तस्मात् यथाश्रुति स्युः॥ ८॥ (सि०)॥

भा. न चैतदस्ति विधिः,—प्रदेयानि—इति, अनुवादः, प्राप्त-

भा त्वात्,— स्फ्येनोद्धन्ति कपालेषु अपयत्यग्निहोत्रहवन्यां निर्वपति शूर्पेण विविनक्ति कृष्णाजिनमुलूखलस्य अधस्तादवस्तृणाति, शम्यायां दृषदमुपदधाति प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्याम् अवहन्ति प्रोक्षिताभ्यां दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि—इत्येवं स्वेन स्वेन वाक्येनोद्धननादिषु प्राप्नुवन्ति, प्राप्तानां वचनम् अनुवादः। प्रकरणमपि वाक्येन बाध्यते, यज्ञायुधशब्दश्च अनुवाद पक्षे न्याय्यः न विधिपक्षे गौणो हि स यज्ञायुधशब्दः स्फ्यादिषु तत्रापि पाठाभिप्राया भविष्यति विस्पष्टं च एतत् उद्धना दिभिः स्फ्यादीनि प्रयुक्तानि—इति, भवति हि तत्र विधिः,— 'स्फ्येनोद्धन्ति—इत्येवमादि' न तु यज्ञायुधानि कर्त्तव्यानीति। तस्मात् उद्धननादिषु वाक्येन प्राप्तानामनुवादः—इति॥

सू चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥ ९ ॥ (यु० १)॥

भा अर्थकर्मसु चोद्यन्ते पुरोडाशादीनि तान्यपि विकल्पेरन्, तत्र पक्षे बाधो न समुच्चयः। पुरोडाशादीनां निर्देशात् यजिसम्बन्धात् स्फ्यादीनां च। एवं वा, 'चोद्यन्ते चार्थकर्मसु, चोद्यन्ते परिधानीये कर्मणि—'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च—इति यदि प्रदीयेरन् तत्र न भवेयुः तस्मात् अपि न प्रदातव्यानि—इति॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १० ॥ (यु० २)॥

भा लिङ्गदर्शनेन च— चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो ह्रियन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम्—इति। तस्मादप्यनुवादः—इति॥ (४।१।४ अ०)॥

———

पञ्चेकत्वादेर्विवक्षाधिकरणम् ॥ (पञ्चेकत्वन्यायः) ॥

सू तच्चैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयो,—'यो दीक्षितो, यत् अग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति, तथा, 'अनड्वाहौ युनक्ति' —इति, तथा, अश्वमेधे, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'—इति। तत्र सन्देहः,—किं विवक्षितम्, एकत्वं द्वित्वं बहुत्वं च, उत अविवक्षितम्?—इति। तत्र एकत्वमयज्ञाङ्गभूतं न विवक्षितम्, —इत्यर्थः, 'अर्थस्य गुणभूतत्वात्', न आलम्भस्य गुणभूता संख्या नियोजनस्य वा। कस्य तर्हि?। पशोः अनडुहोः कपिञ्जलानां च, विभक्तिर्हि श्रुत्या प्रातिपदिकार्थगतं संख्यार्थं ब्रूते, वाक्येन सा यज्ञाङ्गं ब्रूयात्, वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसी। तस्मात् न यज्ञाङ्गं विवक्षितम्—इति।

'आह, मा भूत् यज्ञाङ्गम्, पश्वादीनामङ्गम् विवक्षितं तथा भवति'। उच्यते, न, पश्वादीनामङ्गेन उक्तेन अनुक्तेन वा किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, यज्ञाङ्गेन हि अविपन्नेन प्रयोजनम्, विपन्नेऽपि हि पश्वाद्यङ्गेऽविगुण एव क्रतुर्भवति, यज्ञाच्च फलं न पश्वादेः। तस्मात् पश्वादेर्गुणेन अज्ञातेन ज्ञातेन वा न किञ्चित् प्रयोजनमस्ति—इति, न तत् विवक्षितम्, यत् हि प्रयोजनवत् तत् विवक्षितम्—इत्युच्यते ॥

सू एकश्रुतित्वाच्च ॥ १२ ॥ (यु०) ॥

भा भवति च किञ्चित् वचनं, येन विज्ञायते,—न तत् विवक्षितम् —इति, 'यदि सोममपहरेयुरेकां गां दक्षिणां दद्यात्'—इति, यदि हि विवक्षितं भवेत्, न एकामिति ब्रूयात्, गामित्येकवचनस्य विवक्षितत्वात्, तथा, 'अवी द्वे धेनू द्वे'—इत्यत्रापि द्वे—इति वचनं ज्ञापकम्, अविवक्षितम् अवी—इति द्वित्वम्—

भा इति। 'त्रीन् ललामान्'—इत्यत्रापि त्रीनितिवचनं लिङ्गम्, ललामानितिबहुवचनम् अविवक्षितम्—इति ॥

सू प्रतीयते इति चेत् ॥ १३ ॥ (आ०) ॥

भा एवं चेत् पश्यसि,—अविवक्षिता संख्या—इति, तत् न, प्रतीयते हि संख्या आख्यातवचनस्य अङ्गभूता, यथा 'पशुमानय'—इत्युक्ते, एक एवानीयते, पशू—इति, द्वौ, पशून्—इति बहव आनीयन्ते, यश्च प्रतीयते स शब्दार्थः, तस्मात् पशुस्याङ्गभूता संख्या—इति शब्दात् गम्यते, न च शब्दात् गम्यमानम् ऋते कारणात्, अविवक्षितं भवति ॥

सू नाशब्दं तत्प्रमाणत्वात् पूर्ववत् ॥ १४ ॥ (आ० नि०)॥

भा नैतदेवं, सत्यं प्रतीयते, न तु अयं शब्दार्थः आमोक्षादेषा प्रतीतिः। कुतः एतत्[1]। वाक्याद्धि यज्ञाङ्गम्—इत्यवगम्यते, वाक्यं च श्रुत्या बाध्यते, तस्मात् अशब्दार्थोऽयं यज्ञे एकत्वादीति। अशब्दार्थोऽपि हि प्रतीयते, यथा, पूर्वो धावति—इति, स पूर्वं इत्युच्यते, यस्य अपरोऽस्ति, तेन 'पूर्वः' इत्युक्ते, अपरो गम्यते, न तु, अपरो, 'धावति'—इति श्रवणात् प्रतीयते, एवम् इहापि पशुन्—इत्येकत्वं गम्यते, न तु यज्ञे, यथैव हि पूर्वम्—इत्युक्तेऽपरो गम्यते एव केवलं, न तु स विधीयते कस्मिंश्चिदर्थे, एवम् इहापि संख्या प्रतीयते एव केवलं, न तु कार्यतया यज्ञे विधीयते न यशौ।

'कथं न पशौ विधीयते'[2]—इति चेत्। विधायकस्याभावात्। 'आख्यातशब्दो विधायको भविष्यति'—इत्येतदपि नोपपद्यते, —द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य स विधायकः सन् आलभते—इति न संख्यासंख्येयसम्बन्धं विधातुमर्हति—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् अविवक्षिता संख्या—इति ॥

सू· शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तत् दृश्यते तस्य ज्ञानं यथान्येषाम् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा· तुशब्दः पचं व्यावर्त्तयतिः, नतत् अस्ति,—न यज्ञे संख्या शब्देन श्रूयते—इति, आख्यातवाचेर हि अर्थे उपलभ्यते, लोके पशुमानय—इत्येकवचने सति एकत्वपशुविशिष्टमानयनं प्रतीयते, पशू आनयेति द्वित्वविशिष्टं गम्यते, तत्र हि एकत्वमपैति, द्वित्वमुपजायते ; यस्य चागमे यत् उपजायते, स तस्य अर्थः—इति गम्यते, 'तस्य ज्ञानं, यथान्येषां' शब्दानाम्,—अश्वमानयेति उक्ते अश्वानयनं प्रतीयते, गामानय—इति गवानयनं, तत्र अश्वोऽपैति गौश्चोपजायते, तेन ज्ञायते,—अश्वशब्दस्य अश्वोऽर्थो गोशब्दस्य गौः—इति।

'यदुक्तं,—श्रुत्या वाक्यार्थो बाध्यते'—इति, उच्यते, न श्रुतिदृष्टे,—वाक्यार्थो नास्ति—इति, केवलं तु प्रातिपदिकार्थगतां संख्यामाह, तादृशी संख्या वाक्येन यज्ञे विधीयते, प्रातिपदिकार्थो हि आख्यातवाचिना सम्बध्यते, विभक्त्यर्थोऽपि, तथाहि तद्विशेषणविशिष्ट आलम्भो गम्यते, तत्र एकार्थत्वात् एकवाक्यम् अपकल्पते। पश्रौ हि संख्यायां विधीयमानायामेक आख्यातशब्दो न शक्नुयात्,—आख्यातार्थं विधातुम्, संख्यासंखेयसम्बन्धं च। तस्मात् यज्ञे विवक्षिता संख्या—इति॥

सू· तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥ १६ ॥ (यु० १)॥

भा· किम्?—इति। 'कर्णा याम्या अवलिप्ता रौद्रा, नभोरूपाः पार्जन्याः, तेषाम् ऐन्द्राग्नो दशमः'—इति, यदि त्रित्वं विवक्षितं तदा ऐन्द्राग्नो दशमो भवति। तथा 'कृष्णा भौमाः, धूम्रा आन्तरिक्षाः, बृहन्तो दिव्याः, शबला वैद्युताः, सिध्मास्तारकाः' —इति प्रकृत्य आह,—'अर्द्धमासानां वा एतत् रूपं यत् पञ्च-

भा दर्शिनः'—इति। तस्मात् अपि पश्यामो,—विवक्षिता संख्या —इति। यत्तु उक्तम्,—'एका गाम्'—इत्यविवक्षां दर्शयति —इति। अत्र उच्यते, गोसंख्यासम्बन्धं विधातुम्, एतत् उच्यते, इतरथा हि, गोदक्षिणासम्बन्धो विहितो गम्येत। तस्मात् विवक्षितेऽपि वाच्यमेतत्। अथो द्वे धेनू द्वे चीनलला मान्—इति च अनुवादाः॥ (४।१।५ अ०)॥

---

पूर्वाधिकरणाद्यः लिङ्गस्य विवक्षितत्वाधिकरणम्॥

सू तथा च लिङ्गम्॥ १७॥ (यु० २)॥

भा एवं च सत्या समानश्रुतिकं लिङ्गमपि विवक्षितं भविष्यति, तथ इदं दर्शनम् उपपद्यते,—'वसन्ते प्रातराग्नेयीं कृष्णग्रीवामा लभते, ग्रीष्मे माध्यन्दिने संहितामैन्द्रीं शरदि अपराह्ने श्वेतां बार्हस्पत्याम्'—इति। तत्र श्रूयते,—'गर्भिण्यो भवन्ति'— इति, गर्भः स्त्रीणां गुणः, तेन स्त्रियो दर्शयति—इति भविष्यति। तथा 'ऋषभ ऋषभो दक्षिणस्तः मुष्करः—इति ते प्राजापत्याः' —इति। तत्र श्रूयते,—'मुष्करा भवन्ति सेन्द्रियत्वाय'—इति, मुष्करत्वं पुंसां गुणः, तेन पुंस्त्वं दर्शयति—इति।

अधिकरणान्तरं वा,—तथा च लिङ्गम्—इति, संख्याधिकरणे लिङ्गाधिकरणेऽतिदिश्यते। लिङ्गम् अविवक्षितं, श्रुत्या वाक्यस्य बाधितत्वात्, न च, विवक्षितमिव श्रूयते—इति, भवति लिङ्गं, 'स्त्री गौः सोमक्रयणी'—इति, स्त्रीवचनात् सोमक्रयणी—इत्य· विवक्षितमेव लिङ्गं प्रतीयते। 'ननु कथं मृगीमानय—इति न मृग आनीयते?'। नैवम्, अमन्दन्तु तत्, पूर्वा धावति— इति यथा।

लिङ्गं विवक्षितं वा वाक्यार्थस्य श्रुत्याप्रतिसिद्धत्वात्, 'तथा च लिङ्गं' 'गर्भिण्यो भवन्ति'—इति, तथा च 'मुष्करा भवन्ति'

भा —इति। यदुक्तं,—'स्त्री गौः सोमक्रयणी'—इति, तत्र स्त्रीत्व-विवक्षितं, तथा 'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'—इति पुरुषग्रहणम् अविवक्षितं, विस्पष्टो हि न्याय उक्तो लिङ्गविवक्षायां। तस्मात् विवक्षितं लिङ्गम्—इति॥ (४।१।६ अ०)॥

---

आश्रयिणामदृष्टार्थताधिकरणम्॥

सू अश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत॥ १८॥ (नि०)॥

भा अत्राश्रयिणः* पदार्था उदाहरणम् (उत्तमः प्रयाजः पशु-पुरोडाशः स्विष्टकृत्—इत्येते यागा उदाहरणम्)। एषु सन्देहः,—किं यजिमात्र संस्कारो देवतायाः, उत यजिना अदृष्ट देवतायां क्रियते?—इति। किं प्राप्तम्?—'आश्रयिषु अविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयते'—इत्याश्रयिषु एवञ्जातीयकेषु अपूर्वस्य भावोऽर्थः प्रत्येतव्योऽविशेषात् अन्यैराख्यातशब्दैः,—यजति ददाति जुहोति—इति, उक्तमेतत् 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' (२।१।४ सू० भा०)—इति॥

सू चोदनायान्त्वनारम्भो विभक्तत्वान्नह्यन्येन विधीयते॥ १९॥ (आ०)॥

भा अत्यान्तु चोदनायाम् अनारम्भोऽपूर्वस्य, विभक्तोऽयमाख्यात-शब्दो,—यो दृष्टार्थः, ततो न अपूर्वं, यः खल्वदृष्टार्थः, ततोऽपूर्वम्—इति, दृष्टार्थश्चायम्, अस्मिन् हि यागे क्रियमाणे देवता

---

* एकदेशेन अन्यदीयं द्रव्यं देवतामुभय वा आश्रयन्ति संस्कुवन्ति ये पदार्थास्ते आश्रयिण इति तत्त्वरत्नम्॥

भा स्मर्यते, स्विष्टकृत्यपि* द्रव्यं प्रतिपाद्यते, न च अन्येन शब्देन अत्र अपूर्वं विधीयते। तस्मात् यजिमाच सत्कारः—इति॥

सू स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतताऽऽश्रयाद्धि गुणीभावः॥ २०॥ (सि०)॥

भा स्यात् वा अपूर्वमतः, सत्यामपि देवताचिकीर्षायां, तस्मिन् देवतासंस्कारार्थे गुणभूतता यागस्य, द्रव्यप्रतिपादने च, सर्वत्र तत्र देवता स्मर्यते, तस्मिन् सर्वेण दृष्टेऽर्थे क्रियमाणे त्यागो ऽपरोऽदृष्टार्थः श्रूयते, तस्य न किञ्चित् दृष्टमस्ति, देवताश्रयात्तु देवतागतं तत् अपूर्वम्—इति गम्यते॥ (४।१।७ अ०)॥

---

प्रतिज्ञाधिकरणम्॥

सू अर्थे समवैषम्यतो द्रव्यकर्म्मणाम्† ॥ २१ ॥

भा अतिक्रान्तः तृतीयविषयः, अतः प्रभृति द्रव्याणां कर्मणां च 'अर्थे' (प्रयोजने) समवैषम्यं वक्ष्यते,—क्वचित् साम्यं, क्वचित् वैषम्यम् आमिक्षावाजिनयोर्वैषम्यं, कायमासूना वैषम्यं, दण्डस्य मैत्रावरुणधारणे यजमानधारणे च साम्यम्, एवं तत्र तत्र द्रष्टव्यं, साम्यं वैषम्यं च—इति॥ (४।१।८ अ०)॥

---

* 'स्विष्टकृदपि' इति क० स० पु० पाठः। 'स्विष्टकृत्यापि' इति का० को० पु० पाठः॥

† द्रव्यकर्मणां दण्डदध्यानयनादीनामर्थे प्रयोजने साम्यम् उभयप्रयुक्तिः, वैषम्यमेकेन प्रयुक्तिरितरेण नेति अतः परं वक्ष्यते इत्यर्थः इति तत्त्वरत्नम्॥

तप्ते पयसि दध्यानयनस्यामिक्षाप्रयुक्तताधिकरणम् ॥
(वाजिनन्यायः) ॥

सू. एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे श्रूयते,—'तप्ते पयसि दध्यानयति, सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं तप्ते पयसि दध्यानयनम् आमिक्षा प्रयोजयति, न वाजिनम्, उत उभयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—उभयम्—इति। कुतः?। यस्मिन् कृते, यत् निष्पद्यते प्रयोजनवत्, तत् तस्य प्रयोजकम् —इति गम्यते, दध्यानयने च कृते उभयं निष्पद्यते; आमिक्षापि, तत एव वाजिनम् अपि, तत्र अन्यतरार्थं क्रियेत, यदि विनिगमनायां हेतुर्भवेत्, अगम्यमाने विशेषे उभयार्थमानयनम् —इति गम्यते। तस्मात् एका असौ उभाभ्यामपि प्रयोजिता निष्पत्तिः—इति ॥

सू. संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥ २३ ॥
(सि०) ॥

भा. नैतदस्ति,—उभयं प्रयोजकम्—इति, आमिक्षा प्रयोक्त्री। कुतः?। न अत्र यद्दधिपयोभ्यां निर्वर्त्यते, तद्धविः, यदि तद्धविः स्यात्, उभयं ताभ्यामेव निष्पद्यते—इति गम्येत विशेषः। किं तर्हि हविः?—इति। पयो दधिसंसृष्टं। कुतः एतत्?। सा वैश्वदेवी—इत्युच्यते, न ततो यत् निष्पद्यते—इति।

'ननु स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्, आमिक्षा हविः, सा च ततो निष्पद्यते, वाजिनस्य हविः, तदपि निष्पद्यते'—इति। न,—इत्युच्यते,—तदेव हि पयः तप्तं दधिसंयुक्तम्, आमिक्षा भवति। तस्मात् स्त्रीलिङ्गम् अदोषः। 'आह,—यदि पयो दधिसंसृष्टं हविः, किं तर्हि उच्यते, आमिक्षा प्रयोजिका?'—इति। उच्यते,

भा.—आमिक्षायां दधिपयसी विद्येते, न वाजिने। कथम् अवगम्यते?। संसर्गरसनिष्पत्तेः, तत्र हि दधिपयसोः संसृष्टयोः रस उपलभ्यते, तेन तत्र दधिपयसी—इत्यनुमानं भवति, वाजिने तिक्तकटुको रसः।

'आह, तप्ते पयसि दधनि आनीयमाने उभयं भवति, दध्ना च पयः संसृज्यते वाजिनाच्च विविच्यते, तत्र संसर्गश्चिकीर्षितो न विवेकः—इति, कुतः एतत्?'। उच्यते,—शाब्दः संसर्गो दध्ना, अशाब्दो वाजिनेन विवेकः पयसः—इति, सर्वनाम च पूर्वोक्तेन शब्देन एकवाक्यतां याति, इतरस्मिन्पक्षे पयसि दध्यानयनं वाजिनविवेकलक्षणार्थं स्यात्, श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या। तस्मात् आमिक्षार्थं दध्यानयनम्, आमिक्षाशब्दस्य अत्र अनुवादः, आमिक्षैव वा भवति, यत्र तप्ते पयसि दध्यानीयते। तस्मात् आमिक्षा प्रयोक्त्री, वाजिनम् अप्रयोजकम्—इति॥

सू मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च॥ २४॥ (हे०)॥

भा न च, उभयं प्रयोजकं न्याय्यं, न अत्र वचनमस्ति,—इदं प्रयोजकम् इदं न—इति, असति प्रयोजकेऽनर्थकं भवति—इति प्रयोजकं कल्प्यते। तत्र एकस्मिन् अपि प्रयोजके सिद्धेऽर्थवति उपदेशे न अन्यदपि प्रयोजकं भवितुमर्हति, न च, न गम्यते विशेषः। कथं गम्यते?। मुख्यशब्दाभिसंस्तवात्, मुख्यशब्दः संस्तोतुम् न्याय्यः—इति, प्राथम्यात्तु तस्य तावत् प्रयोजकत्वज्ञानं, तस्मिन् सति प्रयोजके, परिहृतत्वात् आनर्थक्यस्य, न द्वितीयमपि प्रयोजकं, प्रथमा च आमिक्षा, द्वितीयं वाजिनम्, तस्मात् आमिक्षा प्रयोक्त्री।

अपि च मुख्यशब्देन च, आमिक्षा स्तूयते,—'मिथुनं वै दधि च शृतं च अथ यत् संसृष्टं मण्डमिव मस्त्विव परि च ददृशे

भा. गर्भ एव सः?—इति, गर्भस्तुता आमिक्षा, मिथुनस्य च गर्भः प्रयोजको, न गर्भोदकम्। तस्मादपि आमिक्षा प्रयोजिका—इति मन्यामहे। किं भवति प्रयोजनम्?। यदि उभयं प्रयोजकं, वाजिने नष्टे, पुनस्तप्ते पयसि दधि आनेतव्यम्, अथ वाजिनम् अप्रयोजकं, नष्टे वाजिने लोपो दध्यानयनस्य॥ (४। १। ८ अ०)॥

---

गवानयनस्य पदकर्माप्रयुक्तताधिकरणम्॥

सू पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात्॥ २५॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति'—इति। तत्र इदमपरं श्रूयते,—'षट्पदान्यनुनिष्क्रामति,*—इति, तथा, 'सप्तमं पदं गृह्णाति'—इति। इदमपरं,—'यर्हि हविर्धाने प्राची प्रवर्त्तयेयुः तर्हि तेनाक्षमुपाञ्ज्यात्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सोमक्रयण्यानयनं पदपांस्वर्थम्, उत क्रयप्रयुक्तम्?—इति। किं प्राप्तम्?—नयनात् उभयं निष्पद्यते,—क्रयः पदं च, तस्मात् उभयं प्रयोजकम्। न हि गम्यते विशेषः—इति, तत् उक्तम्, "एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्" (४। १। २२ सू०)—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'पदकर्म अप्रयोजकम्'—इति। कुतः?। यस्मात् नयनं क्रयार्थं, न हि, नयनमन्तरेण विशिष्टे देशे क्रय उपपद्यते, तस्मात् क्रयेण तावत् नयनं प्रयुक्तम्—इति गम्यते, क्रयप्रयुक्तं चेत्, न पदप्रयुक्तम् अपि भवितुमर्हति।

अपि च, 'एकहायन्याः पदपांसवो ग्रहीतव्याः'—इति नास्ति शब्दः। 'ननु प्रकृतैकहायनी पदपांसुग्रहणवाक्येन

* निष्क्रामयतीति आ० सो० पु० पाठः॥

भा. सम्भंत्स्यते'। न—इति ब्रूमः,—'एकहायन्या क्रीणाति'—इति विशिष्टेन वाक्येन क्रये उपदिष्टा एकहायनी प्रज्ञातत्वात् पदपांसुवाक्येन सम्बध्यते, प्रकरणाच्च वाक्यं बलीयः। अथ इदानीम्, एकहायनी क्रयणार्थं सङ्कीर्त्तिता सती सन्निहितत्वात् प्रसङ्गम् उपजीवता पदपांसुवाक्येन सम्बध्येत,—यासौ परार्था, एतस्याः पदं ग्राह्यम्—इति। तस्मात् क्रयप्रयुक्तं नयनम्, अप्रयोजकं पदम्—इति।

किं पुनः, चिन्तायाः प्रयोजनं ?। यदि उभयम् एकहायनीनयनस्य प्रयोजकं, यदा एकहायन्याः सप्तमं पदं ग्रावणि निधीयते, तदा पुनः एकहायनी नीयेत सप्तमाय पदाय, यदा पदं न प्रयोजकं, तदा न एकहायनी पुनः षट्पदान्यनुनिष्क्रामयितव्या—इति॥ (४।१।८ अ०)॥

---

कपालानां तुषोपवापाप्रयुक्तताधिकरणम्॥

## ६ अर्थाभिधानकर्म्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते॥ २६॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'कपालेषु पुरोडाशं श्रपयति'—इति, तथा, 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् उभयं कपालानि प्रयोजयति,—पुरोडाशश्रपणं तुषोपवापश्च, उत श्रपणं प्रयोजकं, न तुषोपवापः?—इति। किं प्राप्तम्?—विनिगमनाया हेतोः अभावात् उभयम्।

इति प्राप्ते उच्यते,—अर्थाभिधानं प्रयोजनसम्बद्धमभिधानं यस्य, यथा पुरोडाशकपालम्—इति, पुरोडाशार्थं कपालं पुरोडाशकपालम्। कथम् एतदवगम्यते?। पुरोडाशः तावत् तस्मिन् काले नास्ति, येन वर्त्तमानः सम्बन्धः कपालेन स्यात्, तेनैव हेतुना न भूतः, स एष कपालस्य पुरोडाशेन भविष्यता

भा. सम्बन्धः, भविष्यता सम्बन्धश्च तन्निमित्तस्य भवति। तस्मात् पुरोडाशेन प्रयुक्तं यत् कपालं, तेन तुषा उपवप्तव्याः—इति। एवं च सति चरौ पुरोडाशाभावे यदा तुषानुपवप्तुम् कपालम् उपादीयते, न तत् पुरोडाशकपालं स्यात्, न चेत्, न तेन तुषा उपवप्तव्या भवन्ति। तस्मात् न तुषोपवापः कपालानाम् प्रयोजकः, प्रयोजकं तु श्रपणम्—इति ॥ (४।१।१० अ०) ॥

---

शकृल्लोहितयोः पश्वप्रयोजकत्वाधिकरणम् ॥

सू पश्वावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्म्मत्वम् ॥ २७ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः, तत्र श्रूयते,—'हृदयस्य अग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वायाः'—इत्येवमादि, तथा, 'लोहितं निरस्यति, शकृत्संप्रविध्यति, स्थविमतो बर्हिरक्त्वापास्यति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं हृदयादिभिरवदानैः इज्या पशोः प्रयोक्त्री, उत शकृत्संप्रव्याधो लोहितनिरसनं च तदपि प्रयोजकम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्', (४।१।२२ सू०) उभयं प्रयोजकम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पशौ शकृल्लोहितयोः अप्रयोजकत्वं, न हि, तदर्थः पशोरालम्भः, शकृत्संप्रविध्यति लोहितमपास्यति—इति उच्यते, न पशोः अन्यस्य वा—इति, पशुरग्नीषोमीयो वाक्येन,—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति, शकृल्लोहिते पशोः प्रकरणेन भवेतां, प्रकरणं च वाक्येन बाध्यते। 'ननु एते शकृल्लोहिते प्रतिपाद्येते, तेन यागार्थस्य पशोः न अन्यस्य—इति निश्चयः'। एवं चेत्, अप्रयोजके शकृल्लोहिते—इति। किं भवति प्रयोजनं?। साम्ये सति शकृल्लोहिताभावेऽन्यः पशुरालम्भनीयः, शकृल्लोहितयोरप्रयोजकत्वे लोपः॥ (४।१।११ अ०) ॥

पुरोडाशस्य स्विष्टकृदप्रयोजकताधिकरणम् ॥

सू० एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा० दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृते समवद्यति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं पुरोडाशस्य आग्नेययागः प्रयोजकः, स्विष्टकृत् अप्रयोजकः* उत उभयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—"एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्"—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—एकदेशद्रव्यस्य एवञ्जातीयकोऽप्रयोजको भवेत्। कुतः?। 'विद्यमानसंयोगात्', न, एकदेशकर्म अवयविनं प्रयुङ्क्ते, विद्यमानस्य अवयविनः एकदेश उपादातव्यः—इति, तत्र अर्थो भवति, न अवयविनम् उपाददीत—इति, यथेक्षुखण्डम् अस्मै प्रयच्छ, मोदकशकलम् अस्मै प्रयच्छेति, न इक्षुम् उपाददीत—इति गम्यते, सत इक्षोः खण्डम् उपाददीत, सतो मोदकाच्छकलम् उपाददीत—इति। तस्मात् अन्यार्थं द्रव्यं तस्य उत्तरार्द्धात् अवदेयम्, अस्ति चाग्नेयः पुरोडाशः। तस्मात् स्विष्टकृत् अप्रयोजकः—इति ॥

सू० निर्द्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा० इति चेत् पश्यसि,—अप्रयोजकः पुरोडाशस्य स्विष्टकृत्—इति, नैतदेवम्, अग्निं प्रति निर्द्देशात् 'तस्य' (पुरोडाशस्य) स्विष्टकृदर्थम् अन्यः पुरोडाश उत्पादयितव्यः, यस्य उत्तरार्द्धात् स्विष्टकृदिज्यते, तस्य अग्नये सङ्कल्पितस्य नेष्टे यजमानः, कथम् असौ तदन्यस्यै देवतायै दद्यात्। कथम् अग्निं प्रतिनिर्द्देशः?—इति। इदं श्रूयते,—अङ्गिरसो वा इत उत्तमाः सुवर्गं लोक-

---

* स्विष्टकृदिज्या अप्रयोजिका इति क० सं० पु० पाठः ॥

भा. मायंस्ते यज्ञवास्त्वभ्यायंस्ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पं तमपश्यं-स्तमब्रुवन् इन्द्राय ध्रियस्व बृहस्पतये ध्रियस्व आदित्याय* ध्रियस्व स नाध्रियत तमब्रुवन् अग्नये ध्रियस्वेति सोऽध्रियत यदा-ग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति'—इति। तस्मात् तेन स्विष्टकृतो न सम्बन्धः, एवं चेत् तस्मात् अन्यत् द्रव्यम् अर्थात् उत्पादयितव्यं, न हि अनुत्पन्नस्य द्रव्यस्य उत्तरार्द्धा† भवति—इति॥

सू. न शेषसन्निधानात् ॥ ३० ॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. नैतदेवं सन्निहितो हि शेषः, यस्मिन् अनुत्पाद्यमानेऽर्थो न सिध्यति, सोऽर्थादुत्पाद्यते। सन्निहिते च शेषे सति सिध्यति उत्तरार्द्धात् ग्रहणम्। तस्मात् न अर्थात् द्रव्यम् उत्पादयितव्यं, यदेव अन्यार्थं द्रव्यं सन्निहितं, तस्य एव उत्तरार्द्धाद्ग्रहितव्यम्, उत्तरार्द्धमात्रं हि स्विष्टकृते श्रूयते न अमुष्य द्रव्यस्य—इति, न च एतावता व्यवहारो भवति, सर्वो हि कस्यचित् उत्तरार्द्धः, स एव सन्निहितमपेक्षते, सन्निहितं च परार्थं। तस्मात् परार्थात् द्रव्यात् स्विष्टकृदिज्या। अतस्तामप्रयोजिका—इति। यदुक्तम्, अनीशा अनेन न शक्यं दातुम्—इति, तदुच्यते, वाचनिक एव शेषप्रतिपादनार्थं उत्सर्गः, स शक्यः कर्त्तुम्, दानं हि उत्सर्ग-पूर्वकः परस्य स्वत्वसम्बन्धः, स न शक्योऽनीशा अनेन॥

सू. कर्म्मकार्य्यात् ॥ ३१ ॥ (यु॰ १)॥

भा. कर्मनिमित्तश्च स्विष्टकृतो भागः—इति श्रूयते। कथं?। 'देवा वै स्विष्टकृतम् अब्रुवन् हव्यं नो वहेति सोऽब्रवीद्वरं वृणै

---

* अग्निवभ्यामिति क॰ सं॰ पु॰ पाठः॥

† उत्तरार्द्धमिति आ॰ सो॰ पु॰ पाठः॥

भा भागेनैऽस्त्विति वृणीध्व—इति अब्रुवन् सोऽब्रवीत् उत्तरार्द्धादेव मह्यं मध्यात्सकृदवद्यात्'—इति, कर्म कुर्वतो भागोऽयम् उत्तरार्द्धादिति स्तुतिर्भवति, यद्याग्नेयस्योत्तरार्द्धादित्युच्यते, ततोऽस्ति कर्मार्थेन भागेन सादृश्यमिदं,—तदाग्नेय इव यत् किञ्च वहतीति, तत्र सति सादृश्ये स्तुतिरुपपद्यते, प्रयोजकत्वे चासति सादृश्ये स्तुतिसामञ्जस्यं न स्यात्। तस्मात् अप्रयोजकं पुरोडाशस्य स्विष्टकृद्याग —इति॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ३२ ॥ (यु० २) ॥

भा लिङ्गमपि भवति—'तत् यत् सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति, तस्मात् इदमुदरं विश्वरूपमन्नं समवधीयते'—इति, यदि परार्थात् कुर्यात् सन्निहितादिज्यते, तदा तत्सन्निधानाविशेषात् सर्वेभ्योऽवदीयते—इति उपपद्यते, प्रयोजकत्वे त्वेकस्मादेवावदीयेत। तस्मात् अपि अप्रयोजकः।

तथेदमपरं लिङ्गं,—'प्रेयात् इडामवद्यति प्रेयात् स्विष्टकृतं यजति'—इति। 'ननु अयं विधिः स्यात्। न—इति ब्रूमः', —न अत्र विधिविभक्तिर्वर्तमानापदेशो हि अयम्—इति॥ (४।१।१७ अ०)॥

---

अभिघारणे प्रेयधारणतत्पात्रयोरननुष्ठानाधिकरणम्॥

सू अभिघारणे विप्रकर्षादनुयाजवत्पात्रभेदः स्यात्॥ ३३ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति वाजपेयो,—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—इति, तत्र श्रूयते,—'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते, सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतेराप्त्यै'—इति, प्राजापत्यानाम् क्रतुपशूनां च समुच्चयो वक्ष्यते,—"प्राजापत्येषु चाम्नानात्"—इति। अस्ति

भा. तु प्रहृतौ, 'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं प्राजापत्यानाम् वपा अभिघारयितुम् प्रयाजशेषस्य धारणार्थं पात्रम् अपरम् उत्पादयितव्यं, ततः तेन प्राजापत्यानां वपा अभिघारयितव्याः, उत न शेषो धारयितव्यः, नैव ततः प्राजापत्यानां वपा अभिघारणीयाः—इति। किं प्राप्तम्?—अभिघारणे प्रयाजशेषधारणार्थं पात्रम् उत्पाद्येत, प्रातःसवने च प्रयाजशेषो विप्रकृष्टकाले माध्यन्दिने सवने, ब्रह्मसामकाले प्राजापत्यानामालम्भः श्रूयते,—'तान् पर्यग्निकृतान् उत्सृजन्ति, ब्रह्मसाम्न्यालभते'—इति, याषृता च जुहूर्भवति। तस्मात् पात्रान्तरम् उत्पादनीयम्—इति, यथा अनुयाजेषु पृषदाज्यधारणार्थं पात्रम् उत्पाद्यते, 'पृषदाज्येनानुयाजान् यजति'—इति वचनात्, एवमत्रापि—इति ॥

सू. न वाऽपात्रत्वादपात्रत्वन्त्वेकदेशत्वात् ॥ ३४ ॥
(सि॰) ॥

भा. न वा प्राजापत्यानां वपा अभिघार्याः। कुतः?। शेषाभावात्। 'कथं शेषाभावः?—इति चेत्'। अपात्रत्वात्। कथम् अपात्रता?। एकदेशत्वात्, प्रयाजार्थस्य हि गृहीतस्य आज्यस्य स एकदेशः शेषः। किम् अतः?। यद्येवं, एकदेशव्यापारः श्रूयमाणो नावयविनमुपादेयत्वेन चोदयति।

'आह, उत्पत्तिं न चोदयेत्, धारणम् उत्पन्नस्य अर्थात् भविष्यति'—इति। उच्यते, एकदेशत्वात् अभिघारणं द्रव्यमेव न प्रयुङ्क्ते—इत्युच्यते, कृतार्थस्य द्रव्यस्य अयम् एकदेशः प्रतिपाद्यते, न अभिघारणं प्रयेकमे। 'ननु हविषां, द्वितीयानिर्देशात् प्राधान्यं स्यात्'। न—इति उच्यते, अदृष्टो हि हविषाम् उपकारः कल्प्येत, आज्यप्राधान्ये पुनरुक्ता रिक्तत्वं दृष्टं प्रयोजनम्, आज्यभागार्थेन आज्येन अप्रसङ्गो, जुहा

भा रित्रया प्रयोजनं, नाभिघृतेन हविषा। तस्मात् प्राजापत्या नाम् अभिघारिताभिर्वपाभिः प्रयोजनमेव नास्ति, किमर्थं ग्रैयो धार्यते—इति ॥

सू हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥ ३५ ॥ (हे० १) ॥

भा हेतुत्वाच्च अभिघारणस्य, सहालभते—इति स्तुतिर्भवति, 'तीर्थे वै प्रात सवन, यत् प्रात सवने पशव आलभ्यन्ते, तीर्थे एवैतानालभते, सयोनित्वायाथो वपानाम् अभिघृतत्वाय' —इति अर्थान्तरेण वपाभिघारणम् अनुगृह्णन् न हन्यादिति—इति दर्शयति ॥

सू अभावदर्शनाच्च ॥ ३६ ॥ (हे० २) ॥

भा अभाव खल्वप्यभिघारणस्य दृश्यति,—'सध्या वा एतर्हि वपा यर्हि अनभिघृता, ब्रह्म वै ब्रह्मसाम, यत् ब्रह्मसाम्न्यालभते तेन असध्या, तेन अभिघृता—इति, सद्यशब्दो रूक्षे भाष्यते सध्या वपा—इति अनभिघृतता दर्शयति ॥

सू सति सव्यवचनम् ॥ ३७ ॥ (पू०)॥

भा आह नैतद्दर्शनं, सति एव हि अभिघारणे भवत्येतत् सध्यवचनम् अस्ति हि वपाया अन्यदभिघारणम्,—'उपस्तृणात्याज्य हिरण्यशकल, वपा हिरण्यशकल ततोऽभिघारयति'—इति, तस्मिन् सति कथ सध्या भवेयु ? ब्रूते च तस्मात् नैतत् शक्यम् अवगन्तुम् रूक्षास्ता वपा दृश्यन्ते—इति, तेन नूनम् अभिघारण प्रयाजशेषेणास्ति—इति, सत्यस्मिन् अभिघारणे प्रत्यक्षे, रूक्षास्ता —इति दर्शन व्यामोह —इति ॥

सू. न तस्येति चेत् ॥ ३८ ॥ (उ०) ॥

भा. एव चेत् दृश्यते,—'सत्यभिघारणे सद्याः—इति वचनम् अलिङ्गम्'—इति, न अलिङ्गं, तस्य एतद्वचनं, यत् स्नेहनं करोति। कतमत् तत्?। यत् प्रथमं, प्रथमं हि स्नेहनं करोति, न द्वितीयं; स्निग्धस्य तत् भवति, न च स्निग्धस्य स्नेहनं क्रियते, यथा भवति लोके वादो,—यत् अस्माभिः कान्ताराग्नि-र्गतैर्देवदत्तस्य गृहे स्निग्धं भुक्तं, तेन वयमरूक्षाः स्नाताः—इति, सत्स्वप्यन्येषु स्निग्धेषु एव भोजनेषु, एवं तस्य अरूक्षकरणस्य अभिघारणस्य अभावात् रूक्षाः—इति वचनम् उपपद्यते, अस्मिंस्तु सति नोपपद्यते। तस्मात् अपि प्रयाजशेषेणाभिघारणं प्राजापत्यानां नास्ति—इति॥

सू. स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥ ३९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. (इदं पदोत्तर सूत्रं)। यदि प्रथमस्य अभावात् सद्याः—इति वचनं भवत्यनुपपन्नं, तर्हि अन्यस्य प्रथमस्य विद्यमानत्वात्। कतमत् तत्?। वक्ष्यमाणाया अपरसुद्वासितायाः। अथ उच्यते,—'स्यात् तस्य मुख्यत्वात्', यत् प्रयाजशेषेणाभिघारणं, तस्य एव अभावात् एतदुपपद्यते, सत्यपि श्रप्यमाणाया अभि-घारणे उद्वासितायाश्च, यत् तावत् श्रप्यमाणायाः, तत् अग्ने-रर्चींषि दहन्ति, यत् उद्वासितायाः, तत् अग्रावयवा उष्मा यवयवाश्च नाशयन्ति, सा एषा रूक्षैव, इदन्तु प्रयाजशेषेण* शीतायाः क्रियते, तत् स्नेहयति, तेन स्निग्धायाः प्रदानकालम भिघारणं यत्, तत् न स्नेहयति, तत् इदं स्नेहनस्य अभिघा रणस्य अभावात् सद्यताविचनम् उपपद्यते—इति उक्तं, तस्मात् न प्रयाजशेषो धार्यते—इति ॥ (४।१।१३ अ०)॥

---

* अनुप्रयाजशेषेणेति आ० मो० पु० पाठः॥

समानयनस्याज्यधर्मप्रयोजकताधिकरणम् ॥

सू समानयनन्तु मुख्य स्यात् लिङ्गदर्शनात ॥ ४० ॥

भा दर्शपूर्णमासयो श्रूयते,—'अतिक्रायेडो वर्हि प्रति समानयति *—इति। तत्र सन्देह,—किं समानयनमाज्यस्य धर्माणा च प्रयोजकम् उत अप्रयोजकम्?—इति। किं प्राप्तम्?—अप्रयोजकम्—इति। कुत?। प्रयाजानुयाजार्थस्य आज्यस्य अयम् एकदेश समानीयते—इति पूर्वेण न्यायेन अप्रयोजकता प्राप्ता तदुच्यते—मुख्य समानयन लिङ्गदर्शनात्। किं लिङ्ग?। 'चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति आतिथ्याया श्रूयते—यदि प्रयाजार्थं समानयन मत तत्रैक चतुर्गृहीत समानीयते, एकम् अन्यनु याजाना भवति ततश्च आतिथ्येडा ता सन्तिष्ठते—इति अनु याजाभावे उपभृति समानयनार्थम् एक चतुर्गृहीत याह्य न तु अनुयाजार्थम्। तत्र बहूना चतुर्गृहीताना दर्शनम उपपद्यते इतरथा हि अनुयाजाभावे न एवोपभृति चतुर्गृहीत तत्र चतुर्गृहीतानि—इति बहुवचन नोपपद्यते तस्मात् प्रयोजक समानयनम्—इति।

'ननु चिह्नम् उपदिश्यते का प्राप्ति?। उच्यते—इह तत्र प्रयोजन प्रयाजौ द्वौ यष्टव्यौ तत्र जुह्वाम् आज्येन प्रयोजन नोपभृति विज्ञायाम् उपभृतो रेचनम् अदृष्टार्थं जुह्वा निधान दृष्टार्थमेव तेन प्रयाजहोमार्थम् आज्यसमानयनमौपभृतमाज्य

---

* पञ्चानां प्रयाजाना मध्ये तृतीय प्रयाज इडशब्देन बहु वचनान्तेन अभिधीयते तं तृतीयप्रयाजमतिक्रम्य वर्हिनामक चतुर्थ प्रयाज होतुम् उपभृत्सञ्ज्ञकायां स्रुचि स्थितं घृतं जुह्वामानेतव्यमिति माधव ॥

भा. प्रयोजयति, तत् अपि हि प्रयाजार्थम् अनुयाजार्थञ्च—इति वक्ष्यते ॥

सू. वचने हि हेत्वसामर्थ्यं ॥ ४१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ कस्मात् न वचनमेतत्,—'चतुर्गृहीतान्याज्यानि'—इति। उच्यते, वचने हि हेतुरसमर्थितः स्यात्, न हि अत्रानुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति, यदा समानयनं न प्रयाजार्थम्—इति गम्यते, 'तदा वचनं, यदा वचनं, तदा न अनुयाजाभावो हेतुः, असति हेतौ, न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति'—इति हेतुवन्निगदो नोपपद्येत। तस्मात् प्रयाजार्थं समानयनं प्रयोजकम् औपभृतस्य आज्यस्य। किं भवति प्रयोजने?। प्रयाजार्थे समानयने यावत् प्रयाजार्थं, तावत् सर्वं समानेयम्, अर्द्धम् औपभृतस्य, अप्रयोजकत्वे न नियोगतोऽर्द्धं यावत् तावत् वा ॥ (४।१।२४ अ०) ॥

---

औपभृतजौहवयोः क्रमेणोभयानुभयार्थताधिकरणम् ॥

सू. तच्चोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥ ४२ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'चतुर्जुह्वा गृह्णात्यष्टावुपभृति गृह्णाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं जौहवमौपभृतं च उभयमुभयार्थं, प्रयाजेभ्यश्चानुयाजेभ्यश्च, उत जौहवं प्रयाजेभ्यः, औपभृतम् अनुयाजेभ्यः? अथ वा औपभृतं प्रयाजेभ्योऽनुयाजेभ्यश्च? —इति। किं प्राप्तम्?—उभयमुभयार्थम्। कुतः?। यद्यदाज्येन क्रियते, तस्मै तस्मै भवितुमर्हत्यविशेषात् ॥

सू. तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥ ४३ ॥ (सि०) ॥

भा. नैवम्,—उभयमुभयार्थम्—इति, जौहवं प्रयाजार्थम्, औप-

भा भृतम् उभयार्थं । कथ ? । 'यत् जुहा गृह्णाति प्रयाजेभ्य तत् गृह्णाति प्रयाजा वै प्रयाजा —इति जौह्ववचनम् अनुयाज प्रतिषेधार्थं प्रयाजान् सङ्कीर्तयति ।

आह ननु नास्त्यत्रानुयाजप्रतिषेधार्थं वचन यदेतत प्रया जेभ्य तत् गृह्णाति —इति प्रयाजेषु उपदेशकमेतत नास्ति अस्य अनुयाजप्रतिषेधे सामर्थ्यम् —इति । उच्यते —न ब्रूम प्रतिषेधकमेतत् —इति । किं तु उत्पत्तिवाक्ये आज्याना नैव प्रयोजनाभिसम्बन्ध अनेन वचनेन प्रयाजप्रयोजनता क्रियते जौह्वस्य अनुयाजप्रयोजनतास्य वचनाभावादेव न गम्यते —इति अनुयाजप्रतिषेधार्थं वचनम् —इति उच्यते ॥

सू औपभृत तथेति चेत् ॥ ४४ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् दृश्यते —जौह्वम् अनुयाजेभ्य प्रतिषिध्यते औपभृतम् उभयार्थम् —इति भवतु जौह्व प्रयाजार्थं न तु औपभृतम् उभयार्थं तदपि तथा स्यात यथा जौह्व । कथम् ? । एतदपि अनुयाजार्थमेव श्रूयते यत् उपभृति गृह्णाति अनुयाजेभ्य तत् गृह्णाति छन्दांसि हि अनुयाजा —इति । अनुयाजार्थतास्य —इति ॥

सू स्यात जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवाद ॥ ४५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवम् —उभयार्थं हि औपभृतम् एव हि श्रूयते — यत् अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्य तत गृह्णाति' —इति । ननु उक्तम् अनुयाजेभ्य तत् गृह्णाति —इत्यनुयाजार्थतास्य —इति । उच्यते 'जुहूप्रतिषेधात् नित्यानुवाद । उभयस्मिन् (औपभृते जौह्वे च) उभयार्थे प्राप्ते जौह्वम् अनुयाजेभ्य प्रतिषिद्ध नौपभृत तत् औपभृतस्य उभयार्थतायां सत्यामन

भा. याजार्थतावचनं नित्यानुवादो भवितुमर्हति, न शक्नोति प्रयाजार्थतां प्रतिषेद्धुम्, प्रत्यक्षश्रुता हि सा, तस्मात् औपभृतम् उभयार्थं। समानयनं च ततो युक्तं श्रूयते, तस्मात् अपि प्रयाजार्थता न शक्या बाधितुम्॥ (४।१।१५ अ०)।

---

उपभृति द्विचतुर्गृहीताचरणाधिकरणम्॥

सू. तदष्टसंख्यं श्रवणात्॥ ४६॥ (पू०)॥

भा. 'अष्टावुपभृति गृह्णाति'—इति श्रूयते। तत्र सन्देहः,—किं तत् औपभृतम् आज्यम् अष्टसंख्येन ग्रहणेन संस्क्रियते, उत चतुःसंख्या गुणभूता द्वयोर्ग्रहणयोः?—इति। किं तावत् प्राप्तं? —अष्टसंख्या गुणभूता, न चतुःसंख्ये द्वे—इति। कुतः?। श्रवणात् अष्टसंख्या श्रूयते, चतुःसंख्या अष्टसंख्यया लक्ष्यते, श्रुति-लक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, तस्मात् अष्टसंख्यं ग्रहणमेतत् —इति॥

सू. अनुग्रहाच्च जौहवस्य॥ ४७॥ (यु० १)॥

भा. अनुग्रहवादश्च भवति,—'चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्तस्य आघारमाघार्य विरितः प्राचीनं प्रयाजान् यजति समानयते चतुर्गृहीतत्वाय'—इति चतुर्गृहीतानुग्रहः कथं स्यात्?—इति। 'किं चतुर्गृहीतं भवति समानयनेन?'। न—इति ब्रूमः, चतुर्गृहीतं प्रथममेव तत्, आघारेऽप्याघारिते, यत् अवशिष्टं चतुःसंख्यमेव तस्य ग्रहणमासीत्। 'किं तर्हि चतुर्गृहीतत्वाय?' —इति। चतुर्गृहीतस्य अनुग्रहार्थम्, अल्पं हि चतुर्गृहीतं होमायापर्याप्तं, तत्पर्याप्तं कथं स्यात्?—इति। एवं चतुर्गृहीत-शब्देन अल्पम्—इति लक्ष्यते, अल्पत्वं च बहुत्वं कस्यचित् अपेक्ष्य भवति, यदि हि औपभृतम् अष्टसंख्यमेवं ...

भा अल्प भवति तच चतुर्गृहीतशब्देन अल्पता शक्यते लक्षयितुम्। तस्मात् अपि पश्याम —औपभृते अष्टसंख्या गुणभूता—इति॥

सू द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने॥ ४८॥ (सि०)॥

भा तुशब्द पक्ष व्यावर्तयति द्वे एते चतुर्गृहीते एव हेतु समर्थितो भवति आनिस्थाया—'चतुर्गृहीतानि आज्यानि भवन्ति न हि अत्र अनुयाजान् यक्ष्यन् भवति—इति असत् स्वप्यनुयाजेषु एतत् अष्टगृहीतमेव औपभृत भवेत यदा अष्टसंख्या गुणभूता न तदा द्वयो चतुर्गृहीतयो सतो चतुर्गृहीतान् आज्यानि—इति बहुवचनम् आज्येषु उपपद्यते। तस्मात् चतुर्गृहीते द्वे—इति।

आह लिङ्गमेतत् मासिचयताम्'—इति। तत् अभिधीयते अनारभ्य उच्यते— चतुर्गृहीत जुहोति—इति सर्वहोमेषु तेन प्रयाजानुयाजेष्वपि न तदष्टगृहीतेन शक्यते बाधितुम् नानाविषयत्वात् अष्टगृहीत हि ग्रहणे चतुर्गृहीत हि होमे अस्ति हि सम्भवो यत् अष्टगृहीतं गृह्येत चतुर्गृहीत ह्येत तदेतत् इह अष्टत्व ग्रहणे भवति कथ द्वे चतुर्गृहीते होमे सम्पादयेत्? तस्मात् द्वे एते चतुर्गृहीते अष्टगृहीते गृह्यमाणे गृह्येते चतुर्गृहीते द्वे न अगृहीत्वा अष्टगृहीतं कश्चित् सम्पादयेत। तस्मात् द्वे एते चतुर्गृहीते—इति।

अथ यदुक्तम्—अष्टगृहीत श्रूयते श्रुतिश्च लक्षणाया गरीयसी—इति उच्यते —उक्तम् अस्माभि अष्टसंख्याया प्रयोजन —कथ द्वे चतुर्गृहीते स्याताम्?—इति। अपि च अष्टावुपभृति गृह्णाति—इति उपभृति समानीते द्वे चतुर्गृहीते कथ स्याताम्?—इति इतरथाऽसत्यष्टशब्दे नानापात्रयोर्गृह्येयाताम् तस्मात् अष्टशब्दश्रवणम् अदोष, साध्वेतत्,—द्वे चतुर्गृहीते

भा. उपभृति—इति। प्रयोजनं, द्वयोः चतुर्गृहीतयोः सतोः समानयनेऽर्द्धं समानेतव्यं भवति, अष्टगृहीते सति न नियोगतोऽर्द्धं; तथा, यत्र अनुयाजार्थं न ग्रहणं, तत्राप्यष्टगृहीतं, यथा पूर्वः पक्षः; यथा च सिद्धान्तः, तथा चातुर्मास्येषु चतुर्गृहीतम् उपभृति भवति—इति ॥ (४।१।१६ अ०) ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥ प्रयोजकपादोऽयम् ॥

## चतुर्थे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



### स्वरोश्छेदनाद्यप्रयोजकताधिकरणम् ॥

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयो—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति, तत्र इदमाम्नातम्,—'खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति, रौहिते बध्नाति'—इति, तत्सन्निधाविदमपरमाम्नायते,—'स्वरुणा पशुमनक्ति यूपस्य स्वरुम् करोति'—इति ।

अथ इदानीम् इदं सन्दिह्यते,—किं भेदेन यूपात् स्वरुः उत्पादयितव्यः, उत यूपं क्रियमाणमनुनिष्पन्नः शकलो गृहीतव्यः?—इति । तत्र इदं तावत् परीक्ष्यं, किं छेदनाद्युत्पत्तेः प्रयोजकः स्वरुः, उत अप्रयोजकः?। प्रयोजकः चेत्, भेदेन यूपात् निष्पाद्येत, न चेत् प्रयोजको, यूपं निष्पद्यमानमनुनिष्पन्नः शकलो परीक्ष्यते—इति । 'स कथं प्रयोजकः स्यात्? कथं वा न प्रयोजकः?'—इति । यदि एषा वचनव्यक्तिः,—स्वरुशब्दवाच्य भाव्यते । कथं?। अञ्जनादिना इतिकर्तव्यताविशेषेण—इति, ततः,—'स्वरुणा पशुमनक्ति'—इति, स स्वर्वादित्यवगतो यद्येष्यते, ततः प्रयोजकः । अथैवं विज्ञायते,—'स्वरुणा पशुमनक्ति'—इति अनवगतः स्वरुः, एतावदस्य विज्ञायतेऽञ्जनं तेन क्रियते—इति, इदमपि,—'यूपस्य स्वरुम् करोति'—इति यूपैकदेशं स्वरुकार्येऽञ्जने विनियुङ्क्ते—इति ततोऽप्रयोजकः ।

किं तावत् प्राप्तम्?—'स्वरुः त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्', स्वरुनं यथैनेकनिष्पत्तिः स्यात्, यूपम् अनपेक्षमाणस्य स्वरोर्जा-

भा. यणादिना उत्पत्तिः। कुतः?। 'स्वकर्मशब्दत्वात्',—स्वो हि अस्य कर्मशब्दः स्वरुताया विधायको भवति, 'स्वरुम् करोति'—इति, एवं च यूपकाष्ठावयवस्य स्वरुत्वं क्रियते—इति, 'यूपस्य स्वरुम् करोति'—इति लक्षणया यूपशब्दः, खदिराद्यवयवस्य—इत्यर्थः। कुतः?। स्वरुत्वभावना हि श्रुत्या गम्यते,—'स्वरुम् करोति'—इति स्वरुम् उत्पादयति—इति, यूपावयवोपादानं वाक्येन, वाक्याच्च श्रुतिर्बलीयसी—इति। तस्मादेवं सति न नियोगतो यूपकाष्ठादेव स्वरुः उत्पादयितव्यः, निरपेक्षात् अन्यस्मात् अपि वृक्षात् कर्त्तव्यो भेदेन—इति॥

सू. जात्यन्तराच्च शङ्कते॥ २॥ (यु०)॥

भा. इतश्च निरपेक्षस्य स्वरोरुत्पत्तिः—इति गम्यते। कुतः?। जात्यन्तरात् अपि आशङ्का भवति, (वृक्षान्तरात्)। कथं?। 'न अन्यस्य स्वरुम् कुर्यात्, यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरुम् कुर्यात्, अन्योऽस्य लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरुम् करोति'—इति। न हि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणे जात्यन्तराशङ्काऽवकल्पते, यूपशकलो हि स्वरुकार्ये तदानीं विनियुज्येत। तस्मात् अपि भेदेन यूपात्, स्वरुः उत्पादयितव्यः—इति॥

सू. तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३॥ (सि०)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। यूपैकदेशो हि यूपमनुनिष्पन्नः शकलो ग्रहीतव्यः—इति। कस्मात्?। एवमाम्नायते,—'यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरुम् कुर्यात्, अन्योऽस्य लोकमन्वारोहेयुः, यूपस्य स्वरुम् करोति'—इति, न च, अत्र अयमर्थो विधीयते,—स्वरुम् उत्पादयति—इति। किं तर्हि?। स्वरुकार्यं कर्तुम् यम् उपादत्ते, तं यूपात्—इति। कुतः?। 'स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात्', स्वरुत्वम् अत्र श्रूयते स्वरोः, 'यूपस्य स्वरुम् करोति'—

भा इति । कस्य आत्मीय?—यूपस्य इति, आत्मीयस्य समुदायस्य एकदेशो भवति, तस्मात् इदम् उच्यते,—अप्राणिनि षष्ठी पञ्चम्यर्थे भवति, यथा, शाकस्य देहि शाकात् देहि—इति, तथा क्वचित् तृतीयार्थे, घृतस्य यजति, घृतेन यजति। पञ्चम्यर्थे, घृतात् यजति, घृतस्य यजति—इति। द्वितीयार्थे वा, सोमस्य पिबति, सोमं पिबति, सोमात् पिबति—इति।

'ननु उक्तं,—यूपावयवोऽत्र वाक्येन विधीयते, श्रुत्या स्वरो उत्पत्तिः, श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी—इति। उच्यते,—सत्यम् एव, 'यूपस्य—इति तु शब्दोऽविवक्षितार्थो भवति, तत्र श्रुति अपि बाध्यते, वाक्यमपि, न तु अस्मत्पक्षे किञ्चित् अविवक्षितार्थं, 'स्वरुम् करोति—इति स्वार्थं एवानुवादो भविष्यति—इति, यूपशकलो विधायिष्यते, स्वरुशब्दस्याञ्जनार्थेन शकले उपचरित—इति गम्यते अवयवप्रसिद्धिस्तेनार्थं गमयिष्यति भवति हि ब्राह्मणं,—'अथ कस्मात् स्वरुर्नाम' एतस्मात् वैषो ऽवच्छिद्यते, तदस्यैतत् स्वमिवाकभंवति, तस्मात् स्वरुर्नाम—इति॥

सू शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा इतश्च यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम्। कुत ?। 'शकलश्रुते शकलश्रुतिर्भवति स्वरौ,—'य प्रथम शकल परापतेत् स स्वरु कार्य—इति शकलस्य एकदेश एकदेशस्य अप्रयोजक, सम्बन्धिशब्दत्वात् तावता च व्यवहारात् समुदायापेक्षिण, तत्र प्रकरणात् अन्यार्थेन खदिरादिना जोषणादिकर्मविशिष्टेन यागार्थेन प्रकृतेन अस्य एकवाक्यता — यूपाय खदिरादि जोष यते, छिनत्ति, तक्षति च तत्र य शकल प्रथम परापतितस्तं च स्वरुमञ्जनार्थं करोति—इति, स्वरुशब्द च तत्र अनुवदन्नेव उपचरति। तस्मात् नैतदस्ति,—पृथङ्निष्पत्ति स्वरु—इति,

भा. येन अन्यस्मात् अपि स्यात्—इति शङ्क्यते। तस्मात् जात्य-
न्तराशङ्कावचनं नित्यानुवादो यूपशकलस्तुत्यर्थः ॥

सू. प्रति-यूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (यु० २) ॥

भा. इतश्च न पृथङ्निष्पत्तिः स्वरुः। कुतः?। एकादशिन्यां, 'प्रति-यूपं च दर्शनात्', यथा, 'अनुपूर्वं स्वरुभिः पशून् समज्य मध्यमे रशनागुणे स्वे स्वे स्वं स्वं यूपशकलम् उपगूहति'—इति स्वरुबहुत्वं दर्शयति, यदि च स्वरुः पृथङ्निष्पत्तिः स्यात्, एक एवैकादशिन्यां तत्रेण कार्यं साधयेत्। यूपमनुनिष्पन्नस्य तु ग्रहणे प्रज्ञातौ स्वयूपशकलेन अञ्जनं ज्ञातम्—इति एकादशिन्या-मपि चोदकः स्वयूपशकलमेव प्रापयति—इति बहुत्वम् उपपन्नं भवति, स्वयूपशकलग्रहणं च प्राज्ञनस्य ग्रहणात् अध्यवसीयते, यादृशोऽसौ प्राज्ञातः, तादृशोऽसौ ग्रहीतव्यो न विशिष्टः—इति। तस्मात् स्वरुत्पत्तनेन प्रयोजकः—इति ॥

सू. आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—उत्पत्तिरस्य शब्देन उच्यते,—'स्वरुम् करोति' —इति, एवं च करोतिशब्दोऽवकल्पिष्यते—इति। उच्यते,— आदाने करोतिशब्दो भविष्यति, 'स्वरुम् करोति',—स्वरुमादत्ते —इति, यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति—इति आदाने करोतिशब्दो भवति, एवमिहापि द्रष्टव्यम् ॥

पूर्वाधिकरणस्य सङ्क्षेपार्थं ॥

सू **स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात्*** ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः, तत्र श्रूयते,—'स्वरुणा पशुमनक्ति'—इति। अथ एष सन्देहः,—किं स्वरुं उत्पत्तिः प्रयोजयति, उत यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः' स्यात्, प्रयोजयत्युत्पत्तिम्—इति। कुतः?। स्वोऽस्य कर्मशब्दो भवति, स्वरुम् करोति—इति स्वरुमुत्पादयतीत्यर्थः। एवं चेत् उत्पत्तिरस्य शब्दवती। तस्मात् न एकया निष्पत्त्या यूपस्य स्वरोश्च निष्पाद्यते—इति॥

सू **जात्यन्तराच्च शङ्कते** ॥ २ ॥ (यु०) ॥

भा यदि यूपमनुनिष्पन्नस्य ग्रहणं भवेत् यूपकाष्ठस्य एव स्वरुः स्यात्, अन्यद्वृक्षाशङ्का नोपपद्येत, भवति च, 'यदि अन्यस्य वृक्षस्य स्वरुम् कुर्यात् अन्योऽस्य लोकमन्वारोहेद्यूपस्य स्वरुम् करोति'—इति, तस्मादपि मन्याम,—प्रयोजकः स्वरुः—इति॥

सू **तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात्** ॥ ३ ॥ (सि०) ॥

भा यूपमनुनिष्पन्नो वा गृह्येत स्वरुः, तदेकदेशो हि एषः, षष्ठीनिर्देशात्—यूपस्य स्वरुम् करोति—इति, यदि हि छेदनम् उभयार्थं स्यात्, न स्वरुयूपयोः कश्चित् सम्बन्धो भवेत् तत्र षष्ठी नोपपद्येत, अस्ति तु षष्ठी। तस्मात् यूपैकदेशः स्वरुः,

---

* 'व्याख्यानान्तरं तु विस्तरोक्तस्य सङ्क्षेपमात्रार्थं कृतं भाष्यकारेणेति न व्याख्यायते' इति तन्त्ररत्नमनुसन्धेयम्॥

भा अवयवो यूपस्य, स्वरुर्नामैकदेशः कर्त्तव्यः, यथा पुरोडाशस्यावदानम् —इति ॥

ए शकलश्रुतेश्च ॥ ४ ॥ (यु० १) ॥

भा. शकलश्रुतिश्च भवति, 'यः प्रथमः शकलः परापतेत्, स स्वरुः कार्यः'—इति, एकदेशाश्च अवयवोऽशकला भवन्ति, न एकदेशे श्रूयमाणे अवयवी कर्त्तव्य—इति शब्दो भवति, विद्यमानस्य अवयविन एकदेशो गृह्यते, तस्मात् अपि अवयवोऽशक' ॥

ए प्रति-यूपं च दर्शनात् ॥ ५ ॥ (यु० २) ॥

भा. प्रति यूपं च तन्तु अपि स्वरवो दृश्यन्ते, एकादशिन्यां, यथा, —'अनुपूर्वं स्वरुभिः पशून् समज्य प्रथमे रशनागुणे स्वे स्वे स्वं स्वं यूपशकलम् उपगूहति'—इति, स यदि, स्वरुमान् यूपः कार्यः—इत्यर्थः 'स्वरुम् करोति'—इति, ततो बहूनां स्वरूणां दर्शनम् उपपद्यते। अथोशकल्ये स्वरौः,—एक एव समञ्जनार्थे स्वरुः उत्पाद्यते। तस्मात् अवयवोऽशकः—इति ॥

ए आदाने करोतिशब्दः ॥ ६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—उत्पत्तिः अस्य शब्देनाभिधीयते—'स्वरुं करोति'—इति, करोतिशब्दश्चावकल्पिष्यते—इति। उच्यते, —आदाने करोतिशब्दः भविष्यति,—'स्वरुं करोति'—इति स्वरुमादत्ते—इति, यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति —इति आदाने करोतिशब्दः भवत्, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् ॥ (४।२।१ अ०) ॥

---

शाखाया आहार्यताधिकरणम् ॥

सू शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥ ७ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, शाखामभिप्रत्य,—'प्राचीमाहरत्युदीचीमाहरति प्रागुदीचीमाहरति'—इति। तत्र सन्देहः,—किमयं दिग्वादः, उत शाखावादः?—इति। दिग्वादः—इति प्राप्तम्, तथा श्रुतिशब्दः, शाखावादे लक्षणा—इति। तस्मात् दिग्वाद—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—शाखावादः—इति। कुतः?। यदि तावत् अयमर्थः,—प्राची दिगाहर्त्तव्या—इति, ततः, अशक्योऽर्थः, अथ प्राचीन्दिशं प्रत्याहरणीयेति, ततः का आहर्त्तव्या?—इति, वाक्ये शाखाशब्दस्य अभावात् अनुपपन्नोऽर्थं सम्बन्धः। अथ प्रकृता शाखा—इति, ततः प्राचीशब्देन तस्या एवाभिसम्बन्धो न्याय्यः। कुतः?। प्रत्यक्षा हि प्राचीशब्देन हरतेः एकवाक्यता, प्रकरणात् शाखाशब्देन भवेत्, उभयथा अत्र प्राचीशब्दो लक्षणया प्रकृता वा शाखां लक्षयेत्, दिशो वा अनीप्सितत्वात्, विहारदेशमीप्सिततमयुक्तम्*।

अपि च, प्राची—इति सम्बन्धिशब्दोऽयं, सम्बन्धिशब्दाश्च सर्वे सापेक्षाः, विना पदान्तरेण, न परिपूर्णम् अर्थमभिवदन्ति, सामान्यपदार्थसम्बन्धे च संव्यवहारानुपपत्तिः, सर्वस्य एव देशस्य कुतश्चित् प्राग्भावात्। तथा शाखाशब्दोऽपि सम्बन्धिशब्दः 'वृक्षस्य'—इत्येतत् अपेक्षते, यदा वृक्षस्य—इत्येतत् अपेक्षते, तदा वृक्षस्य शाखा प्राची उदीची प्रागुदीची वा—इति भवति सम्बन्धः, तथा च संव्यवहारोऽवकल्पते। यत्तु शाखावादे

* "दिशो वाऽनीप्सितत्वादित्ययं हेतुः, यस्माद्दिगनीप्सिता तस्मात् विहारदेशं वा लक्षयेत् शाखा वा" इति वार्त्तिकम्॥

भा. लक्षणा—इति, उच्यते,—भवति लक्षणयापि शब्दार्थः। तस्मात् शाखावादः—इति॥ (४।२।२ अ०)॥

---

छेदनस्य शाखाप्रयुक्तताधिकरणम्॥

सू. शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यं तत्*॥ ८॥ (सि०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः समाम्नायते,—'मूलतः शाखां परिवास्योपवेषं करोति'—इति। तत्र अयमर्थः सांशयिकः, किं शाखा-छेदनस्य उभयं प्रयोजकं, शाखा उपवेषश्च उत शाखा प्रयोजिका उपवेषोऽनुनिष्पादी?—इति। किं प्राप्तम्?—उभयं छेदनात् निष्पद्यते, शाखा शाखामूलं च, उभयं च प्रयोजनवत्, अग्रेण वत्सापाकरणादि करिष्यते, मूलत उपवेषः, तेन विशेषाभावात् उभयं प्रयोजकम्।

इति प्राप्ते उच्यते,—'शाखायां' ब्रूमः, 'तत्प्रधानत्वात्' (शाखाप्रधानत्वात्) 'उपवेषेण विभागो' भवेत्, शाखामनुनिष्पन्नः गृह्येत। कथं तत्प्राधान्यं?। 'शाखां परिवास्य'—इति द्वितीयानिर्देशात्। 'ननु 'उपवेषं करोति'—इत्यपि द्वितीया'। उच्यते,—न असौ परिवासयतेः कर्म। कस्य तर्हि?। करोतेः।

'आह, कस्मात् एवम् अभिसम्बन्धो न भवति,—शाखां परिवास्य मूलत उपवेषं करोति—इति, शाखाशब्दश्च यथैव अग्रे तथा मूलेऽपि, तत्र अयमर्थः,—छेदनेन अयमूले विभजेत्।

---

* 'वैषम्यं तत्' इति का० सं० पु० नास्ति।

† "येयं पलाशशाखां छित्वा हृच्चाद्राहृता,
भागः प्रादेशपरिमितः उपवेषः कार्य्यः" इति

भा. किं प्रयोजनं ?। विभज्य मूलम्, उपवेषं करिष्यामि'—इति।
उच्यते,—नैवं, व्यवहितकल्पना हि एवं भवेत्, अव्यवधानेन शाखार्थं परिवासनं, वृत्ते तस्मिन् उपवेषकरणम्।

'ननु प्रकृतत्वात् मूलम् उपवेषशब्देन सम्बध्यते'। उच्यते, उभयसम्बन्धे विरोधः, विरोधे च प्रकरणात् वाक्यं बलीयः। अथ सन्निहितेन सम्बध्यते, तथापि शाखाप्रयुक्तेन—इत्यापतति, सिद्धमेव,—उपवेषो न प्रयोजयति छेदनम्—इति, एतत् अत्र वैयर्थ्यम्॥

सू. श्रुत्यपायाच्च ॥ ९ ॥ (यु०)॥

भा. 'शाखया वत्सानपाकरोति, शाखया गाः प्रापयति, शाखया दोहयति'—इत्येवमादिषु शाखाग्रहणेषु न उपवेषस्य व्यापारः ततः शाखाशब्दोऽपीति, न हि तन्मूलं शाखेत्याचक्षते। कुतः?। यत्रैवं यत्र शाखाशब्दः, तदर्थं छेदनं, द्वितीयानिर्देशात्। अथापि मूले शाखाशब्दो भवेत्, एवमपि शाखाशब्दोपदिष्टेषु न मूलम्, अमूलपरिवासितत्वात्, यत्रैवं संस्कृतया शाखया क्रियते, तदर्थं छेदनं, न च उपधानं मूलपरिवासितया क्रियते। तस्मात् न तदर्थं छेदनं। किं भवति प्रयोजनं?। पौर्णमास्यामपि शाखा उत्पाद्या, यथा पूर्वः पक्षः; यथा सिद्धान्तः, तथा न उत्पादयितव्या—इति॥ (४।२।२ अ०)॥

---

शाखाप्रहरणस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम्॥

सू. हरणे तु जुहोतिर्योगसामान्यात् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ॥ १० ॥ (पू०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः आमनन्ति,—'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' —इति। तत्र सन्देहः,—किं शाखाप्रहरणं प्रतिपत्तिकर्म, उत

भा. अर्थकर्म ?—इति। किं प्राप्तं ?—'हरणे तु जुहोतिः' स्यात्, अर्थकर्म—इत्यर्थः। कुतः ?। 'योगसामान्यात्', योगोऽस्याः समानः प्रस्तरेण, 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति'—इति, सहयोगे यत्र तृतीया, तस्य गुणभावो, यत्र द्वितीया तस्य प्राधान्यं। प्रस्तरे च विस्पष्टो यजिः, शाखापि तस्मिन् एव यजौ प्रस्तरस्य विशेषणं, समानयोगित्वात्।

आह, 'ननु तत्र तत्र गुणभूता शाखा, तस्याः प्रतिपत्तिर्न्याय्याः, इतरथाऽनेकगुणभावः प्रसज्येत'—इति। उच्यते,—'द्रव्याणां च अर्थशेषत्वात्' उत्पत्त्या चिकीर्षितस्य शेषभूतान्येव द्रव्याणि उपदिश्यन्ते, 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' (२।१।४ सू० भा०)—इति। तस्मात् अनेकगुणत्वैव द्रव्याणां न्याय्या—इति ॥

सू प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. 'प्रतिपत्तिर्वा' शाखाप्रहरणं, 'शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्', शब्दः अत्र शाखाप्रधानः। कथं ?। द्वितीयाश्रवणात्। 'ननु अन्यत्र एव सा द्वितीया,—प्रस्तरे, न शाखायाम्'। उच्यते, प्रस्तरे द्वितीयार्थः शाखायामपि। कथं ?। तुल्ययोगात् सह शाखया, एवं प्रस्तरः प्रहृतो भवति, यदि शाखापि प्रह्रियते; तेन तुल्ययोगे सहशब्दोऽयं, यदि प्रस्तरः प्रहरणे प्रधानं, शाखापि प्रस्तरविशेषणं, तर्हि तुल्ययोगः, तस्मात् यः प्रस्तरे द्वितीयार्थः, स शाखायाम् अपि, अतः शाखा प्रधानम्। अपि च, तत्र तत्र शाखा गुणभूता, तस्यामन्यत्र उपदिश्यमानायाम् अनेकगुणभावः। 'तत्र को दोषः ?'। दृष्टं कार्यं हित्वा अदृष्टं कल्प्येत। कृतप्रयोजनायाः शाखाया अपनयनेन वेदिविरेचनात्* सञ्चारे दृष्टं कार्यं, न तु प्रहरणे किञ्चित् सूक्ष्ममपि दृष्टमस्ति, तस्मात् प्रतिपत्तिर्न्याय्या।

* विरेचनादिति क० सं० २ पु० पाठः ॥

भा. आह,—'ननु तृतीयाश्रवणात् परार्थेन शाखोच्चारणेन भवितुं न्याय्यम्'। उच्यते, भवेत् एतत् न्याय्यं, यदि निर्ज्ञातकाला शाखा स्यात्, ततः प्रस्तरस्य कालपरिच्छेदाय कीर्त्यमाना परार्था उच्येत, इह पुनः एतद्विपरीतम्,—निर्ज्ञातकालः प्रस्तरोऽनिर्ज्ञातकाला शाखा। तस्मात् सत्यपि तृतीयाश्रवणे प्रस्तर एव शाखायाः कालं परिच्छेत्स्यति, यथा द्वितीया-निर्दिष्टः, तथा शाखा द्रष्टव्या, यथा तृतीयानिर्दिष्टा, तथा प्रस्तरः; सामर्थ्यं हि बलवत्तरम्—इति॥

सू. अर्थेऽपीति चेत्॥ १२॥ (आ०)॥

भा. आह,—ननु गुणभावेऽपि द्वितीया भवति, यथा सक्तु मात-नैककपालेषु॥

सू. न, तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात्॥ १३॥ (आ० नि०)॥

भा. नैतत् सक्त्वादिभिः तुल्यं, 'तस्य' सक्त्वादेः अन्यत्र 'अनधि-कारात्', इह च शाखया अन्यस्य 'अर्थस्य कृतत्वात्' वत्सापा-करणादेः। आह,—'ननु पुनरुक्तमेतत् सक्त्वादीनां प्रदर्शनं समाधिश्च'—इति। उच्यते,—न पुनरुक्तता महान् दोषः, बहुशस्तोऽपि यस्य वेदितव्यं भवति, यन्थभयेन पुनरुक्तं नेच्छन्ति, अर्थाग्रहणात्तु क्रियतः पुनःपुनः अभिधीयमानं बहु मन्यन्ते एव। किं चिन्तायाः प्रयोजनं ?। यदि अर्थकर्म, पौर्णमास्यामपि शाखोत्पाद्या, अथ प्रतिपत्तिर्नोत्पादयितव्या—इति॥ (४।२। ४ अ०)॥

निनयनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम् ॥

सू उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नायते,—'अपः प्रणयत्यापो वै श्रद्धा श्रद्धामेवालभ्य यजते'—इति, उभयत्र च प्रणीतानां व्यापारः,—'प्रणीताभिर्हवींषि संयौति'—इति, तथा, 'अन्तर्वेदि प्रणीताः निनयति'—इति। अत्र सन्देहः,—किम् उभयम् आसां प्रयोजकं संयवनं निनयनं च, उत संयवनार्थानां निनयनं प्रतिपत्तिः?—इति। किं प्राप्तम्?—उत्पत्तिसंयोगो नासां केनचित् प्रयोजनेन, उभाभ्याम् उत्पन्नानां संयोगः, तस्मात् न गम्यते विशेषः, अगम्यमाने विशेषे उभयार्थानां विभागोऽयं, कश्चित् भागः संयवने कश्चित् निनयने—इति, 'आज्यवत्', यथा 'सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायाम् आज्यम्'—इति ॥

सू. संयवनार्थानां वा प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा. संयवनार्थाः प्रणीताः। कुतः?। तृतीयानिर्देशात्, संयवनेऽपां गुणभावो, द्वितीयानिर्देशाच्च निनयने प्राधान्यं। चिन्तायाः प्रयोजनं,—पुरोडाशाभावे प्रणीतानामभावो यथा पयस्यायाम्॥ (४।२।५ अ०) ॥

---

दण्डदानस्यार्थकर्मताधिकरणम् ॥

सू प्रासनवन्मैत्रावरुणाय दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत् यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन् प्राविशत्सैषा वाक् वनस्पतिषु वदति, या दुन्दुभौ या च तूणवे या च वीणायां, यत् दीक्षिताय दण्डं प्रयच्छति वाचमेवावरुन्धे, क्रीते सोमे मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति', 'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति'—इत्येतत् उदाहरणं। तत्र संशयः,—किं दीक्षितधारणे शेषभूतस्य दण्डस्य मैत्रावरुणधारणं प्रतिपत्तिः, अथवा अर्थकर्म?—इति। किं प्राप्तम्?—'मैत्रावरुणाय दण्डदानं' प्रतिपत्तिः। कुतः?। दीक्षितधारणे 'कृतार्थत्वात्', 'दण्डेन दीक्षयन्ति'—इति शेषभूतस्य अन्यत्र व्यापारः प्रतिपत्तिर्न्याय्या, यथा, 'चात्वाले कृष्णविषाणां प्रास्यति'—इति कण्डूयने शेषभूतायाः प्रासनं प्रतिपत्तिः, एवम् अत्रापि द्रष्टव्यं। द्वितीया च दण्डे विभक्तिः। तस्मात् प्राधान्यम्—इति ॥

सू अर्थकर्म्म वा कर्तृसंयोगात् स्रग्वत् ॥ १७ ॥ (सि०)

भा 'अर्थकर्म वा' स्यात्। कुतः?। 'कर्तृसंयोगात्', कर्तृसंयोगो भवति, 'मैत्रावरुणाय दण्डम्'—इति कर्तृदण्डसंयोगो भवति, तस्मिंश्च दण्डो गुणभूत, पुरुषः प्रधानभूतः, पुरुषं हि स प्रचरितुं समर्थं करोति। कथं?। यथा पूर्वं तमोऽवगाढतोऽपः* सर्पति गा च सर्पं च वारयति अवलम्बनं च भवति, अतः पुरुषप्राधान्यात् न प्रतिपत्तिः; 'स्रग्वत्' द्रष्टव्यं, यथा 'स्रजमुद्गात्रे ददाति'—

---

* तमो विगाढतोऽपः क० सं० पु० पाठः ॥

भा. इति असत्यप्युपकारे पुरुषस्य प्रयोजनवत्त्वात्, निष्प्रयोजनत्वाच्च स्रजः, भवति पुरुषप्राधान्यम्, एवम् इहापि द्रष्टव्यं। तस्मात् न प्रतिपत्तिः—इति।

अथ यदुक्तं,—द्वितीयाश्रवणात् दण्डप्राधान्यम्—इति। उच्यते,—"तथा युक्तं चानीप्सितम्"—(१।४।५ पा० सू०) इति द्वितीया द्रष्टव्या। कुतः?। मैत्रावरुणे चतुर्थीनिर्देशात्, सम्प्रदाने हि चतुर्थी भवति, सम्प्रदानं च कर्मणा अभिप्रेयते, तच्च दण्डादभिप्रेततरो मैत्रावरुणः—इति गम्यते॥

सू कर्म्मयुक्ते च दर्शनात्॥ १८॥ (यु०)॥

भा. 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यनूद्यते, तेन प्रचरतो दण्डं प्रदर्शयति। तत् अर्थकर्मणि सति उपपद्यते, प्रतिपत्तौ तु दण्डो मैत्रावरुणाय दत्तस्ततोऽपवृज्येत, क्षतं च कर्त्तव्यम्—इति न तेन प्रयोजनम्—इति न धार्येत, तत्र एतद्दर्शनं नोपपद्यते, तथा 'अहिरसि दशति—इति मैत्रावरुणं ब्रूयात् अहिरिव श्रेयः'—इति, तथा, 'मुसल्यन्वाह'—इति, मुसलशब्दश्च दण्डे प्रसिद्धः, यथा, क्व नु खलु मुसलिनो माणवका गङ्गामवतरेयुः—इति, तस्मात् अपि अर्थकर्म॥ (४।२।६ अ०)॥

---

पूर्वाधिकरणे आशङ्कानिरासः॥

तथा प्रासनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम्॥

सू उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत्, श्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात्॥ १९॥

भा. यदुक्तं,—यथा कृष्णविषाणाप्रासनम्—इति। तत्र उच्यते,—युक्तं तत्र उत्पद्यमानं यत्, येन प्रयोजनेन सम्बद्धम् उत्पद्यते,

भा. तत्, तदर्थमेव न्याय्यं, तस्य अन्यत्र गमने प्रतिपत्तिः—इत्येतत् उपपद्यते, यदि न दृष्टं प्रयोजनं भवति; इह तु दृष्टं प्रयोजनं मैत्रावरुणस्य धारणे, तस्मात् विषममेतत्।

अथ वा अधिकरणान्तरं, विषाणायाः कण्डूयनं प्रासनं च उभयमपि प्रयोजकम्—इति पूर्वः पक्षः, 'एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात्' (४।१।२२ सू०)—इति। उत्तरः पक्षः,—कण्डूयने तृतीयानिर्देशात् विषाणाया गुणभावः, प्रासने च द्वितीयानिर्देशात्, अन्यत्र च कृतार्थत्वात् प्रधान्यम्—इति॥ (४।२।७ सू०)॥

---

अवभृथगमनस्य प्रतिपत्तिकर्मताधिकरणम्॥

सू. सौमिके च कृतार्थत्वात्॥ २०॥ (सि०)॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमेऽवभृथो,—'वारुणेनैककपालेन अवभृथमभ्यवयन्ति'—इति। तत्र समाम्नायते,—'वरुणगृहीतं वा एतत् यज्ञस्य यदृजीषं* यद्ग्रावाणः यदौदुम्बरी यदधिषवणफलके, तस्मात् यत्किंचित् सोमलिप्तं द्रव्यं तेन अवभृथं यन्ति'—इति। तत्र संशयः,—किं सोमलिप्तानां द्रव्याणाम् अवभृथगमनं प्रतिपत्तिः, अथ वा अर्थकर्म?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—प्रतिपत्तिः—इति। कुतः?। 'कृतार्थत्वात्', कृतार्थान्येतानि द्रव्याणि तत्र तत्र, तेषाम् अवभृथगमनं प्रतिपत्तिर्न्याय्या॥

सू. अर्थकर्म वाभिधानसंयोगात्॥ २१॥ (पू०)॥

भा. अर्थकर्म वा, अभिधानेन संयोगात्, 'तेन अवभृथं यन्ति'—इति, तेन अवभृथसंज्ञकं निष्पादयन्ति—इति, तृतीया 'तेन'—

---

* निष्पीडितस्य सोमस्य नीरसो भाग ऋजीषम् इति माधवः॥

भा. इति, द्वितीया 'अवभृथम्'—इति। तस्मात् सोमलिप्तं गुणभूतम्, अवभृथः प्रधानभूतः—इति॥

सू. प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थावभृथश्रुतिः॥ २२॥
(उ०)॥

भा. 'प्रतिपत्तिर्वा'। कुतः?। 'तन्न्यायत्वात्' एव, एष हि न्यायः, यत् अन्यत्र कृतार्थमन्यत्र प्रतिपाद्यते, तत् इह यदि सोमलिप्तं द्रव्यम् अवभृथे करणं विधीयते, ततोऽर्थकर्म, अथ सोमलिप्तेन यानं विधीयते, ततः प्रतिपत्तिः, न हि अत्र सोमलिप्तं विधीयते अवभृथे, तथा सति अवभृथसोमलिप्तसम्बन्धः 'अभ्यवयन्ति'—इत्यनेन आख्यातेन विधीयेत, तत्र वाक्येन विधानं स्यात्, न तु श्रुत्या, यानेऽमुना विधीयमाने श्रुत्या विधानं, तत्परिगृहीतं भवति, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी, तस्मात् प्रतिपत्तिः। अथ यत् उक्तम्,—'अर्थकर्म अभिधानेन संयोगात्'—इति। तत्र ब्रूमः,—एवं सति देशार्था अवभृथश्रुतिः,—'अवभृथं यन्ति'—इति, अवभृथेन देशं लक्षयति, यस्मिन् देशेऽवभृथः, तं देशं यन्ति—इति। तस्मात् प्रतिपत्तिः—इति॥ (४।२।८ अ०)॥

---

कर्तृदेशकालविधीनां नियमार्थताधिकरणम्॥

सू. कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात्॥
२३॥ (पू०)॥

भा. इदं श्रूयते,—'पशुबन्धस्य यज्ञक्रतोः षड्ऋत्विजः, दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः, चातुर्मास्यानां क्रतूनां पञ्च ऋत्विजः, अग्निहोत्रस्य यज्ञक्रतोः एक ऋत्विक्, सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदश ऋत्विजः, तथा, 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत; पौर्णमास्यां पौर्णमास्या

भा यजेत, अमावास्यायाममावास्यया'—इति। तत्र सन्देहः,— किं कर्तृदेशकाला विधीयन्ते, उत अनूद्यन्ते?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—'कर्तृदेशकालानाम् अचोदनम्' (अनुवादः)। कुतः? 'प्रयोगे नित्यसमवायात्', प्रयोगे नित्यसमवेता एते—इति न, ऋते कर्तृदेशकालेभ्यः, प्रयोगः सिध्यति, तेन प्रयोगचोदनायैव प्राप्तानामनुवादः। 'ननु विषमादिप्रतिषेधार्थमेतद्वचनं भविष्यति। नेति ब्रूमः, उपदेशकमेवञ्जातीयकं वचनम् न प्रतिषेधकं, तस्मात् अनुवादः—इति॥

सू नियमार्थो वा श्रुतिः॥ २४॥ (सि०)॥

भा उच्यते,—न चैतदस्त्यनुवादः—इति, अनुवादमात्रम् अनर्थकं, यदि विधिः, एवम् अपूर्वम् अर्थं प्रकरिष्यति, तस्मात् विधिः—इति। 'ननु प्रयोगाङ्गत्वात् प्राप्त एव—इति। उच्यते,—'नियमार्था' श्रुतिः भविष्यति। कोऽस्य नियमः? अनियतस्य नियतता, प्रयोगाङ्गतया सर्वे देशाः प्राप्नुवन्ति, न तु समुच्चयेन, यदा समः, न तदा विषमः, यदा विषमः, न तदा समः, स एष समः प्राप्तश्च अप्राप्तश्च, यदा न प्राप्तः, स पक्षो विधिः प्रयोजयति, अतो विषमचिकीर्षायाम् अपि समो विधीयते। तस्मात् विषमस्य अप्राप्तिः विधौ सति भवति—इति समो विधीयते। एवम् इतरेष्वपि, तस्मात् विधिः—इति॥ (४।२।९ अ०)॥

---

द्रव्यगुणविधानस्य नियमार्थताधिकरणम्॥

सू तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात्॥ २५॥

भा (अधिकरणप्रदेशोऽयम्*)। इदमामनन्ति,—'वायव्यं श्वेत

---

* 'पूर्वाधिकरणोक्तयुक्तेरेवास्य सिद्धिस्तस्यैवाप्रपञ्च' इति टीका॥

भा मालभेत भूतिकामः', तथा, 'सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेत् शुक्लानां व्रीहीणां ब्रह्मवर्चसकामः', तथा नैर्ऋतं चरुम् निर्वपेत् कृष्णानां व्रीहीणाम्—इति। तत्र सन्देहः,—किं श्वेतादिवर्णो विधीयते, उत अनूद्यते?—इति। किं प्राप्तम्?—अनूद्यते, द्रव्यश्रुतिगृहीतत्वात्। विधिर्वा,—पक्षे प्राप्तस्य नियमार्थः—इति। पक्षोक्तं प्रयोजनम् उभयोरप्यधिकरणयोः॥ (४।२।१० अ०)॥

---

अवघातादिसंस्कारविधानस्य नियमार्थताधिकरणम्॥

सू संस्कारे च तत्प्रधानत्वात्॥ २६॥

भा (अयमप्यधिकरणप्रदेशः)। दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'व्रीहीन् अवहन्ति, तण्डुलान् पिनष्टि'—इति, तत् किम्, इमौ विधी, उत अनुवादौ?—इति संशयेऽर्थप्राप्तत्वात्, अनुवादौ—इति प्राप्ते नियमार्थत्वात् विधी?—इति॥ (४।२।११ अ०)॥

---

यागस्वरूपनिरूपणाधिकरणम्॥

सू यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्॥ २७॥

भा शेषविनियोगः उक्तः, किं तत् प्रधानं? यस्य एते शेषाः—इति। उच्यते,—यजति ददाति जुहोति—इत्येवंलक्षणम्। अथ किंलक्षणको यजतिजुहोतिर्ददातिश्च?—इति। 'यजतिचोदना, तावत् 'द्रव्यदेवताक्रियं',—द्रव्यं देवता च, तस्य द्रव्यस्य क्रिया, (यया तयोः सम्बन्धो भवति); 'समुदाये' (समुदितेष्वेषु) यजतिशब्दो भवति, लोके इष्टोऽनेन पशुपतिः—इति, तेन मन्यामहे,—द्रव्य-देवता-क्रियस्यार्थस्य यजतिशब्देन प्रत्यायनं

भा क्रियते—इति। लक्षणकर्मणि प्रयोजनं न वक्तव्यम्, ज्ञानमेव अत्र प्रयोजनम्*—इति॥ (४।२।१२ अ०)॥

---

होमस्वरूपनिरूपणाधिकरणम्॥

सू तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात्॥ २८॥

भा अथ किंलक्षणको जुहोति?—इति 'तदुक्ते' (यजत्युक्तेऽर्थे) जुहोति श्रूयते, आसेचनाधिके तस्मात् यजतिरेव असेचनाधिको जुहोति, ऊनमनेन—इति एवञ्जातीयके वक्तारो भवन्ति लोके, वेदेऽपि यजतिचोदितं जुहोतिना अनुवदति—'षड्यामिण चतुर्होत्रा याजयेत्, चतुर्गृहीतमाज्यं कृत्वा† चतुर्होतारं व्याचक्षीत पूर्वेण ग्रहेणार्द्धं जुहुयादुत्तरेणार्द्धम्'—इति॥

अथ ददाति किंलक्षणक?—इति। आत्मनः स्वत्वव्यावृत्तिः परस्य स्वत्वेन सम्बन्धः। यजति ददाति जुहोतिषु सर्वेषु उत्सर्गः समानः तत्र यजतिर्देवताम् उद्दिश्योत्सर्गमात्रं, जुहोति आसेचनाधिकः ददाति उत्सर्गपूर्वकः परस्वत्वेन सम्बन्धः,—इत्येष एषां विशेषः—इति॥ (२।४।१३ अ०)॥

---

* "समुदाये शतार्थत्वादित्ययुक्तोऽयं ग्रन्थः न हि यागशब्दो द्रव्यदेवताक्रियं त्रितयमपि ब्रवीति, किं तर्हि यजिधातुवाच्यम् इत्यादि" उच्यते—न यदार्थलक्षणमिदं, किं तर्हि यजेत स्वर्गकाम इति साधनत्वेन यागस्य चोद्यमानस्य प्रयोगः कथ्यते, यत् देवतोद्देशेन द्रव्यं त्यजति तेन यागोऽनुष्ठितो भवति, न त्यागमात्रे यागः कृतो भवतीति, तस्मात् प्रयोगकथनमेवैतत् सूत्रकारस्य यजतिचोदनेत्याह, चोदनेति हि वाक्यमुच्यते' इत्यन्तम् वार्त्तिकमनुसन्धेयम्॥

† स्थापयित्वा इति का० मी० पु० पाठः॥

बर्हिषः आतिथ्यादिसाधारण्याधिकरणम् ॥

सू. विधेः कर्म्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ॥ २८ ॥ (पू०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'यत् आतिथ्यायां बर्हिः, तत् उपसदां, तत् अग्नीषोमीयस्य'*—इति। तत्र सन्देहः,—किं परद्रव्यस्य उपदेशः (१), उत निरिष्टिकस्य (२), अथ वा धर्मविधिप्रदेशः (३), अथ वा द्रव्यसाधारण्यम्?—इति। किं प्राप्तम्?—(१) 'परद्रव्यस्य उपदेशः। कुतः?। परद्रव्यस्य उपदेशसदृशः शब्दः,—'यत् आतिथ्यायां, तत् उपसदाम्'—इति, यथा, यो देवदत्तस्य गौः, स विष्णुमित्रस्य कर्त्तव्यः—इति देवदत्तात् आच्छिद्य विष्णुमित्राय दीयते—इति, अतः परद्रव्यस्य उपदेशः'—इति। न च एतदस्ति, तथा सति आतिथ्यायां तस्य विधानं यत् पूर्वं, तत् अनर्थकं स्यात्।

(२) 'एवं तर्हि निरिष्टिकस्य उपदेशः, तेन आतिथ्यायां यत् विहितम्, आतिथ्यायां यत् उपात्तम्'—इति, तथा सत्यर्थवत् आतिथ्यायां तत् वचनं, निरिष्टिकेन तु उपसदः कर्त्तव्या भवन्ति, न च, एष शिष्टानामाचारः, न च, सर्वे चोदकप्राप्ता धर्मा भवेयुः, अतो ब्रूमः,—(३) 'विधेः कर्मापवर्गित्वात् अर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात्', तत् बर्हिः परिसमाप्तायाम् आतिथ्यायाम् अपवृत्तं, पूर्वं तत् आतिथ्यायाः, उपसत्काले आतिथ्यासम्बन्धः तस्य नास्ति, भूतपूर्वेण आतिथ्यया कर्मणा लक्ष्येत, लक्षणा-

---

* क्रीतं सोमं शकटेऽवस्थाप्य प्राचीनवंशमत्यानयनेऽभिमुखो यामिष्टिं निर्वपन्ति, सेयम् आतिथ्या, तत ऊर्द्धं त्रिषु दिनेषु अनुष्ठीयमाना उपसदः, औपवसथ्ये [illegible] माधवः ॥

भा शब्दस्य न न्याय्य। तस्मात् आतिथ्यावर्हिष आज्ञस्याभावात् यद्धर्मकमातिथ्यावर्हिः, तद्धर्मकम् उपसदाम् अग्नीषोमीयस्य च —इति न्याय्यम्॥

सू अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात्॥ ३०॥ (सि०)॥

भा अपि वा—इति पक्षो व्यावर्त्तते। उत्पत्तिसंयोग एव एष अस्य बर्हिष, यदि हि उत्पन्नम् आतिथ्याया बर्हिः विशिष्टं स्यात्, तस्य धर्मा औपसदे बर्हिषि अतिदिश्येरन्, न तु तदस्ति केनचित् वाक्येन। एव महास्य, बर्हिषो विशेषो वक्ष्यते,— 'आश्ववालः प्रस्तरः, विधृती चैक्षवौ'—इति, तेन, न परं विहितं बर्हिः उच्यते, न निरिष्टिकं न कुतश्चिद्धर्मा अतिदिश्यन्ते, किं तर्हि?—साधारणमनीया बर्हिः उच्यते,—यत् आतिथ्यायां विधीयते, तत् एवोपसदाम्, अग्नीषोमीयस्य च विधीयते—इति अविशिष्टाना बर्हिषा संयोग एकेन सर्वेषां, यत् आदौ बर्हिर्लूयते, तत् सवन सर्वेषाम् अर्थेन, साधारणो बर्हिष प्रयोग। एव श्रुति शब्दस्य, परिगृहीता भविष्यति इतरथा धर्मलक्षणा भवेत् श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्मात् त्रयाणां साधारणं बर्हिः—इति, प्रयोगप्रयोजनम्॥ (४।२।१४ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिन कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीय पाद॥

---

॥ चतुर्थे अध्याये तृतीयः पादः ॥

द्रव्यसंस्कारकर्मणां क्रत्वर्थताधिकरणम् ॥

सू. द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा. 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति, स च्छन्दसामेव रसेनावद्यति, सरसा अस्य आहुतयो भवन्ति। यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति'—इति; यस्याश्वत्थी उपभृत् भवति, ब्रह्मणैवास्यान्नमवरुन्धे*', यस्य वैकङ्कती ध्रुवा भवति, प्रत्येवास्य आहुतयस्तिष्ठन्ति, अथो प्रैव जायते, यस्य एवंरूपाः स्रुचो भवन्ति, सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनाम् उपतिष्ठन्ते, नास्य अपरूपम् आत्मन् जायते'—इति। तथा ज्योतिष्टोमसंस्कारे फलश्रुतिः, 'यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, तथा, 'केशश्मश्रू वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तति स्नाति, मृता वा एषा त्वगमेध्यं वाऽस्यैतदात्मनि शमलं तदेवोपहते मेध एव मेधम्'† एवमुपैति। कर्मणि फलं श्रूयते,—'अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यदाघारौ, चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यदाज्यभागौ, यत् प्रयाजानुयाजा ईज्यन्ते, वर्म वा एतत् यज्ञस्य क्रियते, वर्म यजमानस्य भ्रातृव्यस्य अभिभूत्यै'—इति।

अत्र सन्देहः,—किम् इमे फलविधयः, उत अर्थवादाः?—इति। किं प्राप्तम्?—फलविधयः, प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् फल-

---

* स ब्रह्मणैवान्नमवरुन्धे इति का० कौ० पु० पाठः॥

† मेध एव इति आ० सो० पु० पाठः॥

भा विधेः, यथा, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्, पालाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य, वैल्वमन्नाद्यकामस्य'—इति, यथैते फलविधयः, एवम् इहापि द्रष्टव्यम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—फलार्थवादाः—इति। कुतः?। 'परार्थत्वात्,—क्रत्वर्थान्येतानि, जुहूः प्रदाने गुणभूता, उपभृदुपधारणे, स्रुवा आज्यधारणे, अञ्जनवपनादि च यजमाने, आघारावाज्यभागौ प्रयाजानुयाजाश्च आग्नेयादिषु। यदि फलेऽपि गुणभावः स्यात्, अन्यत्रोपदिष्टानाम् अन्यत्र पुनर्गुणभाव उपदिष्टः—इति प्रतिज्ञायेत, न चैतत् न्याय्यं, परार्थता हि गुणभावः, क्रत्वर्थता चैषां शब्देन,—'जुह्वा जुहोति' (जुह्वा होममभिनिर्वर्त्तयति)—इति, एवं सर्वत्र। तस्मात् न एते पुरुषार्थाः॥

सू. उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात्॥ २॥ (यु०)॥

भा. 'अथ उच्येत,—पुरुषमपि प्रति गुणभाव उपदिष्टः,—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति'—इत्येवमादिभिर्वाक्यैः'—इति। तच्च न। कस्मात्?। 'उत्पत्तेरतत्प्रधानत्वात्', तत्र, 'पालाशया जुह्वा अ-पापश्लोकश्रवणं क्रियते'—इति न कश्चित् शब्दः आह, एतावत् श्रूयते,—'यस्य असौ भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति'—इति, एतावत् अत्र शब्देन गम्यते,—'यस्य एवंलक्षणा जुहूः, तस्य अ-पापश्लोकश्रवणम्'—इति। तच्च, जुह्वा तत् क्रियते, जुह्वा तदर्था?—इति, नैतत् शब्दः आह।

'ननु अनुमानादेतत् गम्यते,—ध्रुवं पालाशया जुह्वा तत् क्रियते, यतस्तस्या सत्या तत् भवति'—इति। अत्र उच्यते,—न, एवञ्जातीयकं कार्यकारणत्वेऽनुमानं भवति, कार्यकारणसम्बन्धो नाम स भवति, यस्मिन् सति यत् भवति, यस्मिंश्च असति यन्न भवति, तत्र एव कार्यकारणसम्बन्धः, इह तु तद्भावे

भा. भावो ज्ञातः, न अभावेऽभावः,—'यस्य पालाशी न भवति तस्य अ-पापश्लोकश्रवणं नास्ति'—इति, न, एवञ्जातीयकः शब्दोऽस्ति, तेन न, नियोगतोऽवगम्यते,—तेन इदं क्रियते—इति, लक्षणमेतत् पुरुषस्य गम्यते, तस्मात् न अनुमानम्।

अपि च, यस्यापि जुहूः पालाशी भवति, तस्यापि पापश्लोकश्रवणं भवति। कथम् अवगम्यते?। प्रत्यक्षतः। 'ननु एवं सति अग्निहोत्रेणापि फलं न साध्येत। न कृतमात्रेण फलं दृश्यते'—इति। नैष दोषः, न हि तत्र उच्यते,—तावतैव फलं भवति—इति, इह तु वर्त्तमानायां जुहूसत्तायां वर्त्तमानस्य पापश्लोकश्रवणस्य प्रतिषेधः, तस्मात् न तत्र अनुमानम्,—इदं कार्यं, इदं कारणम्—इति। अग्निहोत्रादिषु तु शब्देनैव कार्यकारणसम्बन्ध उच्यते,—तस्मात् तत्र तत्कालेऽदृश्यमानेऽपि फले, कालान्तरे फलं भविष्यति—इति गम्यते, न तु एवञ्जातीयकेषु, तस्मात् न एवञ्जातीयकेभ्यः फलमस्ति—इति।

'ननु 'यस्य पालाशी जुहूर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति' —इत्येवम् उक्ते तत एव तत्फलं भवति—इति गम्यते, तस्मात् इह अपि कालान्तरे फलं भविष्यति'—इति। उच्यते,—सत्यं गम्यते, प्रमाणं तत्र किम्?—इति विचारयामः, न तावत् प्रत्यक्षं, न अनुमानं, न इतरत् दृष्टविषयम् उपमानादि, नो खल्वपि शब्दः—इत्येतत् उक्तम्, वाक्यार्थोऽपि पदार्थोपजनितो भवति, न अन्यथा, तदुक्तं,—(१।१।२५ सू०)—'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः'—इति। तस्मात् अ-प्रमाणमूलत्वात् मिथ्याविज्ञानमेतत्। लौकिकेषु वाक्येषु अर्थैवं गम्यते, तानि हि विज्ञातेऽर्थे प्रयुज्यमानानि अध्याहार्यपदानि गौणानि विपरिणत—व्यवहितार्थानि च प्रयुज्यन्ते, तस्मात् तत्सादृश्यात् वचनागम्येषु अपि अर्थेषु भवति तावद्रूपो मिथ्याप्रत्ययः, यथा मृगतृष्णादिषु।

भा अपि च, वर्त्तमानापदेशोऽप्य, न च, अयमर्थो वर्त्तमान तस्मात् न, खादिरस्रुवादिसद्भावे तत् फलं भवेत्, तदेवमापतति, —खादिरादौ सति भवति तत् फलं नापि भवति असत्यपि भवति वा न वा—इति, नैव विज्ञायेत—कुत तत् फलम्—इति। तस्मात् एवञ्जातीयकेषु उच्चरितेषु न कश्चित् प्रवृत्तिर्वं कुतश्चित् निवृत्ति—इत्यानर्थक्यमक्रियार्थत्वात्। अर्थवादे तु सति भवति प्रयोजनं खदिरादे, स्रुवादिषु कर्मार्थेषु प्रयोजनवत्त्व। यदि एषा क्रतुम् प्रति प्रयोजनवत्ता न स्यात् तत एतदेव फलं कयाचिच्छन्दवृत्त्या भवेत् वा न वा?—इति विचार्येत, सति तु पारार्थ्ये नैव काचिच्छब्दप्रवृत्तिराश्रयितुम् शक्यते, केनार्थं हि सा कल्प्येत। तस्मात् एवञ्जातीयका अर्थवादा, अर्थवादत्वे च अवर्त्तमाने वर्त्तमानशब्द प्रशंसार्थं उपपत्स्यते॥

सू फलन्तु तत्प्रधानायाम्॥ ३॥ (आ० नि०)॥

भा अथ यदुक्तं—यथा, 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात् बैल्वमन्नाद्यकामस्य पालाशं ब्रह्मवर्चसकामस्य—इति युक्तं तेषु विधिविभक्ति कुर्यात—इति वीर्यखादिरसम्बन्धस्य विधात्री, न च वर्त्तमानापदेशिनी। तस्मात् तत्र अविरोध—इति एवं हि पदवाक्यार्थन्यायविद श्लोकमामनन्ति—

कुर्यात् क्रियेत, कर्त्तव्य भवेत् स्यात्—इति पञ्चमम्।
एतत् स्यात सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥

—इति। विधिविभक्ति हि विधायिका चिह्नम् मन्यमाना श्लोकमिमं समामनन्ति। अस्ति चात्र विधिविभक्ति। तस्मात् अनुपपन्नमेतत्—इति॥ (४।३।१ अ०)॥

नैमित्तिकानां वार्हद्गिरादीनामनित्यार्थत्वाधिकरणम् ॥

सू॰ नैमित्तिके विकारत्वात् क्रतुप्रधानमन्यत् स्यात् ॥ ४ ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे नैमित्तिकं,—'वार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्य्यात्, पार्थुरश्मं* राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य'—इति, तथा अग्नौ नैमित्तिकं,—'साहस्रं प्रथमं चिन्वानः चिन्वीत, द्विसाहस्रं द्वितीयं, त्रिसाहस्रं तृतीयम्'—इति, तथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्', कांस्येन ब्रह्मवर्चसकामस्य, मार्त्तिकेन प्रतिष्ठाकामस्य'—इत्येतानि नैमित्तिकानि। तेषु सन्देहः,—किम् एतान्येव नैमित्तिकानि नित्यार्थे, उत अन्यत् तत्र तत्र नित्यार्थे?—इति।

किं प्राप्तमेतान्येव?—इति। कुतः?। अत्र ब्रह्मसामादिभिरवश्यं भवितव्यं, चोदितानि हि तानि, सन्निहितानि साधनानि आकाङ्क्षन्ति, न च, एषां सन्ति विहितानि साधनानि, समीपतश्च नैमित्तिकानि उपनिपतन्ति, तैः प्रकृतैः सन्निहितैरेतानि निराकाङ्क्षीक्रियन्ते—इत्येतत् न्याय्यम्। कथम्?। नैमित्तिकं हि सन्निहितं, वाक्यात् अवगम्यते, नान्यत् श्रूयते,—यावांश्च श्रुतस्य उत्सर्गे दोषः, तावानेव अश्रुतकल्पनायाम्।

'आह, ननु निमित्तार्थानि तानि प्रकृतानि'। उच्यते,—नैष दोषः,—अन्यार्थमपि प्रकृतम् अन्येन सम्बध्यते, यथा, शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं पीयते, उपस्पृश्यते च, एवम् इहापि द्रष्टव्यम्। अथ वा, अस्त्येवात्र अवान्तरवाक्यं, यथा, 'गोदोहनेन प्रणयेत्'—इति, तत् अकामसम्बद्धं गोदोहनेन प्रणयनं प्रापयति। न च, शक्यं श्रुतमुत्स्रष्टुम्। योऽप्ययं,

* पार्थुरश्ममिति का॰ क्री॰ पु॰ पाठः॥

भा. 'पशुकामस्य'—इति शब्दः, स पशुकामसम्बन्धं शक्नुयात् कर्तुम्, न अवान्तरवाक्यस्य अर्थं निवारयितुम्, न च, गम्यमानं, विना कारणेन, अविवक्षितम्—इति शक्यं वदितुम्। भवन्ति च द्विष्ठानि* वाक्यानि, यथा श्वेतो धावति अलम्बुसानां याता—इति। तस्मात् नैमित्तिकान्येव नित्यार्थे भवितुमर्हन्ति—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'नैमित्तिकें' श्रूयमाणे आत्वर्थम् 'अन्यत् स्यात्'—इति। कुतः?। 'विकारत्वात्' (विशेषे श्रुतत्वात्—इत्यर्थः), विशेषे हि तत्र नैमित्तिकं श्रूयते, तत्, असति तस्मिन् विशेषे न भवितुमर्हति। यदुक्तम्, अवश्यकर्त्तव्यानि—इति, नैष दोषः,—अवश्यकर्त्तव्यत्वात् करिष्यन्ते। यत्तु, नान्यदेषां विहितं साधनम्—इति, सामान्यविहितं भविष्यति—इति न दोषः। किन्तु तत्?। अभीवर्त्तो ब्रह्मसाम, अग्रादग्रमन्वगतोऽग्निः, वारवं मध्यनपाशम्। अथ यदुक्तं, सन्निहितैः प्रकृतैर्नैमित्तिकैर्ब्रह्मसामादीनि सम्भन्त्स्यन्ते—इति। न—इति ब्रूमः,—न हि बार्हद्गिरादीनां प्रकरणम्। अघोचेत,—प्रकृतैः स्तोत्रादिभिः सम्बध्यन्ते—इति, एतदपि नोपपद्यते,—यद्यपि प्रकृतानि नित्यानि स्तोत्रादीनि, तथापि वाक्येन निमित्तसंयोगे श्रूयन्ते बार्हद्गिरादीनि, वाक्यं च प्रकरणाद्बलीयः। यदुक्तं,—सन्निधानाद्वाक्यादवगतोऽयमर्थः—इति, न, एवञ्जातीयको वाक्यार्थः सामान्यं पदार्थं बाधितुमर्हति, निमित्तसंयोगे हि बार्हद्गिरादीनामर्थवत्ता। तस्मात् तत्र तत्रान्यत् नैमित्तिकात्—इति।

अथ यदुक्तम्,—अवान्तरवाक्येन गोदोहनमपि प्रापितं न शक्यम् उत्स्रष्टुम्, यत्ने कारणात्, (अविवक्षितं कल्पयितुम्†),

* द्विविधानि इति आ० सो० पु० पाठः॥

† इदञ्च 'उत्स्रष्टुम्' इत्यस्य विवरणम्॥

भा दिष्ट हि तत् भवति—इति। उच्यते,—कारणात् अविवक्षितम्। किं कारणम्?। न हि, इद युगपत् भवति,—परिपूर्णेन च अर्थाभिधानम् अवान्तरवाक्येन च—इति। कथम्?। प्रणयति—इति अपूर्वं नयतौ विधिविभक्ति स्वपदगतमर्थं श्रुत्या विदधाति, प्रणयनादिसम्बन्धमपि गोदोहनादि श्रुत्या, वाक्येन च। यस्त फलस्य गोदोहनादेश्च सम्बन्ध, स छित्वा श्रुत्यर्थं, केवलेन वाक्येन। 'अथ, प्रणयनस्य गोदोहनादिसम्बन्ध, गोदोहना देश्च फलेन सम्बन्ध वदति'—इति उच्यते। न, द्व्यर्थाभिधानात् भिद्येत नितरां वाक्य, न च एतच्चराय्यम्।

यत्तु,—श्वेतो धावति—इत्येवमादि, भवेत् तत्र विशेषानव गमात् उभयार्थावगति। इह तु गम्यते विशेष कर्मिपदो द्वारेण, स इह श्रौतोऽर्थं। मन्येत, यदि गोदोहनादे क्रिया सम्बन्धो विवक्ष्यते, कर्मिपद प्रमादो भवेत् न च अथ प्रमाद, नैवावान्तरवाक्यार्थं विवक्षिते कर्मिपदसम्बन्धोऽवकल्पते। तस्मात् न दिष्ट याक्य गोदोहनादि कर्मिसम्बन्ध एव अत्र अभिधीयते, न नित्यकार्यं भवितुमर्हति—इति, एव सर्वत्र॥ (४।३। २ अ०)॥

---

दध्यादेर्नित्यनैमित्तिकोभयार्थताधिकरणम्॥

(सयोग पृथक्त्वन्याय)॥

सू एकस्य तूभयत्वे सयोगपृथक्त्वम्॥ ५॥ (सि०)॥

भा अग्निहोत्रे श्रूयते,—'दध्ना जुहोति—इति, पुनश्च 'दध्नेन्द्रिय-कामस्य जुहुयात्—इति, तथा अग्नीषोमीये पशावाम्नायते —'खादिरे बध्नाति'—इति, पुनश्च 'खादिर वीर्यकामस्य यूप कुर्यात्—इति। तत्र सन्देह,—किम् अत्राप्यन्येत्

भा उत नैमित्तिकमेव ?—इति। किं प्राप्तम् ?—पूर्वेण न्यायेनान्यत् —इति। एवं प्राप्ते ब्रूम,—'एकस्य उभयत्वे'—(नित्यत्वे नैमित्तिकत्वे च) 'संयोगपृथक्त्वम्' कारणं, तत् इह संयोग पृथक्त्वम् अस्ति,—एकः संयोगः—'दध्ना जुहोति'—इति, एकः, —'दध्नेन्द्रियकामस्य'—इति, तथा एकः,—'खादिरे बध्नाति' —इति अपरः,—'खादिरं वीर्यकामस्य'—इति। तस्मात् नित्यार्थं कामाय च दधि—खादिरादि—इति ॥

सू शेषः इति चेत् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा इति चेत् पश्यसि—कस्मात् न पूर्वस्य अयमपि शेषो भवति ? यदेतदुक्तं,—'दध्ना जुहोति', 'खादिरे बध्नाति'—इति, तस्य एव तु दध्नः फलम् इन्द्रियं, तथा खादिरस्य वीर्यं, तथ इदं च एकं वाक्यम्—इति ॥

सू नार्थपृथक्त्वात्* ॥ ७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं—पृथगेतावर्थौ यच्च दधिहोमसंयोगः यच्च दधी न्द्रियसंयोगः, तथा खादिरस्य बध्नातिना संयोगः वीर्येण च, द्वावेतावर्थौ द्वावपि च विधित्सितौ अर्थैकत्वाच्चैकं वाक्यं समधि गतम्, इहार्थद्वयेन भिद्येत वाक्यम्। कथं ?। जुहोतिसमभि

---

* 'प्रणयनं हि विधीयमानं पात्राकाङ्क्षमेव विधीयते, तत्र यत् प्रणयति, केनापि पात्रेण, तच्चमसेनेति तस्याकाङ्क्षा निवर्त्तयति। अत प्रणयनस्य युक्तैकवाक्यता प्रयोजनैकत्वात् इह तु दध्ना जुहो तीति होमप्रयोजनेनैव निराकाङ्क्षत्वात् नान्यत् प्रयोजनमपेक्षते, इतरदपि इन्द्रियेण साध्येन निराकाङ्क्षीकृतम्, तस्मात् द्वयोरपि साध्ययोः परस्परसम्बन्धो नास्त्यर्थभेदात्" इति वार्त्तिकमत्रानु सन्धेयम् ॥

भा. व्याहृता विधिविभक्तिः, असम्भवे श्रौतस्य होमविधानस्य, गुणं समभिव्याहृतं विधातुमर्हति, तदसम्भवे गुणफलसम्बन्धम्। तत्र हि अत्यन्ताय श्रुतिः उत्सृष्टा वाक्यानुरोधेन स्यात्, न च, युगपत् सम्भवासम्भवौ सम्भवतः। तस्मात् यदेव नैमित्तिकं तदेव नित्यार्थम्—इति॥ (४।३।३ अ०)॥

---

पयोव्रतादीनां क्रतुधर्मताधिकरणम्॥

सू. द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्॥ ८॥ (सि०)॥

भा. ज्योतिष्टोमे समामनन्ति,—'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू-राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अयं पुरुषधर्मः, उत क्रतोः?—इति। प्रकरणं बाधित्वा वाक्येन विनियुक्तः पुरुषस्य—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पुरुषाणां क्रियार्थानां शरीरधारणार्थो बलकरणार्थश्चायं संस्कारो व्रतं नाम, स क्रतुधर्मो भवितुमर्हति, प्रकरणानुग्रहाय। 'ननु वाक्यात पुरुषधर्मः'—इति। न—इति ब्रूमः,—तथा सति फलं कल्प्यं, क्लृप्तम् इतरत्र, प्रयोगवचनेनोपसंहृतं हि तत् प्रधानस्य। तस्मात् क्रतुधर्मः॥

सू. पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत॥ ९॥ (यु०)॥

भा. 'अथ पुरुषसंयोगः किमर्थः?'। व्यवस्थापनार्थः—इति ब्रूमः,—पयोव्रत ज्योतिष्टोमस्य भवति, तत्तु ब्राह्मणकर्तृकस्य एव, न अन्यकर्तृकस्य—इति। एवं सर्वत्र॥ (४।३।४ अ०)॥

---

विश्वजिदादीनां सफलत्वाधिकरणम् ॥

(इत प्रभृति अधिकरणत्रयम् विश्वजिन्न्यायः) ॥

## सू चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत नह्यशब्दं प्रतीयते ॥ १० ॥

भा इदमामनन्ति,—'तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति'—इति, तथा, सर्वेभ्यो वा एष देवेभ्यः सर्वेभ्यः छन्दोभ्यः सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य आत्मानमागुरते, यः सत्रायागुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्वस्तोमेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत—इत्येवंलक्षणके श्रुते, भवति सन्देहः,—किं निष्फलमेतत् कर्ममात्रम्, उत सफलम्?—इति। किं प्राप्तम्?—निष्फलम्—इति। कुतः?। 'फलाश्रुतेः', अश्रूयमाणके कर्मणि एवंजातीयके 'न हि अशब्दं प्रतीयते'।

'ननु वैदिकानि कर्माणि फलवन्ति भवन्ति—इत्येवम् उक्तम्'। उच्यते,—फलदर्शनात्तानि फलवन्ति—इति उक्तं, न वैदिकत्वात्। 'एवं तर्हि कर्त्तव्यतावगमात् फलवन्ति—इति अथ वक्ष्यामः, सुखफलं हि कर्त्तव्यं भवति'—इति। उच्यते,—प्रत्यक्षविरुद्धम् एवंजातीयकस्य कर्मणस्सुखत्वं साक्षाद्धि तत् दुःखफलमवगच्छामः, न च एवंजातीयकं प्रत्यक्षविरुद्धं वचनं प्रमाणं भवति, यथा अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, शिला प्लवन्ते पावकः शीतः—इति। अपि च अनुमानात् अत्र सुखफलता,—यस्मात् कर्त्तव्यम् अतः सुखफलम्—इति प्रत्यक्षं च अनुमानाद्बलीयः। तस्मात् निष्फलम् एवंजातीयकम्—इति।

'एवं हि अत्र फलं कल्प्येत, यद्येतत् फलवत् एवम् उपदेशोऽर्थवान् भवति'—इति। उच्यते—कामं वाक्यम् अनर्थकम्—इति न्याय्यं वचनं भवेत्, भवन्ति हि अनर्थकान्यपि वचनानि,

भा.—दश दाडिमानि, षडपूपाः—इत्येवञ्जातीयकानि। 'ननु विश्वजिद्व्यापारः सुखफलः'—इति। उत्तरं,—सुखफलं हि भवति अपूर्वं, न व्यापारः, न च, अयम् अपूर्वस्य कर्त्तव्यताम् आह, फलकर्त्तव्यतायां हि सत्यां तत् अवगम्यते, वाक्यार्थश्च फलस्य कर्त्तव्यताम् आह न पदार्थः, न च, अत्र फलसम्बद्धं वाक्यमस्ति। तस्मात् न, अयम् अपूर्वस्य विधायकः शब्दः, व्यापारमात्रमेव* विदधाति, स च व्यापारो न तदात्वे सुखफलः, न अपि आयत्यां, भङ्गित्वात्, तच अपूर्वं कल्पयित्वा फलमवगम्येत, फलं च कल्पयित्वा अपूर्वम्, एवम् इतरेतराश्रयं भवति, इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते। तस्मात् निष्फलम् एवञ्जातीयकम्—इति।

'आह,—अध्याहरिष्यामहे फलवचनम्'†। उच्यते,—न शक्यं परिपूर्णे वाक्ये अध्याहर्त्तुम्, परिपूर्णं हीदं वाक्यं,—विश्वजित् यागः कर्त्तव्यः—इति, न, किञ्चित् पदमस्ति साकाङ्क्षं, येन अध्याहृत्य फलं सम्बध्येत, यथा‡ अचेमेऽपि पथि, भवति विप्रलम्भक उपदेशः,—क्षेमोऽयं, यथा गच्छतु भवान् अनेन—इति, परिपूर्णमेव इदं वाक्यं, न अध्याहारमर्हति विप्रलम्भककर्तृकं, एवम् इदमपि परिपूर्णं वाक्यं न अध्याहारमर्हति। अपि च, अध्याह्रियमाणेन एव इदं वाक्यं सम्बध्येत, विश्वजित् यागः कर्त्तव्यः, इदं च फलं भवति—इति, द्वाविमौ अर्थौ, एकार्थं च वाक्यं समधिगतम्। तस्मात् अनर्थकम् एवञ्जातीयकं कर्म—इति॥

---

* यागमात्रमेव इति का॰ सो॰ पु॰ पाठः।

† फलमिति भा॰ सो॰ पु॰ पाठः।

‡ क्षेमोऽयं पन्था इति का॰ सो॰ पु॰ पाठः।

सू० अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानां ह्यर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतो ह्यसमर्था- नामानन्तर्य्येऽप्यसम्बन्धः तस्माच्छ्रुत्येकदेशः सः ॥ ११ ॥ (सि०)॥

भा० 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। न चैतदस्ति,—अफलम्—इति, फलं—'चोदनार्थेन गम्येत'। कतमेन अर्थेन?। कर्त्तव्यतावचनेन। 'आह,—ननु व्यापारस्य प्रत्ययविवक्षा कर्त्तव्यता'। न व्यापारस्य उच्यते। कस्य तर्हि?। व्यापारेण अन्यस्य कस्यचित्—इति, भवति तेन इदानीं वाक्यं साकाङ्क्षं, तत्र अध्याहारोऽवकल्पते, भवति च अध्याहारेण अपि कल्पना, यथा, 'द्वारं द्वारम्—इति उक्ते, संव्रियताम् अपाव्रियताम्—इति। 'कथं पुनः अवगम्यते, इह अध्याहारेण कल्पयितव्यम्?'—इति। आम्नानसामर्थ्यात्, एवम् इदम् आम्नानम् अर्थवत् भविष्यति, शक्नोति च अर्थमवगमयितुम्। तस्मात् न अनर्थकम्।

'ननु यत् पदम् अध्याह्रियते, तत् पौरुषेयं, तेन अवगतं च अप्रमाणम्'। उच्यते,—न अपूर्वम् अध्याहरिष्याम, वैदिकेन एव अस्य सह अन्यत्र समाम्नातेन, एकवाक्यताम् अध्यवस्याम। 'आह —न एव शक्यम् अन्तिकादुपनिपतितं हि पदं, वाक्यार्थम् उपजनयितुमलं भवति, न दूरादवतिष्ठमानम्'। अत्र उच्यते —व्यवहितमपि हि पराणुद्य व्यवधायकम् आनन्तर्येण मनसि विपरिवर्त्तमानम् अलमेव भवति विशेषम् उपजनयितुम्, यथा,

'इतः पश्यसि धावन्तं दूरे जातं वनस्पतिम्।
त्वां ब्रवीमि विशालाक्षि' या पिनक्षि जरद्गवम् ॥

भा.—इति 'इतः पश्यसि'—शब्दो बुद्धौ भवति, सः, 'दूरे जातं वनस्पतिम्',—एतैः पदैर्व्यवहितेन 'जरद्गवम्'—इत्यनेन शब्देन व्यवधायकानि अपोह्य सम्बध्यमानः सम्बध्यते, 'अर्थानां हि अर्थवत्त्वेन' हेतुना व्यवहितान्यपि 'वचनानि' सम्बध्यन्ते, यानि पुनर् 'अयतो हि' असमर्थानि, तानि 'आनन्तर्येऽपि' सति न परस्परेण सम्बन्धमर्हन्ति, यथा, 'या पिनाकि जरद्गवम्'—इत्येवमादीनि। तस्मात् न पौरुषेयता भविष्यति। 'आह, —ननु अत्रापि अपेक्षा पौरुषेयी'। उच्यते,—न अपेक्षा वेदे, वेदार्थप्रतिपत्तावभ्युपाय एष भवति, अनन्तरापेक्षायाम् असम्भवन्त्याम् 'आम्नानसामर्थ्यात्' इतरापेक्षा इतिराश्रीयते। 'तस्मात् श्रुत्येकदेशः सः', (फलकामपदं दूरेऽपि यत् तस्य वाक्यस्य एकदेशभूतम् इत्यर्थः)॥

सू. वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥ १२ ॥ (यु०)॥

भा 'इन्द्राय राज्ञे सूकरः'—इति यथा वाक्यान्तरस्थेन विधिशब्देन गुणविधानं भवति, एवं फलविधानमपि भवितुमर्हति—इति, यथा, 'वरुणो वा एतमग्रे प्रत्यगृह्णात्'—इति व्यवधारणकल्पना। एवम् इदमपि द्रष्टव्यम् ॥ (४।३।५ अ०)॥

---

विश्वजिदादीनामेकफलताधिकरणम् ॥

सू. तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥ १३ ॥ (पू०)॥

भा 'तस्मात् पितृभ्यः पूर्वेद्युः करोति'—इति, 'विश्वजिता यजेत' —इति फलवत् एवंविधं कर्म—इत्येतत् समधिगतम्। इदं तु सन्दिह्यते,—किं सर्वफलमेतत् कर्म, उत एकफलम्?—इति। किं प्राप्तं?—'तत् सर्वार्थम्'—इति। कुतः?। 'अनादेशात्',—

भा न किञ्चित् इह अतिदिश्यते,—इदं नाम फलम्—इति। अस्ति चेत्, विज्ञायेत। तस्मात् सर्वार्थम् अविशेषात्॥

सू　एकं वा चोदनैकत्वात्॥ १४॥ (सि०)

भा　एकं फलं स्यात् न 'वा सर्वार्थम्। कुत ?। 'चोदनैकत्वात् साकाङ्क्षत्वात् एतत् अधिपदेन सम्बध्यते—इत्युक्तं यथानेके नापि सम्बद्धुम् शक्नोति, तत् एकेन सम्बध्यते, एकेन सम्बद्धं सत् निराकाङ्क्षं भवति न तत् अपरेणापि सम्बन्धमर्हति। तस्मात् एकैव कर्त्तव्यता—चोदना व्याख्या, तस्मात् एकफलता—इति॥ (४।३।६ अ०)॥

---

विश्वजिदादीनां स्वर्गफलताधिकरणम्॥

सू　स स्वर्गः स्यात्, सर्व्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्॥ १५॥ (सि०)॥

भा　एवञ्जातीयकेष्वेवोदाहरणेष्वेतत् समधिगतम्—एकं फलम् —इति। इदम् इदानीं सन्दिह्यते—किं यत्किञ्चित् उत स्वर्गः ?—इति। यत्किञ्चित्—इति प्राप्तम् विशेषानभिधानात् तत्र उच्यते,—'स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्', —सर्वे हि पुरुषाः स्वर्गकामाः। कुत एतत्?। प्रीतिर्हि स्वर्गः, सर्वश्च प्रीतिं प्रार्थयते। 'किम् अतः। यद्येवम् अविशेषवचन शब्दो न विशेषे व्यवस्थापितो भविष्यति यजेत 'कुर्यात्— इति। तस्मात् स्वर्गफलम् एवञ्जातीयकम्—इति॥

सू　प्रत्ययाच्च॥ १६॥ (यु०)॥

भा　भवति च,—अनादिष्टफले कर्मणि स्वर्गः फलम्—इतिप्रत्ययो लोके एवम् उच्यते,—आरामगतः देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्गः

भा. तड़ागद्यात् देवदत्तः, नियतोऽस्य स्वर्गः—इति। किम् अतो यद्येवम्?। इत्थमनेन न्यायेन स्वर्गे सम्प्रत्ययो भवति, यस्मात् स्वर्गफलेषु कर्मसु कर्त्तव्येषु फलवचनं नैव उच्चारयन्ति, गम्यते एव—इति। तस्मादपि अवगच्छामः, एवञ्जातीयकेषु स्वर्गः फलम्—इति॥ (४।२।७ अ०)॥

---

राचिसत्रस्यार्थवादिकफलकत्वाधिकरणम्॥

(राचिसत्रन्यायः)॥

सू क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः॥१७॥ (पू०)॥

भा. रात्रीः प्रकृत्य श्रूयते,—'प्रतितिष्ठन्ति ह वा एते, य एता उपयन्ति; ब्रह्मवर्चस्विनोऽन्नादा भवन्ति, य एता उपयन्ति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं ते फलार्थवादाः, उत फलविधयः?—इति। किम् प्राप्तं?—फलार्थवादाः—इति 'कार्ष्णाजिनिः' मेने। कुतः?। फलार्थवादस्वरूपा एते शब्दाः—इति। किं सारूप्यम्?। विधिविभक्तेरभावः, 'अङ्गवत्', यथा, 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति, स छन्दसामेव रसेनावद्यति'—इत्येवमादिषु॥

सू फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्॥१८॥ (सि०)॥

भा 'आत्रेयः' पुनराचार्यः एवञ्जातीयकेभ्यः, 'फलम्' अस्ति—इति मेने, न, फलार्थवादः—इति। कुतः?। अश्रुतफलत्वेऽस्य-मीषा, फलचोदनया वाक्यशेषभूतया भवितव्यं। तस्मात् अन्या व्यवहिता सती अव्यवहिता कल्पनीया, इयं त्वव्यवहिता क्लृप्तैव, प्रतिष्ठया ब्रह्मवर्चसस्तथा च समभिव्याहार आसां प्रत्यक्षः, विधिविभक्तिमात्रमन्यतोऽपेक्ष्यम्।

भा 'आह—कथं केवलं विधिविभक्तिमात्रम् अन्यतो भविष्यति? यत् अनेन प्रतिष्ठादिना धात्वर्थेन सम्भत्स्यते—इति। उच्यते—सह धात्वर्थेन, भविष्यति, न केवलं, तस्मात् अदोषः। अथ वा रात्रीणां या विधायिका विभक्तिः, सा इममपि प्रतिष्ठादि विशेषं विधास्यति प्रयोगवचनेन, स्तुतिर्वा सह प्रतिष्ठादिभि र्विधायी भविष्यति—इति॥

सू अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात्॥ १९॥ (आ° नि°)॥

भा अथ यदुक्तं—यथा 'यस्य खादिरः स्रुवो भवति—इत्येवं खादिरेषु फलश्रुतिः अर्थवादो भवति एवम् इहापि स्यात्—इति युक्तं तत्र फलार्थवादः फलविध्यसम्भवात् फलार्थवाद सम्भवाच्च। तदुक्तं—द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुति रर्थवादः स्यात् (४। ३। १ सू°)—इति॥ (४। ३। ८ अ°)॥

---

काम्यानां यथोक्त—काम्यफलकत्वाधिकरणम्॥

सू काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः॥ २०॥ (पू°)॥

भा काम्यानि कर्माणि उदाहरणम्—'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्म वर्चसकामः—इत्येवमादीनि—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एषां स्वर्गः फलं कामश्च उत कामः एव?—इति। किं प्राप्तम्?—काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गः स्यात्। कथं? सर्वपुरुषार्थाभि धायी सामान्यवचनः शब्दः न विशेषे अवस्थापितो भवति, शक्यते हि अस्य दूरस्थेनापि स्वर्गकामशब्देन सम्बन्धः। 'आह—'ननु विशेषकः शब्दः श्रूयते—ब्रह्मवर्चसकाम'—इति। नच विशेषकः, उपाधिकरः एषः यथा काष्ठान्याहरतुम् प्रस्थित उच्यते—भवता शाकम् अपि आहर्त्तव्यम्—इति, काष्ठाहरणे

भा. शाकाहरणम् उपाधिः क्रियते—इति। किम् इदम् उपाधिः क्रियते?—इति। काष्ठाहरणाधिकारसमीपे द्वितीयं कर्मापधीयते, सति काष्ठाहरणे, इदम् अपरं कर्त्तव्यम्—इति। एवम्, इहापि स्वर्गफले फलमपरम् उपधीयते,—'ब्रह्मवर्चसकामो यागेन स्वर्गमभिनिर्वर्त्तयेत्'—इति। न हि, तत्र ब्रह्मवर्चसफलवचनं स्वर्गफलस्य प्रतिषेधकं, 'यथा, यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः',—गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्'—इति, यः पशुकामः स गोदोहनेन प्रणयनम् अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति॥

सू वीते च कारणे नियमात्॥ २१॥ (यु०)॥

भा. 'वीते च कारणे', वीतायां फलेच्छायाम् अवाप्ते वा फले समाप्तिनियमो दृश्यते, इष्टिकामेष्ट्या,—'यदि वर्षेत् तावत्येव जुहुयात्, यदि न वर्षेत् श्वोभूते जुहुयात्'—इति, यदि न स्वर्गः, किमर्थं समाप्तिनियमो भवेत्। तस्मात् नित्यः स्वर्गः—इति॥

सू कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते॥ २२॥ (सि०)॥

भा 'कामो वा' फलं भवेत्, न स्वर्गः, 'तत्संयोगेन' अस्य चोदना भवति, न स्वर्गकामसंयोगेन, आनुमानिकोऽस्य स्वर्गकामेन एकवाक्यभावः, प्रत्यक्षस्तु कामवचनेन, प्रत्यक्षं च अनुमानाद्बलीयः। तस्मात् काम एव फलम्—इति॥

सू अङ्गे गुणत्वात्॥ २३॥ (आ० नि० १)॥

भा अथ यदुक्तं,—यथा यज्ञाङ्गे—इति, युक्तं, 'अङ्गे, गुणत्वात्'। प्रत्यक्षः तत्र क्रतुना संयोगः, कामेन च,—'यः पशुकामः स्यात्, स गोदोहनेन प्रणयनम् अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति, न तु अत्र प्रत्यक्षः शब्दोऽस्ति,—यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात्, स यागेन

भा स्वर्गमभिनिर्वर्त्तयेत्—इति। कथं तर्हि?—यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात् स तत् यागेन निर्वर्त्तयेत्—इति। तस्मात् न अङ्गवत् भवितुमर्हति—इति॥

सू वीते च नियमस्तदर्थम्॥ २४॥ (आ० नि० २)॥

भा अथ यदुक्तं,—वीतया फलेच्छायाम्, अवाप्ते वा फले समाप्तिनियमो दृश्यते—इति। तत्र ब्रूमः,—'वीते नियमः तदर्थं', वीते नियमो भवति, तस्मै प्रयोजनाय। कस्मै?। शिष्टाविगर्हणाय,—उपक्रम्य अपरिसमापयतः,—तदनन्तरमेवैनं शिष्टा विगर्हयेयुः,—माक्रमिकोऽयं कापुरुषः—इति वदन्तः, ये हि दैवेभ्यः सङ्कल्प्य हविः, न यागमभिनिर्वर्त्तयन्ति, तान् शिष्टा विगर्हन्ते तस्मात् अवश्यं समापयितव्य, तत्र एतद्दर्शनं युक्तं भविष्यति,—'यदि वर्षेत् तावत्येव जुहुयात्—इति। तस्मात् काम्यानां काम एव फलम्—इति॥ (४।३।८ अ०)॥

---

दर्शपूर्णमासादीनाम् सर्वकामार्थताधिकरणम्॥

(इत आरभ्यति अधिकरणद्वयं दर्शपूर्णमासन्यायः)॥

सू सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात्॥ २५॥ (पू०)॥

भा इदमाम्नायते,—'एकस्मै वा अन्या इष्टय कामाय आह्रियन्ते सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ, 'एकस्मै वान्ये क्रतवः कामाय आह्रियन्ते, सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अङ्गकामैः अङ्गाङ्गकामैश्च सह अस्य अनुवादः, अथवा विधिः?—इति। किं प्राप्तम्?—अनुवादः—इति, यदेतत् 'सार्वकाम्यं', तदनूद्यते, अङ्गकामैश्च अङ्गाङ्गकामैश्च सह, सन्ति हि अङ्गकामाश्च अङ्गाङ्गकामाश्च, यथा 'आहार्यपुरीषा पशुकामस्य

भा. वेदिं कुर्यात्, खननपुरीयां प्रतिष्ठाकामस्य'—इत्येवमादयः, तथा,—'यदि कामयेत, वर्षेत् पर्जन्यः'—इति नीचैः सदो मिनुयात्'—इति, तत् विहितमेव इदमभिधीयते,—इत्यनुवादं न्याय्यम् मन्यामहे ॥

सू. फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंप्रयोगात् ॥ २६ ॥ (सि०) ॥

भा. फलविधिर्वा। कुतः?। प्रधानशब्देन फलसंयोगो भवति, —'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ', 'सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः'—इति च, प्रधानाभिधानेन च प्रधानस्य सर्वफलवत्ता विहिता। तस्मात् न अनुवादः। अथ अङ्गकामान् अङ्गाङ्गकामांस्त्वपेक्षते, तथा लक्षणाशब्दः स्यात्, श्रुतिश्च लक्षणाया गरीयसी। तस्मात् प्रयोगवचनेन विधिः—इति ॥ (४।३।१० अ०) ॥

---

दर्शपूर्णमासादीनां प्रति-फलं पृथगनुष्ठानाधिकरणम् ॥

(योगसिद्धिन्यायः) ॥

सू. तच सर्व्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा. एवञ्जातीयकेषु एव उदाहरणेषु एतत् उक्तं,—प्रधाने सर्वकामानां विधिः—इति। इदम् इदानीं सन्दिह्यते,—किं सकृत्-प्रयोगे सर्वे कामाः, उत पर्यायेण?—इति। किं प्राप्तम्?—सकृत्प्रयोगे 'सर्वे' कामाः—इति। कथं?। सर्वेषां कामानां दर्शपूर्णमासौ निमित्तं, ज्योतिष्टोमश्च—इति, निमित्तं चेत् सर्वेषां कामानां, कोऽन्य खलु कामो न भविष्यति?—इति। तस्मात् यौगपद्येन सर्वे कामाः—इति ॥

सू योगसिद्धिर्व्वार्थस्योत्पत्त्यसयोगित्वात्॥ २८ ॥ (सि०)॥

भा न चैतदस्ति, सर्वे युगपत् कामा —इति, पर्यायो 'योग सिद्धि', पर्यायेण भवेयु कामा —इति। कुत ?। 'अर्थस्य उत्पत्त्यसयोगित्वात्' अर्था इमे कामा नाम, न सर्वे एव युगपत् उत्पद्यन्ते असम्भवो युगपदुत्पत्ते सर्वथा, विरोधात्। अथ वा, 'उत्पत्त्यसयोगित्वात्'—इति न, कामानामेतत् उत्पत्तिवचनम्, उत्पन्नाना लक्षणत्वेन वचन, ये सर्वे कामास्तेभ्यो दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमश्च—इति, न सर्वे कामा कर्मण श्रूयन्ते, ये सर्वे कामास्तेभ्यो हि कर्म विधीयते। तस्मात् न कामाना साहित्य गम्यते—इति ॥ (४।३।११ अ०)॥

एव वा —

काम्यानामैहिकामुष्मिकफलवत्वाधिकरणम्॥

(वर्चकामादम्)॥

सू तत्र सर्व्वेऽविशेषात् ॥ २७ ॥ (पू०)॥

भा काम्यानि कर्माणि उदाहरणम् — सौर्यं चरु निर्वपेत् ब्रह्म वर्चसकाम, ऐन्द्राग्नमेकादशकपाल निर्वपेत् प्रजाकाम, चित्रया यजेत पशुकाम, वैश्वदेवीं साङ्ग्रहायणीं* निर्वपेत् ग्रामकाम —इति, तेषु सन्देह —किम् इह लोके कामा, उत अमुष्मिन् लोके ?—इति। किं प्राप्तम् ?— तत्र (अमुष्मिन् लोके) कामा, "अविशेषात् यथा स्वर्ग एवम् इमेऽपि, न हि, अनन्तरानर्दत्ते कर्मणि फलम् उपलभ्यते पश्वादि, यत्र अनन्तरम् उपलभ्यते, तत् तत —इति विज्ञायते, यथा यत्काल मर्दन, तत्काल मर्दन

---

* साग्रहिणीम् इति आ० सो० पु० पाठ ।

भा सुरा, यच्च कालान्तरे उपलभ्यते, तस्याप्यन्यदेव कारणं मत्यक्षं, शरीरग्रहणस्य तु न अदृष्टादृते किञ्चित् कारणमस्ति। तस्मात् विशिष्टेन्द्रियशरीरादि फल पशुसम्बन्धसमर्थं पशुफलात् कर्मणो भवति—इत्येव बोद्धव्यम्। तद्धि दर्शयति,—'कैकयो यज्ञ विवित्सन् दाल्भ्यम् उवाच अनया मा राष्ट्रप्रतिपादनीयया इष्ट्या याजयेति, सोऽब्रवीत् न वै सौम्य राष्ट्रप्रतिपादनीया वेत्थ, अमुष्मै कामाय यज्ञा आह्रियन्त'—इति जन्मान्तरफलतां दर्शयति। तस्मात् जन्मान्तरफलानि काम्यानि—इति॥

सू योगसिद्धिर्वार्थस्योत्पत्त्यसंयोगित्वात्॥ २८॥ (सि०)॥

भा इह एवैषा सिद्धिः योगस्य, उत्पत्त्या योगो न सम्भवति, य पशुभ्य कामयते, स एतेन यागेन कुर्यात्—इति, न अचेतत् गम्यते,—इह जन्मनि न सम्भवति—इति। यच्च,—अनन्तर नोपलभ्यते—इति, तत्र, प्रत्यक्षानुमानाभ्या न गम्यते, शब्देन त्वस्ति गति। यत्तु,—कालान्तरेऽन्यत् कारणम्—इति, न एष दोष, अन्यदपि भविष्यति एतदपि। यच्च,—'अमुष्मै कामाय यज्ञा आह्रियन्ते—इति, अत्र उच्यते,—एवम् अस्य ऋषेर्मतम्,—इह यस्य फल तेन त्वा न याजयामि, यस्य अमुत्र फल तेन च याजयिष्यामि—इति। तस्मात् एतत् परिहृतम्—इति॥ (४।३।१२ अ०)॥

---

सौत्रामण्यादीनां चयनाद्यङ्गताधिकरणम्॥

सू समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात्॥ २९॥ (सि

भा 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत, वाजपेयेन इष्ट्वा इहर

भा सवेन यजेत'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः एषः, उत कालार्थः संयोगः ?—इति । अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति ब्रूमः,—एवं हि श्रुतिविनियुक्तोऽर्थः, इतरथा कालो लक्ष्येत, श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा । तस्मात् अग्न्यङ्गं सौत्रामणी, वाजपेयाङ्गं बृहस्पतिसवः—इति ॥

सू कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा एवं चेत् पश्यसि,—अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति, अथ कालविधानं कस्मात् न भवति? कालविधिरूपो हि शब्दः 'चित्वा' (चयनेऽभिनिर्वृत्ते)—इति ॥

सू नासमवायात्प्रयोजनेन स्यात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'न' एतदेवम्, 'असमवायात्' शब्द—'प्रयोजनेन' (शब्दार्थेन —इत्यर्थः),—शब्दार्थश्चयनं, तेन असमवायः स्यात् सौत्रामण्या, वाजपेयेन च बृहस्पतिसवस्य ; प्रकरणं च बाध्येत, अग्निप्रकरणे श्रूयमाणः अग्नेर्धर्मो गम्यते यागः, वाजपेयप्रकरणे च वाजपेयस्य, इतरथा, तयोः प्रकरणेऽन्यस्य धर्मः कालो गम्येत । तस्मात् अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इति ॥ (४ । ३ । १३ अ०) ॥

---

वैमृधादेः पौर्णमास्याद्यङ्गताधिकरणम् ॥

सू उभयार्थमिति चेत् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥

भा दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति,—'संस्थाप्य पौर्णमासीं वैमृधमनुनिर्वपति'—इति । तत्र सन्देहः,—किम् उभयाङ्गं वैमृधः, कालार्थः पौर्णमासीसंयोगः ; उत अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः?—इति । किं प्राप्तम्?—एवं चेत् उभयार्थो वैमृधः । कुतः?। प्रकरणे

भा. उभयोः आम्नानसामर्थ्यात्, कालविधिसारूप्याच 'संस्थाप्य' —इति ॥

सू. न शब्दैकत्वात् ॥ ३३ ॥ (सि॰) ॥

भा. एकः शब्दः,—'अनुनिर्वपति'—इति, एकस्मिन् एव वाक्ये न द्वौ सम्बन्धौ शक्नोति विधातुम्,—वैमृधस्य दर्शपूर्णमासाभ्यां, पूर्णमासीकालेन च। एकार्थत्वात् हि एकं वाक्यं समधिगतम् ॥

सू. प्रकरणादिति चेत् ॥ ३४ ॥ (आ॰) ॥

भा. प्रकरणात्—इति यदुक्तं,—तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

सू. नोत्पत्तिसंयोगात् ॥ ३५ ॥ (सि॰) ॥

भा. नैतदेवम्,—एतदेव वैमृधस्य उत्पत्तिवाक्यं, तत् दर्शपूर्णमासाभ्यां वा प्रकरणात् एकवाक्यभावमियात्, प्रत्यक्षं वा पौर्णमास्या, तत्र प्रत्यक्षसंयोगः प्रकरणात् बलवान्, प्रत्यक्षस्य पौर्णमास्या संयोगः, परोक्षः कालेन, तस्मात् पौर्णमास्या अङ्गं वैमृधः—इति ॥ (४।२।१४ अ॰) ॥

---

अनुयाजादीनामाग्निमारुतोर्द्ध्वकालताधिकरणम् ॥

सू. अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ॥ ३६ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमारुतात् ऊर्द्धम् अनुयाजैश्चरन्ति', 'प्रहृत्य परिधीन् जुहोति हारियोजनम्'—इति। तत्र सन्देहः, —किम् अङ्गम् विधीयते, उत कालः?—इति। अङ्गविधाने श्रुतिः, कालविधाने लक्षणा, तस्मात् अङ्गविधानम्—इति प्राप्ते

भा ब्रूम :—अनुत्पत्तिवाक्ये 'कालः स्यात्', अग्निमारुत सोमाङ्गम्, अनुयाजाः पश्वङ्ग, तत्र न तयोः परस्परेण सम्बन्धः। तथा, परिधयः पश्वङ्ग, हारियोजनम् अन्यदेव प्रधानम्। अनुयाजः आग्निमारुत च प्राप्तम् आनन्तर्यमेव तयोर्न प्राप्तं, तत् विधीयते, तथा, हारियोजनस्य परिधिप्रहरणस्य च। एवं च सति, न हारियोजनस्य परिधिप्रहरणेन कश्चित् उपकारः क्रियते, हारियोजनेन वा परिधिप्रहरणस्य। 'ननु परिधिप्रहरणस्य उपरिष्टाद्भावेन तस्य उपक्रियेत'—इति। उच्यते, न हि उपरिभावार्थं परिधिप्रहरणम् अनुष्ठेयम्, विद्यते एव एतत् पश्वर्थं, तस्मिंश्च सति तस्य उपरिभावो विद्यते एव—इति। तस्मात् कालार्थः सम्बन्धः—इति॥ (४।३।१५ अ०)॥

---

सोमादीनां दर्शपूर्णमासोत्तरकालताधिकरणम्॥

सू उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्॥ ३७॥

भा इदम् आम्नायते,—'दर्शपूर्णमासौ इष्ट्वा सोमेन यजेत'—इति। तत्र सन्देहः—किम् एतत् अङ्गस्य विधानम् उत कालस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—श्रुतेः अङ्गस्य। इति प्राप्ते उच्यते,—अस्मिन् कालाङ्गविधानसंशये 'कालः स्यात् वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्', कालप्रधानं हि एतत् वाक्यं न यागविधानपरम्, अतत्परताऽस्य, रूपावचनात्। कथं रूपावचनम्?। देवताभावात्। कथम् अभावः?। अश्रुतत्वात्, या हि यस्य श्रूयते, सा तस्य देवता भवति, श्रुत्या हि देवता गम्यते, न प्रत्यक्षादिभिः। तस्मात् न अपूर्वस्य यागस्य विधाने, कालार्थे अनुवादे न अयं दोषः,—विहितदेवताको हि अनूद्यते। तस्मात्

भा. अत्र कालार्थः सम्बन्धः—इति। तच्च दर्शयति—'एष वै देवरथो यत् दर्शपूर्णमासौ, यद्दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एव अवसाने वरे देवानामवस्यति*'—इति, प्रदर्शिते मार्गे रथेन यातुम् सुखं भवति, एवं दर्शपूर्णमासाविष्ट्वा सोमेन यष्टुम् सुखं भवति, दर्शपूर्णमासप्रकृतीनि तस्य दीक्षणीयादीनि अभ्यस्तानि भवन्ति, एवम् अर्थवादोऽर्थवान् भवति ॥ (४।३। १६ अ०) ॥

---

वैश्वानरेष्टेः पुत्रगतफलकत्वाधिकरणम् ॥

(इतः प्रभृति अधिकरणद्वयं जातेष्टिन्यायः) ॥

सू. फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात् ॥ ३८ ॥

भा. 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् आत्मनिःश्रेयसाय, उत पुत्रनिःश्रेयसाय?—इति। आत्मनिःश्रेयसाय—इति ब्रूमः,—न इमानि फलदानि परस्य भवन्ति कर्माणि। कुतः?। आधाने आत्मनेपदनिर्देशात्, यथा,—'यदि एकं कपालं नश्येदेको मासः संवत्सरस्य अपेतः स्यात्, अथ यजमानः प्रमीयेत द्यावापृथिवीयम् एककपालं निर्वपेत्। यदि द्वे नश्येयातां, द्वौ मासौ संवत्सरस्य अपेतौ स्यातां, अथ यजमानः प्रमीयेत आश्विनं द्विकपालं निर्वपेत्, सङ्ग्रायोदासयति यजमानस्य गोपीथाय'—इति, कपालनाशे निमित्ते आत्मनिःश्रेयसफलं कर्म दर्शयति; एवम् इहापि द्रष्टव्यम्, तस्मात् आत्मनिःश्रेयसम्—इति।

---

* यो दर्शपूर्णमासाविति माधवीयन्यायमालायां पाठः। अवसाने निश्चिते, वरे मार्गे इति माधवः।

भा. —एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'फलसंयोगो' न स्यात् पितुः, फलवचनं शेषभूतं पुत्रस्य, न पितुः। कथम्?। एवं श्रूयते,—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते, यत् अष्टाकपालो भवति, गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति, यत् नवकपालो भवति, त्रिवृतैवास्मिंस्तेजो दधाति, यत् दशकपालो विराजैवास्मिन् अन्नाद्यं दधाति, यत् एकादशकपालः त्रिष्टुभैवास्मिन् इन्द्रियं दधाति, यत् द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पशून् दधाति। यस्मिन् जाते एताम् इष्टिं निर्वपति, पूत एव स तेजस्वी अन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति'—इति, यो जातः, तत्र फलं श्रूयते, नास्ति वचनस्य अतिभारः। तस्मात् पुत्रस्य फलम्—इति।

यदुक्तं,—न परस्य फलदान्येतानि कर्माणि—इति, तदुच्यते, यत् पुत्रस्य फलम्, आत्मनः सा प्रीतिः, तस्मात् आत्मनेपदं न विरुध्यते, एतामेव आत्मनः प्रीतिमभिप्रेत्य भवति वचनम्,—'आत्मा वै पुत्रः'—इति,

'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्'—
इति॥

सू अङ्गानामुपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३९ ॥
(आ० नि०)॥

भा अथ यदुक्तं,—'यदि एकं कपालं नश्येत्'—इत्येवमादि। तत्र उच्यते,—'अङ्गानाम् उपघातसंयोगो निमित्तार्थः' उपपद्यते, नान्यथा, न हि, कपाले नष्टे तदन्वेषणार्था इष्टिरुक्ता, न हि, याज्ञिक्यां नष्टायां तदन्वेषणं कार्षापणेन क्रियते॥ (४।१।१[illegible] अ०)॥

एवं वा,—

वैश्वानरेष्टेर्जातकर्मोत्तरकालताधिकरणम् ॥·

सू. अङ्गानान्तूपघातसंयोगो निमित्तार्थः ॥ ३८ ॥

भा. 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते'—इति। तत्र सन्देहः,—किं जातमात्रे, उत कृते जातकर्मणि?—इति। जातमात्रे—इति ब्रूमः,—सम्प्राप्ते हि निमित्ते नैमित्तिकेन भवितव्यम्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—कृते जातकर्मणि—इति। कुतः?। सामर्थ्यात्, कृते हि जातकर्मणि प्राशनं तस्य विधीयते, यदि प्राक् जातकर्मणः, इष्टिः क्रियते, प्राशनकालो विप्रलुप्येत, तत्र अस्य शरीरधारणं न स्यात्। अथ यदुक्तम्,—सम्प्राप्ते निमित्ते हि नैमित्तिकेन भवितव्यमिति। उच्यते,—'अङ्गानानुपघातसंयोगो निमित्तार्थः',—'उपघातः' पुत्रजन्म, तत् भूतं निमित्तम्, न तत्कालोऽङ्गम्, तत्र निमित्तम्, कृतेऽपि जातकर्मणि नापैति। इतरस्मिन् पक्षे कालोऽपेयात्, लक्षणा चास्मिन् पक्षे स्यात्। तस्मात् कृते जातकर्मणि—इति।

*अथ किमशौचमध्ये यस्मिन् कस्मिन् वा अहनि, उत स्वकाले?—इति। किम् प्राप्तम्?—यस्मिन्-कस्मिन् वा अहनीति,—एवम् अनियमः प्राप्तः। अत्रोच्यते,—पौर्णमास्याममावास्यायां वा। कुतः?। श्रुतेः, एवं हि श्रूयते,—'य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत, स पौर्णमास्याम् अमावास्यायां वा यजेत'—इति। नातिभारो वचनस्य, इतरस्मिन् पक्षे कालोऽपेयात्। लक्षणाप्यस्मिन् पक्षे स्यात्! अन्यस्यां तिथावशौचमध्ये वा कुर्वन् सर्वाणि अङ्गानि उपसंहर्तुम् न शक्नुयात्! कामं शौचस्य

* एतच अधिकरणान्तरमिति माधवाभिप्रायः ॥

भा नोपसङ्गृह्णीयात्' तस्मात् अतीते दशाहे पौर्णमास्याममावास्याया वा कुर्यात्—इति ॥ (४।३।१८ अ०) ॥

---

सौत्रामण्याद्यङ्गानां स्वकालकर्त्तव्यताधिकरणम् ॥

सू प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम्* ॥ ४० ॥ (पू०) ॥

भा 'अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत', 'वाजपेयेन इष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत'—इति, अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः—इत्युक्तम्, एतत् इदानीं सन्दिह्यते,—किं चित्यमात्रे, तदनन्तरमेव कर्त्तव्यम्, उत स्वकाले कर्त्तव्यम् ?—इति, तथा वाजपेये किं बृहस्पतिसवे, उत स्वकाले ?—इति। 'मुख्यकालत्वम्' अनयोः स्यात्। कुतः ?। प्रधानकालत्वात् 'अङ्गानाम्', एको हि कालः प्रधानानाम् अङ्गानां च—इति वक्ष्यते,—'अङ्गानि तु विधानत्वात् प्रधानेन उपदिश्येरन्'—इति, अग्निचयनं कृत्वा न तावति एव स्यात्, सौत्रामणीसञ्ज्ञकोऽपरो यागः कर्त्तव्यः—इति। तथा, वाजपेयम् अभिनिर्वर्त्य न एतावता कृती स्यात्, बृहस्पतिसवसञ्ज्ञकं यागम् अभिनिर्वर्त्तयेत्—इति ॥

सू अपवृक्ते तु चोदना तत्सामान्यात् स्वकाले स्यात् ॥ ४१ ॥ (सि०) ॥

भा 'अपवृक्ते' यागे चोद्यते यागान्तरम् इदम्, अपवृक्तिश्च सर्वेषु यागाङ्गेषु अकृतेषु न भवति†, न, यथा भवान् मन्यते,—

---

* इदञ्च अधिकरणम् वार्त्तिक तन्त्ररत्न शास्त्रदीपिकासु अथ नोल्लिखितम् ॥

† कृतेषु भवति इति का० को० पु० पाठः ॥

भा. यागमात्रे निर्वृत्ते—इति। कुतः?। करणविभक्त्या संयोगात्,—'वाजपेयेन इष्ट्वा' (वाजपेयेन फलस्य व्यापारं कृत्वा), साङ्गेन च व्यापारो गम्यते न निरङ्गेन, भवेत् तन्नमध्ये प्रयोगः, यदि वाजपेयम् अभिनिर्वर्त्य—इतीप्सितभावो वाजपेयस्य स्यात्, ततः प्रधानमात्रं वाजपेयसंज्ञकम् अभिनिर्वर्त्य—इति गम्येत, न तु एवमस्ति। तस्मात् यथोक्तानि सर्वाण्यङ्गानि कारयेत्यर्थः। एवं चेत्, निर्वृत्ते प्रयोगे, अतिक्रान्ते वाजपेयकाले यागः प्रयुज्यते, तस्य चोदनासामान्यात्, ज्योतिष्टौमिके विध्यन्ते प्राप्ते स्वेन चोदकप्राप्तेन कालेन भवितव्यम्, सौत्रामण्याः चोदनासामान्यात्, दर्शपूर्णमासकालेन—इति।

'आह,—'वाजपेये तावत् 'इष्ट्वा'—इतिवचनात् यागम् अभिनिर्वर्त्य—इति गम्यते, अग्नौ तु नोपपद्यते, तत्र 'चित्वा'—इतिवचनात् चयनम् अभिनिर्वर्त्य—इत्यर्थः स्यात्'। उच्यते,—नैतदेवम्,—'अग्निं चित्वा'—इति हि श्रूयते, (अग्निं चयनेन संस्कृत्य—इत्यर्थः), 'अग्निः'—इति ज्वलनोऽभिधीयते, न तस्य स्थलस्थापनमात्रम् उपकारः, यदि स्थलस्थिते यागो भवति, ततश्चयनेन अग्नेः उपकारोऽस्ति, 'तमभिनिर्वर्त्य'—इति स्थलस्थितेऽग्नौ यागमभिनिर्वर्त्त्येति गम्यते, यावत् स्थलस्थितेऽग्नौ यागो न भवति, न तावदग्निः चयनेनोपक्रियते। येन अग्निर्यजमानस्य उपकरोति, सोऽग्नेरुपकारो न स्थलस्थापनमात्रम्। तस्मात् तत्रापि यागम् अभिनिर्वर्त्य—इति गम्यते॥ (४।३।१९ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः॥

चतुर्थे अध्याये चतुर्थः पादः ॥

---

राजसूयेज्यानां विवेचनाद्यङ्गत्वाधिकरणम् ॥

सू. प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥ १ ॥
( पू० ) ॥

भा सन्ति अनुमत्यादीनि ऐष्टिकानि कर्माणि,—गलूहादयः पशवः, पवित्रादयः सोमाः, वाल्मीकवपायां होमः—इत्येवमादीनि दार्विहोमिकानि; तथा,—'पष्ठौहीं दीव्यति, राजन्यं जिनाति, शौनःशेपमाख्यापयति अभिषिच्यते*'—इति, एतेषां सन्निधौ श्रूयते,—'राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—इति, स एष स्वरूपतो यागानां सन्निधौ अरूपः शब्दः श्रूयमाणः समुदायवाचकः समधिगतः। तत्र सन्देहः,—किं सर्वेषाम् अनुमत्यादीनां समुदायस्य राजसूयशब्दो वाचकः, उत केषाञ्चिद्वाचकः केषाञ्चित् न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वेषां वाचकः'—इति। कुतः?। 'प्रकरणशब्दसामान्यात्,—प्रकरणशब्दः सर्वेषां समानो राजसूयेन—इति, राजा तत्र सूयते, तस्मात् राजसूयः, राज्ञो वा यज्ञो राजसूयः, तत् प्रकरणसन्निधाने सति, विशेषाभावे च सर्वेषां वाचको भवितुमर्हति, यश्च राजसूयशब्दितः ततः फलं भवति। तस्मात् सर्वाणि प्रधानानि—इति॥

---

* षष्ठौही गर्भिणवत्सयुक्ता। यावता वयसा पृष्ठे भारं वोढुं समर्था भवति तावद्वयस्का पष्ठौही इति माधवः। 'पष्ठौहीम्' इत्यत्र 'पष्ठौहीः' इति आ० सो० मु० पाठः। एवं परत्र ॥

सू. अपि वाङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ॥ २ ॥
(सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। या 'अनिज्याः' ता 'अङ्गं', यथा विदेवनादयः, 'राजसूयसंज्ञकेन यागेन स्वाराज्यं कुर्यात्'—इत्युच्यमाने यागेनैव स्वाराज्यं साध्यते, न अयागेन, अयागाश्च विदेवनादयः। तस्मात् अङ्गं भवेयुः, इज्यानां फलवतीनां श्रूयमाणाः—इति ॥ (४।४।१ अ०) ॥

---

विदेवनस्य कृत्स्नराजसूयाङ्गताधिकरणम् ॥

सू. मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥ ३ ॥ (पू०) ॥

भा. राजसूयेऽभिषेचनीयमध्ये 'यक्षैर्दीव्यति'—इति विदेवनादयः समाम्नाताः, ते किम् अभिषेचनीयस्य अङ्गम्, उत कृत्स्नस्य राजसूयस्य?—इति संशयः। उच्यते,—मध्याम्नानात् अभिषेचनीयस्य—इति, तथा आनन्तर्यम् अनुग्रहीष्यते—इति॥

सू. सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्नहि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥ ४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'सर्वासां' चानुमत्यादीनां चोदनानामङ्गं विदेवनादि स्यात्। कुतः?। 'चोदनातः' 'समत्वात्', समाना एता अनुमत्याद्याश्चोदनाः, ताः सर्वाः फलवत्यश्च प्रधानभूताः; सर्वासाम् आसां 'प्रकरणं', 'न हि' अभिषेचनीयस्य केवलस्य। क्रमात् अभिषेचनीयस्य प्राप्नुवन्ति, प्रकरणात् सर्वासां, प्रकरणं च क्रमाद्बलीयः। तस्मात् न अभिषेचनीयस्य केवलस्य—इति, अभिषेचनीयस्य तु मध्ये स्थानं विदेवनादीनां, तत्र क्रियमाणाः सर्वासाम् उपकुर्वन्ति—इति॥ (४।४।२ अ०) ॥

सौम्यादीनामुपसत्कालकत्वाधिकरणम् ॥

सू प्रकरणाविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥ ५ ॥
(पू०) ॥

भा राजसूये उपसदः प्रकृत्य श्रूयते,—'पुरस्तात् उपसदां सौम्येन प्रचरन्ति, अन्तरा त्वाष्ट्रेण, उपरिष्टात् वैष्णवेन'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् उपसदङ्गं सौम्यादयः, उत उपसत्कालाः ?—इति। उपसदङ्गम्—इति ब्रूमः। कुतः ?। उपसत्संयोगस्य श्रुतत्वात्, कालविधौ सति लक्षणा स्यात्, तस्मात् उपसदङ्गम्—इति।

'ननु कालवत् अङ्गम् भविष्यति, तथा सति उभयम् अनुगृह्येत,—उपसत्संयोगस्य, 'पुरस्तात्'—इति च कालाभिधानम्, उपसच्छब्दसंयोगात् उपसदङ्गता भविष्यति, पुरस्ताच्छब्दसामर्थ्याच्च पूर्वादिषु प्रयोगः'—इति। उच्यते,—'विप्रतिषिद्धं हि उभयं',—न शक्नोति 'उपसदाम्'—इत्येष शब्दः, सौम्यादींश्च विशेष्टुम्, एकस्मिन् वाक्ये, पूर्वादींश्च, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् न कालवत् अङ्गम् ॥

सू अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ॥ ६ ॥
(सि०) ॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'कालमात्रं स्यात्', न अङ्गप्रयोजनसम्बन्धः। कुतः ?। 'अदर्शनाद्विशेषस्य',—न अन्यैः कालाभिधानैः अस्य कश्चित् विशेषो लक्ष्यते, 'आग्निमारुतात् ऊर्द्ध्वम् अनुयाजैश्चरन्ति'—इत्येवमादिभिः, अत्रापि हि सौम्यादयो विहिता उपसदोऽपि, इदम् आनुपूर्व्यम् अविहितम्, तत् विधीयते। तस्मात् कालमात्रम्—इति ॥ (४ । ४ । ३ अ०) ॥

## आमनहोमानां साङ्ग्रहायण्यङ्गताधिकरणम् ॥

सू फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥ ७ ॥

भा 'वैश्वदेवीं साङ्ग्रहायणीं निर्वपेत् ग्रामकामः'—इति। तत्र आमनहोमाः श्रूयन्ते,—'आमनस्य*—इति तिस्र आहुतीर्जुहोति'—इति। अत्र सन्देहः,—किम् समप्रधानभूता आमनहोमाः साङ्ग्रहायणीष्ट्या, उत अङ्गम् तस्याः?—इति। किं प्राप्तम्?—समप्रधानभूताः—इति। कुतः?। तुल्यहेतुत्वात् इतरस्य, तुल्यं हि यजिमत्त्वं। 'ननु अफला होमाः'। उच्यते,—'ग्रामकामः'—इति अत्र अनुषज्यते। तस्मात् समप्रधानभूताः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'फलवत् वा उक्तहेतुत्वात् इतरस्य प्रधानं स्यात्,'—न चैतदस्ति,—समप्रधानभूताः होमाः इष्ट्या—इति, फलवत् हि अफलस्य प्रधानम्, फलवती चेष्टिः, अफला होमाः।

'ननु उक्तम्,—अनुषङ्गो भविष्यति'—इति। उच्यते,—न अनुषङ्गः प्राप्नोति। कुतः?। व्यवायात्, तदुक्तं, (२।१।४९ सू०) —'व्यवायात् न अनुषज्येत'—इति। केन व्यवायः?। परिधिमन्त्रैः,—'उयोऽस्ययुस्त्वं देवेष्वध्युयोऽहं सजातेषु भूयासं प्रियः सजातानाम् उपस्थेता वसुवित्'—इत्येवमादिभिः, एतान् अनुक्रम्य, 'आमनस्य'—इति तिस्र आहुतीर्जुहोति'—इत्यामनन्ति। तस्मात् साङ्ग्रहायण्या अङ्गम् आमनहोमाः—इति॥ (४।४।४ अ०)॥

---

* आमनस्यामनस्य देवा इति क० सं० पु० पाठः। आमनमस्यामनमस्य देवा इति का० क्री० पु० पाठः॥

दधिग्रहस्य नित्यताधिकरणम्॥

सू　दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात्॥ ८॥ (१म पू०)॥

भा　ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'यो वै कश्चित् अध्वर्युश्च यजमानश्च देवतामन्तरित, तस्या आवृश्च्येत, यत् प्राजापत्यं दधिग्रहं गृह्णाति, शमयत्येवेनाम्—इति। तत्र सन्देहः,—किं नित्यो दधिग्रहः, उत नैमित्तिकः?—इति। किं प्राप्तम्?—'दधिग्रहो नैमित्तिकः स्यात्' 'श्रुतिसंयोगात्', देवतान्तराये निमित्ते श्रूयते, न च नित्यं अन्तरायः। तस्मात् नैमित्तिकः—इति॥

सू　नित्यश्च ज्येष्ठशब्दात्॥ ९॥ (२य पू०)॥

भा　यदुक्तम्—नैमित्तिकः—इति तत् गृह्यते, किन्तु 'नित्यश्च'। कुतः?। 'ज्येष्ठशब्दात्' ज्येष्ठशब्दो भवति—'ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणां यस्य एष गृह्यते ज्यैष्ठ्यमेव गच्छति—इति ज्येष्ठशब्दश्च प्राधान्ये प्राथम्ये वा स्यात् एष प्रथमः, न प्रधानम्। यदि नित्य एव प्रशस्यत्वात् उपपद्यते न जातु चलाचलं हि प्रशंसन्ति। तस्मात् नित्यश्च नैमित्तिकश्च—इति, विनापि निमित्तेन ग्रहीतव्य निमित्तेनापि पुनर्—इति॥

सू　सार्व्वरूप्याच्च॥ १०॥ (यु०)॥

भा　सर्वरूपता च श्रूयते,— सर्वेषां वा एतद्देवानां रूपं यदेष ग्रहः यस्य एष गृह्यते सर्वाण्येवैनं रूपाणि पशूनाम् उपतिष्ठन्ते—इति, न हि देवतारूपम् अस्माकं किञ्चिदन्यत् प्रत्यक्षम् अन्यत् अतो नित्यत्वात्। तस्मात् अपि नित्यश्च नैमित्तिकश्च—इति।

सू. नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्म्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. यदुक्तम्,—नित्यो नैमित्तिकश्च—इति, तन्न, 'नित्यः' एव 'स्यात्', ज्येष्ठशब्दात् सार्वरूप्याच्च। यदुक्तं,—देवतान्तराये निमित्ते श्रूयते—इति, न देवतान्तरायो निमित्तत्वेन गम्यते। 'तयोः' (अध्वर्युयजमानयोः) 'कर्म्मणि' अन्तरायेण 'असम्बन्धात्', —न हि एतत् श्रूयते,—अध्वर्युणा देवता अन्तरितव्या यजमानेन वा—इति, अनित्यो हि अन्तरायः। न च, एवं शब्दोऽस्ति,—अन्तराये सति दधिग्रहो ग्रहीतव्यः—इति, विनैव संयोगेन, दधिग्रहस्य ग्रहणम्, अन्तरायसमाधानं त्वस्य प्रयोजनम्—इति, तदेतत् नित्यवत् ग्रहणम्, अनित्यं प्रयोजनम्। नित्यं गृह्णीयात्, अनित्यम् अन्तरायं समाधातुम्—इति न अवकल्पते, तत्र प्रयोजने अनित्यत्वात् ग्रहणे नित्यवत्श्रुतिर्बाध्येत, अर्थवादत्वे तु न बाध्यते, न हि तत् अन्तरायं समाधातुम् गृह्यते, अन्यदेव प्रयोजनम् अस्यास्ति—इति प्रशंसितुम् अभिधीयते। दधिग्रहस्य तु सोमाङ्गतैव प्रयोजनम्—इति। 'भङ्गित्वाच्च अन्तरायस्य',—भङ्गी च अन्तरायोऽनित्यो नित्यप्रशंसार्थं सङ्कीर्त्यते। तस्मात् न एष दोषः, नित्य एव दधिग्रहः—इति॥ (४।४।५ अ०)॥

---

वैश्वानरस्य नैमित्तिकत्वाधिकरणम्॥

सू. वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसङ्ख्यत्वात्॥ १२ ॥ (पू०)॥

भा. अस्ति अग्निः,—'य एवं विद्वानग्निं चिनुते'—इति। तत्र श्रूयते,—'यो वै संवत्सरमुख्यमभृत्वाग्निं चिनुते, यथा सामि गर्भो

भा विपद्यते, तादृगेव तदाग्निमार्च्छेत्, वैश्वानरं द्वादशकपालं पुरस्तात् निर्वपेत् संवत्सरो वाग्निर्वैश्वानरो, यथा संवत्सरमाप्त्वा काले आगते विजायते, एवमेव संवत्सरमाप्त्वा काले आगते अग्निचिनुते नार्तिमार्च्छेत्—इति, एषा वाग्ने प्रिया तनूर्यद् वैश्वानरः, प्रियामेवास्य तनूमवरुन्धे—इति। तत्र सन्देहः,—किं नित्यो वैश्वानरः, अथ नैमित्तिकः?—इति। किं प्राप्तम्? —अत्रापि 'नित्य' एव। अर्थवादः,—उख्यस्य संवत्सराभरणेन हतो दोषः, वैश्वानरेण विहन्यते—इति, 'नित्ये' चास्य समानसङ्ख्यत्वं भवति,—'त्रीण्येतानि हवींषि भवन्ति, त्रय इमे लोका एषां लोकानामारोहाय—इति, लोकानां हविषां सामान्यं नास्ति, यदि यथा लोका नित्याः त्रयः, एवम् इमानि हवींषि नित्यानि त्रीणि,—एवं लोकैः संस्तवो घटते। तस्मात् नित्यो वैश्वानरः—इति॥

सू पक्षे वोत्पन्नसंयोगात्॥ १३॥ (सि०)॥

भा उत्पन्नस्य निमित्ते उख्याभरणे निर्घातेन संयोगः, न च संयुक्तस्य उत्पन्नस्य दोषनिर्घातप्रयोजनता, तस्मात् इह न दधिमधुवत् विरोधोऽस्ति, तेन न अर्थवादः, नैमित्तिकः—इति।

अथ यदुक्तं—लोकैः समानसङ्ख्यत्वं नित्यत्वात् उपपद्यते, न अन्यथा—इति। तत्र ब्रूमः,—त्रित्वाल्लोकानां हविषां च सामान्यात् अर्थवादो भविष्यति—इति॥ (४।४।६ अ०)॥

---

षष्ठ्याश्चिते' नैमित्तिकत्वाधिकरणम्॥

सू षट्चिति. पूर्ववत्त्वात्॥ १४॥ (पू०)॥

भा अस्ति अग्निः,—'य एवं विद्वान् अग्निंचिनुते'—इति। तत्र

भा श्रूयते,—'संवत्सरो वा एनं प्रतिष्ठायै नुदति योऽग्निञ्चित्वा न प्रतितिष्ठति पञ्च पूर्वाश्चितयो भवन्ति, अथ षष्ठीञ्चितिं चिनुते'*—इति। तत्र सन्देहः,—किं योऽयं नित्य एवाग्निः स एवायं षट्चितिकः उच्यते, उत एकचितिको नैमित्तिकः?—इति। किं प्राप्तं?—तस्मिन् एव नित्ये अग्नौ षष्ठी चितिरेषा विधीयते, नित्यायामेव षष्ठ्यामेषोऽर्थवादः,—योऽपि न प्रतिष्ठार्हः, सोऽप्यनया षष्ठ्या चित्या प्रतिष्ठातुमर्हति—इति चितिप्रशंसा। किमर्थमेव वर्ण्यते?। षष्ठीशब्दश्रवणात्,—षण्णां हि पूरणी षष्ठी, एकस्या हि चितौ षष्ठीशब्दः न सामञ्जस्येन स्यात्। तस्मात्, षट्चितिकः अग्निर्नित्यः—इति॥

सू ताभिश्च तुल्यसङ्ख्यानात्॥ १५॥ (यु० १)॥

भा 'ताभिश्च' पूर्वाभिरस्याः तुल्यवत् 'प्रसङ्ख्यानं' भवति। कथम्?। 'इयं वाव प्रथमा चितिः, ओषधयः पुरीषम्, अन्तरीक्षं वाव द्वितीया चितिः, वयांसि पुरीषम्; असौ वाव तृतीया चितिः, नक्षत्राणि पुरीषम्, यज्ञो वाव चतुर्थी चितिः, दक्षिणा पुरीषं, यजमानो वाव पञ्चमी चितिः, प्रजाः पुरीषं, संवत्सरो वाव षष्ठी चितिः, ऋतव पुरीषम्'†—इति, तुल्यानां च तुल्यवत् अनुक्रमणं भवति, यथा,—'देवा ऋषयो गन्धर्वाः तेऽन्यत आसन्। असुरा रक्षांसि पिशाचाः तेऽन्यत आसन्'—इति, तुल्यवच्च अमूषां चितीनाम् अनुक्रमणम् अनया षष्ठ्या। तस्मात् एतया, तत्तुल्यया भवितव्यं, यदि च यस्मिन् एव क्रतौ

* नाड्कमेन छन्दो यामभावे भूप्रदेशे नानाविधाभिरिष्टकाभिः पक्ष्याकारेण स्थानं निष्पाद्यते, सैव चितिरिति माधवः।

† अत्र, सर्वत्र 'वाव' स्थाने 'वाय' इति पाठः आ० सो० पु०। एवं का० स० पु०।

भा ता, तस्मिन् एवैषा, नत एताभिः तुल्या। तस्मात् अपि स एव नित्योऽग्निः षट्चितिक—इति ॥

सू अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १६ ॥ (यु० ७)॥

भा अर्थवादश्च भवति,—'षट्चितयो भवन्ति, षट् पुरीषाणि, तानि द्वादश सम्पद्यन्ते द्वादश मासाः संवत्सरः, संवत्सर एव प्रतितिष्ठति'—इति, तत् एकचितिके अग्नौ न सामञ्जस्येन वचनं भवति। तस्मात् नित्य एव षट्चितिक ॥

सू एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥ १७ ॥ (सि०)॥

भा 'एकचितिर्वा' (नैमित्तिक) 'स्यात्'। कुतः ?। 'अपवृक्ते हि यागे 'चोद्यते', अप्रतिष्ठया 'निमित्तेन',—यो न प्रतितिष्ठति तस्य एषा चितिः उच्यते नैमित्तिकी, सा न नित्या भवितुमर्हति।

अपि च 'अपवृक्ते यागे 'चोद्यते सा, न वर्तमाने भवितुमर्हति। 'ननु 'चित्वा'—इति चयने निर्वृत्ते न यागे'। उच्यते,—नैतत् पदार्थे निर्वृत्ते 'चित्वा'—इति, किं तर्हि ?—वाक्यार्थे—'अग्निं चित्वा'—इति अग्नेः चयनेनार्थम् अभिनिर्वर्त्य—इति, इते च यागे चयनेन अग्नेः अर्थो निर्वर्तितो भवति न अन्यथा। यष्टीशब्दश्च पक्षे पूर्वास्मिनय उक्ता, ता अपेक्ष्यावकल्पिष्यते, तस्मात् निर्वृत्ते यागे—इत्युच्यते। तस्मात् वचनात् एकचितिः अग्निः ॥

सू विप्रतिषेधात्ताभिः समानसङ्ख्यत्वम् ॥ १८ ॥ (आ० नि०)॥

भा (दयो स्वचयो इदम् उत्तरम्—"नाभिश्च तुल्यसङ्ख्यानात्"

भा "अर्थवादोपपत्तेश्च"—इति। 'ताभि' (नित्याभि) 'समान सङ्ख्यत्व भविष्यति, अर्थवादश्च उपपत्स्यते,—पञ्च पूर्वाश्चितयो भवन्ति, याभिरसौ चितिभि न प्रतितिष्ठते, अथेय षष्ठी प्रति ष्ठार्थम्—इति, तास्च सपुरीषा अपेक्ष्य द्वादशत्वेन सस्तवो भविष्यति, 'विप्रतिषेधात्' एकस्य, षट्सङ्ख्याया द्वादश सङ्ख्यायाश्च—इति। अतुल्यानामपि तुल्यवत् अनुक्रमण भवति, यथा,—'देवा मनुष्या पितर तेऽन्यत आसन्'—इति॥ (४। ४। ७ अ०)॥

---

पिण्डपितृयज्ञस्यानङ्गताधिकरणम्॥

सू पितृयज्ञ स्वकालत्वादनङ्ग स्यात्॥ १९॥ (सि०)॥

भा अस्ति आमावास्ये कर्मणि पितृयज्ञ,—'अमावास्यायाम् अपराह्ने पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति'—इति, तत्र सशय,—किम् आमावास्यस्य कर्मण पिण्डपितृयज्ञोऽङ्गम् उत अनङ्गम्?—इति। किम् प्राप्तम्?—अङ्ग, फलवत्सन्निधानात् निष्क्रय वचनाच्च।

'आह ननु फलवत्सन्निधावफल तदङ्ग भवति, फलवच्च इद कल्प्येत स्वर्गेण'—इति। उच्यते,—सत्यम् अमावास्ययैकवा क्यत्वात् न शक्य स्वर्ग कल्पयितुम्—इति। 'आह,—काल वचनत्वात् न कर्मणा एकवाक्यत्व सम्भवति'—इति। उच्यते,—लक्षणयापि तावत् कर्मैकवाक्यता सम्भवति। स्वर्गे कल्प्ये न लक्षणा, न श्रुति। एव च आमनन्ति—'यत् पितृभ्य पूर्वेद्यु करोति, पितृभ्य एतत् यज्ञ निष्क्रीय यजमानो देवेभ्य प्रतनुते—इति, अमावास्या प्रति निष्क्रेतुम् च श्रूयते, तस्मात् तदङ्ग भूतम्—इति।

एव प्राप्ते ब्रूम,—'पितृयज्ञ स्वकालत्वात् अनङ्ग स्यात्,

भा अनङ्गभूत' पिण्डपितृयज्ञ । कस्मात्?। 'स्वकालत्वात्',—स्व शब्दाभिहितेन कालेन अस्य सम्बन्ध, न कर्मणा लक्षितेन—इति, यथा, 'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इष्ट्वा सोमेन यजेत'—इति, यथा, 'तदेतत् पुरस्तात् उपसदा सौम्येन चरन्ति'—इति च काले एवाय मुख्य शब्दो न कर्मणि, कर्मणि लक्षणा, श्रुतिश्च लक्षणाया बलीयसी। यच्च उक्त,—लक्षणया कर्मैकवाक्यता भविष्यति—इति, तत्र न। कस्मात्?। अनुवादे हि लक्षणा न्याय्या, न विधौ, विधिश्चाय, तस्मात् न अमावास्याकर्मणा सम्बन्ध, एकस्मिन् काले द्वे कर्मणी परस्परेणासम्बद्धे—इति॥

सू तुल्यवच्च प्रसङ्ख्यानात्॥ २०॥ (यु० १)॥

भा तुल्यवच्चान्यै प्रधाने प्रसङ्ख्यायते,—'चत्वारो वै महायज्ञा,—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोम, पिण्डपितृयज्ञ'—इति महायज्ञै तुल्यवत् प्रसङ्ख्यायते, कास्य महायज्ञता स्यात् अन्यत फलवत्ताया? तस्मादनङ्गम्॥

सू प्रतिषिद्धे च दर्शनात्॥ २१॥ (यु० २)॥

भा इतश्च अनङ्गम्—प्रतिषिद्धे' आमावास्ये पिण्डपितृयज्ञं दर्शयति,—'पौर्णमासीमेव यजेत भ्रातृव्यवान् न अमावास्या, हत्वा भ्रातृव्यम् अमावास्यया यजेत, पिण्डपितृयज्ञेनैव अमावास्याया प्रीणाति—इति, असत्याममावास्याया पिण्डपितृयज्ञ दर्शयति, तदनङ्गत्वे उपपद्यते, तस्मात् अपि न अङ्ग पिण्डपितृयज्ञ—इति।

कि प्रयोजन चिन्ताया?। यदि पौर्णमास्यामाधान तत अनन्तरायाममावास्याया न क्रियते, यथा पूर्वपक्ष, यथा—तर्हि सिद्धान्त, तथा कर्त्तव्य। इदम् अपर प्रयोजन,—कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति, मासं दर्शपूर्णमासाभ्या

भा यजेत'—इति, यथा पूर्वः पक्षः, तथा कर्त्तव्यः पिण्डपितृयज्ञः; यथा सिद्धान्तः, तथा न कर्त्तव्यः—इति। श्लोकमपि उदाहरन्ति,—

'आधानं पौर्णमास्यां चेद्वृत्ते दर्शे करिष्यते।
अनङ्गं पितृयज्ञश्चेत् तत्रैव न करिष्यते'—

इति॥ (४।४।८ अ०)॥

---

रशनायाः यूपाङ्गताधिकरणम्॥

सू पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात्॥२२॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुम् उपाकरोति'—इति। तत्र संशयः,—किं पश्वङ्गं रशना, उत यूपाङ्गम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'पश्वङ्गम्'। कुतः?। 'तदागमे विधानात्', पश्वागमे हि विधीयते, पशुना अस्याः सम्बन्धः उत्पत्तिवाक्ये श्रूयते,—'परिव्याण कृत्वा उपाकरोति पशु नान्यथा'—इति; एव श्रुतिर्भवति, कालवचने लक्षणा स्यात्,—परिव्याणेन कालो लक्ष्येत—इति॥

सू यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात्॥२३॥ (सि०)॥

भा ज्योतिष्टोमे प्रत्यक्षो हि यूपस्य संस्कारः, रशना हि यां च यावतीं च द्रढ़िम्नो मात्रां यूपस्य सञ्जनयति, द्रढ़िम्ना च प्रयोजनं यूपस्य। तस्मात् यूपस्य एव द्रढ़िम्ने रशना स्यात्। द्वितीया च विभक्तिः तत्प्राधान्ये एव भवति, रशनायां च तृतीया, तृतीया च गुणत्वे तस्याः, तस्मात् यूपाङ्गम्। यत्तु,—तदागमे विधानात्—इत्युक्तं, तत्परिहर्त्तव्यम्, उच्यते,—तदागमे विधानं

भा वाक्यम् द्वितीया च विभक्तिः श्रुतिः प्रत्यक्षं च वाक्यं बाधेयाताम् —इति। यत्तु लक्षणा—इति श्रुत्यसम्भवे लक्षणापि न्याय्यैव॥

सू **अर्थवादश्च तदर्थवत्॥ २४॥ (यु०)॥**

भा एवं च मन्त्रार्थवादोऽर्थवान् भविष्यति,—'युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः, तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः'—इति। तस्मात् यूपाङ्गं रशना—इति।

किं प्रयोजनं चिन्तायाः?। अग्नौ श्रूयते—'एकयूपे एकादश पशवो नियोज्याः'—इति प्रति पशु रशना कार्य्या यदि यूपं पक्षः, विद्वाने द्वैरशन्यमेव। श्लोकमपि उदाहरन्ति—

'पश्वङ्गं रशना चेत् स्यादेकस्मिन् बहून् नियुञ्जीत।
प्रति पशु रशना कार्या यूपे चेत् द्वैरशन्यं स्यात्—इति॥ (४।४।८ सू०)॥

---

षष्ठी पश्वङ्गताधिकरणम्॥

सू **स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात्॥ २५॥ (पू०)॥**

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्नीषोमीयः सोमाङ्गभूतः—'यो दीक्षितो यत् अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'—इति। तत्र श्रूयते —'स्वरुणा स्वधितिना च पशुमनक्ति'—इति। तत्र सन्देहः —किं यूपाङ्गं स्वरुः उत पश्वङ्गम्?—इति। किं प्राप्तम्?— यूपाङ्गम्—इति ब्रूमः। कुतः?। 'एकदेशत्वात्' एकदेशः स्वरुः यूपस्य—इति श्रूयते,—'यूपस्य स्वरुं करोति'—इति (स्वरुमन्तं यूपं कुर्यात्—इत्यर्थः), एवं स यूपो भवति—इति, यथा च प्राप्तम्॥

सू निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा यूपाङ्गमिव स्वरुम् निष्क्रयवादो दर्शयति,—'अपश्यन् ह स्म वै पुरा ऋषयो ये यूपं प्रापयन्ति, सम्भज्य स्वरुन्ते मन्यन्ते, यज्ञवेशसाय वा इदं कर्म—इति ते प्रस्तरं स्रुवनिष्क्रयम् अपश्यन्, यूपस्य स्वरुम् अयज्ञवेशसाय'—इति निष्क्रयश्रवणात् तदङ्गता विज्ञायते। तस्मात् यूपाङ्गम्—इति ॥

सू. पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. 'पश्वङ्गं वा', तस्य हि अञ्जनार्थेन स्वरुणा प्रयोजनं, तथा हि श्रूयते,—'स्वरुणा पशुमनक्ति'—इति, तत् अञ्जनं पशोः, स्वरोरुत्पत्तिं प्रयोजयति, यदि तदर्थः एषः स्वरुः, ततो दृष्टं प्रयोजनम्, अथ यूपार्थः, अदृष्टं प्रयोजनं ततः कल्प्यम्। तस्मात् पश्वङ्गम्—इति ॥

सू भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥ २८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा कया भक्त्या?। एवमाह,—'यूपः' किलाग्नौ प्रक्षिप्यः, यत् स्वरुः प्रक्षिप्यते, तेन यूपः प्रक्षिप्यते—इति स एष निष्क्रय इव भवति',—अनया भक्त्या स्तुतिः—इति।

किं भवति प्रयोजनम्?। एकयूपे एकादश पशवो यदा नियुज्यन्ते, तदा एकस्यैव पशोः समञ्जनं, पूर्वस्मिन् पक्षे; सर्वेषां, सिद्धान्ते। श्लोकश्च भवति,—

स्वरुर्यूपाङ्गमिति चेत् एकस्यैव समञ्जनम्।
बहूनामेकयूपत्वे, सर्वेषां तु समञ्जनम्*—

इति ॥ (४।४।१० अ०) ॥

---

* पश्वेकत्वाच्च विपर्यये इति का० मै० पु० पाठः ॥

आघारादीनामङ्गताधिकरणम् ॥

सू दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥ २९ ॥ (पू०) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र श्रूयन्ते,—आग्नेयाग्नीषोमीयोपांशुयाजैन्द्राग्नसान्नाय्ययागाः, तथा आघारावाज्यभागौ, प्रयाजानुयाजाः पत्नीसंयाजाः, समिष्टयजुः स्विष्टकृत्—इति। तत्र सन्देहः,—किं सर्वे यागाः प्रधानभूता उत केचित् गुणभूताः?—इति। किं प्राप्तम्?—दर्शपूर्णमासयोर्यावत्य इज्याः ताः सर्वाः प्रधानभूताः—इति, 'यजेत स्वर्गकामः'—इत्यविशेषेण यागेभ्यः फलं श्रूयते, फलवच्च प्रधानं, सर्वे चामी यागाः। तस्मात् सर्वे प्रधानभूताः—इति ॥

सू अपि वाङ्गानि कानिचित् येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः, सामान्योह्यभिसंस्तवः* ॥ ६० ॥ (सि०) ॥

भा 'अपि वा' 'कानिचित्' 'अङ्गानि' भवेयुः। कानि पुनः तानि?। येषु अङ्गत्वेन संस्तुतिः, यथा 'अभीषू वा एतौ यज्ञस्य यत् आघारौ, चक्षुषी वा एतौ यज्ञस्य यत् आज्यभागौ, यत् प्रयाजानुयाजाश्च इज्यन्ते वर्म वा एतत् यज्ञस्य क्रियते, वर्म वा यजमानस्य भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै'—इति। अभीषू रथस्याङ्गं, चक्षुषी चक्षुष्मतः, वर्म वर्मवतः, 'सामान्यो हि अभिसंस्तवो' युक्तः, यदि च अङ्गानि तानि संस्तुतानि, ततः संस्तवोऽर्थवान् भवति। तस्मात् अङ्गसंस्तुतान्यङ्गानि—इति ॥

---

* 'सामान्येऽभिसंस्तवः' इति का० कौ० पु० पाठः ॥

सू- तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा. एवं च सत्वा अन्यार्थदर्शनम् उपपन्नं भवति,—'प्रजाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति'—इति। न च, प्रयाजान् यजति, न च अनुयाजान् यजति—इति च ॥

सू- अविशिष्टन्तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥ ३२ ॥ (आ०) ॥

भा. अविशिष्टमेतत् कारणं संस्तवो नाम, आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरस्ति,—'शिरो वा एतत् यज्ञस्य यदाग्नेयः, हृदयम् उपांसुयागः, पादावग्नीषोमीयः'—इति, शिरः शिरस्वतोऽङ्गं, हृदयं हृदयवतः, पादौ पादवतः'—इति सर्वस्यैव अङ्गत्वेन संस्तुतिः—इति सर्वमेव अङ्गं प्राप्नोति, तत्* प्रधानं न स्यात् असति प्रधाने कस्याङ्गम्? तस्मात् न एतदङ्गम्—इति ॥

सू नानुक्तोऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—'अन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात्', न तत्साधकं भवति, परार्थं हि तत् वाक्यं, न दृश्यमानस्य प्रयाजादेः प्रापणार्थम्, तस्मात् अन्यदस्य प्रमाणमन्वेष्टव्यं श्रुत्यन्तरं न्यायो वा, तस्मिन् असति, मृगतृष्णादर्शनमिव तत् भवति, संस्तुतिरप्यसति न्याये, असाधिकैव ॥

---

* तच इति का॰ क्षो॰ पु॰ पाठः॥

सू पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः, श्रुतितो व्यपदेशाच्च, तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं, तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्यात्, भागित्वात् कारणस्याश्रुतश्चान्यसम्बन्धः ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यदुक्तं,—सर्वाणि समप्रधानानि—इति, नैतदेवं, दर्शपूर्णमासशब्दवाच्यानि प्रधानानि कर्माणि। कुतः?। फलसंयोगात्,—दर्शपूर्णमासशब्दकेभ्यः फलं श्रूयते,—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति। कानि पुनर्दर्शपूर्णमासशब्दकानि?। येषां वचने पौर्णमासीशब्दोऽमावास्याशब्दो वा, आग्नेयादीनि तानि। 'ननु अमावास्याशब्दकानां नैव फलं श्रूयते'। उच्यते,—'पृथक्त्वे' समुदाययोः 'निवेशः' एतयोः 'अभिधानयोः',—'पौर्णमासी'—इति च 'अमावास्या'—इति च, त्रिष्वाग्नेयादिषु यः समुदायः, तत्र पौर्णमासीशब्दः, इतरेषु अमावास्याशब्दः।

'कथं 'पौर्णमासी' 'अमावास्या'—इति च द्विशब्दः श्रूयते?'। इत्थंवत् 'व्यपदेशाच्च'। 'कथं तद्व्यपदेशः?'। द्विवचननिर्देशात्,—'दर्शपूर्णमासाभ्याम्'—इति, एकार्थौ च दर्शामावास्याशब्दौ। कथं?। 'दर्शो वा एतयोः पूर्वः, पूर्णमास उत्तरस्तयोरथ यत् पूर्णमासं पूर्वमारभते तत् अयथापूर्वं प्रक्रियते, दर्शपूर्णमासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्, सरस्वते द्वादशकपालम् अमावास्या वै सरस्वती, पूर्णमासः सरस्वान्, उभावेतौ यथापूर्वं कल्पयित्वारभते ऋध्यै ऋध्नोत्येवाथो मिथुनत्वाय'—इति। तत्र दर्शशब्देन प्रत्यात्मा अमावास्याशब्देन अवश्नेकार्थता दर्शयति, शक्यते च चन्द्रस्यादर्शनेन अमावास्या दर्श'—इति लक्षयितुम्, यथा चक्षुषोरभावे सति 'चक्षुष्मान्'—इति चक्षुर्भ्यां लक्ष्यते।

भा. एतस्मात् व्यपदेशाच्च श्रुतितश्च (लोके श्रवणात्) एकार्थताम् एवाध्यवस्यामः। तत् पुनर्मुख्यलक्षणं, यत् फलवत्त्वं, यदन्यत् तत्सन्निधौ श्रूयते, तत् तदङ्गम्। कथम्?। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य सन्निधौ श्रूयमाणम्, इतिकर्त्तव्यताविशेषणत्वेन परिपूरणसमर्थं तदङ्गम् भवितुमर्हति, अकल्प्यमाने वाक्यशेषे फलं कल्पयितव्यम् स्यात्—इति।

'आह, ननु दर्शपूर्णमासफलमेवाचानुषज्यते'। उच्यते,—शक्यमनुषक्तुम्, किन्तु दर्शपूर्णमासवाक्यं साकाङ्क्षमेव स्यात्! अन्या अस्य इतिकर्त्तव्यता अश्रुता कल्प्येत! एषामपि प्रयाजादीनामन्या! कल्प्येत*! एतदितिकर्त्तव्यता अवगम्यमाना उत्सृज्येत, तेन अङ्गत्वं, कारणं भागीति, एषाम् अन्येन फलेन सम्बन्धोऽश्रुतः। तस्मात् न सर्वाणि समप्रधानानि, आघारादीनि गुणकर्माणि—इति॥

सू. गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते॥ ३५॥ (यु०)॥

भा. नामविशेषसंयुक्ताश्च गुणविशेषा विधीयन्ते, यथा,—'चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमृशेत् पञ्चहोत्रा अमावास्याम्'—इति, सर्वेषु प्रधानेषु, अस्मिन् समुदाये चतुर्होत्रा, अस्मिन् पञ्चहोत्रा—इतिविभागाविज्ञानाचेदं नोपपद्येत। भवति चैवंलक्षणकं गुणविधानम्, तस्मात् असमत्वपक्ष एव—इति। अपि च अङ्गत्वेन आघारादीनां संस्तुतिरुपपन्ना भविष्यति॥

* अन्यमङ्गमिति का० कौ० पु० पाठः॥

सू तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाङ्गिसम्बन्धः* ॥ २६ ॥ (आ०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—आग्नेयादीनामप्यङ्गत्वेन संस्तुतिरङ्गत्वम् ख्यापयेत्—इति, तत्परिहर्त्तव्यम् ।

सू उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥ ३७ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैष दोषः, प्रधानानामप्येवं सतामुत्पत्त्यपेक्षा शिरआदि स्तुतिर्भविष्यति—इति, जायमानस्य हि पुरुषस्य अग्रे शिरो जायते, मध्ये मध्यं, पश्चात्पादौ, एवमाग्नेयोऽग्रत', उपांशुयाजो मध्ये, अग्नीषोमीयः पश्चादिति,—एतस्मात् सामान्यादेषा स्तुतिः—इति ॥

सू तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३८ ॥ (यु०) ॥

भा 'चतुर्दश पूर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदश अमावास्यायाम्'—इति, इतरथा न चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो भवेयु, न वा अमावास्यायां त्रयोदश—इति । तस्मात् आग्नेयादीनि प्रधानानि, आघारादीन्यङ्गानि—इति सिद्धम् ॥ (४ । ४ । ११ अ०) ॥

---

ज्योतिष्टोमे दीक्षणीयादीनामङ्गताधिकरणम् ॥

सू ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥ ३९ ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमो,—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति ।

---

* रङ्गाभिसम्बन्धे इति का० सो० पु० पाठः ॥

भा. तत्र दीक्षणीयादयश्च यागा विद्यन्ते, सौत्ये चाहनि सोमयागः। तत्र सन्देहः,—किम् अत्र यागमात्रं प्रधानम्, उत सोमयागः?—इति। किं प्राप्तम्?—ज्योतिष्टोमे तुल्यानि सर्वाणि भवेयुः। कुतः?। अविशिष्टं हि कारणं, यागात् फलं श्रूयते, सर्वे चामी यागाः, फलवच्च प्रधानम्। तस्मात् ज्योतिष्टोमे सर्वे यागाः प्रधानम्—इति॥

सू. गुणानान्तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात्कारणश्रुतिस्तस्मात्सोमः प्रधानं स्यात्॥ ४०॥ (सि०)॥

भा 'गुणानां तु उत्पत्तिवाक्येन' सम्बन्धो भवति। केषां गुणानाम्?। ज्योतिषां स्तोमानाम्। कतमेन उत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धो भवति?। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इति, ज्योतिष्टोमात् यागात् स्वर्गः श्रूयते, न यागमात्रात्; यत्र च ज्योतींषि स्तोमाः, स ज्योतिष्टोमः। कस्य ज्योतींषि स्तोमाः?। सोमयागस्य—इति ब्रूमः, एवं हि आम्नायते,—'कतमानि वा एतानि ज्योतींषि, ये एते तस्य स्तोमाः,—त्रिवृत्पञ्चदश-सप्तदशैकविंशाः एतानि वा ज्योतींषि, तान्येतस्य स्तोमाः'—इति, सोमयागस्य स्तोमा अङ्गं, समभिव्याहारात्,—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वा उन्नीय स्तोत्रम् उपाकरोति'—इति, ते च स्तोमास्त्रिवृदादयः। कथम्?। 'त्रिवृत् बहिःपवमानं, पञ्चदशान्याज्यानि'—इत्येवमादिभिः वचनैः।

तस्मात् त्रिवृदादिस्तोमकः सोमयागः, स ज्योतिष्टोमः—इति। यश्च ज्योतिष्टोमः ततः फलं, यतश्च फलं तदेव प्रधानम्—इति। 'कथं पुनस्त्रिवृदादयो ज्योतींषि*?। उच्यते,—भवन्तु वा ज्योतींषि, मा वा भुवन्, ज्योतिःशब्देन तावत् उक्तानि।

* 'ज्योतींषि उच्यन्ते'। इति पाठः का० सो० पु०॥

भा वचनमात्रेणापि शब्दो भवति विशेषतो लक्षणायाम्। अपि द्योतनैर्वा दीप्तिकर्मणो ज्योतनैर्वा ज्योतिःशब्द लभन्ते, द्योत्य हि ते शब्दै, द्योतयन्ति—इति वा स्तुत्याम्। तस्मात् सोमयागो ज्योतिष्टोम, स च प्रधान, गुणभूता दीक्षणीयादय—इति॥

सू तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ४१॥

भा 'शिरो वा एतत् यज्ञस्य यत् दीक्षणीया'—इत्येवमादि च लिङ्ग दृश्यते, तथा गुणाश्च ज्योतिष्टोमविकारे दीक्षणीयादयो दृश्यन्ते,—'चतुर्विंशतिमान हिरण्य दीक्षणीयाया दद्यात् प्रायणीयाया द्वे चतुर्विंशतिमाने—इति, तुल्यत्वे न प्रवर्त्यिष्यन्ते दीक्षणीयादय। तस्मात् अपि सामयाग प्रधानम्—इति॥ (४।४।१२ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिन कृतौ मीमांसाभाष्ये चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थ पाद॥ समाप्तश्चायमध्याय॥

## पञ्चमे अध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ क्रमनियमाधिकरणम् ॥ (वर्णकचयसहितम्) ॥

(श्रुतिबलीयस्त्वन्यायः) ॥

सू. श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥ १ ॥

भा. चतुर्थेऽध्याये प्रयोजकाप्रयोजकलक्षणं वृत्तं, तत्र प्रसक्तमेव इह इदानीं क्रमनियमलक्षणम् उच्यते, तत् श्रुत्यर्थपाठप्रवृत्तिकाण्डमुख्यैर्वर्ण्यते, श्रुत्यादीनाम् च बलाबलम्। आदितस्तु श्रुतिक्रमश्चिन्त्यते,—किं यथाश्रुति पदार्थानाम् क्रम आश्रयेयः, उत अनियमेन?—इति। किं प्राप्तम्?—एकत्वात् कर्त्तुः, अनेकत्वाच्च पदार्थानाम्, अवश्यम्भाविनि क्रमे लाघवात् प्रयोगप्राप्त्युभावाच्च अनियमः—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः।

'श्रुतिलक्षणम् आनुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात्'—इति, श्रुतिर्लक्षणम् अक्षराणां, तन्निमित्तं यस्य क्रमस्य, स साधुः क्रमः, श्रुतिप्रमाणका हि वैदिका अर्थाः, नैषामन्यत् प्रमाणमस्ति (१।१।२ सू०)—इत्युक्तम्। 'किम् इह उदाहरणम्?'। सत्रे दीक्षाक्रमः, 'ये ऋत्विजस्ते यजमानाः'—इति* उक्त्वा, तेषां दीक्षाक्रम विधत्ते,—'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति, तत उद्गातारं, ततो होतारं, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्द्धिनो दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छंसिनं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारम् उद्गातुः, मैत्रावरुणं होतुः, ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति, आग्नीध्रं ब्रह्मणः, प्रतिहर्त्तारम् उद्गातुः, अच्छावाकं होतुः; ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति, पोतारं

---

* इत्येवम् इति पाठः आ० सो० पु० ॥

भा ब्रह्मणः, सुब्रह्मण्यम् उद्गातुः, आवस्तुतं होतुः; ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति, ब्रह्मचारी वा आचार्यप्रेषितः'—इति अनियमेन क्रमः कर्त्तव्यो, यथा पूर्वः पक्षः; यथा तर्हि सिद्धान्तः एष एव क्रमः कर्त्तव्यः—इति।

तत्र आह, 'अन्याय्यं श्रुतिवचनम्'—इति। उच्यते,—किमयं न साधुः?। न, 'न साधुः'—इति ब्रूमः। न्याय्यं तर्हि। 'न ब्रूमः,—न साधुः क्रमः—इति, किं तर्हि?—उक्तस्य पुनर्वचनमन्याय्यम्'—इति। उच्यते,—साधोर्वचनं बहुशोऽप्युच्यमानं न्याय्यमेव, असाधोस्तु सकृदप्यन्याय्यम्। 'आह, सकृद्वचनेन ज्ञातस्य पुनर्वचने न प्रयोजनमस्ति'—इति। उच्यते,—भवति अप्रकरणम् अपि प्रयोजनम्—इत्युक्तम्। 'वृत्तिकारेण तत् कार्यम्'—इति चेत्। सूत्रकारस्याप्यविशेषो वृत्तिकारेण। १म वर्णकम्॥

अथ वा अर्थान्तरमेव इदम्, तत्र हि अन्य एव संशयो विचारो निर्णयश्च,—'श्रुतिप्रमाणको धर्मः, अन्यप्रमाणकः?'—इति संशयः। प्रत्यक्षादीनाम् अधिगम्य—निमित्तत्वात् न तत्प्रमाणकः, अतीन्द्रियत्वाच्चोदनालक्षणः—इति विचारः। चोदनालक्षणः एव—इति निर्णयः। इह तु सिद्धे तत्प्रामाण्ये व्यवहारक्रमस्य साधुत्वावधारणम्। २य वर्णकम्॥

अथ वा श्रुतिविचारोऽयं,—किं पदार्थाः कर्त्तव्याः?—इति विधानम्, किं वा क्रमो विधीयते?—इति। अनेकार्थविधानानुपपत्तेः क्रमे* अनुवादः पदार्थानां विधिः; अवदानवाक्येष्विव, पदार्थविधानं श्रुत्या, क्रमविधानं वाक्येन, तस्मात् न क्रमो विधीयते—इति पूर्वः पक्षः। 'ननु अवदानवाक्येषु क्रमो विधीयते'। सत्यं विधीयते, पाठेन, न श्रुत्या, 'ये ऋत्विजस्ते

---

* क्रम इति आ० सो० प० पाठः॥

भा. यजमानाः'—इति तु, दीक्षायाः प्राप्तत्वात्, क्रमविधानार्था श्रुतिः—इति सिद्धान्तः। तस्मात् अपुनरुक्तम्—इति ॥ ३य वर्णकम्। (५।१।१ अ०) ॥

---

क्रमस्य क्वचिदार्थिकत्वाधिकरणम् ॥

सू अर्थाच्च ॥ २ ॥

भा किम् एष एव उत्सर्गः ?। सर्वंच श्रुतिवशेनैव भवितुमर्हति—इति, उक्तं हि,—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२ सू०)—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'अर्थाच्च' (सामर्थ्याच्च) क्रमो विधीयते—इति, गुणभूतो हि पदार्थाना क्रमो भवति, यस्य यस्य निर्वर्त्यमानस्य उपकरोति, स तस्य गुणभूतः, यस्मिंश्चाश्रीयमाणे पदार्थः एव न सम्पद्यते, न स गुणभूतः, विनापि तेन, न वैगुण्यम्। एवं प्रत्यक्षः क्रमस्य गुणभावो यत्र, तत्र अर्थेन स एवाश्रयितव्यः, यथा 'जाते वरं ददाति, जातमञ्जलिना गृह्णाति, जातमभिप्राणिति'—इति, अर्थात् पूर्वमभिप्राणितव्यम्, ततः अञ्जलिना गृहीतव्यः, ततो वरो देयः—इति, तथा विमोकः पूर्वम् [illegible] पश्चात्तद्योगः, अर्थात् विपरीतः कार्यः। याज्यानुवाक्ये [illegible] विपर्ययेण आम्नाते, विपर्ययेण कर्त्तव्ये; न अत्र [illegible] मीयते,' यतो देवतोपलक्षणार्थाऽनुवाक्या, प्रदानार्था [illegible] 'अग्निहोत्रं जुहोति'—इति पूर्वमाम्नातम्, 'ओदनं [illegible] इति पश्चात्, असम्भवात् पूर्वमोदनः पक्तव्यः। [illegible] विपर्ययेण आम्नातौ, तौ च विपर्ययेण कर्त्तव्यौ [illegible] २ अ०) ॥

क्रमस्य क्वचिदनियमाधिकरणम् ॥

सू अनियमोऽन्यत्र ॥ ३ ॥

भा अन्यस्मिन् विषये क्रमस्य नियमो नास्ति, यथा दर्शपूर्ण-मासयोर्याजमानानां प्रयाजानुमन्त्रणादीनाम् नानाशाखागत-समाम्नातानां 'वसन्तमृतूनाम् प्रीणामि'—इत्येवमादीनाम्, 'एको मम'—इत्येवमादीनाञ्च ॥ (५।१।३ अ०) ॥

---

क्रमस्य क्वचित् पाठानुसारिताधिकरणम् ॥ (पाठक्रमन्यायः) ॥

सू क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥ ४ ॥ (सि०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोराम्नातं,—'समिधो यजति तनूनपातं यजति इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजति'—इति। तत्र संशयः,— किम् अनियतेनैव क्रमेण एषाम् अनुष्ठानम्, उत, यः पाठक्रमः स एव नियम्येत?—इति। किं प्राप्तम्?—नियम-कारिणः शास्त्रस्याभावात् अनियमः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'क्रमेण' एव 'नियम्येत' एकस्मिन् कर्मणि—इति। कुतः?। 'तद्गुणत्वात्', तद्गुणत्वं हि गम्यते पदार्थानाम्, यथा, स्नायात्, अनुलिम्पेत्, भुञ्जीत—इति च क्रमेण अनुष्ठानम् अवगम्यते, वाक्यात् पदार्थानाम्, यथा चादृष्टार्थेषु उपदिश्य-मानेषु, कश्चित् ब्रूयात्,—'देवाय धूपो देयः, पुष्पाण्यवकारितव्यानि चन्दनेनानुलेप्तव्यः उपहारोऽस्मै उपहर्त्तव्यः, एवं हि ते देवस्तुष्यति'—इति, तमन्यः प्रतिब्रूते, नैतदेवं, न प्रथमं धूपो दातव्यः,प्रथमं पुष्पाणि अवकारितव्यानि—इति; एवं मन्यते, —धूपदानस्य प्राथम्यम् अनेन उक्तम्—इति। तस्मात् वाचनिक एषाम् एव क्रमः—इति ॥

भा. प्रथमः पदार्थो यतःकुतश्चिदारब्धव्यः, द्वितीयादिषु भवति संशयः,—किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थ आरब्धव्यः, उत द्वितीयादिषु अनियमः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—नियमकारिणः शास्त्रस्याभावात् अनियमः—इति।

एवं प्राप्ते, ब्रूमः,—यतः पूर्व आरब्धः, तत एव द्वितीयादयोऽपि पदार्था आरब्धव्याः*—इति। कुतः एतत्?। 'तदुपक्रमात्', सर्वे हि पदार्थाः प्रधानकालात् न विप्रकर्षव्याः, प्रधानं हि चिकीर्षितं, कृतं वा तेषां निमित्तं, सहवचनं हि भवति,—'पदार्थैः सह प्रधानं कर्त्तव्यम्'—इति, यज्ञपदार्थसमाम्नानात्तु अवश्यम्भावी विप्रकर्षः, तथापि तु यावद्भिर्नाव्यवहितः शक्यः पदार्थः कर्तुम्, तावद्भिर्व्यवधानम् अवश्यं कर्त्तव्यम्, ततोऽभ्यधिकेन न व्यवधातव्यम्—इति, यदि द्वितीयं पदार्थमन्यत आरभेत, ततोऽभ्यधिकैरपि व्यवदध्यात्, तदा प्रयोगवचनं बाधेत॥ 'ननु तदा सति कश्चिदल्पैर्व्यवहितो भविष्यति'। उच्यते,—अनुमतानां व्यवधायकानां त्यागेन कश्चित् अभ्यधिको गुणो भवति—इति तस्मात् यतः पूर्वपदार्थ आरब्धः, तत एव उत्तर आरम्भणीयः—इति॥

घ सर्व्वमिति चेत्॥ ९॥ (आ०)॥

भा इति चेत् पश्यसि, प्रधानाविप्रकर्षेण प्रयोगवचनानुग्रहः—इति, 'सर्वे तर्हि गुणकाण्डम् एकस्मिन् अपवर्जयितव्यं, यथा सौर्यादिषु॥

ए नाकृतत्वात्॥ १०॥ (आ० नि०)॥

भा. नैतदेवं, सहप्रयोगे एव हि न अनुष्ठितः स्यात्॥

भा इति गम्यते। प्रतिपत्तुम् च अनेन क्रमेण शक्यते, नान्येन, अत एव च ज्ञात्वा पाठक्रमापचारे, विनष्टः—इत्युच्यते, इतरथा हि, यत् यस्य प्रयोजनं, तस्मिन् निर्वर्त्तमाने एव किं नष्टं स्यात्? अदृष्टं कल्प्येत, तच्च अन्याय्यं दृष्टे सति। तस्मात् शब्द-क्रमः,—य एव पदार्थानां वाचकः शब्दः, स एव क्रमस्यापि॥

सू तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ७॥ (यु०)॥

भा एवं च अन्यार्थं दर्शयति,—'व्यत्यस्तमृतव्या उपदधाति। व्यत्यस्तं षोडशिनं शंसति। आश्विनो दशमो गृह्यते; तं तृतीयं जुहोति'—इति, यदि अनियमेन उपधानं शंसनं च, व्यत्यस्त-वचनम् अनर्थकं स्यात्। न हि, कथञ्चित् अव्यत्यासः—इति, तथा आश्विनस्य तृतीयस्य होमानुवादो न अवकल्प्येत, यदि पाठक्रमेण नियमः—इति। तथा,—'अभिचरता प्रतिलोमं होतव्यम्, प्राणानेव अस्य प्रतीचः प्रतियौति'—इति क्वचित् प्रतिलोमं विदधदनुलोमं दर्शयति, तदुपपद्यते, यदि पाठक्रमेण प्रयोगः, इतरथा, सर्वमनुलोमं स्यात्, प्रतिलोमदर्शनं नोप-पद्येत। तथा 'चतुर्थीमयोः प्रतिसमानयति'—इति उक्ते सति, 'अतिहायेडो बर्हिः प्रतिसमानयति'—इति उच्यते, तेन बर्हिषः चतुर्थतां दर्शयति, सा पाठक्रमे नियामकेऽवकल्पते॥ (५।१।४ अ०)॥

---

क्रमस्य क्वचित् प्रथमप्रवृत्त्यनुसारिताधिकरणम्॥ (प्रावर्त्तिकक्रमन्याय)॥

सू प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात्॥ ८॥ (सि०)॥

भा वाजपेये 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभते'—इति, श्रूयते। तेषु पशुषु चोदकप्राप्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः, तत्र

भा. प्रथमः पदार्थो यतः कुतश्चिदारब्धव्यः, द्वितीयादिषु भवति संशयः,—किं तत एव द्वितीयोऽपि पदार्थ आरब्धव्यः, उत द्वितीयादिषु अनियमः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—नियमकारिणः शास्त्रस्याभावात् अनियमः—इति।

एवं प्राप्ते, ब्रूमः,—यतः पूर्वं आरब्धः, तत एव द्वितीयादयोऽपि पदार्था आरब्धव्याः*—इति। कुतः एतत्?। 'तदुपक्रमात्', सर्वे हि पदार्थाः प्रधानकालात् न विप्रकृष्टव्याः, प्रधानं हि चिकीर्षितं, ज्ञातं वा तेषां निमित्तं, सहवचनं हि भवति,—'पदार्थैः सह प्रधानं कर्त्तव्यम्'—इति, बहुपदार्थसमाम्नानात्तु अवश्यम्भावी विप्रकर्षः, तथापि तु यावद्भिर्नात्यर्थव्यवहितः शक्यः पदार्थः कर्तुम्, तावद्भिर्व्यप्रधानम् अवश्यं कर्त्तव्यम्, ततोऽभ्यधिकेन† न व्यवधातव्यम्—इति, यदि द्वितीयं पदार्थमन्यत आरभेत, ततोऽधिकैरपि व्यवदध्यात्, तथा प्रयोगवचनं बाधेत॥ 'ननु तथा सति कश्चिदल्पैर्व्यवहितो भविष्यति'। उच्यते,—अनुमतानां व्यवधायकाना त्यागेन कश्चित् अभ्यधिको गुणो भवति—इति तस्मात् यतः पूर्वपदार्थ आरब्धः, तत एव उत्तर आरम्भणीयः—इति॥

सू. सर्वमिति चेत्॥ ९॥ (आ०)॥

भा. इति चेत् पश्यसि, प्रधानाविप्रकर्षेण प्रयोगवचनानुग्रहः—इति, 'सर्वं तर्हि गुणकाण्डम् एकस्मिन् अपवर्जयितव्यं, यथा सौर्यादिषु॥

सू. नाकृतत्वात्॥ १०॥ (आ० नि०)॥

भा. नैतदेवं, सहप्रयोगे एव हि न अनुष्ठितः स्यात्॥

* द्वितीयोऽपि पदार्थ आरब्धव्य इति का० क्री० पु० पाठः॥
† अभ्यधिकै इति पाठः का० क्री० पु० पाठः॥

सू. क्रत्वन्तरवदिति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—यथा क्रत्वन्तरेषु सौर्यादिषु—इति, तत् परिहर्तव्यम् ॥

सू. नासमवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न तेषामर्थात् क्रमः प्राप्नोति, यो नियम्येत, अङ्गाङ्गयो हि नियमो भवितुमर्हति, अनङ्गसमाम्नायस्य स्वयमङ्गता कल्प्येत । (५ । १ । ५ अ०) ॥

---

आगमस्य क्रमिकस्थानानुसारिताधिकरणम् ॥

सू. स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा. 'एकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्, त्रिणवेनौजस्कामं, त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्'—इत्येवमादि श्रूयते । तत्र आगमेन सङ्ख्यापूरणम्—इति वक्ष्यते । तत्र आगमे क्रियमाणे, किम् अनियमेनाक्रमाः* सर्वा एव आगमयितव्याः, उत काण्डक्रमेण?—इति । किं प्राप्तम्?—अनियमेन—इति । कुतः? । अतिरात्रे त्रिवृदादिभिरर्थेनैताः प्राप्नुवन्ति, तत्र एतासां प्राप्नुवतीनाम् पाठक्रमो नास्ति—इति । एवं प्राप्ते उच्यते,—यद्यासां समाम्नाये स्थानं, तेनैता अत्र नियम्यन्ते, याः पूर्वं समाम्नाताः, ताः पूर्वमेव प्रयोक्तव्याः, आनुपूर्व्यस्य हि दृष्टमेतत् प्रयोजनं, यदुपरस्फुरणं† तदपि चिकीर्षितमेव—इति । त्रिवृदादिभिरर्थैः अतिरात्रे यौगपद्येन आसां प्राप्तेः पाठक्रमस्य अविषयः—

---

* अनियतक्रमा इति का० टी० पु० पाठः ॥

† यदुपरम्भकरणम् इति का० टी० पु० पाठः ॥

भा. इति अधिकरणान्तरम्—इति भवति मतिः। समाम्नायपाठक्रमादेव अत्र नियमः—इति पुनरुक्तता गम्यते—इति अन्यथा वर्ण्यते,—

सू स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ १३ ॥

भा साद्यस्क्रे* श्रूयते,—'सह पशूनालभते'—इति। तत्र एषोऽर्थः समधिगतः,—सवनीयकाले त्रयाणाम् आलम्भः—इति। अथ अत्र पाठक्रमात्, किम् अग्निषोमीयः पूर्वम् आलब्धव्यः, उत स्थानक्रमात् पूर्वं सवनीयः?—इति। किं प्राप्तम् पूर्वम्?—अग्निषोमीयः—इति। कुतः?। पाठक्रमात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सवनीयः पूर्वं, 'स्थानात्', यदि पूर्वम् अग्नीषोमीयः स्यात्, सवनीयस्थानं व्याहन्येत। 'आश्विनं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय'—इति। 'ननु इदानीमपि पाठक्रमो बाध्येत'। बाध्यतां, तस्य हि प्रतिषेधार्थः सहशब्दः समाम्नातः, अप्रतिषिद्धं च आश्विनग्रहस्थानम्, तन्न बाधितव्यम् ॥ (५।१।६ अ०)॥

---

पाठक्रमस्य मुख्यक्रमानुसारिताधिकरणम् ॥

सू मुख्यक्रमेण वाङ्गानां तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥

भा 'सारस्वतौ† भवतः, एतत् वै दैव्यं मिथुनम्'—इति श्रूयते। तत्र सन्देहः,—किं स्त्रीदेवत्यस्य प्रथमं धर्माः, उत पुंदेवत्यस्य?—इति। नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात् अनियमः,—इति प्राप्ते ब्रूमः,—'मुख्यक्रमेण वा' नियमः स्यात्—इति स्त्रीदेवत्यस्य हि पूर्वं याज्यानुवाक्ययोः समाम्नानं,—'प्रणो देवी सरस्वती'—इति। तस्मात् स्त्रीदेवत्यस्य पूर्वं प्रदानेन

* साद्यस्क्रः सोमयागविशेषः ॥

† सरस्वती च सरस्वांश्च, तौ देवते ययोर्यागयोस्तौ सारस्वतौ ॥

मा भवितव्यम्, तस्मात् सौदिवत्यस्य पूर्वे धर्माः कार्याः, तथा हि प्रधानकायता भवति अङ्गानाम्, इतरथा, यैः पदार्थैर्व्यवधानं सामर्थ्यात् अनुज्ञातं, तेभ्योऽधिकैरपि व्यवधानं स्यात् ॥ (५। १। ७ अ०) ॥

---

अङ्गेषु मुख्यक्रममपेक्ष्य पाठस्य बलवत्ताधिकरणम् ॥

सू प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वात् यथाक्रमं प्रतीयेत ॥ १५ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः पूर्वमौपधधर्माः समाम्नाताः, ततः आज्यस्य। तत्र सन्देहः,—किम् अग्नीषोमीयधर्माणाम्, मुख्यक्रमेण पूर्वम् आज्यस्य धर्माः कर्त्तव्याः, उत यथापाठम्?—इति। मुख्यक्रमानुग्रहेण आज्यस्य पूर्वम्;—इति प्राप्ते ब्रूमः,—प्रकृतौ यथापाठं प्रतीयेत, स्वशब्दो हि तेषां पाठक्रमः, सः अन्यथा क्रियमाणे बाधितः स्यात्, सहत्वस्य पुनरुपसङ्ग्राहकः प्रयोगवचनः, स्वक्रमेण पदार्थे सन्निकृष्यकाणे न बाधितो भविष्यति। अपि च पाठक्रमे स्वशब्दः,—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—इति, मुख्यक्रमेण प्रयोगवचनैकवाक्यता सूक्ष्मा* ॥ (५। १। ८ अ०) ॥

---

मन्त्रपाठात् ब्राह्मणपाठस्य बलीयस्त्वाधिकरणम् ॥

सू मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मात् उत्पत्तिदेशः सः ॥ १६ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः, आग्नेयस्य पूर्वे मन्त्रपाठः, उत्तरो ब्राह्मणस्य। तत्र सन्देहः,—कतमः† पाठो बलीयान्—इति। उच्यते,—अनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात्—इति।

---

* यद्युक्तं क्रमं बलवत्त्वं इति वार्त्तिकम् ॥

† कथ इति का॰ हो॰ पु॰ पाठः ॥

भा. एवं प्राप्ते ब्रूमः,—मन्त्रपाठो बलीयान्। कुतः?। 'प्रयोगरूप-सामर्थ्यात्',—प्रयोगाय मन्त्रस्य रूपसामर्थ्यं, तदस्य सामर्थ्यं येन मन्त्रः प्रयुज्यते, तस्य च प्रयुज्यमानस्य क्रमो दृष्टाय भवति। 'ननु च ब्राह्मणपाठस्य अपि तदेव प्रयोजनम्'। उच्यते,—'उत्पत्तिदेशः सः',—अपरमपि तस्य प्रयोजनं कर्मोत्पत्त्यर्थं भविष्यति॥ (५।१।८ अ०)॥

प्रयोगवचनात् चोदकस्य बलवत्त्वाधिकरणम्॥

सू. तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात्॥ १७॥ (पू०)॥

भा. अस्ति अध्वरकल्पा नामेष्टिः,—'आग्नावैष्णवम् एकादशकपालं निर्वपेत्, सरस्वती आज्यभागा स्यात् बार्हस्पत्यश्चरुः'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् आग्नेयविकारस्य बार्हस्पत्यस्य पूर्वं धर्माः कार्य्याः, चोदको बलवत्तरः, प्रयोगवचनात्, उत उपांशुयाज-विकारस्य प्रयोगवचनो बलवत्तरः, चोदकात्?—इति। किम् प्राप्तम्?—'विकृतौ' अस्यां, 'यथाप्रधानं स्यात्', 'तद्वचनात्',—तेषां साक्षाद्वचमक्रमो विकृतौ, तेन सन्निहितानाम् उप-संहारक प्रयोगवचनो हि प्रत्यक्षः, तद्धर्माणां च आनुमानिकः चोदकेन हि स प्राप्तः। तस्मात् प्रत्यक्षः प्रयोगवचनो बलवत्तरः, तेन चोदक आनुमानिको बाध्यते॥

सू. विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति॥ १८॥ (सि०)॥

भा. मुख्याङ्गक्रम—'विप्रतिपत्तौ वा', यथा प्रकृतौ, तथैव विकृतौ भवितुमर्हति—इति। कुतः?। 'प्रकृत्यन्वयात्', यादृशाः प्रकृतौ धर्मा, तादृशा एव विकृतौ भवितुमर्हन्ति—इति, मुख्यक्रमेण क्रियमाणा न प्रकृतिवत् कृताः स्युः। चोदको हि प्रयोग-

भा. वचनात् बलवत्तरः, स हि उत्पादयति प्रापयति च। प्राप्तान् अभिसमीक्ष्य प्रयोगवचन उपसंहरति, स प्राप्तेषु उत्पन्नः प्राप्तिनिमित्तक उत्तरकाल पूर्वप्राप्तं न बाधितुमर्हति चोदकं, प्रत्यक्षोऽपि सन्; बहिरङ्गत्वात्, यथाप्राप्तानेवोपसंहरिष्यति। तस्मात् पूर्वं बार्हस्पत्यस्य धर्माः, तत आज्यस्य—इति॥ (५।१।१० अ०)॥

---

विकृतौ क्वचित् प्रकृतिधर्मानतिदेशाधिकरणम्॥ (साकमेधीयन्याय)॥

सू विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम्॥ १९॥ (पू०)॥

भा चातुर्मास्येषु साकमेधः तृतीयं पर्व, तस्य अवयवाः,—'अग्नयेऽनीकवते प्रातरष्टाकपालो, मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुः, मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एता द्व्यहकाला इष्टयः, उत सद्यस्कालाः?—इति। किं प्राप्तम्?—'विकृतिः' 'तत्काला' भवितुमर्हति—इति, 'यथाशिष्टं',—यथा प्रकृतिरुक्ता, तथा विकृतिः स्यात्, प्रकृतिधर्मा हि सा, तस्मात् या विकृतिः, सा द्व्यहकाला भवितुमर्हति*—इति॥

सू अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात्॥ २०॥ (सि०)॥

भा अत्र कालेषु ये पदार्थाः उच्यन्ते, प्रातर्मध्यन्दिने सायम्—इति, क्रमेण ते एकस्मिन् अहनि—इति प्रतीयन्ते, यथा देवदत्तः प्रातः अपूपं भक्षयति मध्यन्दिने विविधमन्नमश्नाति, अपराह्णे

---

* या या विकृतिः सा सा द्व्यहकाला इति पाठ० पे० पु० पाठः॥

भा. मोदकान् भक्षयति—इति एकस्मिन् अहनि—इति गम्यते। तस्मात् सद्यस्काला एवञ्जातीयका विकृतयः, दैयहकाल्यं हि चोदकप्राप्तम् आनुमानिकं, प्रत्यक्षरूपया सद्यस्कालतया बाध्येत ॥

सू. कालोत्कर्ष इति चेत् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—प्रातः साद्यं श्रूयते, तथा मध्यन्दिने सायं च—इति, उत्कर्षो भविष्यति, यथैतेषु कालेषु साद्यं, न च, द्व्यहकालतायाः बाधः, एकस्याह्नः प्रातरनीकवन्तम् उपसंस्यते, द्वितीयस्य प्रातर्यक्ष्यते। एवं सान्तपनीया* पूर्वेद्युर्मध्यन्दिने उपसंस्यते, अपरेद्युर्मध्यन्दिने यक्ष्यते, तथा गृहमेधीये सायम् उपक्रमणं पूर्वेद्युः, सायं यागः अपरेद्युः—इति। 'ननु वाक्यात् एकमहर्गम्यते'—इत्युक्तम्। उच्यते,—पदार्थसामर्थ्यजनितो हि वाक्यार्थो भवति, न च, अत्र पदार्थसामर्थ्यम् अस्ति, येनैकम् अहर्गम्येत ॥

सू. न तत्सम्बन्धात्† ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवम्। कस्मात्?। 'तत्सम्बन्धात्',—एककालसम्बद्धानि प्रधानानि अङ्गैः सह श्रूयन्ते। कथम् साद्यं हि प्रधानं प्रातःकाले श्रूयते, तथा मध्यन्दिने सायं च; न अङ्गानि प्रातःकालादिषु। तत्र अन्यकालेषु अङ्गेष्वन्यकालेषु च प्रधानेषु, न, साद्यं तेषु कालेषु कृतं स्यात्। तस्मात् सद्यस्काला एवैता विकृतयः—इति। अपि च,—'त्र्यहं साकमेधैः'—इति श्रूयते, तत् सद्यस्कालत्वात् उपपद्यते ॥ (५।१।२२ अ०) ॥

---

* "सान्तपनीया" इति पाठः का॰ सो॰ पु॰। तत्र त्रिष्वपि सर्वत्र तदनुगुणा पङ्क्तिः ॥

† तत्सम्बन्धान्न इति का॰ सो॰ पु॰ पाठः ॥

अनुयाजाद्युत्कर्षप्रयाजाद्यपकर्षाधिकरणम् ॥ (तदादितदन्तन्याय)॥

सू **अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥ २३ ॥ (पू०)॥**

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमारुतादूर्ध्वम् अनुयाजैश्चरन्ति' —इति उत्कर्षः, तथा अग्नीषोमीये पशौ, तिष्ठन्तं पशुं प्रयजन्ति इत्यपकर्षः। तत्र सन्देहः,—किम् उत्कर्षे अनुयाजमात्रम् उत्-कृष्यते, अपकर्षे च प्रयाजमात्रम्, उत उत्कर्षेऽनुयाजादि, अपकर्षे च प्रयाजान्तम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—यावदुक्तम्, उत्कर्षापकर्षयोः स्यात्। कुतः?। 'अङ्गानाम् मुख्यकालत्वात्', —एवम् अन्येषां प्रधानकालता भविष्यति—इति। तत्र सद्द-रस्य प्रापकः प्रयोगवचनः अनुग्रहीष्यते ॥

सू **तदादि वाभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥ २४ ॥ (सि०)॥**

भा तदादि उत्कर्षे, तदन्तम् अपकर्षे गम्येत। कुतः?। 'अभि-सम्बन्धात्', यत्* अनुयाजानां परस्तात् समाम्नायते, तत् प्रधानादूर्ध्वं प्रयोगवचनेन प्राप्तं बाधित्वा पाठसामर्थ्यात् अनुयाजेभ्यः परस्तात् क्रियते, तथा यस्ततः ,परः,' स ततः परस्तात्। एवमेक उत्कृष्यमाणः सर्वं गुणकाण्डम् उत्कर्षति, तथाऽपकृष्यमाणोऽपकर्षति—इति॥ (५।१।१२ अ०)॥

---

प्रदत्त्या प्रोक्षणादीनां सौमिकपूर्व्वभाविताधिकरणम् ॥

सू **प्रदत्त्या कृतकालानाम् ॥ २५ ॥**

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते प्रातरनुवाककाले, 'प्रतिप्रस्थातः सवनीयान्

---

* यद् इति का० कौ० पु० पाठः। एव परत्र 'यथा' इत्यत्र तदा इत्यपि ॥

भा. निर्वपस्वेति प्रैष्यति'—इति सवनीयानाम् निर्वापकालः, अस्ति च बहिष्पवमाने स्तुते 'अग्नीदग्नीन् विहर बर्हिस्तृणीहि पुरोडाशानलङ्कुरु'—इति। तत्र सन्देहः,—किं प्रातरनुवाककाले सवनीयान् निरूप्य प्रचरणीहोमादयः सौमिकाः पदार्थाः, उत पौरोडाशाः प्रागलङ्करणात्?—इति। किं प्राप्तम्?—अनियमः, नियमकारिणः शास्त्रस्य अभावात्।

—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रवृत्त्या कृतकालानाम्',—कृतकालानाम् पदार्थानाम् प्रवृत्त्या नियमः स्यात्, यमुच्यमानमेव हि पूर्वपदार्थम् अभिनियच्छति, स तस्य परस्तात् समाम्नातः, परस्तात् कर्त्तव्यः; सौमिकस्य तु पदार्थस्य प्रचरणीहोमस्य वचनात् क्रमो बाधितः, अलङ्करणं च बहिष्पवमानस्य परस्तात् समाम्नातं, तस्मात् तस्य पूर्वः पदार्थो निर्वपणादीनामन्त्यः, तत उत्तरे सौमिकाः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति॥

सू. शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. शब्दश्च विप्रतिषिध्यते,—'अलङ्कुरु'—इत्युक्तः प्रोक्षणादीन् प्रतिपद्येत, अस्मत्पक्षे तु, 'अलङ्कुरु'—इत्युक्ते अलङ्करणमेव प्रतिपत्स्यते, तत्र अलङ्करणे प्राप्तकाले प्राप्तकालवचनो लोड्लो-ऽनुग्रहीष्यते। तस्मात् अत्र प्राकृतिकः क्रमः—इति॥ (५। १।१३ अ०)॥

---

वैकृतयूपकर्मप्रतिकर्षाधिकरणम्॥ (यूपकर्मन्याय)॥

सू. असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत ॥ २७ ॥

भा. अस्ति दर्शपूर्णमासप्रकृतिके पश्वग्नीषोमीये वैकृतं यूपकर्म, तत् प्रतिकृष्यते,—'दीक्षासु यूपं छिनत्ति'—इति। तत् प्रतिकृष्यमाणम् अर्वाचीनान्यपि अग्नीषोमीय-प्रणयनादीनि प्रति-

भा. कर्षति, उत न?—इति संशये, प्रतिकर्षति, सम्बन्धात्—इति गम्यते।

तथा प्राप्ते ब्रूमः,—विज्ञातावभ्यधिकं यत्, तत् प्रतिकृष्यमाणं ततोऽर्वाचीनान्यपि अग्नीषोमीयप्रणयनादीनि न प्रतिकृष्टुमर्हन्ति। कथम्?। 'असंयोगात्', पाशुकं यूपकर्म, ततः प्राचीनं सौमिकं, न तयोः परस्परेण सम्बन्धः,—न, सौमिकः पदार्थः, पाशुकस्य उपकारकः पशोर्वा, यदि हि तयोः उपकारकः स्यात्, ततस्तस्य उपकुर्वतः क्रमोऽप्यस्य साहाय्यं कुर्वन् गुणभूतः स्यात्, न त्वेतदस्ति, तस्मात् नैषां परस्परेण क्रमे नियमः, अतो यूपमात्रं प्रतिकृष्यते। अपि च यूपमात्रं प्रतिकृष्य हतार्थे यज्ञे सौमिकानाम् स्वक्रमबाधो न भविष्यति—इति॥ (५।१।१४ अ०)॥

---

दाक्षिणाग्निकहोमानपकर्षाधिकरणम्॥

सू. प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात्॥ २८॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्निमारुतादूर्ध्वम् अनुयाजैश्चरन्ति'—इति, अनुयाजा उत्कृष्यमाणा दाक्षिणाग्निकौ होमौ उत्कर्षन्ति, न?—इति संशयः। सम्बन्धात् उत्कर्षन्ति।

—इति प्राप्ते उच्यते,—नैतावुत्कष्टुमर्हन्ति, ये तयोः स्वे अनुयाजाः, सम्बद्धास्ते, न प्रयुक्ताः परकीयैः, तेषाम् अर्थो निर्वर्त्तितः—इति। पदार्थानाम् च क्रमो भवति, न पदार्थप्रयोजनानाम्, यौगपद्येन हि पदार्था उपकुर्वन्ति—इति वक्ष्यामः, पदार्थानाम् च उत्पत्तिः क्रमवती, पृथक्शब्दत्वात् उत्पत्तेः, न पदार्थप्रयोजनस्य, युगपत्प्रयोगवचनेन अभिहितत्वात्। अतोऽनुयाजोत्पत्तेः उत्कर्षिकाया अभावात् दाक्षिणाग्निकौ होमौ न उत्कृष्येयाताम्—इति। अपि च अनुयाजमात्रम् उत्कृष्य

भा. कृतार्थे शब्दे दाक्षिणाग्निकयोर्होमयोः स्वक्रमबाधो न भविष्यति —इति ॥ (५।१।२५ अ०)॥

---

पुरोडाशाभिवासनान्तस्य दर्शेऽनपकर्षाधिकरणम् ॥

सू तथाऽपूर्व्वम् ॥ २९ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोर्वेदिः, हविरभिवासनोत्तरकाले समाम्नाता, सा अमावास्याया प्रतिकृष्यते,—'पूर्वेद्युरमावास्याया वेदिं करोति' —इति, सा त्वपकृष्यमाणा ततोऽर्वाचीनान् पदार्थानपकर्षेत्, न?—इति संशयः। उच्यते,—सम्बन्धात् प्रतिकर्षेत्। इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तथाऽपूर्वम्', अप्रकृतिपूर्विकायाम् अमावास्यायां वेदिकरणं पूर्वेद्युराम्नातम्, उभयोरपि श्वोभूते हविरभिवासनं, अभिवासनं कृत्वा अमावास्यायां वेदिः कर्त्तव्यः—इति न श्रुत्यादीनाम् अन्यतमत् कारणमस्ति, तस्मात् न अभिवासनान्ताः प्रतिकृष्याः—इति, अभिवासने च अपकृष्यमाणे हवींषि भस्मी भवेयुः ॥ (५।१।२९ अ०)॥

---

सान्तपनीयाया अग्निहोत्रानुत्कर्षकताधिकरणम् ॥

सू सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वैगुण्यात् ॥ ३० ॥ 'पू०' ॥

भा. चातुर्मास्येषु साकमेधावयवः सान्तपनीया नाम इष्टिः,— 'मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुं निर्वपति'—इति, सा दैवात् मानुषात् वा प्रतिबन्धात्* उत्कृष्यमाणा अग्निहोत्रम् उत्कर्षेत्, न वा?—इति संशये, उच्यते,—'सान्तपनीया तु उत्कर्षेत् अग्नि-

---

* प्रतिबन्ध दिति का० मो० पु० पाठः ॥

भा ०होर्च सवनवत् वैगुण्यात्, यदि न उत्कर्षेत्, अग्निहोत्रसवने 'अग्निहोत्रकाले उद्धृते अग्नावग्निहोत्रं विगुणं स्यात्' तस्मात् उत्कष्टव्यं, सवनवत्,—यथा प्रातःसवनं दैवात् मानुषात् वा प्रतिबन्धात्* उत्क्रम्यमाणं माध्यन्दिनं सवनम् उत्कर्षति—इति, एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

सू अव्यवायाच्च ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥

भा एवं साम्नपनीयम् अग्निहोत्रेण न व्यवहितं भविष्यति—इति, तत्र क्रमोऽनुग्रहीष्यते, क्रमभेदे च दोषः श्रूयते,—'अप वा एतत् यज्ञाच्छिद्यते† यदन्यस्य तन्त्रे विततेऽन्यस्य तन्त्र प्रतीयते'—इति ॥

सू असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत् ॥ ३२ ॥ (सि०) ॥

भा न अग्निहोत्रस्य साम्नपनीया अङ्गं, न साम्नपनीयाया अङ्गं अग्निहोत्रं, तेन नावावग्निहोत्रस्य परस्तात् कर्त्तव्या, अतो न अग्निहोत्रम् उत्क्रष्टव्यम् ॥

सू प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा प्राप्तं च अग्निहोत्रस्य निमित्तं,—'सायं जुहोति, प्रातर्जुहोति, उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, प्रथमास्तमिते जुहोति, सन्धौ जुहोति, नक्षत्राणि दृष्ट्वा जुहोति'—इति, तत् न अतिक्रमितव्यं, तस्मात् अपि न उत्कर्षः। यदुक्तं,—वैगुण्यम्—इति उत्कर्षेऽपि वैगुण्यं कालान्यत्वात्। 'अङ्गप्राप्तेर्जघन्य काल विधिर्बाध्यताम्'—इति चेत्। न, कालस्य निमित्तत्वात्,

* प्रतिबन्धादिति का० मो० पु० पाठः ॥
† यज्ञस्य छिद्यते इ त का० को० पु० पाठः ॥

भा तदपाये श्रुतमेव सर्वं म्रियेत, निमित्तं च अनुपादेयत्वेन श्रवणात् सप्तमी हि आधारादिष्वसम्भवात् निमित्तसप्तमी द्रष्टव्या। अथ यदुक्तं सवनवत् उत्क्रष्टव्यम्—इति, तदुच्यते,—

सू सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥ ३४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा सम्बद्धं हि सवनं सवनेन एकक्रतुसम्बन्धात्, तत् उत्कृष्यते ॥ (५।१।२७) ॥

---

उक्थ्यानुरोधेन षोडश्युत्कर्षाधिकरणम् ॥

सू षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥ ३५ ॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते, षोडशिनं प्रकृत्य 'तं पराञ्चमुक्थेभ्यो विगृह्णाति'—इति, यदा दैवात् मानुषात् वा प्रतिबन्धात्* उक्थ्यानि उत्कृष्यन्ते किम् तदा षोडशी उत्क्रष्टव्यः, न?—इति भवति संशयः। किं प्राप्तम्?—न उत्क्रष्टव्यः। कुतः?। एवं स्तोत्रं अस्मिन् काले षोडशिनः स्तुतं भविष्यति—इति—समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनस्स्तोत्रम् उपाकरोति—इति। तस्मात् अनुत्कर्षः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,— षोडशी च उत्क्रष्टव्यः। कस्मात्?। 'उक्थ्यसंयोगात्' उक्थ्यसंयोगो हि षोडशिनो भवति,—'तं पराञ्चम् उक्थ्येभ्यो विगृह्णाति'—इति। तस्मात् उत्क्रष्टव्यः षोडशी। यदुक्तं,—षोडशिनस्तोत्रकालेन अवर्जनं भविष्यति—इति, उच्यते, स्तोत्रक्रममनुरुध्यमानस्य प्रधानक्रमो विरुध्येत। तस्मात् न स्तोत्रक्रमोऽनुरोद्धव्यः, उभयं न शक्यम् अनुग्रहीतुम्, षष्ठं वा गृहीत्वा सप्तमं षोडशीय स्तोत्रम् उपाकरोति—इति

---

* दैवकर्मादिति का० मो० पु० पाठः ॥

भा. श्रूयते। तस्मात् उत्कृष्यः षोडशी—इति॥ (५। १। १८ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः॥

## पञ्चमे अध्याये द्वितीयः पादः ॥



वाजपेयपशूनां मध्येंषामेकदेशाकरणादि—धर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥
(पदार्थानुसमयन्याय)॥

सू सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्व्वकर्म्म स्यात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा वाजपेये,—'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते'—इति श्रूयते, अग्नीषोमीये च पशौ पशुधर्माः समाम्नाताः चोदकेन प्राप्ताः; तेषु संशयः,—किम् एकस्य आदेरारभ्य धर्मान् सर्वान् कृत्वा, द्वितीयस्य पुनरादित उपक्रमितव्याः, अथ प्रथमः तावत् सर्वेषां कर्त्तव्यः, ततो द्वितीयः?—इति। किं प्राप्तम्? —'एकैकस्य सर्वे अपवर्जयितव्याः—इति। कुतः?। प्रधानाप्रत्तेरनुपरोधाय, इतरथा प्रधानासन्निविप्रकृष्येत' यथा बहुषु अश्वेषु प्रतिगृहीतेषु ये पुरोडाशाः, तेषु नैकजातीयानुसमयः, एवम् इहापि—इति ॥

सू सर्व्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्वत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा एकजातीयानुसमयः कर्त्तव्यः। किम् एवं भविष्यति?। सहत्वं अनुपरोत्स्यते, तत्सहत्वम् श्रूयते,—'वैश्वदेवीं कृत्वा पशुभिश्चरन्ति'—इति, एकस्मिन् काले पशूनां प्रचारः।

'ननु एवं सति पूर्वस्य पदार्थस्य उत्तरः पदार्थः पश्वन्तरव्यापारेण व्यवधीयते'। नैष दोषः, एवमपि कृतमेव आनुपूर्व्यं, —योऽसौ पश्वन्तरे व्यापारः स एवासौ, न पदार्थान्तरं, पदार्थान्तरेण व्यवधानं भवति ॥

सू कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—बहुषु पुरोडाशेषु न एकजातीयानुसमयः—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्, अत्र उच्यते,—युक्तं तत्, यत् 'कारणात् अभ्यावृत्तिः',—एकजातीयानुसमये हि क्रियमाणे सहस्रस्य अधिश्रयणे कृते प्रथमः शुष्येत्, तस्य च प्रथनं न शक्येत कर्त्तुम् ॥ (५।२।१ अ०) ॥

, अथ वा अधिकरणान्तरम्,—

पशुसहस्रप्रतिबन्धस्थले एकैकस्य एकदा सर्वधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥
(काण्डानुसमयन्याय) ॥

सू. कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥

भा अनेकसहस्रप्रतिग्रहे तथानुष्ठानम्—इति पूर्वः पक्षः। काण्डानुसमयोऽभ्युपेतव्यः*—इति सिद्धान्तः ॥ (५।२।२ अ०) ॥

---

मुष्टिकपालादीनाम् समुदायानुसमयाधिकरणम् ॥

सू मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा मुष्ट्यादिषु संशयः,—किं मुष्टिना अनुसमयः, उत चतुर्भिः मुष्टिभिः?—इति। किं प्राप्तम्?—मुष्टिना—इति। कुतः?। एकमुष्टिनिर्वापो हि एकः पदार्थः, न चतुर्मुष्टिनिर्वापः†। कथम्?। एकस्मिन् मुष्टौ निरुप्ते कृतीभावः प्रत्याययति, न प्रवर्तं चरितुम्,—न किञ्चित् निरुप्तम्—इति, न च, निरुप्ते निर्वापो न कृतः स्यात्, न च मुष्टिमात्रेण निरुप्तेन न प्रयोजनं, न हि

* [illegible] काण्डानुसमय इति ॥
† मुष्टिमात्रे निरुप्ते इति का० मी० पु० पाठः ॥

भा. एकस्मिन्, अनिरुप्ते चत्वारः सम्भवन्ति, मुष्टिसमानाधिकरणो हि चतुःशब्दः, तस्मात् मुष्टिना अनुसमयः कार्यः। एवं,— 'कपालान् उपदधाति'—इति, तथा, 'मध्यादवद्यति पूर्वार्द्धादवद्यति', तथा, 'अङ्गेभ्यङ्क्ते वपति पावयति'—इति ॥

सू सर्व्वाणि त्वेककार्य्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ॥ ५ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वाणि तु समाप्य अनुसमेयात्, नैकमुष्टिनिर्वापः पदार्थः, चतुःसङ्ख्यत्वात् निर्वापस्य। कथं चतुःसङ्ख्यता?। चतुःशब्दस्य निर्वपतिना सम्बन्धात्, एवं सह कर्मणा, अनेकगुणविधानं न्याय्यं, इतरथा, मुष्टिसम्बन्धे सति वाक्यभेदः प्रसज्येत। अनिर्वापाङ्गं च स्यात्। तथोपधानादिष्वपि, अष्टाकपालम् एकादशकपालं निर्वपति—इति निर्देशात्। 'हिरण्यवति चिरभ्यङ्क्ते एकविंशत्या पावयति'—इति सङ्ख्यादीनाम् क्रियागुणत्वं भवति। तस्मात् समुदायेन अनुसमयः—इति॥ (५। २। ३ अ०) ॥

---

अवदानस्य प्रदानान्तानुसमयाधिकरणम् ॥

सू संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ६ ॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'द्विर्हविषोऽवद्यति'—इति। तत्र संशयः,—किं अवदानेन अनुसमयः, उतावदानेन प्रदानान्तेन? —इति। किं प्राप्तम्?—अवदानेन—इति ब्रूमः। कुतः?। पृथक्पदार्थत्वात्, पृथक् पदार्थो हि अवदानं, यतोभावस्य पर्य्यवसानात्, अवद्यतिवचनात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'संयुक्ते तु प्रक्रमात् तदङ्गं स्यात्, इतरस्य तदर्थत्वात्', न अवदानं पृथक् पदार्थः, प्रदानस्य स उपक्रमः, इतरथा अवद्यतेः अदृष्टार्थता

भा स्यात्। सङ्ख्याविशेषविधानार्थं च पुनर्वचनम्। तस्मात् पदार्थावयवोऽवदानं, न च अवयवसङ्ख्यत्वं प्रयोगवचनेन उच्यते, तस्मात् प्रदानान्तेन अनुसमयः—इति ॥ (५।२।४ अ०) ॥

---

अञ्जनादेः परिव्याणान्तानुसमयाधिकरणम् ॥

सू　वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादि स्यात् ॥ ७ ॥ (सि०) ॥

भा　ज्योतिष्टोमे अग्नीषोमीयपशौ यूपस्य अञ्जनाद्याः पदार्थाः श्रूयन्ते, तेषु यूपैकादशिन्यां प्राप्तेषु संशयः,—किं अञ्जनादीनाम् एकैकेन अनुसमयः, उत अञ्जनादिना परिव्याणान्तेन ?—इति। किं प्राप्तम्?—परिव्याणान्तम् अञ्जनादि स्यात्। कुतः?। 'वचनात्', वचनमिदं भवति,—'अञ्जनादि यजमानो यूपं नाव सृजेत् आ-परिव्याणात्'—इति, न च शक्यं बहुष्वञ्जनादिना अनुसमयः कर्तुम् न च अनवसृष्टुम्। तस्मात् परिव्याणान्तेन अनुसमयः ॥

सू　कारणाद्वानवसर्गः स्यात् यथा पात्रवृद्धिः ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा　सङ्घत्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुग्रहीष्यते—इति पदार्थेन अनुसमयः। 'अनवसर्गं' च प्रकृतौ अर्थात् कृतः, धारणार्थं यजमानेन अभ्यथाः, एवं दृष्टार्थता अनवसर्गस्य, इतरथा अदृष्टार्थता स्यात्। न च अर्थात् कृतं चोदकः प्रापयति। तस्मात् यूपान्तरेणोच्छ्रितत्वेन* कारणेन अवसृजेत्, यथा 'पृषदाज्येन अनुयाजान् यजति'—इति अर्थात् तस्य धारणार्थं पात्रम्भिद्यते ॥

---

* उच्छ्रयत्वेन इति का० सी० पु० पाठः ॥

सू. न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्त्वाच्च-विवृद्धिः ॥ ९ ॥ (पू॰ नि॰) ॥

भा. न वैतत्पदार्थेन अनुसमयः—इति, परिव्याणान्तेन पदार्थकाण्डेन अनुसमयः स्यात्, शब्दस्तं हि महती अनवसर्जनं, शक्नोति हि स्वतेऽपि यजमानात्, अध्वर्युः यूपमुच्छ्रयितुम्। 'सौकर्यम्'—इति चेत्। विधिशब्दो बाध्येत! दृष्टार्थता एवं हि नियम्येत! भोजने प्राङ्मुखता इव, अतोऽसम्भवात्, पदार्थकाण्डेन अनुसमयः, प्रयोगवचनस्य च न्यायमात्रत्वं, चोदकः ततो बलीयान्, मात्रविवृद्धिस्त्वर्थात् कर्त्तव्या ॥ (५। २। ५ अ॰) ॥

---

दैवतावदानेषु पदार्थानुसमयाधिकरणम् ॥

सू. पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत्पश्वेकत्वात् ॥ १० ॥ (पू॰) ॥

भा वाजपेये प्राजापत्याः पशवः। तेषु सन्देहः,—किम् एकैकस्य पशोर्दैवतानि अवदाय ततः सौविष्टकृतानि, तत ऐडानि; अथ दैवतैर्दैवतानामनुसमयः, सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानाम्, ऐडैरैडानाम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—एकैकस्य हृत्स्नानि अवदाय ततो होतव्यं, महती वचनात्, एतत्स्वतं प्राजापत्येष्वपि चोदकेनैव प्राप्नोति ॥

सू. दैवतैर्वैककर्म्यात् ॥ ११ ॥ (सि॰) ॥

भा. न एतदेवम्, 'दैवतैः दैवतानां, सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानाम्, ऐडैरैडानाम्—इति। कस्मात्?। 'ऐककर्म्यात्', एवं भवति, यत्र वचनात् महती हृत्स्नावदानम्—इति,

भा॰ अवदाय न तावति एव होतव्यं, सौविष्टकृतानि अवदेयानि; सौविष्टकृतानि अवदाय न तावत्येव होतव्यं, ऐडानि अवदेयानि'—इति मन्यतौ श्रूयते, तत् इह दैवतैर्दैवतानाम् अनुसमयं कुर्वन्नेनं भाक्तं धर्मं बाधेत, दैवतानि अवदाय नैव जुहोति, सौविष्टकृतानि अवद्यति—इति; अथ सौविष्टकृतानि अवदाय नैव जुहोति, ऐडानि अवद्यति—इति। तस्मात् पदार्थमात्रेण अनुसमयः—इति॥

सू॰ मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात्॥ १२॥ (यु॰)॥

भा॰ एवं मन्त्रोतामवत्तत्वं भविष्यति, इतरथा पर्यायेणैव स्यात्। तस्मात् दैवतैर्दैवतानां सौविष्टकृतैः सौविष्टकृतानां ऐडैरैडानाम्—इति॥ (५।२।६ अ॰)॥

---

नानाबीजेष्टौ उलूखलादीनाम् तन्त्रताधिकरणम्॥

सू॰ नानाबीजेष्वेकमुलूखलं विभवात्॥ १३॥ (सि॰)॥

भा॰ अस्ति राजसूये नानाबीजेष्टिः,—'अग्नये गृहपतये सितानामष्टाकपालं निर्वपेत्, सोमाय वनस्पतये श्यामाकं चरुम्'—इत्येवमादि। अस्ति तु तत्र भाक्तोऽवहन्तिः। तत्र सन्देहः,—किं तत्रैकम् उलूखलं पर्यायेण, उत यौगपद्येन बहूनि?—इति। कुतः संशयः?। यदि कृष्णाजिनाधस्तरणादयः पृथक् पदार्थाः, ततो भेदः; अथ कृष्णाजिनास्तरणादिः तण्डुलनिर्वृत्त्यन्त एकः पदार्थः, ततः तन्त्रम्—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—एकम्—इति। कुतः?। पर्यायेण 'विभवात्,—एकस्य उपादानेन सिद्धे द्वितीयस्य उपादानम् अनर्थकं स्यात्। तस्मात् तन्त्रम्—इति॥

सू· विद्धद्विर्वा नियमानुपूर्व्वस्य तदर्थत्वात् ॥ १४ ॥ (पू०) ॥

भा 'विद्धद्भिः' उलूखलानां स्यात्, नियतं हि आनुपूर्व्यं पाठकृतं सहत्वे सति उपपद्यते, पदार्थानां च अनुसमयः, पृथक्पदार्थाश्च अधस्तरणादयो फलीभावस्य पर्यवसानात्, अधस्तरणादिभिश्च पदैरभिधानात्। तस्मात् विद्धद्भिः—इति ॥

सू· एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥ १५ ॥ (उ०) ॥

भा. 'एकं वा' उलूखलं पर्यायेण स्यात्, एको हि अधस्तरणादिः तण्डुलपर्यन्तः पदार्थः, स्तरणादिर्हन्त्युपक्रमः फलीकरणान्तश्च तस्यैव शेषः*, यतो हन्तिस्तण्डुलनिष्पत्त्यर्थः, एवं स्तरणादीनां हन्तेश्च न अदृष्टार्थता भविष्यति। तस्मात् तथम्—इति ॥ (५ । २ । ७ अ०) ॥

---

अग्नीषोमीयपशौ प्रयाजानुयाजयोः पात्रभेदाधिकरणम् ॥

सू· विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात् स्यात् ॥ १६ ॥

भा. अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः, तत्र श्रूयते,—'पृषदाज्येन† अनुयाजान् यजति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं प्रयाजानुयाजानाम् एकं पात्रम् आज्यस्य पृषदाज्यस्य च धारणार्थम्, उत भिद्यते?। किं प्राप्तं?—एकम्—इति। कुतः?। प्रकृताविर्क्ये, प्रकृतिवत् इहापि एकेन भवितव्यम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'पात्रभेदः' 'स्यात्'। कुतः?। 'अर्थभेदात्', शुद्धस्य प्रयाजा अर्थः, पृषतोऽप्यनुयाजाः, पृषति गृह्यमाणे

---

* फलीकरण इत्यत्र तस्यैव विशेषः इति का॰ सो॰ पु॰ पाठ. ॥

† दधिमिश्रमाज्यम् पृषदाज्यम् ॥

भा. प्रयाजानां वैगुण्यं, शुद्धेऽनुयाजानाम्। न च, एकस्मिन् पात्रे विविक्तं शक्यं कर्त्तुम्। मर्यादायामपि क्रियमाणायां मदीयमानं संसृज्येत। अपि च आकारभेदादुपस्तरः उपभृत्त्वं विहन्येत। पाणिमात्रपुष्करा हि सा, एकपुष्करा च।

'अथ उच्येत,—पृषदाज्यमप्याज्यमेव—इति न मिश्रत्वं दोषाय—इति'। नैतदेवं, प्रकृतौ उत्पवनावेक्षणयोः प्रयोजनमेतत्, यत् आज्यस्यापरेण द्रव्येण असंसर्गः। एवं चेत् अनुपपन्नं, यत् प्रयाजाः पृषदाज्येन इज्येरन्—इति। अपि च, एवं सति अवश्यं हविषः काचित् मात्रा अपनीयते। न च शक्यं, प्रयाजकार्येऽवसितेऽनुयाजार्थं ग्रहीतुम्, प्रकृतावेककालं ग्रहणम्, इहापि एककालमेव कर्त्तव्यम्। तस्मात् पात्रभेदः—इति॥ (५।२।८ अ०)॥

---

नारिष्टहोमस्योपहोमपूर्वताधिकरणम्॥

सू० प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम्॥ १७॥ (सि०)॥

भा० अस्ति नक्षत्रेष्टिः श्रूयते,—'अग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, सोऽत्र जुहोति, अग्नये स्वाहा, कृत्तिकाभ्यः स्वाहा'—इत्येवमादिहोमाः समाम्नाताः। सन्ति तु प्रकृतौ नारिष्टहोमाः*। तत्र सन्देहः,—किं नारिष्टहोमाः पूर्वम्, उत उपहोमाः?—इति संशये उच्यते, प्राकृतं पूर्वं, वैकृतमन्ते स्यात्—इति। कुतः?। चोदितस्य परिपूर्णस्य शेष आम्नायते, यथा जातस्य पुत्रस्य क्रीडनकम्॥

---

* दश मे तनवो यज्ञिय इत्यादि मन्त्रैराम्नातास्ते नारिष्टहोमा इति भावः॥

सू. मुख्यानन्तर्य्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात् प्राकृतानाम् व्यवायः स्यात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा. 'आत्रेयो' मन्यते स्म, 'मुख्यानन्तर्यं' वैकृतस्य, पश्चात् तु प्राकृतं प्रयुज्येत। प्रधानानन्तरं विकृतस्य पाठः प्रत्यक्षः, तस्मात् पूर्वम् उपहोमाः ततो नारिष्टहोमाः—इति। 'प्राकृतानां व्यवायः स्यात्', यतः ते न श्रूयन्ते ॥

सू. अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥ १९ ॥ (उ०) ॥

भा. 'बादरायणस्तु' आचार्यो मन्यते स्म, 'अन्ते' वैकृतानां प्रयोगः—इति। कुतः?। प्रधानशब्दगृहीतत्वात्, प्राकृतानामङ्गानाम् प्रधानशब्दगृहीतत्वं, तत्प्रधानशब्दगृहीतानि हि प्राकृतानि अङ्गानि, तस्मात् च प्रधानशब्दात् परमेतत्,—'सोऽत्र जुहोति अग्नये स्वाहा कृत्तिकाभ्यः स्वाहा'—इत्येवमादि। तस्मात् प्रत्यक्षादेव क्रमान्नारिष्टहोमेभ्यः पराश्च उपहोमाः—इति ॥

सू. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ २० ॥ (यु०) ॥

भा. अन्यार्थोऽपि चैतमर्थं दर्शयति,—'अध्वरस्य पूर्वमथाग्नेरुप मैत्येतत् कर्म, यदग्निकर्म'—इतिः पश्चात्समाम्नातस्य पश्चात् प्रयोगं दर्शयति ॥ (५। २। ९ अ०) ॥

---

विदेवनादीनामभिषेकपूर्वताधिकरणम् ॥

सू. कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात्तेन प्रत्यक्षसंयोगात् न्यायमात्रमितरत् ॥ २१ ॥

भा. राजसूये श्रूयते,—'अक्षैर्दीव्यति शौनःशेपमाख्यापयति, अभि-

भा पिचरते—इति। तत्र सन्देह —किम् देवनादीनामन्ते प्रयोग, उत अभिषेकात् पूर्वम्?—इति। किम् प्राप्तम्?—'अन्ते तु बादरायण —इत्यन्ते प्रयोग कर्त्तव्य—इति। एव प्राप्ते ब्रूम —'छतदेशात् अभिषेकात् पूर्वे तु प्रयोग, छतदेशो हि अभिषेक, माहेन्द्रस्य स्तोत्र प्रत्यभिषिचते—इति प्रत्यक्षानु पहायाभिषेकात् पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। 'न्यायमात्रम् इतरत्,—'अन्ते तु बादरायण —इति॥ (५।।२।१० अ०)॥

---

सावित्रहोमादीनां दीक्षणीयपूर्वप्रयोगाधिकरणम॥

सू प्राकृताच्च पुरस्तात्यत्॥ २२॥

भा अस्ति अग्नि —'य एव विद्वानग्निञ्चिनुते'—इति। तत्र दीक्षणीयाया पूर्वं सावित्रहोमा उखासम्भरणम् इष्टका पशुश्च—इत्येतदाम्नातम्। किं तदेव पूर्वं कर्त्तव्यम् उत दीक्षणीया?—इति। किं प्राप्तम्?—वैकृतानामन्ते प्रयोग 'अन्ते तु बादरायण —इति। एव प्राप्ते ब्रूम,—पूर्वं सावित्र होमा, इष्टका, पशुरुखासम्भरण च। कुत?। प्रत्यक्षपाठात् पुन तत्र दीक्षणीया आम्नाता तस्याश्च पुरस्तात् सावित्र होमा इष्टका पशुरुखासम्भरण च। तस्मात् तेषा पूर्वं प्रयोग —इति॥ (५।२।११ अ०)॥

---

प्राजमानमध्याराणां वत्सप्रतिमोकात पूर्वभावित्वाधिकरणम॥

सू सन्निपातश्चेत् यथोक्तमन्ते स्यात्॥ २३॥

भा अग्नौ दीक्षणीयाया परतो वत्सप्रतिमोचनादि* आम्नातं

---

* [illegible] मात्र॥

भा. तस्मिन् एव क्रमे चोदकेन दीक्षितसंस्काराः प्राप्ताः। तत्र सन्देहः,—किम् अनियमः, उत पूर्वं रुक्मप्रतिमोचनादि, उत दीक्षितसंस्काराः?—इति। किं प्राप्तम्?—अनियमः। अथ वा, यथा प्रत्यक्षपाठक्रमात् दीक्षणीयायाः पुरत उखासम्भरणादयः, एवं रुक्मप्रतिमोचनादीनि—इति॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—दीक्षितसंस्काराः पूर्वं कर्त्तव्याः—इति। कुतः?। दीक्षणीयां प्रति यः पाठक्रमः, यथा च चोदकः, तयोभयेऽपि परस्तात् दीक्षणीयायाः कार्याः। यः तेषां परस्परापेक्षः क्रमः, तत्र न कश्चिदुखासम्भरणस्येव प्रत्यक्षः पाठक्रमः पूर्वत्वम् साधयति। अस्ति तु संस्काराणां प्रकृतौ पूर्वं पाठः, विकृतौ रुक्मप्रतिमोचनस्य उत्तरः, तेन यथोक्त एव क्रमः स्यात्, अन्ते वैकृतम्—इति। 'अथ किमर्थं सन्निपात आम्नायते?'। ननु अयं सन्निपात एव ध्यक्तः। असन्दिग्धे सन्दिग्धवचनमेतत्, यथा

'इजाना बहुभिर्यज्ञैर्ब्राह्मणा वेदपारगाः*।
शास्त्राणि चेत् प्रमाणं स्युः, प्राप्ताः ते परमां गतिम्'—इति।

तस्मात् न दोषः—इति॥ (५।२।१२ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतो मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

---

* आत्मानाय बहुश्रुता इति का॰ कौ॰ पु॰ पाठः॥

## पञ्चमे अध्याये तृतीयः पादः ॥

प्रयाजादीनाम् एकादशादिसङ्ख्याया सर्वसम्पाद्यत्वाधिकरणम् ॥

सू विवृद्धिः कर्म्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्योपदिश्येत ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा अग्नीषोमीये पशौ श्रूयते,—'एकादश प्रयाजान् यजति एकादशानुयाजान् यजति'—इति। चातुर्मास्येषु नव प्रयाजान् यजति नव अनुयाजान् यजति'—इति। अग्नौ श्रूयते, 'षडुपसदः'—इति। तत्र सन्देहः,—किं प्रतिप्रयाजमेकादशसङ्ख्या प्रत्यनुयाजं च, तथा चातुर्मास्येषु नवसङ्ख्या, तथा अग्नौ चोपसत्सु षट्सङ्ख्या, उत सर्वसम्पाद्या सङ्ख्या?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रतिप्रधानं सङ्ख्या भिद्यते—इति। कुतः?। भिन्नानि हि तानि कर्माणि, तानि च प्रधानानि प्रति, सङ्ख्या श्रूयते; प्रधानसन्निधौ च गुणः श्रूयमाणः प्रतिप्रधानमभिद्यते, यथा 'पृषदाज्येनानुयाजान् यजति—इति प्रत्यनुयाजं पृषता गुणो भिद्यते, एवम् इहापि—इति ॥

सू अपि वा सर्व्वसङ्ख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा सर्वसम्पाद्या सङ्ख्या कल्प्येत। कुतः?। पृथक्त्वनिवेशिनी हि सङ्ख्या असति पृथक्त्वेऽभ्यासेन कल्प्येत, यावत्यसम्भवो भेदस्य, तावत्येवाभ्यस्येत, यावति सम्भवति, तावति पृथक्त्वनिवेश एव न्याय्यः, तस्मात् सर्वसम्पाद्यैव सङ्ख्या। यत्तु,—'पृषदाज्यवत्'—इति, न, पृषता एकस्य न संभवति, न असौ पृथक्त्वनिवेशिनी, न च, एकस्य क्रियमाणा सर्वथा तयेणोपकरोति—इति।

भा. तस्मात् अवश्यं भेत्तव्या, तद्वेण तु उपकरोति सङ्ख्या, इतरापेक्षा हि सा भवति। एवं सति सङ्घत्वस्य प्रापकः प्रयोगवचनोऽनुपहीष्यते—इति ॥ (५।३।१ अ०) ॥

---

प्रयाजादीनां त्रिवृत्त्वानुपपत्त्यां स्वस्थानावृत्त्यधिकरणम् ॥

सू. स्वस्थानात्तु विवृद्ध्येरन् कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥ ३ ॥

भा. उपसत्सु सन्देहः,—किम् आवृत्तिर्दण्डकलितवत्, उत स्वस्थानात् विवर्द्धन्ते?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—आवर्त्तनीयानामर्थानामेष धर्मः, यदुत दण्डकलितवत्*, यो हि उच्यते,—'त्रिरनुवाकः पठ्यताम्'—इति, स आदित आरभ्य परिसमाप्य पुनरादित आरभ्यते, तस्मात् दण्डकलितवदावृत्तिः।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स्वस्थानात्' विवर्द्धितुमर्हति। कुतः?। 'कृतानुपूर्व्यत्वात्', कृतमानुपूर्व्यम् उपसत्सु, 'प्रथमां कृत्वा मध्यमा कर्त्तव्या, तत उत्तमा'—इति। तत्र यदि दण्डकलितवदावृत्तिः स्यात्, उत्तमां कृत्वा पुनराद्याया अभ्यासे क्रियमाणेऽस्थाने सा विवृद्धिः कृता भवति। स्वस्थानविवृद्धौ नैष दोषः। तस्मात् स्वस्थाने विवृद्धिः—इति ॥ (५।३।२ अ०) ॥

---

सामिधेनीषु धाय्यानामन्ते निवेशाधिकरणम् ॥

सू. समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥ ४ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः सामिधेन्यः 'सामिधेनीरन्वाह'—इति।

---

* यथा दण्डेन भूप्रदेशं सञ्चिमानः पुरुषः आमूलाग्रं कृत्वा दण्ड पुनः पुनः पातयति, न तु दण्डस्य प्रत्यवयवम् प्रथमाहतिं करोति इति माधवः ॥

भा तत्र काम्या सामिधेनीकल्पा 'एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य'—इत्येवमादयः, तत्र आगमेन सङ्ख्यापूरणं वक्ष्यते। तत्र सन्देहः—किम् आगन्तूनामन्ते निवेशः, उत समिध्यमानवतीं* समिद्धवतीं च अन्तरेण निवेशः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—अन्ते निवेशः, 'अन्ते तु बादरायणः' (५।२।१९ सू०)—इत्यनेन न्यायेन—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—'समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं च अन्तरेण निवेशः'—इति। कुतः?। 'द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात्' (स्तवादित्यर्थः), 'इयं वै समिध्यमानवती, असौ समिद्धवती यदन्तरा, तद्धाय्या' इत्यन्तरिक्षसंस्तुतेऽस्मिन् अन्तराले विधीयन्ते। तस्मात् न अन्ते स्युः—इति॥

सू तच्छब्दो वा॥ ५॥ (सि०)॥

भा अथ वा या धाय्याशब्दिका ताः तत्र भवितुमर्हन्ति, तेन शब्देन तत्र सस्तव सस्तवाच्च विधानं, यथा, 'पृथुपाजवत्यौ धाय्ये उष्णिक्ककुभौ धाय्ये'—इति। 'का पुनरेता धाय्या—इति नाम? न ह्यस्य शब्दस्य प्रसिद्धिम् उपलभामहे। उच्यते,—सामिधेन्यो धाय्याः। कुतः?। एवं हि भगवतः पाणिनेर्वचनं "पाय्य सान्नाय्य निकाय्य धाय्या मान हविर्निवास सामिधेनीषु (३।१।२९ सू०)—इति, अस्मात् वचनात् प्रतिमनुमिमीमहे। कतमासु सामिधेनीषु?—इति। उच्यते,—अविशेषात् सर्वास्विति गम्यते इह तु समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं च अन्तरेण धाय्याः स्युः—इति सर्वासु सामिधेनीषु सतीषु धाय्याव चनात् विशिष्टानां सामिधेनीनां धाय्याशब्दः—इति गम्यते।

ननु पाणिनिवचनादविशेषेण सर्वा धाय्याः। न—इत्याह विशिष्टस्यापि वचनम् उपपद्यते एव। 'यदि विशिष्टा, ततः

* समिध्यमानाऽध्वर इत्येषा ऋक् समिध्यमानवती। समिद्धो अग्न आहुतेत्येषा ऋक् समिद्धवती इति माधवः॥

भा. काः ?'—इति। उच्यते,—यासु धाय्याशब्दः श्रूयते, ताः तावत् धाय्याः, तासु च धाय्यासु सतीषु वचनम् अर्थवत् भवति। अर्थवति च सति वचने न अन्या धाय्याः, प्रमाणाभावात्—इति ॥

सू. उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ॥ ६ ॥ 'यु० ॥

भा. 'उष्णिक्ककुभोः' च 'अन्ते' प्रयोगो दृश्यते,—'यज्जगत्या परिदध्यादन्तं यज्ञं गच्छेत्, अथ यत्त्रिष्टुभा परिदधाति नान्तं गच्छति'—इति। 'ननु त्रिष्टुभ् अत्रान्ते दृश्यते, न उष्णिक्ककुभौ'—इति। उच्यते,—त्रिष्टुभमेवायम् उष्णिक्ककुभौ—इति ब्रूते। कथम्?। 'त्रिष्टुभो योऽयम्'—इत्येवमन्ते संस्तुतेः 'त्रिष्टुभो वा एतद्वीर्यं यत् उष्णिक्ककुभौ'—इति कारणे कार्यवत् उपचारः कृतः ॥' (५।२।२ अ०) ॥

---

बहिष्पवमाने आगन्तूनां पर्यासात्प्राक्कालताधिकरणम् ॥

सू. स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युस्तथाहि दृष्टं द्वादशाहे ॥ ७ ॥ (पू०) ॥

भा. सन्ति विवृद्धस्तोमकाः क्रतवः,—'एकविंशेन अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेयुस्त्रिणवेन ओजस्कामं त्रयस्त्रिंशेन प्रतिष्ठाकामम्'—इति, तत्र आगमेन सङ्ख्यापूरणं वक्ष्यते। अथ बहिष्पवमाने वैवृतेषु आनीयमानेषु भवति संशयः। किं वैवृतानामन्ते निवेशः, उत प्राक् पर्यासात्?—इति। किं प्राप्तम्?—'पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युः, तथा हि दृष्टं द्वादशाहे, 'स्तोत्रियानुरूपौ तृचौ भवतः, व्यूळ्हस्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यासः'*—इति इहापि प्राक्पर्यासादागन्तुभिर्भवितव्यम् ॥

---

* अयमर्थः प्राकृतानां बहिष्पवमानस्थानां पञ्चानां तृचानां स्तोत्रीयानुरूप पर्यास इति त्रीणि नामानि, तत्र षोडशस्तोमे अनुरूपपर्यासयोर्मध्ये इतरतृचद्वयस्यागमः कर्तव्या इति भावः ॥

सू पर्यास इति चान्ताख्या ॥ ८ ॥ (यु०) ॥

भा पर्यासशब्दस्य अन्तवचनो लोके दृश्यते, यथा, क्षेत्रपर्यासः, नदीपर्यासः—इति। एवं पर्यासोऽन्ते कृतो भविष्यति ॥

सू अन्ते वा तदुक्तम् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा अन्ते वा एवञ्जातीयकं वैकृतं स्यात्, उक्तम्,—'अन्ते तु बादरायणः' (५।२।१९ सू०)—इति ॥

सू वचनात्तु द्वादशाहे ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्,—'तथाहि दृष्ट द्वादशाहे'—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। अत्र उच्यते, वचनात् द्वादशाहे भवति, 'स्तोत्रियानुरूपौ तृचौ भवतः छन्दस्यास्तृचा भवन्ति, तृच उत्तमः पर्यासः'—इति। न हि वचनस्य अतिभारोऽस्ति ॥

सू असद्विकारस्य ॥ ११ ॥ (१ यु०) ॥

भा न च, अयं तद्विकारः, यतो धर्मान् गृह्णीयात्—इति ॥

सू तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥ १२ ॥ (२ यु०) ॥

भा योऽपि तद्विकारः, तत्राप्यन्ते एव निवेशः। कुतः?। 'अपूर्वत्वात्, छन्दस्वता तृचानाम्, छन्दस्य एव प्राक्पर्यासात्, यावत् वचनं वाचनिकं, न सदृशम् उपसङ्क्रामति॥ (५।२।४ अ०)।

---

सर्वेषामन्तता साम्नां मध्ये निवेशाधिकरणम् ॥ १

सू अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ॥ १३ ॥ (पू०) ॥

भा इहापि त्रिवृत्स्तोमकाः साम्न उदाहरणम्। तत्र उत्तरयो

भा. पवमानयोः साम्नामागमः—इति वक्ष्यते (१० अ०)। तत्र आगम्यमानेषु सामसु सन्देहः,—किं तेषामन्ते निवेशः, उत गायत्री-बृहत्यनुष्टुप्सु?—इति। किं प्राप्तम्?—'अन्ते उत्तरयोर्ध्यात्'। उक्तः अत्र न्यायः,—'अन्ते तु बादरायणः'—इति। तस्मात् अन्ते निवेशः—इति॥

सू. अपि वा गायत्री-बृहत्यनुष्टुप्सु वचनात्॥ १४॥ (सि०)॥

भा. 'गायत्री-बृहत्यनुष्टुप्सु' निवेशः। कस्मात्?। 'वचनात्', 'त्रीणि ह वै यज्ञस्य उदराणि गायत्री-बृहत्यनुष्टुबिति। अत्र ह्येव आवपन्ति अत एवोद्वपन्ति'*—इति वचनेन अस्ति उपालम्भः। तस्मात् न एषाम् अन्ते निवेशः—इति॥ (५।३। ५ अ०)॥

---

यद्विष्टकादीनां क्रतुधर्मताधिकरणम्॥

सू. यद्विष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात्॥ १५॥ (पू०)॥

भा. औपानुवाक्ये काण्डे ग्रहा इष्टकाश्च समाम्नाताः,—'एष वै हविषा हविर्यजते, यो दाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते'—इति, तथा, 'परा वा एतस्यायुः प्राण एति योंऽशुं गृह्णाति'—इति, तथा 'इष्टकाश्चित्रिणीरुपदधाति, वज्रिणीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनशेषश्चितिशेषश्च, अथ किं क्रतुशेषोऽग्निशेषश्च?—इति।

---

* यदमर्दं, सोमस्य विहृदये आम्नायमावाप क्रियते, ज्ञावाय च उद्वाप, तावुभौ आवापोद्वापौ गायत्र्यादिष्वेव नान्यत्रेति। 'उच्चाते जातमन्धसः' इत्येष माध्यन्दिनपवमानस्याद्यस्तृचः। स्वादिष्ठयेत्येष आर्भवपवमानस्य। तावुभौ गायत्रीछन्दस्कौ, तयोरावाप न तु त्रिष्टुप्जगतीछन्दस्कयोरन्ययोस्तृचयोः सामावापनीयम् इति माधव॥

भा किं प्राप्तम्?—'सवनचितिशेषः'। कुतः?। यद्धि सवनानि आरभ्यन्ते, इष्टकाभिश्चितयः, यच्च येन आरभ्यते तत्तदङ्गम्॥

सू क्रत्वविशेषो वा चोदितत्वादचोदनानुपर्व्वस्य॥ १६॥ (सि०)॥

भा 'क्रत्वविशेषः' स्यात्। कुतः?। 'चोदितत्वात्', अग्निश्चेतव्यः श्रूयते,—'य एवं विद्वानग्निं चिनुते'—इति, न चितिश्चेतव्या, इष्टकाचयनेन अग्निश्चेतव्यः श्रूयते, 'अग्निम्'—इति द्वितीयानिर्देशात्, तथा 'यो दाभ्य गृहीत्वा सोमाय यजते'—इति अदाभ्यस्य यजतिना सम्बन्धः, तथा अंशोः। तस्मात् सकृत् यागसम्बन्धं कृत्वा कृतार्थः शब्दो भवति, श्रुतं सम्बन्धम् अभिनिर्वर्त्य। तथा सकृदग्निसम्बन्धं कृत्वा कृती मन्येत, 'अचोदना' चितिसवनयोः, न हि ते कर्त्तव्यतया चोद्येते, परार्थं हि तयोः श्रवण। किं प्रयोजनं?। सवनचितिशेषत्वे, प्रति सवन ग्रहणं, प्रति-चिति च इष्टकोपधानं। क्रत्वविशेषत्वे सकृत् ग्रहणोपधाने॥ (५।३।६ अ०)॥

---

चित्यादीनां मध्यमचितावुपधानाधिकरणम्॥

सू अन्ते स्युरव्यवायात्॥ १७॥ (पू०)॥

भा. श्रौपानुवाक्ये श्रूयते,—'चित्रिणीरुपदधाति, वज्रिणीरुपदधाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एताः पञ्चम्यां चितावुपधेयाः, उत मध्यमायाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—पञ्चम्याम् एवेष्टकाः सातक्रमाः, अन्या नेताभिर्व्यवेष्यन्ते॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च॥ १८॥ (यु०)॥

भा प्रावचनं वा उत्तमा चितिः 'अन्या इष्टका उपदधाति'—इति॥

सू. मध्यमायान्तु वचनात् ब्राह्मणवत्यः ॥ १९ ॥
(सि०)॥

भा. नैवैता अन्त्यायां चितौ। 'कस्यां तर्हि?। मध्यमायां'। कुतः?। 'ब्राह्मणवत्यः' एता इष्टकाः, तासां मध्यमा चितिराम्नायते,—'यां वै काञ्चित् ब्राह्मणवतीम् इष्टकाम् अभिजानीयात्, तां मध्यमायां चितावुपदध्यात्'—इति। 'ननु सर्वा एवेष्टका ब्राह्मणवत्यः'। न—इत्याह, अपरा लिङ्गक्रमात् समाख्यानाच्च। तस्मात् एता नान्त्ये स्युः—इति॥ (५।३। ७ अ०)॥

लोकम्पृणात पूर्वं चित्रिण्याद्युपधानाधिकरणम्॥

सू. प्रागलोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात्॥ २०॥

भा. औपानुवाक्ये काण्डे इष्टकाः समाम्नाताः,—'वज्रिणीरुपदधाति, चित्रिणीरुपदधाति, भूतेष्टका उपदधाति'—इति। तत्र इदं समधिगतं,—मध्यमायां चितावुपधेयाः—इति। तत्र सन्देहः,—किं प्राक् लोकम्पृणायाः*, उत पश्चात्?—इति। किं प्राप्तम्?—'अन्ते तु बादरायणः'—इति। एवं प्राप्ते उच्यते,—'प्राक् लोकम्पृणायाः तस्याः सम्पूरणार्थत्वात्', सम्पूरणार्थता तस्याः श्रूयते,—'यदेवास्योनं, यच्छिद्रं, तत् अनया पूरयति, लोकं पृण छिद्रं पृण'—इति। अपूर्वत्वात् वार्थस्य, विधिरेवायं संस्तवेन—इति गम्यते। तस्मात् प्राक् लोकम्पृणायाः स्यात्॥ (५।३।८ अ०)॥

* लोकं पृण छिद्रं पृण इत्यनेन उपधीयमाना इष्टका लोकम्पृणा॥

इष्टिपश्वनायाग्निहोत्राद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू संस्कृते कर्म्म संस्काराणान्तदर्थत्वात् ॥ २१ ॥ (पू०)॥

भा आधाने सन्ति पवमानेष्टय । सन्ति च नियतानि कर्म्माणि, अग्निहोत्रादीनि। अनियतानि च ऐन्द्राग्नादीनि। तत्र सन्देह, —किं पवमानेष्टी कृत्वा कर्म्माणि प्रतिपत्तव्यानि, उत आहित, मात्रेषु अग्निषु?—इति। किं प्राप्तम्?—आहितमात्रेषु—इति। कुत ?। आहितमात्रेषु अग्नौ अग्निषु कर्म्माणि कर्त्तुम् समर्थो भवति, यथा 'आहिताग्निर्न छिन्न दार्वा दध्यात्'—इति। दर्शयति च,—'अग्नि वै सृष्टम् अग्निहोत्रेण अनुद्रवन्ति'—इति आहितमात्रेषु अग्निहोत्र दर्शयति। तस्मात् न पवमानेष्टय प्रतीक्षितव्या —इति।

एव प्राप्ते ब्रूम,—पवमानेष्टिभि संस्कृतेषु अग्निषु कर्म्माणि वर्त्तेरन्। कुत ?। 'संस्काराणा तदर्थत्वात्', संस्कारशब्दा एते आहवनीयादय संस्कारस्य कस्यचित् अभावेन, आहवनीयादिषु प्रतिपत्ति स्यात्। तस्मात् संस्कृतेषु अग्निषु कर्म्माणि—इति॥

सू अनन्तर व्रतं तद्भूतत्वात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०)॥

भा यत्—'आहिताग्निर्न छिन्न दार्वा दध्यात्—इत्येवमादि, युक्त, यत् आहितमात्रेषु क्रियते, आहिताग्ने तद्भूतम् उच्यते, स च, आहितमात्रेषु आहिताग्नि संवृत्त । तस्मात् 'अनन्तर व्रत स्यात्, 'तद्भूतत्वात् ॥

सू पूर्व्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥ २३ ॥ (आभा०)॥

भा अथ यदुक्तम्,—आहितमात्रेषु अग्निहोत्रं दर्शयति, पूर्वम् इष्टिभ्य —इति, तस्य क परिहार ?—इत्याशयात्त सूत्रम्॥

सू॰ अर्थवादो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥ २४ ॥ (उ०) ॥

भा॰ 'अर्थवादः' एषः। कुतः?। 'अर्थस्य विद्यमानत्वात्', विद्यमानो हि तत्र अन्य एव अग्निहोत्रहोमः। कथं होतव्यम् अग्निहोत्रं न होतव्यम्?—इति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः। 'यत् यजुषा* जुहुयात् अयथापूर्वमाहुती जुहुयात् यदि न जुहुयात् अग्निः परापतेत् तूष्णीमेव होतव्यम्'—इति, तस्य तूष्णींहोमस्य प्रशंसार्थोऽयमर्थवादः॥

सू॰ न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥ २५ ॥ (यु०) ॥

भा॰ न्यायविप्रतिषेधश्च भवेत्, यदि अनन्तरम् अग्निहोत्रादयः स्युः, यः पूर्वोक्तो न्यायः, स विप्रतिषिध्येत,—'न वा तासां तदर्थत्वात्'—इति। तस्मात् संस्थिते कर्माणि भवेयुः—इति॥ (५।३।९ अ०)॥

---

अग्निचिदर्थकादिव्रतानां क्रत्वन्तेऽनुष्ठानाधिकरणम्॥

सू॰ सञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा॰ 'अग्निचिद्वर्षति, न धावेन्न स्त्रियमुपेयात्, तस्मात् अग्निचिता पक्षिणो न अशितव्याः'—इत्येवमादयः पदार्थाः श्रूयन्ते। तेषु सन्देहः,—किं सञ्चितमात्रे प्रतिपत्तव्याः उत क्रत्वन्ते?—इति। किं प्राप्तम्?—सञ्चितमात्रे एव—इति। अग्निं यश्चितवान् सोऽग्निचित्—इति तस्य श्रूयमाणाश्चितवतोऽनन्तरमेव प्राप्नुवन्ति, प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्त्तव्यम्। तस्मात् अनन्तरमेव॥

---

* यथाप्रथमा इति षा॰ सौ॰ पु॰ पाठ ॥

सू क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥ २७ ॥ (सि०)॥

भा प्रयोगवचनो हि अत्र तान् पदार्थान् प्रापयति, येषा क्रत्वर्थत्वं, न चैषा क्रत्वर्थत्वमस्ति, पुरुषार्थां हि ते। कथं?। प्रतिषेधे पुरुषः श्रूयते,—'वर्षति न धावेन्न स्त्रियमुपेयात्'—इत्येवमादि, न च क्रत्वर्था एते प्रसक्ताः, येन प्रतिषेधं क्रतोरपकुर्यात्।

'ननु पुरुषार्था अपि चित्तवत. श्रयणाश्रयनानन्तर प्राप्ता'। न—इति ब्रूम,—

सू अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥ २८ ॥ (यु०)॥

भा अग्न्यर्थं चयनं तत्, यदग्नेः स्वं कार्यं कुर्वत साद्गुण्ये वर्तते, तत् तदर्थं। कश्च तस्य स्वार्थ.?। यागसिद्धि, सिद्धे च यागे चयनेन उपकृतं भवति। तस्मात् सिद्धे यागेऽग्निचित्, तेन क्रत्वन्ते—इति ॥ (५।३।१० अ०)॥

---

दीक्षाया इष्टिसिद्धताधिकरणम् ॥

सू परेणावेदनाद्दीक्षितः स्यात्सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥ २९ ॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाण.'—इति, तथा 'दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति, कृष्णाजिनेन दीक्षयति'—इत्येवमादि। तत्र सन्देह',—किं सर्वैर्दीक्षितो भवति, अथ वा इष्ट्यन्ते दीक्षित' ?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—'सर्वै.'—इति। कुतः?। 'दीक्षाभिसम्बन्धात्', दीक्षासम्बन्धो भवति,—'दण्डेन दीक्षयति' (दीक्षामस्य करोति—इत्यर्थ.), यदि इष्ट्यन्ते दीक्षित स्यात्,

भा. कथम् अस्य दण्डेन दीक्षां कुर्यात्, तेन इष्ट्या न दीक्षितः। न च, अस्य इष्ट्यन्ते दीक्षितशब्दं पश्यामः, आवेदने त्वस्य दीक्षितशब्दः, तस्मात् न तावति दीक्षितः स्यात्। न च सम्भवति समुच्चये विकल्पो न्याय्यः, पक्षे बाधः स्यात्, तत्र प्रयोगवचनो बाध्येत। तस्मात् भिन्नेष्वपि दीक्षासम्बन्धवाक्येषु प्रयोगवचनेन सहैकवाक्यता—इति आवेदनकाले दीक्षितः स्यात्॥

सू. इष्ट्यन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥ ३० ॥ (सि०)॥

भा. 'इष्ट्यन्ते वा' दीक्षितः स्यात्, 'तदर्था हि' सा (दीक्षणार्था)। कथं?। दीक्षिष्यमाणस्य अदीक्षितस्य सा भवति, यदि तस्या उत्तरकाले दीक्षितः, एवं सा दीक्षिष्यमाणस्य। तस्मात् वाक्यादवगम्यते,—भवति तदा दीक्षितः—इति, दीक्षाकरणे पदार्थे निर्वृत्ते किमिति न दीक्षितः स्यात्? वाक्यं हि निरपेक्षं दीक्षितः—इति ज्ञापयति।

यत्तु,—दीक्षासम्बन्धी 'दण्डेन दीक्षयति'—इति; कथं स दीक्षितत्वे स्यात्?—इति दण्डेनैवं सम्पादयति—इत्यवगच्छामः; यत्तु,—अनन्तरं दीक्षितशब्दो नास्ति—इति; न शब्दस्य अप्रयोगः अर्थाभावे हेतुः; सत्यप्यर्थे तदवसराभावान्न प्रयुज्यते शब्दः। अन्येन च दीक्षितः—इत्यवगम्यते वाक्येन, 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेत् दीक्षिष्यमाणः'—इति। यच्च,—आवेदनकाले दीक्षितशब्दः—इति; इष्ट्यन्तेऽपि दीक्षितस्य अभावविरुद्धः, प्रयोगवचनस्याविरुद्धः, यतः एकं दीक्षाकरणम्, अन्यैर्दीक्षितं सम्पादयति—इति गम्यते॥

सू **समाख्यानं च तद्वत् ॥ ३१ ॥ (यु०) ॥**

भा इतश्च पश्यामः, इष्टिर्दीक्षणार्था, इष्ट्यन्ते च प्रवृत्तिः—इति । कस्मात् ?। 'समाख्यानं च तद्वत्'—इति यद्वत्प्रयाय उपदिष्टः । कथम् ?। दीक्षणीया—इति तादर्थ्यकरी समाख्या भवति, यथा स्नानीयम् भोजनीयञ्च—इति । तस्माच्च पश्यामः, इष्टिर्दीक्षणार्था इष्ट्यन्ते च प्रवृत्तिः—इति ॥ (५।३।११ अ०) ॥

---

काम्येष्टीनामनियमेनानुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू **अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥ ३२ ॥ (पू०) ॥**

भा. इह काम्या इष्टय उदाहरणम्,—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्'—इत्येवमादयः, गवादयः सोमाः, सौर्यादयः पशवः । तत्र सन्देहः,—किं येन क्रमेण अधीताः, तेनैव क्रमेण प्रयोक्तव्याः, उत अनियमः ?—इति । किं तावत् प्राप्तम् ?—'क्रतूनामानुपूर्व्यं' यत् पाठे, तदेव प्रयोगे भवितुमर्हति, एवं पाठक्रमोऽनुगृहीतो भविष्यति, इतरथा पाठक्रमो बाध्येत, तन्मा भूत्—इति क्रमेण अनुष्ठातव्यम् ॥

सू **न वाऽसम्बन्धात् ॥ ३३ ॥ (सि०) ॥**

भा 'न वा', अयं क्रमो नियम्येत । कुतः ?। 'असम्बन्धात्', पृथक् पृथक् एषां कर्मणाम् प्रयोगवचनानि, तानि स्वपदार्थानाम् उपसंहारकाणि, यो यस्य न उपकारकः, स तस्य न क्रमेण, न उत्क्रमेण, यो यस्य उपकरोति कस्यचित्, तस्य उपकुर्वतः क्रमः साहाय्ये वर्त्तते । न च, एतानि कर्माणि अन्योन्यस्य उपकुर्वन्ति, तस्मात् न एषां क्रमः साहाय्ये वर्त्तते । तस्मात् असम्बन्धः—इति ॥

सू कामत्वाच्च ॥ ३४ ॥ (यु०) ॥

भा काम्यानि च एतानि कर्माणि, कामाच्च न क्रमेण उत्पद्यन्ते, तेन निमित्तस्य अक्रमत्वान्न क्रमवन्तः—इति ॥

सू आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥ ३५ ॥ (आ०) ॥

भा. इति यदुक्तम् पूर्वपक्षे, तदेव पुनरुच्यते परिहर्तुम्, एवं क्रमेण पाठोऽनर्थकः भविष्यति—इति। एतदाभाषान्तं सूत्रम् ॥

सू स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥ ३६ ॥ (आ० नि०) ॥

भा 'स्यात्' अर्थवान् क्रमपाठः, असत्यपि प्रयोगे क्रमे, विद्याग्रहणार्थत्वात्,—कर्मावबोधनार्थायां विद्यायां क्रमनियमाददृष्टं तदाश्रयमेव भविष्यति—इति, यथा, त्वत्पक्षे 'परेषु सर्वस्वारात्', यस्यापि प्रयोगोऽक्रम्—इति पक्षः, तस्यापि सर्वस्वारात् परेषां सर्वस्वारेण यः क्रमः तस्य अदृष्टार्थता अवश्यं कल्पनीया ॥ (५।३।१२ अ०) ॥

---

यज्ञानामग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

सू य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥ ३७ ॥ (सि०) ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'एष वाव प्रथमो यज्ञानां यत् ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वा अथान्येन यजेत गर्त्तपत्यमेव तज्जायते प्रवामीयते'*—इति। तत्र सन्देहः,—'यः एतेन'—इति कस्य

* 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यत् ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वा अथान्येन यजेत गर्त्तपतितमेव हि तत् जीर्य्यते प्रवामीयते'—इति ताण्डीये पाठः। तथाच्चार्योऽप्यकारि —"यथा गर्त्तपतितमुच्छिद्य पलाशकाष्ठादिकं पुनर्न कार्य्यायोपयुज्यते, केवलं जीर्य्यते, तथा, प्रथममनुष्ठितं ज्योतिष्टोमं यज्ञाय नोपयुक्तं, यजमानश्च तेनापराधेन पापभागी भवतीत्यर्थं" इति ॥

भा अथ वाद ?—इति प्रश्नेन एवोपक्रम। उच्यते,—'य एतन —इति अग्निष्टोमस्य वाद। कुत ?। 'प्रकरणात्, तस्य हि प्रकरणे भवति एतद्वचन, प्रकृतवाचीनि च सर्वनामानि भवन्ति॥

सू लिङ्गाच्च ॥ ३८ ॥ (हे०)॥

भा लिङ्गमपि भवति,—तत्र श्रूयते, 'यस्य नवतिशत स्तोत्रीया —इति अग्निष्टोमस्य हि भवन्ति नवतिशत स्तोत्रीया। कथ ?। त्रिवृत् वहिष्पवमान, पञ्चदशानि आज्यानि, तानि चत्वारि सा एकोनसप्तति। पञ्चदशो माध्यन्दिन पवमान तेन चतुरशीति। सप्तदशानि पृष्ठानि, तानि चत्वारि साष्टषष्टि, चतुरशीत्या सह द्विपञ्चाशच्छत। सप्तदश आर्भव पवमान, तेन षष्ट्यधिक शत नव च। एकविंश यज्ञायज्ञीयम् —इति तदेतन्नवतिशतम् अग्निष्टोमस्य, तस्मादप्यग्निष्टोम॥ (५।३।१२ अ०)॥

---

ज्योतिष्टोमविकाराणाम अग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम्॥

सू अथान्येनेति संस्थानाम सन्निधानात्॥ ३९ ॥ (पू०)॥

भा 'अथ अन्येन—इति किं संस्थाना वाद, अथ ज्योतिष्टोम विकाराणाम् एकाहादीनाम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्? —'संस्थानाम्—इति। कुत ?। 'सन्निधानात्, सन्निहिता तस्मिन् प्रकरणे संस्था, तासां वाद प्रकरणानुग्रहाय॥

सू तत्प्रकृतेर्वापत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते॥ ४०॥ (सि०)॥

भा 'तत्प्रकृतेर्वा' गवादेर्वाद स्यात्, 'आपत्तिविहारौ हि प्रकृतिविकारभावेषु 'उपपद्येते', न तुल्यशब्देषु एव ज्योतिष्टोम

भा. शब्दकेषु। नैवम् अभिसम्बन्धः क्रियते,—'अथान्येन' ज्योतिष्टोमशब्दकेन—इति। कथं तर्हि?—'अन्येन'—इति महतात् इतरत् ब्रवीति, न, स ज्योतिष्टोमेन विशिष्यते, न हि शब्दस्य अर्थः समीपगतेन ज्ञातप्रयोजनेन एकदेशेऽवस्थापयितव्यो भवति, न हि वाक्येन श्रुतिर्बाध्यते। अथ, ज्योतिष्टोमादन्येन—इत्यभिसम्बध्यते, ततो नतरां संस्थावादः। कथं पुनरापत्तिविहारौ?। 'प्रजापतिर्वा अग्निष्टोमः, स उत्तरान् एकाहान् असृजत ते सृष्टा अब्रुवन्, न वै स्वेनात्मना प्रभवामः—इति, तेभ्यः स्वातन्त्र्यं प्रायच्छत्*, तथा च ते प्राभवन् तत्'। यथा वा 'इदमग्नेर्जातादध्यग्नयो विह्रियन्ते'। एवं वा, 'एतस्मात् यज्ञादन्ये यज्ञक्रतवो विह्रियन्ते, यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते, स तं दीपयति, यः पञ्चदशं, स तं, यः सप्तदशं, स तं, यः एकविंशं, स तम्—इत्येवमाहुरेको यज्ञः—इति। एते वै सर्वे ज्योतिष्टोमाः भवन्ति'—इति। एवं वैकृतानाम् सङ्कीर्त्तनात्, तेषामेव वादः—इति गम्यते। कथम्?। 'अथान्येन'—इति, योऽसावन्यः, तत्र प्राकृतान् धर्मान् विकृतान् दर्शयति, अतो मन्यामहे, यस्य यतो विकृतिः, तेन अन्येन—इति॥

सू प्रशंसा वा विहरणाभावात् ॥ ४१ ॥ (आ०)॥

भा यद्येवं न तर्हि तद्विकाराणाम् वादः, तत्र न विहारो नापत्तिः प्रकरणादिभिः, ते धर्मा ज्योतिष्टोमस्य, यदि हि गवादयो विह्रियेरन् प्रकरणादीनि बाधेरन्, तदापत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा, 'प्रशंसा' त्वेषा, आपत्तिविहाराभावात्॥

---

* न वै स्वेन आत्मना प्रभवाम इति तेभ्य एतां तनुं प्रायच्छदिति माधवीये पाठः ॥

सू विधिप्रत्ययाद्वा नह्यकस्मात्प्रशंसा स्यात् ॥ ४२ ॥
(आ० नि०) ॥

भा अत्र उच्यते,—यद्यप्यापत्तिविहारौ न विधीयेते, ते तथापि च,दर्कैर्न विधीयेते, ये प्रकृतौ कर्त्तव्याः, ते चोदकवचनात् विकृतावपि कर्त्तव्या गम्यन्ते, तदापत्तिविहाराविव यत्र भवतः, तेन अन्यत—इति गम्यते। न च एकस्मात् प्रशंसा स्यात्, योऽसावन्य, स कथम् अनया प्रशंसया लक्ष्येत?—इत्येवमर्था प्रशंसा॥ (५।२।२४ अ०)॥

---

सर्वेषामेकानेकस्तोमकानाम अग्निष्टोमपूर्वकताधिकरणम् ॥

सू एकस्तोमे वा क्रतुसंयोगात् ॥ ४३ ॥ (पू०) ॥

भा 'य एतेनानिष्ट्वा, अथान्येन यजेत'—इति श्रूयते। तत्र एषोऽर्थं समधिगत,—तद्विकाराणाम् वादः—इति। अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किम् एकस्तोमकस्य, अनेकस्तोमकस्य च?—इति। किं प्राप्तम्?—एकस्तोमकस्य वादः। कुतः?। 'क्रतुसंयोगात्', एकस्तोमे क्रतुसंयोगो भवति,—"यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तन्दीपयति, यः पञ्चदशं स तं, यः सप्तदशं स त, य एकविंश स त"। त्रिवृदादय एकस्तोमकाः। तस्मात् तेषां वाद —इति॥

सू सर्व्वेषां वा चोदनाविशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम ॥ ४४ ॥ (सि०) ॥

भा 'सर्वेषां' च एष वाद', एकस्तोमकानाम् अनेकस्तोमकानाम् च। कुत.?। अविशेषवचनात् अन्यशब्दस्य। 'ननु एकस्तोमका क्रतव सङ्कीर्त्यन्ते'। सत्यं सङ्कीर्त्यन्ते, प्रशंसार्थं, न

भा. विशेषार्थम्। कः पुनः प्रशंसार्थः?। 'यो वै त्रिवृदन्यं यज्ञक्रतुमापद्यते स तन्दीपयति', चोदकप्राप्ता धर्मा अभ्यस्ताः प्रकृतौ, विकृतौ सकृत् प्रतिपद्यन्ते ॥ (५।३।२५ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

## पञ्चमे अध्याये चतुर्थः पादः ॥

—।◈॥—

१. पाठक्रमापेक्षया श्रुत्यर्थयोर्बलवत्त्वाधिकरणम् ॥

सू क्रमको योऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थ-
परत्वाच्च ॥ १ ॥

भा इह पाठक्रमस्य श्रुत्यर्थक्रमाभ्यां सह बाधं प्रति विचारणम्—किं पाठक्रमः ताभ्यां तुल्यः, उत बाध्यते?—इति। किं प्राप्तम्?—तुल्यबलावेतौ, पाठोऽपि हि कारणं श्रुत्यर्थावपि, न च प्रामाण्ये कश्चित् विशेषोऽस्ति, तस्मात् अनियमः—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—पाठक्रमो हि बाध्यते श्रुत्या अर्थेन च। कुतः?। 'श्रुतिविशेषात् अर्थपरत्वाच्च'। श्रुतिविशेषः कः?। यत्र श्रवणं तत्र प्रत्यक्षं कारणं, पाठक्रमस्तु आनुमानिकः पाठक्रमेण स्मरणम् एवम् अभिनिर्वर्तयितव्यम्—इत्यवगम्यते तस्यार्थवत्त्वेनैकया उपपत्त्या तस्य एवानुष्ठानं श्रुत्या पुनः अनुष्ठानमेव, एवं भवति—इति प्रत्यक्षादवगम्यते।

तथा अर्थेन। कुतः?। अर्थपरत्वात् अर्थार्थं हि सर्वं (प्रधानार्थं) प्रधानम् अभिनिर्वर्तयति—इति सर्वं क्रियते। तस्मात् पाठः ताभ्यां बाध्यते।

किम् उदाहरणं प्रयोजनं च?। श्रुत्याम् 'आश्विनो दशमो गृह्यते' स तृतीयः जुहोति अत्र पाठक्रमस्य बलीयस्त्वे तृतीयस्य ग्रहणं, सिद्धान्ते तु दशमस्य। अर्थः, अग्निहोत्रहोमः पूर्वम् आम्नायते पश्चाच्छ्रपणम् एवं कर्तव्यम्, यदि पाठो बलवान्, सिद्धान्ते श्रपणं पूर्वं, ततो होमः ॥ (५।४।१ अ०) ॥

भा
च।
स्तोम

मुख्यक्रमेणाग्नेयस्य पूर्वमवदानाद्यनुष्ठानाधिकरणम्॥

सू. अवदानाभिघारणासादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात्॥ २॥ (पू०)॥

भा. इतो दर्शपूर्णमासौ, तत्र पूर्वं दध्नो धर्माः समाम्नाताः, पश्चात् आग्नेयस्य, प्रदानं च आग्नेयस्य पूर्वम्। तत्र सन्देहः,—किं प्राकृतिकेन क्रमेण पूर्वं दध्न अवदानाभिघारणासादनानि, उत मुख्यक्रमेण पूर्वम् आग्नेयस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—अनियमः—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—अवदानादिषु प्राकृत्ति-केन पूर्वं दध्नः—इति। कुतः?। एवम् अनुज्ञातेभ्यो व्यव-धायकेभ्यो न अभ्यधिकोऽन्यो वा व्यवधायकः कल्पितो भवि-ष्यति, दर्शयति च दध्नः पूर्वमेव देयम्—इति॥

सू. यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात्॥ ३॥ (सि०)॥

भा. 'यथाप्रदानं वा' कर्त्तव्यानि, यस्य प्रदानं पूर्वम्, तस्य अवदानानि पूर्वम्, तस्मात् आग्नेयस्य। कुतः?। प्रदान-चोदनागृहीतत्वात् अवदानादीनाम्, प्रदानोपक्रमा एते न पृथक्पदार्था एते—इत्युक्तम्। अभिघारणम् अवदानं च तस्य प्रदानचिकीर्षयैव क्रियते। आसादनम् अपि प्रदानार्थमेव (आसन्नकरणम्), एवं दृष्टार्थता भवति। तस्मात् मुख्यक्रमेण अङ्गानाम् प्रयोगः—इति।

यत्तु, दध्नः पूर्वं प्रवृत्तिः—इति; अर्थात् पूर्वं प्रवृत्तिः, न पाठात्। प्राकृतिकाच्च मुख्यक्रमो बलीयान्, मुख्यक्रमे गृह्य-माणे प्रथम एकः पदार्थो विप्रकृष्टकालः स्यात्, प्राकृतिक पुनर्गृह्यमाणे सर्वेषां विप्रकर्षः। तस्मात् मुख्यक्रमो बलीयान् —इति। अथ [illegible]णाम्,—दध्नः पूर्वम् अवदेयम्—

भा इति ; अत्र उच्यते,—अज्ञाताभिप्रायमेतत् भविष्यति । तस्मात् अदोषः ॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४ ॥ (युः १) ॥

भा 'लिङ्गम् अपि अस्मिन् अर्थे भवति,—'स वै ध्रुवामेव अग्रेऽभिघारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति'—इति तस्मादपि मुख्यक्रमेण नियमः—इति ॥ (५।४।२ अ०)॥

---

इष्टिसोमयोः पौर्वापर्यानियमाधिकरणम् ॥

सू वचनादिष्टिपूर्व्वत्वम् ॥ ५ ॥ (पू०) ॥

भा इष्टिपूर्वत्वं समाम्नातं । तत्र सन्देहः,—किम् इष्टिपूर्वत्वं, सोमपूर्वत्वं वा विकल्पः, अथ वा इष्टिपूर्वत्वमेव ?—इति । किं प्राप्तम् ?—'इष्टिपूर्वत्वम्' एव स्यात् । कुतः ?। 'वचनात्', वचनम् इदं भवति,—'एष वै देवरथो यत् दर्शपूर्णमासौ, यो दर्शपूर्णमासौ इष्ट्वा सोमेन यजते, रथस्पष्ट एवावसाने वरे देवानामवस्यति'—इति, नास्ति वचनस्य अतिभारः । तस्मात् इष्टिपूर्वत्वमेव—इति ॥

सू सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्रातिक्रमवचनात् तदन्तेनानर्थकं हि स्यात् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा इष्टिपूर्वत्वम्—इत्येतत् गृह्णीमः, किन्तु 'सोमश्च एकेषां' पुरो दर्शपूर्णमासयोः स्यात् । कुतः ?। 'अग्न्याधेयस्य ऋतुनक्षत्राति-क्रमवचनात्,—'यः सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्नीनादधीत, नर्तुम् स प्रतीक्षेत न नक्षत्रम्'—इति, यः सोमयागं क्रतुमादधीत, स न प्रतीक्षेत नक्षत्रं नाप्यृतुं तावत्येवादधीत—इति आनन्तर्यम् घटते, इतरथा, ऋतुनक्षत्रातिक्रमवचनम् 'अनर्थकं स्यात्',

भा. आनन्तर्येऽनपेक्ष्यमाणे यस्यैव क्रतुनक्षत्रे उक्ते तस्यैव तयोरनादरः कीर्तितः स्यात्, तस्मादस्ति सोमाधानयोरानन्तर्यमिति। अपि च विस्पष्टा च अद्यतनी विभक्तिः,—'सोमेन यक्ष्यमाणः' —इति, सा च न इष्टिपूर्वत्वम् अनुज्ञाय विवक्ष्यते, न तदा अद्यतनकालविवक्षा, तत्र अयं शब्दो विमतिषिद्धेन, तस्मात् आनन्तर्यविवक्षेत्यवगम्यते ॥

सू. तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥ ७ ॥ (यु० १) ॥

भा. इतश्च सोमाधानयोः आनन्तर्यम्। कुतः?। 'तदर्थवचनात्', 'यः सोमेन यजेत स अग्निमादधीत'—इति 'च'। सर्वैरप्यसौ यक्ष्यमाणोऽग्निमाधत्ते सोमेन अग्निहोत्रादिभिश्च, न भवति सोमस्य विशेषे सोमार्थता स्यात्। अयम् असौ विशेषः स्यात्, यदानन्तर्यं सोमाधानयोः—इति ॥

सू. अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालनिर्देशात् आनन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ॥ ८ ॥ (यु० २) ॥

भा. सोमेन 'अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां' कालो निर्दिश्यते, —'यः सोमेन अयक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत, स पुरा संवत्सरात् हवींषि निर्वपेत्'—इति, न खलु कश्चित् अयक्ष्यमाणः, सर्वस्य विहितत्वात्। तस्मात् अनन्तरम् अयक्ष्यमाणः—इति गम्यते ॥

सू. इष्टिरयक्ष्यमाणस्य, तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥ ९ ॥ (प्र०) ॥

भा. इदं प्रयोजनसूत्रम् वर्ण्यते। क्षीणमधिकरणम्, किं प्रयोजनं चिन्तायाः?। 'इष्टिः अयक्ष्यमाणस्य' सोमेन निरभिसन्धिके आधाने; तदर्थत्वे तु 'सोमपूर्वत्वं', सोमार्थतायां त्वाधानस्य सोमपूर्वत्वं स्यात् ॥ (५।४।३ अ०) ॥

ब्राह्मणस्येष्टिसोमयो पौर्वापर्यानियमाधिकरणम् ॥

सू　**उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥ १० ॥ (पू०)॥**

भा　अस्ति आधान, तत्र एषोऽर्थः समधिगत',—इष्टिपूर्वत्व सोम-
पूर्वत्व च—इति। इदानीं सन्देह,—किं त्रयाणाम् वर्णानाम्
इष्टिपूर्वत्व सोमपूर्वत्व वा, उत ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव, उत
केवला पौर्णमासी उत्कृष्यते, ब्राह्मणस्य उभौ कल्पौ?—इति।
अथ वा कर्मान्तरम् इद, यत् ऊर्ध्वं सोमात्, अथ वा एक हवि
उत्कृष्यते, ब्राह्मणस्य उभावेव कल्पौ?—इति। किं प्राप्तम्?
—त्रयाणाम् वर्णानाम् इष्टिपूर्वत्व सोमपूर्वत्व वा। कुत?।
अविशेषात्,—न कञ्चित् विशेषमवगच्छाम। एव प्राप्ते ब्रूम,
—ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्व स्यात्। कस्मात्?। 'उत्कर्षात्,
उत्कर्षो हि श्रूयते, 'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेन
इष्ट्वा अग्नीषोमीयो भवति, यदेवाद पौर्णमास हवि, तत् हि
अनुनिर्वपेत्, तर्हि उभयदेवत्यो भवति'—इति। किम् इव हि
वचन न कुर्यात्। तस्मात् ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वमेव—इति॥

सू　**पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥ ११ ॥ (सि०)॥**

भा　यदुक्त, ब्राह्मणस्य सोमपूर्वत्वम् एव—इति, तन्न, तस्य अपि
उभौ कल्पौ। कुत?। अविशेषात्, न हि कल्पयो ब्राह्मणस्य
कश्चिद्विशेष आम्नायते। 'ननु इदानीमेव उक्त,—ब्राह्मणस्य
उत्कर्ष—इति। न—इति ब्रूम,—पौर्णमासीमात्रस्य तत्र
उत्कर्ष, श्रुतिसयोग पौर्णमास्या तत्र,—'यदेवाद पौर्णमास
हवि'—इति, यावद्वचनं वाचनिक, तत्र न न्याय क्रमते।
तत्ययो एकदेशे उत्कृष्टे नूनमपरोऽप्येकदेश उत्कृष्यते—इति॥

सू. सर्व्वस्य वैककर्म्यात् ॥ १२ ॥ (आ०) ॥

भा. यदुच्यते,—केवला पौर्णमासी उत्कृष्यते—इति। तत्र, शास्त्रस्य दर्शपूर्णमासकर्मण उत्कर्षः, एवं फलेन सम्बन्धः, इतरथा न स्यात् फलम्। एकदेशत्वात् पौर्णमास्याः, केवलायाम् उत्-कृष्यमाणायां अवशिष्टस्य पूर्वत्र क्रियमाणस्य न फलं स्यात्, एकदेशत्वात्, अफलत्वाच्च उक्तम् अपि न क्रियेत, समुदाये च उत्कृष्यमाणे भवति फलम्। तस्मात् अर्थात् समुदायस्य उत्-कर्षः, एवं शास्त्रोपदेशोऽर्थवान् भविष्यति—इति। तस्मात् सर्व्वस्य उत्कर्षः, सोमपूर्व्वत्वम् एव ब्राह्मणस्य—इति ॥

सू. स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥ १३ ॥ (पू० २) ॥

भा. नैतदस्ति, यदेवं समुदायस्य असति वचने उत्कर्षः परि-कल्प्येत, तस्मात् अन्यदेवेवंनामकं कर्म ऊर्द्धं सोमात् स्यात्। एवम् एकदेशस्य अश्रुतं फलं न कल्पयितव्यं भविष्यति, नाम-धेयन्तु द्वयोः कर्मणोः एकम्, अश्वाः पादाः माषाः—इति यथा; पौर्णमासधर्मकं वा कर्मान्तरं चोद्यते—इति धर्मविधानं, श्रुतेः एतत् भवति, तत् वाक्यस्य बाधकम्। तस्मात् कर्मान्तरम्—इति ॥

सू. प्रकरणात्तु कालः स्यात् ॥ १४ ॥ (सि० २) ॥

भा. कर्मान्तरस्य एतद्वाचकम्—इति प्रमाणाभावः। प्रकृतस्य कर्मणो वाचकम्—इति प्रत्यक्षं, यच्च सप्रमाणकं, तत् ग्राह्यं, अन्याय्यश्चानेकार्थत्वं। धर्मग्रहणे लक्षणाशब्दः श्रुतिसम्भवे कल्प्यः स्यात्। अपि च अस्य रूपं न गम्यते, रूपावचनात् न कर्मान्तरं। तस्मात् प्रसिद्धेन नाम्ना प्रकृतस्य कर्मणो ग्रहणं कालविधानार्थं स्यात्, फलवत्त्वाच्च शास्त्रस्य उत्कर्षः, ब्राह्मणस्य

भा च तथैव। यत्तु, श्रुतिर्वाक्यात् बलीयसी—इति, अत्र उच्यते, —यत्र फलं न श्रूयते, वाक्यार्थोऽपि तावत् तत्र गृह्यते; न च, इह फलस्य श्रवणमस्ति। कल्प्यं फलम्—इति यदि उच्यते, न तत्, फलवचनम् अन्तरेण। तत्र फलवचनः शब्दः कल्प्येत, तेन च सहैकवाक्यता। कालवचनेन तु सह प्रत्यक्षेण एकवाक्यता—इति। तस्मात् न कर्मान्तरं। स्थितं तावदपर्यव-सितम् अधिकरणम् ॥ (५।४।४ अ०) ॥

---

नर्तुम् प्रतीक्षेतेत्यादिना सोमकालबाधाधिकरणम् ॥

सू स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा 'यः सोमेन यक्ष्यमाणोऽग्निमादधीत, नर्तुम् स प्रतीक्षेत* न नक्षत्रम्'—इति। अत्र सन्देहः,—किम् आधानस्य अयं काल-विशेषबाधः, उत सोमस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—आधानस्य कालबाधः, 'स्वकाले स्यात्' सोमः। कुतः?। 'अविप्रतिषेधात्', अङ्गमाधानं, तस्य कालबाधो न्याय्यः, न प्रधानस्य। 'अङ्ग-गुणविरोधे च तादर्थ्यात्'—इति वक्ष्यते ॥

सू अपनयो वाधानस्य सर्व्वकालत्वात् ॥ १६ ॥ (सि० १) ॥

भा 'अपनयो वा' आधानात् सोमकालस्य स्यात्। कुतः?। 'आधानस्य सर्वकालत्वात्', नैवाधाने कश्चित् कालनियमोऽस्ति, —'यदहरेवैनं श्रद्धोपनमेत्† तदहरादधीत'—इति, अप्राप्तमेव तत् आधानस्य, यत् प्रतिषिध्यते। तस्मात् सोमस्य कालबाधः —इति ॥

---

* ईक्षेत् इति माधवीये पाठः। ईक्षतिर्धातुर्दर्शनमात्रे वर्त्तते इति तदर्थः ॥

† यत्र उपनमेत् इति माधवीये पाठः ॥

सू. पौर्णमास्यूर्द्धं सोमात् ब्राह्मणस्य वचनात् ॥ १७ ॥
(सि० २) ॥

भा. स्थितादुत्तरं। न वा एतदस्ति,—कृत्स्नौ दर्शपूर्णमासौ उत्कृष्येते, 'ऊर्द्धं सोमात्', केवला पौर्णमासी उत्कृष्यते। कुतः?। 'वचनात्', वचनमिदं,—'यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्'—इति, नास्ति वचनस्य अतिभारः। तस्मात् पौर्णमासीमात्रम् उत्कृष्येत। यत्तु फलं नास्ति—इति, समुदायादेव फलं भविष्यति—इति, वचनादेवंविज्ञानात्। तस्मात् अदोषः॥

सू. एकं शब्दसामर्थ्यात् प्राक्कृत्स्नविधानात् ॥ १८ ॥
(सि० ३) ॥

भा. 'एकं वा' हविः उत्कृष्येत, न कृत्स्ना पौर्णमासी। कुतः?। 'शब्दसामर्थ्यात्', एकं हविः उत्क्रष्टुम् शब्दः समर्थः, 'यदेवादः पौर्णमासं हविः'—इति श्रूयते, यावद्वचनं वाचनिकं, तावद्वचनेन उत्क्रष्टुम् शक्यते, न अन्यदपि। प्राक्सोमात् कृत्स्नम् विधीयते, ततो यत् वचनेन उत्कृष्यते, तदूर्द्ध्वं सोमात्, यत् न उत्कृष्यते, तत् प्राग्भवितुमर्हति। तस्मात् एकं हविः उत्कृष्टव्यं, ब्राह्मणस्य उभौ कल्पौ—इति॥ (५।४।५ अ०)॥

———

आज्यस्य सोमादनुत्कर्षाधिकरणम्॥

सू. पुरोडाशस्त्वनिर्द्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥ १९ ॥
(सि०) ॥

भा. इदं श्रूयते,—'आग्नेयो वै ब्राह्मणो देवतया, स सोमेन इष्ट्वा अग्नीषोमीयो भवति, यदेवादः पौर्णमासं हविः तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्, तर्ह्युभयदेवत्यो भवति'—इति। यस्मात् तस्मिन् काले स

भा अग्नीषोमीयो भवति, न प्राचीने काले, तस्मात् अदो हविः अनुनिर्वपेत्—इति, अग्नीषोमीयत्वं विधाय द्विदेवताकत्वं हेतुत्वेन निर्दिश्यते, तस्मात् अग्नीषोमीयं हविः हेतुमत् स्यात्, न अन्यदेवताकं, तदा असौ अग्नीषोमौ यष्टुमर्हति, न प्राक्, नास्य देवता—इति भवति पुरुषस्यापि यष्टृदेवताभिसम्बन्धः। तस्मात् पुरोडाशः अग्नीषोमीयो न अन्यद्धविः—इति सिद्धम्॥

सू. **आज्यमपीति चेत्॥ २०॥ (आ०)॥**

भा. इति चेत् पश्यसि अग्नीषोमीयत्वात् पुरोडाशः—इति, आज्यमपि हि अग्नीषोमीयं। तस्मात् तदप्युत्कृष्येत॥

सू **न मिश्रदेवतत्वादैन्द्राग्नवत्॥ २१॥ (आ० नि०)॥**

भा. मिश्रदेवतं हि आज्यं,—अग्नीषोमीयं, प्राजापत्यं, वैष्णवम्—इति च, पुरोडाशः त्वग्नीषोमीय एव। न तु अत्र मिश्रदेवतस्य वादः, मिश्रदेवतस्य हि प्रागपि भावोऽवकल्प्यते। यद्यपि तदानीं यजमानो न अग्नीषोमीयः तद्देवतार्हः, तथापि आज्यं हविः करिष्यत्येव, प्रजापतिं यक्ष्यति, विष्णुं वा। तस्मात् तस्य जडभावे न एष हेतुः अग्नीषोमीयत्वं नाम। यथा चतुर्धाकरणं मिश्रदेवतत्वात् ऐन्द्राग्नेन भवति, तदत्र च 'आग्नेयः'—इति ऐन्द्राग्नो न शक्यते वदितुम्; तद्धितः साकाङ्क्षात् न उत्पद्यते—इति। एवम् इह अग्नीषोमीयशब्देन न शक्यम् आज्यं वदितुम् अग्नीषोमीयो हि असौ। तस्मात् शक्यं प्राक् यजमानेन कर्तुम्—इति। तस्मात् न तस्य उत्कर्षेऽग्नीषोमीयता यजमानस्य हेतुः—इति, मिश्रदेवतस्य ग्रहणसामान्यात् 'ऐन्द्राग्नवत्'—इत्युक्तम्॥ (५।४।६ अ०)॥

---

विकृतानामैन्द्राग्न्यादीनां सद्यस्कालताधिकरणम् ॥

सू. विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिः तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. इह वैकृतानि कर्माणि उदाहरणम्,—'ऐन्द्राग्नम् एकादश-कपालं निर्वपेत्'—इत्येवमादीनि। तत्र सन्देहः,—किम् एता विकृतयः सद्यस्कालाः, उत द्व्यहकालाः?—इति। किं प्राप्तम्? —विकृतिः प्राकृतान् धर्मांश्चोदकेन गृह्णाति, अतः ते धर्मा आनुमानिकाः, पौर्णमासी चान्यः कालः; स यदि वा प्रकृत्या गृह्येत, यदि वा विकृत्या, असम्भवेऽन्यतरस्याः कालस्यत्ययः, तत्र आनुमानिको वैकृतस्य त्यज्यतां, न प्रत्यक्षश्रुतः प्राकृतस्य —इति न्याय्यम्। तस्मात् सद्यस्काला एता विकृतयो भवेयुः —इति ॥

सू. द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥ २३ ॥ (पू०) ॥

भा. 'द्वैयहकाल्ये' क्रियमाणे 'यथान्यायं' कृतं भवति, तस्मात् द्वैयहकाल्यं स्यात्। चोदकः तथा अनुगृहीतो भवति, प्रकृतौ हि श्रूयते,—'पूर्वेद्युः अग्निं गृह्णाति, उत्तरमहर्देवता यजेत' —इति। तस्मात् द्व्यहकालम् एकमभिनिर्वर्त्य, तदहरेवोप क्रम्यापरेद्युः परिसमापयेत् ॥

सू. वचनादैककाल्यं स्यात् ॥ २४ ॥ (उ०) ॥

भा. नैतदेवं,—द्व्यहकाला विकृतयो भवेयुः—इति, सद्यस्कालाः स्युः। कस्मात्?। वचनमिदं भवति यः,—'इष्ट्वा पशुना सोमेन आग्रयणेन वा यक्ष्यमाणः स पौर्णमास्याममावास्याया वा यजेत'—इति, साङ्गस्य एतद्वचनम्। तस्मात् साङ्गं पौर्ण

भा मास्याममावास्यायां वा कुर्वीत—इति गम्यते, तेन सद्यस्काला विकृतयः॥ (५।४।७ अ०)॥

---

सोमात् सान्नाय्यविकारादीनामुत्कर्षाधिकरणम्॥

सू 'सान्नाय्याग्निषोमीयविकारा ऊर्ध्वं सोमात् प्रकृतिवत्॥ २५॥

भा इह सान्नाय्यविकाराश्च अग्नीषोमीयविकाराश्च उदाहरणम्, सान्नाय्यविकाराः तावत् यथा, 'आमिक्षा पशुः'—इति, 'अग्नीषोमीयम् एकादशकपालं निर्वपेत् श्यामाकं, ब्राह्मणो वसन्ते ब्रह्मवर्चसकामः'—इत्येवमादयः। तत्र सन्देहः,—किम् एते प्रागूर्ध्वं च सोमात्, उत ऊर्ध्वम्?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रागूर्ध्वं च, विशेषानवगमात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'ऊर्ध्वं सोमात् स्युः'—इति, प्रकृतिर्हि एषाम् ऊर्ध्वं सोमात्, चोदकेन एभिरपि ऊर्ध्वं सोमात् भवितव्यम्। सान्नाय्यस्य ऊर्ध्वं सोमात्, वचनेन,—'असोमयाजी सन्नयेत्'—इति। अग्नीषोमीयस्यापि,—'आग्नेयो ब्राह्मणो देवतया स सोमेन इष्ट्वा भवति, यदेवादः पौर्णमासं हविः', तत्तर्ह्यनुनिर्वपेत्—इति, तर्हि स उभयदेवत्यो भवति—इति, तद्विकृतिः अपि सोमात् ऊर्ध्वं भवितुमर्हति॥ (५।४।८ अ०)॥

---

सोमविकाराणां दर्शपूर्णमासात् पूर्वम् कर्तव्यताधिकरणम्॥

सू तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम्॥ २६॥

भा सोमविकारा गवादय एकाहाः। तेषु सन्देहः,—किं दर्शपूर्णमासात् प्रागूर्ध्वं च प्रयोक्तव्याः, उत ऊर्ध्वम्?—इति। किं प्राप्तम्?—अनियमः, अविशेषात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'यथा

भा. सोमविकाराः, दर्शपूर्णमासाभ्याम् ऊर्द्ध्वं स्युः, ज्योतिष्टोमो दर्शपूर्णमासाभ्याम् ऊर्द्ध्वं भवति,—'दर्शपूर्णमासाभ्याम् इष्ट्वा सोमेन यजेत'—इति चोदकेन एव धर्मो गवादिषु अप्येकाहेषु प्राप्नोति। तस्मात् तेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्याम् ऊर्द्ध्वं कर्त्तव्याः इति॥ (५।४।९ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ मीमांसाभाष्ये पञ्चमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः॥ समाप्तश्च पञ्चमोऽध्यायः॥

## षष्ठे अध्याये प्रथमः पादः॥



यागादिकर्मणाम् स्वर्गादिफलसाधनताधिकरणम् ॥ (अधिकारन्याय)॥

सू. द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः ॥ १ ॥* (पू०)॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि समाम्नायते। तत्र सन्देहः,—किं स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः; उत कर्म गुणतः, स्वर्गः प्रधानतः?—इति। कुतः संशयः?। इह 'स्वर्गकामो'ऽपि निर्दिश्यते, 'यजेत'—इत्यपि। अत्र स्वर्गकामयागयोः सम्बन्धो गम्यते; तस्मिंश्च सम्बन्धे किं यागः साधनत्वेन सम्बध्यते, उत साध्यत्वेन?—इति भवति विचारणा।

तत्र यदि स्वर्गकामस्य पुरुषस्य यागः कर्तव्यतया चोद्यते, 'स्वर्गकामेन यागः कर्तव्यः'—इति, स्वर्गेच्छाविशिष्टस्य स सिध्यति—इति गम्यते। स्वर्गेच्छा तत्र पुरुषस्य यागं प्रत्युपदिश्यते, तेन तस्य स सिध्यति न अन्यस्य—इति,* यः स्वर्गकामः, स शक्नोति पुरुषो यागं साधयितुम्।

अथ स्वर्गकामस्य कामः कर्तव्यतया चोद्यते, ततो यागविशिष्टा कर्तव्यता—इति यागः साधकोऽभ्युपगम्यते। स चायम् उभयोरप्यर्थः एतस्मात् उच्चरिताद्वाक्यात् गम्यते,—यागो वा कर्तव्यः कामो वा—इति। न चैतत् यौगपद्येन सम्भवति, यदा कामः, न तदा यागः, यदा यागः, न तदा कामः, वचनव्यक्तिभेदात्,† उपपन्नः संशयः।

---

* यश्च सर्वः कामः, तस्य मैथ्यापि इत्यधिकः पाठः का० सो० पु०॥

† वचनव्यक्तिभेदात्, तस्मात् इति पाठः का० सो० पु०॥

भा. तथा इदम् अपरम् सन्दिग्धं, किं प्रीतिः स्वर्गः, उत द्रव्यम्?—इति, यदि द्रव्यं स्वर्गः, ततः प्रधानं कर्म, द्रव्यं गुणभूतम्। अथ प्रीतिः स्वर्गः, ततो यागो गुणभूतः, स्वर्गः प्रधानम्?—इति। कुतः संशयः?। नास्त्यत्र कामस्य गुणत्वेन प्राधान्येन वा श्रुतिः, सम्बन्धमात्रं तु अस्य यागेन गम्यते, द्रव्यस्य तु कर्मार्थता स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च फलार्थता*।

किं तावत् प्राप्तम्?—स्वर्गो गुणतः, कर्म प्रधानतः—इति। तत्र तावद्वर्णयन्ति,—द्रव्यं स्वर्गः—इति। कथम् अवगम्यते?। सर्वेषाम् एव शब्दानाम् अर्थज्ञाने लौकिकः प्रयोगोऽभ्युपायः, तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे द्रव्यवचनः स्वर्गशब्दो लक्ष्यते,—'कौशिकानि सूक्ष्माणि वासांसि स्वर्गः, चन्दनानि स्वर्गः, षोडशवर्षाः स्त्रियः स्वर्गः'—इति, यद्यत् प्रीतिमत् द्रव्यं, तत्तत् स्वर्गशब्देन उच्यते। तेन सामानाधिकरण्यात् 'प्रीतिमत् द्रव्यं स्वर्गः'—इति मन्यामहे, 'उपमानात् शब्दप्रवृत्तिः—इति चेत्'। न हि कस्मिंश्चित् अनुपमितौ लोके प्रसिद्धः, यस्य एतदुपमानं स्यात्, तस्मात् नोपमानम्। अतो द्रव्यं स्वर्गः—इति।

'न—इत्याह, प्रीतिः स्वर्गः—इति, न द्रव्यम्, व्यभिचारात्,—तदेव हि द्रव्यं कस्याञ्चिदवस्थायां न स्वर्गशब्दोऽभिदधाति; प्रीतिं तु कस्याञ्चिदवस्थायां न, न अभिदधाति। तस्मात् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् एतदवगम्यते,—प्रीतौ स्वर्गशब्दो वर्त्तते'—इति।

नैतदस्ति,—प्रीतेरभिधायकः स्वर्गशब्दः—इति। कुतः?। विशेषणत्वात्, यत् विशेषणं, न तच्छब्देन उच्यते। तत् यथा, 'दण्डी'—इति दण्डनिमित्तः पुरुषवचनः, दण्डोऽस्य

* द्रव्यस्य कर्मार्थता गम्यते स्वभावतः, पुरुषप्रयत्नस्य च प्रीत्यर्थता इति का० सो० पु० पाठः ॥

† नैतदाह, न हि कस्मिंश्चिदनुपमाने इति का० सो० पु० पाठः ॥

भा निमित्तं, न अभिधेयं। एवम् एष न प्रीतिवचनः प्रीतिसाधनवचनस्तु एष स्वर्गशब्दः—इति।

'ननु स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विशिष्टे देशे,—'यस्मिन् न उष्णं, न शीतं, न क्षुत् न तृष्णा, न अरतिः, न ग्लानिः, पुण्यकृत एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति, नान्ये'। अत्र उच्यते,—यदि तत्र केचित् अकृत्वा गच्छन्ति, तत आगच्छन्ति अजानित्वा, तर्हि स प्रत्यक्षो देशः एवञ्जातीयकः न तु अनुमानात् गम्यते*।

'ननु च अन्ये सिद्धाः केचित् दृष्टवन्तः, ते च आख्यातवन्तः—इति चेत्। न तत्र प्रमाणमस्ति,—'सिद्धा एवञ्जातीयकाः सन्ति ते च दृष्ट्वा आचक्षीरन्'—इति। तस्मात् एवञ्जातीयको देश एव नास्ति।

'ननु च लोकात् आख्यानेभ्यो वेदाच्च अवगम्यते,—देश एवञ्जातीयकः स्वर्गः—इति। तन्न, पुरुषाणाम् एवंविधेन देशेन असम्बन्धात् अप्रमाणं वचः। आख्यानम् अपि पुरुषप्रणीतत्वात् अनादरणीयम्। वैदिकम् अपि स्वर्गाख्यानं विधिपरं नास्त्येव, भवति तु विध्यन्तरेण एकवाक्यभूतं स्तुतिपरं। यद्यपि केवलसुखश्रवणार्थापत्त्या तादृशो देशः स्यात् तथापि असम्प्रत्ययस्य अविरोधः प्रीतिसाधने स्वर्गशब्दः इति। तेन देशेन व्यवहाराभावात् कुतः तस्य अभिधायकः स्वर्गशब्दो भविष्यति?—इति।

यदा प्रीतिमत् द्रव्यं स्वर्गः, तदा ब्रूमः,—'द्रव्याणाम् कर्मसंयोगे गुणत्वेन अभिसम्बन्धः'—इति, यागः अत्र कर्त्तव्यः—इति श्रूयते स्वर्गकामस्य, तत्र अवश्यं स्वर्गस्य यागस्य च सम्बन्धः, तत्र भूतं द्रव्यम् भव्यं कर्म, भूतस्य च भव्यार्थता न्याय्या, दृष्टार्थत्वात्, न तु भव्यस्य भूतार्थता तत्र दृष्ट उपकारः दृश्येत।

कथं पुनः अवगम्यते,—यागः कर्त्तव्यतया चोद्यते—इति,

---

* यदि न तत्र कश्चित् अकृत्वा गच्छन्ति न च तत आगच्छन्ति अजानित्वा न तर्हि स प्रत्यक्षो देशः एवञ्जातीयकः न चानुमानात् गम्यते इति का० श्री० पु० पाठ।

भा. यदा कामस्यापि कर्त्तव्यता अस्मात् वाक्यात् अवगम्यते'। उच्यते, कामस्य कर्त्तव्यता वाक्यात्, यज्यर्थस्य कर्त्तव्यता श्रुतेः, श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी। तस्मात् अयम् अर्थः,—स्वर्गकामो यागं कुर्यात्—इति स्वर्गकामस्य यागः कर्त्तव्यः—इति; कर्त्तव्यश्च सुखवान्, अकर्त्तव्यो दुःखवान्; कर्त्तव्यः—इति चैनं ब्रूते; तस्मात् सुखफलो यागो भविष्यति, स तु यस्य इच्छा, तस्य सिध्यति न अन्यस्य—इति गम्यते। तेन स्वर्गेच्छा यागस्य गुणभूता, सर्वस्यापि कर्मणो द्रव्येच्छा भवति गुणभूता, तया द्रव्यमानेतुम् यतते, दृष्टेनैव द्वारेण; इह तु स्वर्गसंज्ञकद्रव्येच्छैव नियम्यते, यथैव सा गुणभूता प्राप्ता; तथैव सती नियम्यते, दृष्टेनैव द्वारेण, न अदृष्टेन उपकारेण; तेन स्वर्गेच्छया गुणभूतया स्वर्गद्रव्यं प्रति यतिष्यते यागं साधयितुम्। अथाप्यदृष्टेन, तथापि न दोषः॥

सू. असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्देन पक्षो व्यावर्त्त्यते। तत्र एतावत् तावत् वर्णयन्ति,—प्रीतिः स्वर्गः—इति। कुतः?। एवम् उक्तम् भवता,—'प्रीतिविशिष्टे द्रव्ये स्वर्गशब्दो वर्त्तते'—इति, यद्येवं, पूर्वं तर्हि प्रीतौ वर्त्तितुमर्हति, तां हि स न व्यभिचरति, व्यभिचरति पुनः द्रव्यं,—यस्य एव प्रीतिसाधनस्य द्रव्यस्य वक्ता स्वर्गशब्दः, तदेव यदा न प्रीतिसाधनं भवति, तदा न स्वर्गशब्देन अभिधीयते। तस्मात् प्रीतिवचनोऽयम्। यत्तु उक्तं,—दण्डिशब्दवत्—इति, सोऽपि प्रतीते शब्दात् दण्डे, दण्डिनि प्रत्ययमादधाति, अन्तर्गतः तत्र दण्डशब्दः, स दण्डस्य वाचकः; इह पुनः स्वर्गशब्दः एव प्रीतेः अभिधाता।

प्रीतिवचनश्चेत्, यागो गुणभूतः प्रीतिः प्रधानम्। कुतः?। 'तादर्थ्यात्' पुरुषप्रयत्नस्य, प्रीत्यर्थं हि पुरुषो यतते नेत्र च

भा प्रीतिर्यागसाधनम्—इति विज्ञायते। द्रव्य हि यागसाधनं, न च्यते द्रव्यात् यागो भवति, यस्मात् द्रव्यदेवताक्रिये यजतिशब्दो वर्त्तते। असत्यामपि प्रीत्या भवति याग। यदि च यागो न प्रीत्यर्थो भवेत् असाधक कर्म भवेत्, साधयितारं न अधिगच्छेत्, यो हि प्रीत्यर्थ, स साध्यते नान्य।

'ननु कर्त्तव्यतया याग श्रूयते। उच्यते,—सत्य कर्त्तव्यतया श्रूयते, कामोऽपि कर्त्तव्यतया अवगम्यते। 'आह, श्रुत्या यागस्य, वाक्येन कामस्य। न च उभयो, वाक्यभेद प्रसङ्गात्'। उच्यते, यद्यपि याग कर्त्तव्य श्रूयते, तथापि न कर्त्तव्य सुखद कर्त्तव्यो भवति दु खदो याग, तस्मात् प्रत्यक्षेण अकर्त्तव्य, प्रत्यक्षेण च दु खद। 'कर्त्तव्यतावचनात् अनुमानेन सुखदो भवति—इति। उच्यते, अनुमानं च प्रत्यक्षविरोधात् न प्रमाणम्। तस्मात् अकर्त्तव्यो याग, यदि न प्रीत्यर्थं।

'अथ अन्येन फलवचनेन सम्भत्स्यते—इति। उच्यते,—सम्बध्यमानोऽप्यविधीयमानो न समीपवचनमात्रेण फलवान् विज्ञायते। तस्मात् अनर्थको मा भूत्—इति स्वर्गस्य कर्त्तव्यता गम्यते पुरुषप्रयत्नश्च यागविशिष्ट—इति याग तस्य करण स्यात। तस्मात् सुष्टु उक्त,—यागो गुणभूत स्वर्ग प्रधानभूत —इति॥

सू प्रत्ययं चाभिप्रयोगात कर्म्मतो ह्यभिसम्बन्ध तस्मात् कर्म्मोपदेश स्यात्॥ ३॥ (यु०)॥

भा न केवलम् आनर्थक्यभयात् यागस्य गुणभाव ब्रूम कि तर्हि स्वर्गशब्दकमर्थं प्रति करणत्वेन यागो विधीयते। 'ननु याग कर्त्तव्यतया श्रुत्या विधीयते। सत्यमेवम् आनर्थक्यं तु तथा भवति, स्वग प्रत्यविहिते यागे, स्वर्गकाम, तस्मिन् निष्फले विधीयमानोऽपि निष्प्रयोजन स्यात् तत्र अस्य

भा. उपदेशवैयर्थ्यम्, द्वयोश्च विधीयमानयोः परस्परेण असम्बद्धयोः वाक्यभेदः प्रसङ्गः। अतो न स्वर्गकामपदेन स्वार्थो विधीयते, किंतर्हि, उद्दिश्यते। तत्र वाक्यात् अवगतस्य कामस्य कर्त्तव्यता अवगम्यते, यागस्य च करणता। एवं च यागकर्त्तव्यतायां न प्रत्यक्षविरोधो भविष्यति। तस्मात् 'कर्मोपदेशः स्यात्',— कर्म स्वर्गं प्रति उपदिश्यते, न स्वर्गः कर्म प्रति।

'किम् अतः यदि स्वर्गो न उपदिश्यते?'। एतदतो भवति,— न हि, अनुपदिष्टोऽनर्थप्राप्तस्य गुणो भवति। तस्मात् स्वर्गः प्रधानतः, कर्म गुणतः—इति।

अपि च, 'यस्य स्वर्गः इष्टः स्यात्, स यागं निर्वर्त्तयेत्'—इति असम्बद्धमिव, अन्यदिच्छति, अन्यत् करोति—इति। 'अथ मतं,—ततः स्वर्गो भवति—इति सम्बन्धात् इदं गम्यते'—इति। न, शब्दप्रमाणकानाम्, अन्तरेण शब्दम्, अवगतिर्न्याय्या। वाक्यात् एव अस्मात् इमं सम्बन्धम् अवगच्छामः, यथा, काष्ठानि आहर्तुकामोऽरण्यं गच्छेत्—इति यदि ब्रूयात्, ब्रूयात् एतत्, —इदं तत्र प्रमाणान्तरेणारण्यगमनस्य काष्ठाहरणसामर्थ्यम् —इति।

'अथ मन्यते,—उपदेशानर्थक्यं मा भूत्—इत्यर्थापत्तिः भविष्यति'—इति। उच्यते, न उपदेशानर्थक्यस्य एतत् सामर्थ्यं, यत् अन्तरेण फलवचनं, यागस्य प्रीतिः फलम् अवगम्येत। कामम् अस्य आनर्थक्यं भवतु, न जातुचित् सामर्थ्यम् अस्य जायते। न हि, दग्धुकामस्य उदकोपादानम् असति दाहेऽनर्थकम्—इति दहनशक्तिमस्य जनयेत्। अथ वा, स्वर्गकामस्य यागो विधीयते —इति पक्षान्तरावलम्बेन अस्य अर्थवत्ता भविष्यति।

'ननु इतरस्मिन् अपि पक्षे स्वर्गकामस्य यागो विधीयते, न यागात् स्वर्गः'। नैतदेवं, तस्मिन् खलु पक्षे स्वर्गं प्रार्थयमानस्य अनुष्ठानम् अनूद्य यागः तस्य उपायत्वेन विधीयते—इति न

भा दोष। 'तत् अनुष्ठान स्वर्गं प्रति—इति नास्ति वचनम्—इति चेत्। इष्टमर्थं प्रति अनुष्ठान भवति, स्वर्गकामस्य च स्वर्ग इष्ट, तदनुष्ठानविशेषग्रहणार्थमेव स्वर्गकामविशेषणग्रहणम्—इति निरवद्यम्। तस्मात् स्वर्गकामस्य यागकर्मोपदेश स्यात् यत, स्वर्ग प्रधानत, कर्म गुणत —इति स्वर्गकामम् अधिकृत्य 'यजेत'—इति वचनम्। इत्यधिकारलक्षणम् इद सिद्ध भवति॥ (६।१।१ अ०)॥

---

यागादिषु मनुष्यस्यैवाधिकाराधिकरणम्॥

सू फलार्थत्वात् कर्मण शास्त्र सर्वाधिकार स्यात्॥ ४॥ (पू०)॥

भा इदमामनन्ति,—'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि। तत्र सन्देह,—कि यावत् किञ्चित् सत्व, तत् सर्वम् अधिकृत्य एतदुच्यते, उत समर्थम् अधिकृत्य?—इति। कि प्राप्तम्?—सर्वाधिकार, अविशेषात्। 'ननु वृक्षादयो न किञ्चित् कामयन्ते कथम् तेषाम् अधिकार स्यात्?। उच्यते, मा भूत् अचेतनानाम्, तिरश्चस्तु अधिकृत्य 'यजेत'—इति ब्रूयात्। 'ननु तिर्यञ्चोऽपि न किञ्चित् कामयन्ते। न—इति ब्रूम, कामयन्ते सुखम् एव हि दृश्यते, घर्मोपतप्ता छायाम् उपसर्पन्ति शीतेन पीडिता आतपम्।

'आह, ननु तिर्यञ्च आसन्न फल चेतयन्ते, न कालान्तरफलं प्रार्थयन्ते कालान्तरफलानि च वैदिकानि कर्माणि'। उच्यते,—कालान्तरेऽपि फल कामयमाना लक्ष्यन्ते,—श्वन चतुर्दश्याम् उपवसत अष्टम्याम्, श्येनाश्च अष्टम्याम्। न चैषा व्याधाशङ्का, नियतनिमित्तत्वात् नानाकाराणामपि तस्मिन् काले दर्शनात्

भा. समानाहाराणामपि अन्यस्मिन् काले अदर्शनात्। लिङ्गानि च वेदे भवन्ति,—'देवा वै सत्रमासत'—इत्येवमादीनि देवतानाम् ऋषीणां वनस्पतीनाम् अधिकारं दर्शयन्ति।

'ननु कार्त्स्न्येन विधिम् उपसंहर्तुम् न शक्नुवन्ति—इति अनधिकृताः'। उच्यते,—यागं कर्तुम् शक्नुवन्ति केचित्, तस्मात् 'यजेत'—इत्येवमादीनि अधिकरिष्यन्ति शक्नुवतः, विष्णुक्रमादिवचनानि तु अशक्तान् न अधिकरिष्यन्ति। तत्र योऽनुपदिष्टविष्णुक्रमादिकः स केवलं यागं करिष्यति, कः तस्य दोषः?। द्रव्यपरिग्रहोऽपि देवग्रामः, हस्तिग्रामः, ऋषभस्य ग्रामः—इति उपचारात् अस्त्येव—इति। तस्मात् अमनुष्याणामपि शक्नुवताम् अधिकारः—इति॥

सू कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥ ५ ॥
(सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न चैतदस्ति,—तिर्यगादीनामपि अधिकारः—इति। कस्य तर्हि?। यः समर्थः कृत्स्नं कर्म अभिनिर्वर्त्तयितुम्। न चैते, शक्नुवन्ति तिर्यगादयः कृत्स्नं कर्माभिनिर्वर्त्तयितुम्, तस्मात् एषां न सुखस्याभ्युपायः कर्म—इति, कथं यो न शक्यते कर्तुम्, सोऽभ्युपायः स्यात्?—इति। न देवानां, देवतान्तराभावात्, न हि आत्मानम् उद्दिश्य त्यागः सम्भवति, त्याग एवासौ न स्यात्, न ऋषीणाम्, आर्षेयाभावात्, न भृग्वाद्यो भृग्वादिभिः सगोत्रा भवन्ति,* न चैषां सामर्थ्यं प्रत्यक्षम्।

भा अपि च तिर्यञ्चो न कालान्तरफलेन अर्थिन , आसन्न हि कामयन्ते। 'ननु च उक्तं, कालान्तरफलार्थिन तिरश्च पश्याम, शुन श्येनाश्चतुर्दश्याम् अष्टम्यां च उपवसत —इति। उच्यते, —न जन्मान्तरफलार्थिन उपवसन्ति। 'कथम् अवगम्यते?। वेदाध्ययनाभावात् ये वेदमधीयते ते एतद्विदु ,—इदं कर्म कृत्वा, इदं फलममुत्र प्राप्नोति—इति, न चैते वेदमधीयते, नापि स्मृतिशास्त्राणि, नाप्यन्येभ्य अवगच्छन्ति*, तस्मात् न विदन्ति धर्मम्। अविद्वांस कथम् अनुतिष्ठेयु , तस्मात् न धर्माय उपवसन्ति—इति।

'किमर्थं तर्ह्येषाम् उपवास ?। उच्यते, रोगात् अरुचि रेषाम्?। 'कथं पुनर्नियते काले रोगो भवति। उच्यते, नियतकाला अपि रोगा भवन्ति, यथा तृतीयकाश्चातुर्थकाश्चेति। तस्मात् मनुष्याणाम् अधिकार —इति। न च तिरश्चां द्रव्य परिग्रह , न हि एते द्रव्यं स्वेच्छया उपयुञ्जाना दृश्यन्ते तस्मात् अनीशाना धनस्य। यत्तु देवग्रामो हस्तिग्राम — इति उपचारमात्रं तत्। तस्मात् अपि न तिरश्चाम् अधिकार —इति।

यानि पुनर्लिङ्गानि —'देवा वै सत्रमासत'—इत्येवमादीनि अर्थवादा ते विधिप्ररोचनार्था विद्यते हि विधिरन्य तेषु सर्वेषु न च विधिर्विधिनैकवाक्यभावो भवति वचनव्यक्तिभेदात्। स्तुतिस्तु सा,—इत्थं नाम सत्राणि आसितव्यानि, यत् सत्त्रस्यापि आसते देवा , आसन्नचेतना अपि तिर्यञ्च , अचेतना अपि वनस्पतय , किमङ्ग पुनर्विद्वांसो मनुष्या —इति।

'ननु विश्वकर्मादिषु अनधिकृता केवलं यागं करिष्यन्ति।

---

पौन्द्रेणाग्नीन्द्रस्तोमारम्भ प्रविरस्मकुम। तस्मात् यथमव देवतामित्यभिप्रेत्य एतज्जीय मिमि इति मन्त्ररक्षम ॥

* नाप्यध्यापकेभ्योऽवगच्छन्ति इति का० औ० पु० ॥

भा. नैवं, गुणा यागं प्रत्युपदिश्यन्ते, न कर्त्तारं प्रति, तेन यागमात्रे क्रियमाणे वैगुण्यम्—इति न फलसम्बन्धः स्यात्। 'कथं पुनर्यागं प्रत्युपदिश्यन्ते?'—इति चेत्। इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षस्य यागवचनस्यान्तिकादुपनिपतिताः शक्नुवन्ति तं निराकाङ्क्षीकर्तुम्, इतरथा हि कर्तॄन् अधिकुर्वत्सु गुणवचनेषु अनिष्टताकाङ्क्षं फलवचनम्* अनर्थकमेव स्यात्। अनुषङ्गश्च फलवचनम् अभविष्यत्, तत्र साकाङ्क्षत्वात् वाक्यम् उपरोत्स्यते। 'अथ एतदेव वाक्यं समर्थानां सगुणं कर्म विधास्यति, असमर्थानां विगुणम्'—इति। तन्न, सकृदुच्चारणे उभयशक्तिविरोधात् वाक्यम्भिद्येत, साकाङ्क्षं हि तत् इतिकर्त्तव्यतां प्रति। तस्मात् साङ्गयागोपदेशः सः—इति निरङ्गयागोपदेशाभावः। तस्मात् मनुष्याणामेव अधिकारः—इति।

प्रयोजनं पक्षयोः, केचित् आहुः सहस्रसंवत्सरं न नियोगतो दिवसेषु कल्पयितव्यं, पूर्वपक्षे तदायुषां देवतादीनां सम्भवति—इति, सिद्धान्ते तत्र सम्भवदपि दिवसेष्वेव अवकल्पयितव्यम्—इति; तत्तु उपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः॥ (६।१।२ अ०)॥

---

यागादिषु स्त्रीपुंसयोरुभयोरधिकाराधिकरणम्॥

सू लिङ्गविशेषनिर्देशात् पुंयुक्तमैतिशायनः॥ ६॥ (पू०)॥

भा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादि समाम्नायते। तत्र सन्देहः,—किं स्वर्गकामं पुमांसमधिकृत्य 'यजेत'—इत्येष शब्दः उच्चरितः, अथ वा अनियमः,—स्त्रियं पुमांसं च?—इति। किं प्राप्तम्?—पुंलिङ्गम् अधिकृतं मेने 'ऐतिशायनः'। कुतः?। 'लिङ्गविशेषनिर्देशात्' (पुंलिङ्गेन विशेषेण निर्देशो

* प्रकरणवचनम् इति आ० सो० पु० पाठः।

भवति स्वर्गकामो यजेत—इति)। तस्मात् पुमान् उक्तो यजेत —इति, न स्त्री॥

सू तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥ ७ ॥ (यु०)॥

भा 'अविज्ञाते' गर्भे हते भ्रूणहत्यानुवादो भवति,—'तस्मात् अविज्ञातेन गर्भेण हतेन भ्रूणहा भवति'—इति। भ्रूणहा पापकृत्तमः, यज्ञ* उभयोर्लोकयोः उपकरोति, तस्य हन्ता भ्रूणहा, यज्ञहन्ता भ्रूणहा, स यज्ञसाधनवधकारी, तस्मात् यज्ञं भ्रूणशब्देन अभिदधाति, स हि विभर्ति वा सर्वं, भूतिं वा आनयति। अतो भ्रूणहा यज्ञवधकारी, स पुंस्त्वात् अनुवादोऽवकल्पते, अविज्ञाते गर्भे हन्यमाने कदाचित् पुमान् हन्येत, तच यज्ञाधिकृतस्य हतत्वात् यज्ञवधो भ्रूणहत्या स्यात्। इतरथा, यदि उभयोः अधिकारः, ततो विज्ञाते च अविज्ञाते च यज्ञवधः स्यात्, तत्र अविज्ञातग्रहणम् अनर्थकम्—इति कल्प्येत। तस्मात् विमर्शिता पुल्लिङ्गस्य वाचिका विभक्तिः —इति।

तथा आत्रेयीं हत्वा भ्रूणहा भवति, आत्रेयीम् आपन्नगर्भाम् आहुः, 'अत्र' (कुक्षौ) अस्या विद्यते—इति आत्रेयी। तस्मात् अपि पुंसोऽधिकारो गम्यते, यथा, 'पशुमालभेत'—इति पुं पशुरेवालभ्यते, लिङ्गविशेषनिर्देशात्। एवम् इहापि द्रष्टव्यमिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—

सू जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्, तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥ ८ ॥ (सि०)॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति, पुंसोऽधिकारः—इति, 'जातिन्तु बादरायण' अधिकृता मन्यते स्म। 'आह, किमर्थं

* यु यज्ञ इति क्वा० सो० पु० पाठः।

भा. स्वर्गकामः—इति जातिशब्दः समधिगतः?'। न इत्याह। कथं तर्हि?। यौगिकः, स्वर्गेच्छायोगेन वर्त्तते। 'केन तर्हि शब्देन जातिः उक्ता, या अधिकृता—इति गम्यते?'। नैव च वयं ब्रूमः, जातिवचन इह शब्दः अधिकारकः—इति, किन्तर्हि, स्वर्गकामशब्देनोभावपि स्त्रीपुंसावधिक्रियेते—इति। असौ न विवक्षितं पुंलिङ्गम्—इति। कुतः?। 'अविशेषात्', न हि असावेषा विभक्तिः स्वर्गकामं लिङ्गेन विशेष्टुम्। कथम्?। लक्षणत्वेन श्रवणात्,—स्वर्गः कामो यस्य, तम् एष लक्षयति शब्दः, तेन लक्षणेन अधिकृतो 'यजेत'—इति शब्देन उच्यते। तच्च लक्षणम् अविशिष्टं स्त्रियां पुंसि च। तस्मात् शब्देन उभावपि स्त्रीपुंसावधिकृतौ—इति गम्यते। तत्र केन अधिकारः स्त्रिया निवर्त्त्यते?।

'विभक्त्या इति चेत्'। तन्न। कस्मात्?। पुंवचनत्वात् स्त्री-निवृत्तौ अशक्तिः। 'पुंसो विभक्त्या पुनर्वचनम् अनर्थकम्—इति चेत्'। न, आनर्थक्येऽपि स्त्रीनिवृत्तेः अभावः, परिसङ्ख्यायां स्वार्थहानिः परार्थकल्पना प्राप्तबाधश्च। न च आनर्थक्यम्, निर्देशार्थत्वात्। 'तस्मात् स्वमपि प्रतीयेत' जात्यर्थस्य अ-विशिष्टत्वात्॥

सू. चोदितत्वात् यथाश्रुति ॥ ८ ॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. 'अथ यदुक्तं,—'पशुमालभेत'—इति पुंपशुरालभ्यते पुंलिङ्ग-वचनसामर्थ्यात्, एवमिहापि पुंलिङ्गवचनसामर्थ्यात् पुमानधि-क्रियते यागवचनेन'—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। अत्र उच्यते,— न अत्र *जातिर्द्रव्यस्य* लक्षणत्वेन श्रूयते, यदि हि लक्षणत्वेन श्रूयेत, ततः स्त्रिया अपि यागः उक्तो न पुंवचनेन विवर्त्त्येत, इदं तु पशुत्वं यागस्य विशेषणत्वेन श्रूयते, तत्र पशुत्वस्य यागस्य च सम्बन्धो न द्रव्ययागयोः, यथा पशुत्वं यागसम्बद्धम्,

भा. एवं पुंस्त्वमेकत्वं च, सोऽयमनेकविशेषणविशिष्टो यागः श्रूयते, स 'यथाश्रुति' एव कर्त्तव्यः, उपादेयत्वेन 'चोदितत्वात्'।

यच्च,—दोषश्रुतिरविज्ञाते गर्भे हते आत्रेय्यां च पुंयुक्तत्वेन—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। अत्र उच्यते,—अविज्ञातेन गर्भेण इत्यनुवादः प्रशंसार्थः, आत्रेयी च न हन्तव्या—इति, इत्थं गर्भो न हन्तव्यः, यत् अव्यक्तेनाप्येनस्वी भवति। पुंलिङ्गविभक्तिः श्रूयमाणा न शक्नोति स्त्रियं निवर्त्तयितुम्, किम् अङ्ग पुनः अविज्ञातगर्भवचनं लिङ्गम्। तथा गोत्रप्रशंसार्थमात्रेय्या अवध-सङ्कीर्त्तनं, न च आपन्नसत्वा आत्रेयी, गोत्रं हि एतत्, न हि अवयवशब्दार्थं तद्धित उत्पन्नः, समर्थानाम् हि तद्धित उत्पद्यते; न च अत्रशब्दस्य सामर्थ्यमस्ति॥

सू. द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्यात्, द्रव्यसंयुक्तं, क्रयविक्रयाभ्याम् अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्॥ १०॥ (पू०)॥

भा 'पुंसां' 'तु' 'स्यात्' अधिकारः, 'द्रव्यवत्त्वात्', द्रव्यवन्तो हि पुमांसो न स्त्रियः, 'द्रव्यसंयुक्तं' च एतत् कर्म, 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत'—इत्येवमादि। कथम्?। 'अद्रव्यत्वं स्त्रीणां', 'क्रय-विक्रयाभ्यां', क्रयविक्रयसंयुक्ता हि स्त्रियः, पित्रा विक्रीयन्ते, भर्त्रा क्रीयन्ते, विक्रीतत्वाच्च पितृधनानामनीशिन्यः। क्रीतत्वाच्च भर्तृ-धनानाम्। विक्रयो हि श्रूयते, 'शतमधिरथं दुहितृमते दद्यात्, आर्षं गोमिथुनम्'—इति। न च, एतत् दृष्टार्थे सति आनमने-ऽदृष्टार्थं भवितुमर्हति। एवं 'द्रव्यैः' समानयोगित्वं 'स्त्रीणाम्'॥

सू तथा च अन्यार्थदर्शनम्॥ ११॥ (उदा०)॥

भा 'या पत्या क्रीता सती अथान्यैश्चरति'—इति क्रीततां दर्शयति॥

सू. तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'आह, यदनया भक्तोपसर्पणेन वा कर्त्तनेन वा धनम् उपार्जितं, तेन यक्ष्यते'—इति। उच्यते,—तदप्यस्या न स्वं, यदा हि सा अन्यस्य स्वभूता, तदा यत् तदीयं, तदपि तस्यैव। अपि च, स्वामिनस्तया कर्म कर्त्तव्यं, न तत्परित्यज्य स्वकर्मार्हति कर्तुम्, यत् तया अन्येन प्रकारेण उपार्ज्यते, तत् पत्युरेव स्वं भवितुमर्हति—इति। एवं च स्मरति,—

"भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्द्धनाः सर्व एव ते।
यत्ते समधिगच्छन्ति, यस्य ते तस्य तद्धनम्"—इति॥

सू. फलोत्साहाविशेषात्तु ॥ १३ ॥ (उ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति,—निर्द्धना स्त्री—इति, द्रव्यवती हि सा, 'फलोत्साहाविशेषात्', स्मृतिप्रामाण्यात् अस्वया तया भवितव्यं फलार्थिन्यापि, श्रुतिविशेषात् फलार्थिन्या यष्टव्यम्, यदि स्मृतिमनुरुध्यमाना सर्वथा निर्द्धना च स्यात्, 'यजेत'—इत्युक्ते सति न यजेत, तत्र स्मृत्या श्रुतिर्बाध्येत। न च एतत् न्याय्यम्। तस्मात् फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृह्णीयात् यजेत च—इति॥

सू. अर्थेन च समवेतत्वात् ॥ १४ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अर्थेन च' अस्याः समवेतत्वं भवति, एवं दानकाले संवादः क्रियते,—'धर्मे च अर्थे च कामे च न अतिचरितव्या'—इति। यत्तु उच्यते,—'भार्यादयो निर्द्धनाः'—इति, स्मर्यमाणमपि निर्द्धनत्वम् अन्याय्यमेव, श्रुतिविरोधात्। तस्मात् अस्वातन्त्र्यम् अनेन प्रकारेण उच्यते, संव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम्॥

सू क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥ १५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा यत्तु क्रयः श्रूयते,—धर्ममात्रं तु तत्, नासौ क्रयः—इति, क्रयो हि उच्चनीचपण्ययणो भवति। नियतं त्विदं दानं शतमधिरथं, शोभनाम् अशोभनाञ्च कन्यां प्रति। स्मार्त्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते। तस्मात् अविक्रयोऽयम्—इति ॥

सू स्ववत्तामपि दर्शयति* ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा. 'पत्नी वै पारिणाह्यस्य ईशे पत्यैव गतमनुमतं क्रियते†। तथा भसदा पत्नीः संयाजयन्ति‡, भसद्योया हि पत्नयः भसदा वा एताः परगृह्याणाम् ऐश्वर्यमवरुन्धते'—इति॥ (६।१।३ अ०)॥

---

यागे दम्पत्योः सहाधिकाराधिकरणम् ॥

सू स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥ १७ ॥ (सि० ) ॥

भा स्ववन्तावुभावपि दम्पती—इत्येवं तावत् स्थितं। तत्र सन्देहः,—किं पृथक् पत्नी यजेत, पृथक् यजमानः, उत सम्भूय यजेयाताम्?—इति। किं प्राप्तम्?—पृथक्त्वेन। कुतः?। एकवचनस्य विवक्षितत्वात्, उपादेयत्वेन कर्त्ता 'भजेत'—इति श्रूयते, तस्मात् एकवचनं विवक्ष्यते, यथा न द्वौ पुरुषौ सम्भूय यजेयाताम्, तथा अत्रापि द्रष्टव्यम्।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात्', वचनात्तयोः सहक्रिया। एवं हि स्मरन्ति,—'धर्मे चार्थे च कामे च

---

* इदं सूत्रं का० क्री० पुस्तके सूत्रतया नाधारि ॥
† पत्यैवमनुमतमिति का० क्री० पु० पाठः ॥
‡ जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. नातिचरितव्या'—इति, तथा 'सहधर्मश्चरितव्यः, सहापत्यम् उत्पादयितव्यम्'—इति। 'उच्यते,—स्मृतिवचनेन न श्रुतिवचनं युक्तं बाधितुम्'। न—इति ब्रूमः,—इह किञ्चित् कर्म स्त्रीपुंस-कर्तृकमेव, यथा दर्शपूर्णमासौ ज्योतिष्टोमः—इति, यत्र पत्न्य-वेक्षितेन यजमानावेक्षितेन च आज्येन होम उच्यते, तत्र अन्यतराभावे वैगुण्यम्।

'ननु पुंसो यजमानस्य यजमानावेक्षितमाज्यं, स्त्रिया यज-मानायाः पत्न्यवेक्षितं भविष्यति'—इति। न—इति आह,—न अयम् ईक्षितृसंस्कारः, ईक्षितुः संस्कारो यदि, तदैवं स्यात्; आज्यसंस्कारश्च अयं, गुणभूतौ ईक्षितारौ, तत्र अन्यतराभावे नियतं वैगुण्यं, सर्वाङ्गोपसंहारी च प्रयोगवचनः। 'तत्र एतत् स्यात्,—स्त्री यजमाना पुमांसं परिक्रेष्यति आज्यस्य ईक्षितारं, पुमांश्च स्त्रियन्त्ववेक्षित्रीम्'—इति। तच्च न, पत्नीति हि यज्ञस्य स्वामिनी—इत्युच्यते, न क्रीता; पत्नी—इति सम्बन्धिशब्दोऽयं, यजमानः—इति च स्वामी, न क्रीतः। तस्मात् स्त्रीपुंसयोरेकम् एवञ्जातीयकं कर्म—इति।

तत्र श्रुतिसामर्थ्यात् 'यः—कश्चित्, यया—कयाचित् सह सम्भूय यजेत'—इति प्राप्ते इदम् उच्यते,—'यस्त्वया कश्चित् धर्मः कयाचित् सह कर्त्तव्यः, सोऽनया सह'—इति, तेन न श्रुतिविरोधः स्मृतेः—इति गम्यते। अथ यदुक्तं,—केवलस्य पुंसोऽधिकारः केवलायाश्च स्त्रिया 'यजेत'—इत्येकवचनस्य विवक्षितत्वात्—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्। इदं तावदयं प्रष्टव्यः*,—'यजेत'—इत्येकवचने विवक्षिते, कथं षोडशभि-र्ऋत्विग्भिः सह यागो भवति?—इति। एवम् उच्यते, प्रति-

* अत्र "अथ यदुक्तं एकवचनस्य विवक्षितत्वात् केवलयोरेव कर्तृत्वम् इत्यस्योत्तरं भाष्यकारेणोक्तम्" इत्यादिना "तस्मात् 'इदं तावदयं प्रष्टव्य' इत्यादि 'यथा चाध्वर्यु-श्चाध्वर्यवेषु' इत्यन्तं भाष्यं नातीव युक्तम्" इत्यन्तेन सन्दर्भेण तन्त्ररत्नकृता भाष्यं दूष्यमिव निरदर्शि ॥

भा कारक क्रियाभेदः, याजमानानेव पदार्थान् परिक्रयादीन् कुर्वन् 'यजते'—इत्युच्यते यजमानः, आध्वर्यवानेव कुर्वन् अध्वर्युर्यजति—इत्येवम् उच्यते, यथा सम्भरणमेव कुर्वती स्थाली पक्तिं करोति—इत्युच्यते, यस्य च कारकस्य य आत्मीयो व्यापारः, स एकवचने विवक्षिते एकेन कर्त्तव्यो भवति—इति। एव चेत् यावान् व्यापारो यजमानस्य स तावान्, न सम्भूय कर्त्तव्यः, एकैकेनैको याजमानोऽपरेणापरः। यद्दर्शे वा व्रते एकेन यद्पश्यायत्, अपरेणापि यद्पश्यायत्—इति। इह तु पत्नी-व्यापार अन्य एव, न तत्र पत्नी प्रवर्त्तमाना यजमानस्य एकत्वं विहन्ति, यथा अध्वर्युराध्वर्यवेषु प्रवर्त्तमानः। अवश्यं च सह पत्न्या यष्टव्यं, तथा हि इदं द्रव्ययोर्धनं, तत्र यागोऽवश्यं सह पत्न्या कर्त्तव्यः, इतरथा अन्यतरानिच्छाया त्याग एव न सवर्त्तेत, तथा हि द्वितीयया पत्न्या विना त्यागो नैवावकल्पते, यस्य द्वितीया पत्न्यस्ति, तत्र क्रत्वर्थान् एका करिष्यति। कर्तृसंस्कारार्थेषु नैव दोषः, सम्भवन्ति हि तानि सर्वत्र—इति॥

सू लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥ (यु०)॥

भा लिङ्गं खल्वपि दृश्यते, 'योक्त्रेण पत्नीं सन्नह्यति, मेखलया यजमानं मिथुनत्वाय'—इति। यदि स्त्रीपुंसावेकत्र, योक्त्रस्य मेखलायाश्च विभागो वाक्यात् गम्यते, मिथुनमस्तवश्च, तदेतत् स्त्रीपुंससाधनके कर्मण्युपपद्यते, न अन्यथा॥

सू क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥ १९ ॥ (पू०)॥

भा स्थितादुत्तरमुच्यते। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति, यदुक्तं स्ववती नो—इति, क्रीता हि सा, द्रव्यार्थत्वात् अधिरथ यत्दानस्य, अतो यदस्याः स्वामित्वम् उच्यते, तत् भक्त्या;

भा यथा पूर्णकोश्याक बलीवर्दानाम् ईष्टे—इति, एव पत्नरपि पारिणाय्यस्य ईष्टे—इति ॥

सू फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ॥ २० ॥ (उ०)॥

भा नैतदस्ति, क्रयो मुख्य, गौण स्वामित्वम्—इति फलार्थिनी हि सा, स्मृतिर्नादरिष्यते, स्मृत्यनुरोधात् अस्वा स्यात्, स्ववती श्रुत्यनुरोधात् ॥

सू फलवत्तां च दर्शयति* ॥ २१ ॥

भा 'स पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छता यज्ञस्य धुर्यायुक्तावभूता। सञ्जानानौ विजहोताम् अरातीर्दिवि ज्योतिरजरमारभेताम् —इति दम्पत्यो फल दर्शयति। तस्मात् अप्युभावधिकृतौ —इति सिद्धम् ॥ (६।१।४ अ०)॥

---

एकस्यैव पुंसः आधानाधिकाराधिकरणम् ॥

सू द्व्याधान च द्वियज्ञवत् ॥ २२ ॥ (पू०)॥

भा अस्ति आधान,—'य एव विद्वानग्निमाधत्ते'—इति। तत्र इदमामनन्ति,—'क्षौमे वसानावग्निमादधीयाताम्'—इति। तत्र एषोऽर्थः साशयिक,—किं द्वौ पुरुषावादधीयाता उतैकः पुरुष ?—इति। कथ संशय ?। उच्यते,—इह एतत् श्रूयते, —'वसानावादधीयाताम्'—इति। तत्र वचनमर्थप्राप्त पुन. श्रूयते, तत् किं पुंलिङ्गसम्बन्धार्थं, उत क्षौमविध्यर्थम् ?—इति उभयोर्विद्यमानत्वात् भवति संशय, यदि लिङ्गसम्बन्धार्थम्, उभौ पुरुषौ आधास्येते, अथ क्षौमसम्बन्धार्थं तत एक।

किं प्राप्त ?—'द्व्याधानन्तु द्वियज्ञवत्' स्यात्, यथा 'एतेन द्वौ

---

* इदश सूत्र का० श्री० पुस्तके सूत्रतया नाधारि ॥

भा. राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्'—इति द्वयोः पुरुषयोर्द्वियज्ञो भवति, एवं द्व्याधानं द्वयोः पुरुषयोः स्यात्, ततोऽविशेषात्, 'वसानौ'—इति श्रवणात् एव पुरुषौ गम्येते; न पदान्तरगतेन क्षौमेन अस्य सम्बन्धः, श्रुत्यवगतं हि श्रवणात् अवगतं, पदान्तरसम्बन्धं वाक्यात् अवगतं, श्रुतिश्च वाक्यात् बलीयसी, वसानशब्दगतश्च अर्थं आधानेन सम्बध्यते, न क्षौमशब्दगतः।

'आह, 'वसानौ'—इति नायं केवलं पुंलिङ्ग एव, स्त्रीपुंसयोरप्यभिधायको भवति, यथा कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ, सूकरश्च सूकरी च सूकरौ—इति, एवं वसानश्च वसाना च वसानौ स्याताम्—इति। अत्र उच्यते,—यत्र न अर्थः, प्रकरणं वा विशेषकं, विधायकश्च शब्दः, नास्ति अनुवादः। तत्र द्वौ पुमांसौ गम्येते, यथा द्वावानय—इत्युक्तः पुमांसावानयति; द्वे आनय—इति स्त्रियौ, तेन स्त्रियौ वाचकमेकारान्तं द्विवचनम्—इति गम्यते, औकारान्तमपि द्वयोः पुंसोर्वाचकम्—इति। 'यत्र इदानीं स्त्रीपुंसयोः प्रयुज्यमानमौकारान्तं दृश्यते, तत्र किं पुमान् सद्वितीयः तस्य निमित्तम्, उत स्त्री सद्वितीयाः?'—इति। उच्यते,—पुंसि सद्वितीये दृष्टः, यथा ब्राह्मणावानय—इति, इहापि पुमान् सद्वितीयोऽर्थः। तस्मात् पुंनिमित्तम्—इति गम्यते।

'अत्र आह, प्रयोगो यदि दृष्टं प्रमाणं द्वयोः पुंसोर्दृष्टः, कथम् एकस्मिन् स्यात्?'। अत्र उच्यते,—पुंसि च द्वित्वे च दृष्टः—इति शक्यते वदितुम्, न द्वयोः द्रव्ययोः—इति, पुंभावं द्वित्वं च एष शब्दः न व्यभिचरति, द्रव्यं पुनर्व्यभिचरति। अपि च युगपदधिकरणवचनतायाः* द्वन्द्वस्मृतेर्द्विवचनबहुवचनोपपत्तेश्च,

* "अधिकरणं शब्दस्य प्रतिपाद्यं, तदनेकं यत्र युगपत् प्रतिपाद्यते, तत्रैव द्वन्द्वः, येन धवखदिरावित्यत्र युगपदेव धवखदिरौ गम्यौ, न पर्यायेण पूर्वं धवः पश्चात्

भा अग्निचयोर्वरुणयोः—इति च दर्शनात्। इतरेतरयोगे च अर्थे समासविधानात् द्वन्द्वापवादत्वात् च एकशेषस्य, यथैव खदिरौ च धवलौ च—इति निर्देशनं क्रियते, एवम् अत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् पुंसि द्वित्वे च वर्त्तते—इति गम्यते। न च स्त्रीद्वित्वे दृष्टः।

'अथ आह, नन्वत्रैव दर्शनात्, स्त्रीपुंसयोर्वाचकः'—इति गम्यते। अत्र उच्यते,—उक्तम् एतत् "अन्याय्यम् अनेकार्थत्वम्"—इति पुमान् सद्वितीयोऽस्यार्थो भविष्यति, स्त्रीपुंसौ च—इति अन्याय्यम्। 'अथ इदानीं सद्वितीयस्य पुंसो विधौ कोऽन्यः सहायः?'—इति। स्त्रिया अनभिधेयत्वात्, अवश्यम्भावित्वाच्च द्वितीयस्य, अपरः सद्वितीयः पुमान्, एवम् इतरोऽपीतरेण सद्वितीयः, इतरोऽपीतरेण—इति द्वावेव पुमांसावुपादीयेते। तस्मात् इह द्वौ पुमांसौ आधाने विधीयेते—इति उच्यते।

'ननु स्त्रीपुंसयोर्वाचकम् औकारान्तं द्विवचनं स्मरन्ति'। न एषा स्मृतिरस्ति—इति ब्रूमः। 'आह, भगवतः पाणिनेर्वचनात् स्मृतिमनुमास्यामहे, "पुमान् स्त्रिया" (१।२।६७ पा० सू०)—इति। उच्यते,—न, पाणिनेर्वचनं 'कुक्कुटौ'—इति औकारः स्त्रीपुंसयोर्वाचकः—इति। कथन्तर्हि, यत्र स्त्रीपुंसयोः सहवचनं, तत्र सद्वितीयो वा पुमान्—इति कृत्वा अकारान्तस्य औकारः प्राप्नोति, सद्वितीया वा स्त्री—इति कृत्वा एकारः। पुंशब्दः तत्र साधुः न स्त्रीशब्दः—इति पाणिनेर्वचनं। "पुमान् शिष्यते"—इति च ब्रूते, तेन सुतरां गम्यते,—पुंसोर्वाचक औकारः—इति। तस्मात् द्वयोः पुंसोः अधिकारः—इति।

'ननु चौमविधानपरमेतत् वाक्यं स्यात्, चौमसम्बन्धस्य

---

खदिर इत्येवम्। तेन धवशब्दोऽपीतरसहितस्वार्थाभिधायी, खदिरशब्दोऽपि। तथा सति युगपदभिधानमनर्थीभवति, स्वार्थमात्राभिधाने तु शब्दयोर्व्यापर्यादर्थयोर्व्यापर्यमेव स्यात्, तच्च श्रुतिविरुद्धम्' इति तन्त्ररत्नमत्रावधेयम्॥

भा अर्थवत्त्वात्, इतरथा क्षौमवचनम् अनर्थकं स्यात्'। अत्र उच्यते, —'वसानावादधीयाताम्'—इति अस्ति सम्बन्ध, न 'क्षौमे आदधीयाताम्'—इति। तस्मात् सन्निकृष्टमपि न तत्सम्बद्धम् आधानेन। 'आह, वसानशब्देन सह सम्बध्यमानम् अर्थवत् भविष्यति'। वसानसन्निकृष्टे अपि क्षौमे न विधीयते, विधायकस्य शब्दस्य अभावात्, न हि वसानशब्दो विधायक, न क्षौमशब्द, नानयो समुदाय'। 'कस्तर्हि विधातुम् शक्नोति?'। 'आदधीयाताम्'—इत्यत्र या लिङ्।

'आह, सा खलु विधास्यति?'। उच्यते, सा स्वशब्दगत माधानं शक्नोति विधातुम्, श्रवणात्, विहितत्वात् आधानस्य, आनर्थक्ये वसानौ—इति शक्नोति वाक्येन विधातुम्, भवति हि वसानयो आधानसम्बन्ध, तत्र नात्यन्ताय स्वार्थं परित्यक्तो भवति, क्षौमवसानसम्बन्धे तु विधातव्ये, 'आदधीयाताम्' —इत्याधानम् उत्सृज्य विदधानोऽत्यन्ताय श्रुति जह्यात्। आधानसन्निकृष्टे च लिङ्गे विधातव्ये श्रुतिर्विप्रकृष्टा न क्षौम वसानसम्बन्ध विधातुम् उत्सहते अर्थविप्रकर्षात्। अपि च उत्सृज्य श्रुति, क्षौमवसानसम्बन्धे विधीयमाने क्षौम वसानस्य अङ्ग स्यात् न आधानस्य। तत्र क्षौमाभावेऽपि न आधानं विगुणम्—इति क्षौमाभावेपि आधान स्यात्।

'आह, वसानगुणताया तर्हि कोऽर्थो विवक्ष्यते?'। उच्यते, —न कश्चित्, अत एव अस्य पक्षस्य परित्याग। 'आह, क्षौमवसानश्रवणम् इदानीं कथम्?'—इति। उच्यते, न शक्यते उभय विधातुम् क्षौम लिङ्ग च, भिद्येत हि तथा वाक्यम्। तस्मात् अक्षौमयो क्षौमशब्दोऽनुवाद, अर्थप्राप्ते च वसने वसानौ पुमांसौ—इत्यर्थ'। ते च प्रायेण विचेष्टमानस्य मलिने क्षौमसदृशे भवत, विचेष्टमानस्य वा शब्दवती भवत —इति। तस्मात् द्वयो पुंसोरधिकार —इति॥

सू. गुणस्य तु विधानत्वात् पत्न्या* द्वितीयशब्दः स्यात् ॥ २३ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति, यदुक्तं 'द्वौ पुरुषौ आदधीयाताम्'—इति, एक एवादधीत; 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत'—इति एकवचनं हि विवक्षितं। तस्मात् एक एव आदधीत। 'ननु इदं वचनं 'द्वौ पुमांसावादधीयाताम्'—इति'। न—इत्याह, 'गुणस्य तु विधानत्वात्', क्षौमविधानम् अस्मिन् वाक्ये न्याय्यं, तथा हि अपूर्वोऽर्थो विहितो भवति, गम्यते हि विशेषनियमः। इतरथा क्षौमवचनमनुवादमात्रं स्यात्, वादमात्रं च अनर्थकं, पक्षे च अनुवादः, न च एकपक्षवचन एष शब्दः, गौणत्वे च साधारणं सादृश्यं। तस्मात् प्रमादाध्ययनमवगम्येत विनैव हेतुना।

'आह, ननु पुमांसौ विधेयौ, तद्विधाने च न क्षौमविधानं, वाक्यभेदो हि तथा स्यात्, श्रुतिगम्यौ च पुमांसौ, वाक्यगम्यं च क्षौमं वाधेयाताम्'—इति। अत्र उच्यते,—न पुमांसौ विधेयौ, प्राप्त एव अत्र सद्वितीयः पुमान् सोऽनूद्यते। कथम्?। एकोऽत्र पुमान् श्रूयते, तस्य 'पत्न्या द्वितीयशब्दः स्यात्'। न च, यत् प्राक् वचनात् गम्यते, तद्विधेयं भवति। तस्मात् क्षौमविधानं, न वाक्यभेदो भवति।

यदुच्यते, 'न क्षौमस्य विधायकोऽस्ति'—इति। तदुच्यते, 'आदधीयाताम्'—इति तद्विधास्यति। ननु 'एतत् आधानं श्रुत्या विधातुम् समर्थं, नान्यत्'—इति। उच्यते,—शब्दान्तरेण विहितत्वात् आधानस्य न विधायकं, विहितत्वाच्च पुंसः स-

* पत्न्या इति बा० सो० पु० पाठः। पत्न्याम् इति तु का० श्री० एव क० स० प्रभृतिपुस्तकत्रये पाठः। किन्तु सर्वत्रैव भाष्ये परञ्च 'पत्न्या द्वितीयशब्द स्यात्' इति धृतत्वात् पत्न्या इत्येव पाठः साधु ॥

भा. द्वितीयस्य, तस्यापि न विधायकम्, अतः तदसम्भवात् क्षौमस्य विधायिका लिङ् भविष्यति, वाक्यसामर्थ्यात्। यत्तु 'अस्मिन् पक्षे अत्यन्ताय स्वार्थं जहाति'—इति। न अत्यन्ताय हास्यति, आधाने वासः क्षौमं कुर्यात्—इति; अस्मिन् पक्षे पुंशब्दः स्त्रीपुंसयोः वृत्तः—इति गम्यते, अस्ति हि तत्र तस्य निमित्तं पुमान् सद्वितीयः, एवमादि च दृष्ट्वा भगवता पाणिनिना सूत्रं प्रणीतं, "पुमान् स्त्रिया" (१।२।६७ पा० सू०)—इति, तस्य विषये पुंशब्दः शिष्यमाणः साधुर्भवति, न स्त्रीशब्दः—इति। तस्मात् एकः पुमानादधीत न द्वौ—इति॥ (६।१।५ अ०)॥

---

पत्न्या यावदुक्ताशीर्ब्रह्मचर्यादावेवाधिकाराधिकरणम्॥

सू  तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात्॥ २४॥

भा  'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—इत्येवमादिषु एतदुक्तं स्त्रीपुंसयोः सहाधिकारः—इति। अथ इदानीं सन्दिह्यते, किं सर्वं याजमानं पत्न्या कर्त्तव्यम्, उत यावदुक्तमाशीः ब्रह्मचर्यं च?—इति। किं प्राप्तं?—सर्वं याजमानं पत्न्याः स्यात्, सापि हि यजमाना, तुल्यत्वात्। तस्मात् सर्वं तस्याः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तस्या यावदुक्तं स्यात्, वचनप्रामाण्यात्, 'आशीः'* ब्रह्मचर्यं च स्यात्। कस्मात्?। 'अतुल्यत्वात्' अतुल्या हि स्त्रीपुंसाः, यजमानः पुमान् विद्वांश्च, पत्नी स्त्री च अविद्या च।

'किम् अतः? यद्येवं हि एतत् अतुल्यत्वम्'। एतदतो भवति,

---

* 'आशीःशब्देन येऽमन्त्रकवचनादय पत्न्याः प्राप्यन्ते, ते उभयोरपि सम्भवन्ति" इति वार्तिकम्॥

भा. क्रत्वर्थेषु यानि याजमानानि श्रवणानि, तेषु उपादेयत्वेन श्रवणात् विवक्षितं लिङ्गं, तेन तेषु पत्नी न स्यात्, यानि च क्रत्वर्थानि समवकाणि तेषु अविद्वत्वात् पत्नी न स्यात्। 'तत् पत्न्या अध्ययनस्य प्रयोजकं स्यात्—इति यदि उच्येत'। तन्न, असत्यपि प्रयोजकत्वे तस्य निर्वृत्तिर्भविष्यति। श्रुतिः हि तस्य पुमान् निर्वर्त्तकः, यच्च क्रत्वर्थं, तत् एकेन* येन—केनचित् निर्वर्त्तयितव्यं। तस्मात् प्रतिषिद्धस्य पत्न्या अध्ययनस्य पुनः प्रसवे, न किञ्चित् अस्ति प्रमाणम्। अतः तदपि पत्नी न कुर्यात्, यास्त्वाशिष, यच्च ब्रह्मचर्यं, तत् पुरुषं प्रति गुणभूतं, न तत्र अन्यतरेण कृते सिध्यति, अन्यतरस्य हि संस्कारो हीयेत। न च तत्र उपादेयत्वेन यजमानस्य श्रवणं। तस्मात् लिङ्गमत्र विवक्षितम्। अतः आशीर्ब्रह्मचर्यं च उभयोरपि स्यात्, यच्च आहृत्य उच्यते, यथा, 'पत्न्या आज्यमवेक्षते'—इति। तस्मात् अतुल्यत्वात् असमानविधाना पत्नी यजमानेन भवितुमर्हति—इति॥ (६।१।६ अ०)॥

---

यावे शूद्रस्यानधिकाराधिकरणम्॥

सू. चातुर्वर्ण्यमविशेषात्॥ २५॥ (पु०)॥

भा. अग्निहोत्रादीनि कर्माणि उदाहरणं, तेषु सन्देहः,—किम् चतुर्णां वर्णानां तानि भवेयुः, उत अपशूद्राणां त्रयाणां वर्णानाम्?—इति। किं तावत् प्राप्तं?—चातुर्वर्ण्यमधिकृत्य, 'यजेत', 'जुहुयात्'—इत्येवमादि शब्दम् उच्चरति वेदः†। कुतः?। 'अविशेषात्', न हि कश्चिद्विशेष उपादीयते। तस्मात् शूद्रो न निवर्त्तते॥

---

* एकेन इति का॰ सो॰ पुस्तके नास्ति॥

† इत्येवमादीनाधको इति पाठः का॰ सो॰ पु॰॥

सू निर्देशाद्वा* त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ॥ २६ ॥ (सि०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, 'त्रयाणाम्' अधिकारः स्यात्। कुतः?। 'अग्न्याधेये' 'निर्देशात्', अग्न्याधेये त्रयाणां निर्देशो भवति, 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—इति, शूद्रस्य आधाने श्रुतिर्नास्ति—इत्यनग्निः शूद्रः असमर्थोऽग्निहोत्रादि निर्वर्त्तयितुम्। तस्मात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'—इत्येवमादिषु शूद्रस्य प्रापिका श्रुतिर्नास्ति। ब्राह्मणादीन् एवाधिकृत्य सा प्रवर्त्तते, ते हि समर्था अग्निमत्वात्, आहवनीयादयो न शूद्रस्य, अविधानात्, संस्कारशब्दत्वाच्च आहवनीयादीनाम्। तस्मात् अनधिकृतोऽग्निहोत्रादिषु शूद्रः—'इत्यात्रेयः' मन्यते स्म॥

सू निमित्तार्थेन बादरिः तस्मात् सर्वाधिकारं स्यात् ॥ २७ ॥ (पुनः पू०)॥

भा. यदुक्तम्,—अनधिकारः शूद्रस्य—इति, तत्र, सर्वं हि अर्थिनम् अधिकृत्य 'यजेत'—इत्युच्यते, सोऽसति प्रतिषेधवचने शूद्रान्न व्यावर्त्तते। यत्तु असमर्थोऽग्न्यभावात्†—इति, स्यात् एवास्याग्निः अर्थप्राप्तः, कामश्रुतिपरिगृहीतत्वात्।

'अत्र आह, ननु अग्न्याधेयचोदना ब्राह्मणादिसंयुक्ता न शूद्रस्य'—इति। उच्यते, 'निमित्तार्थेन' ताः श्रुतयो न प्रापिकाः। कथं?। निमित्तप्रभावा एते शब्दाः,—ब्राह्मण आदधानो वसन्ते, राजन्यो ग्रीष्मे, वैश्यः शरदि—इति ब्राह्मणादीनां वसन्तादिभिः सम्बन्धो गम्यते, तेन वसन्तादिसम्बन्धार्था ब्राह्मणादयः

---

* निर्देशाद्वा इति क० न० पु० एवं का० धे० पु० पाठः ॥

† सामर्थ्याभावात् इति पाठः का० मी० पु० ॥

भा.—इत्येव गम्यते, तथा च आदधातिर्न वाक्येन शूद्रात् व्यावर्त्तितो भविष्यति। 'तस्मात्' 'बादरिः' 'सर्वाधिकारं' शास्त्रं मन्यते स्म'—इति गम्यते ॥

सू. अपि वान्यार्थदर्शनात् यथाश्रुति प्रतीयेत ॥ २८ ॥ (उ०) ॥

भा. अपि वा—इति पक्षो व्यावर्त्त्यते। यथाश्रुत्येव प्रतीयेत, ब्राह्मणादयो हि आधाने श्रूयन्ते, तेन ब्राह्मणादिकर्तृकम् आधानं, वसन्तादिश्रवणाच्च वसन्तादिकालकं। तथा च, इदं शूद्रवर्जितानामेव अनुक्रमणं भवति, 'बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य'—इति, शूद्रस्य साम न आमनन्ति। तथा 'पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागूराजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य'—इति, तथा आधाने 'अष्टसु प्रक्रमेषु ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, एकादशसु राजन्यः, द्वादशसु वैश्यः'—इति। एवम् अब्रह्मसामकम् अव्रतकम् अप्रक्रमकं च शूद्रस्य प्रयुक्तम् अपि कर्म निष्फलं स्यात्। तस्मात् न शूद्रो जुहुयात् यजेत वा ॥

सू. निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ॥ २९ ॥ (पुनः पू०) ॥

भा नैतदेवं,—शूद्रस्य अग्न्यभावात् अनधिकारोऽग्निहोत्रादिषु—इति। अस्ति हि शूद्रस्य आधानं, 'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते'—इति शास्त्रं सामान्येन। इदम् अपि निमित्तार्थं भविष्यति, तस्मात् सर्वाधिकारं शास्त्रं भवितुमर्हति—इति ॥

सू. वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ ३० ॥ (आ०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—अब्रह्मसामकं अव्रतकम् अप्रक्रमकं च शूद्रस्य कर्म प्रयुक्तम् अपि फलं न साधयेत् विगुणम्—इति, तत् परिहर्त्तव्यम् ॥

सू. न काम्यत्वात् ॥ ३१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा न एष परिहारः, काम्यत्वात्, कामयिष्यते शूद्रः अभीवर्त्तं नाम ब्रह्मसाम, तद्धि अनारभ्य किञ्चित् आम्नातं अविशेषेण, 'चतुर्विंशति आदधात्'—इति अनियतमक्रमेषु शूद्रस्य नियम्यते। व्रतेऽपि 'मस्तु शूद्रस्य'—इतिसम्बन्धदर्शनात् अध्यवसीयते, मस्तु एव शूद्रस्य। तस्मात् चातुर्वर्ण्यम् अधिक्रियेत ॥

सू संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥ ३२ ॥ (यु०) ॥

भा व्रते च विशेषोऽवगम्यते तत्प्राधान्यं (पुरुषप्राधान्यं हि व्रते)। 'किम् अतः, यत् पुरुषप्रधानता?'। एतदतो भवति, पुरुषप्रधानः संस्कारो न शक्नोति अनुपपद्यमाणः, तस्य अधिकारं व्यावर्त्तयितुम्। तत् कथम्?—इति। 'यजेत'—इति हि स्वर्गकामेऽभिधीयमाने तत्कामः शूद्रो न अभिहितः—इति कथं गम्यते? किं हि स यागस्य पुरुषनिवार्यं न निर्वर्त्तयति?। 'व्रतम्—इति चेत्'। न, सामर्थ्योपजननाय हि तत् यस्य एव उपेयात, तस्य एव तेन विना न सामर्थ्यं, नान्यस्य। एष एव हि व्रतस्य अङ्गभावो यत्, कर्त्तारं समर्थं करोति, यस्य तु तेन न प्रयोजनं, स तदनपेक्ष्यैव यागम् अभिनिर्वर्त्तयति। तस्मात् अपि अशूद्रवर्जनम् ॥

सू अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥ ३३ ॥ (उ०) ॥

भा एवं न प्रापकाणि श्रवणानि—इत्युक्तं, प्रवक्ष्यते तु यतुत् प्रापकाणि—इति, न च सूत्रकारेण तत् व्यपदिष्टं, नैमित्तिकेषु अपि तेषु सत्सु शक्य एव शूद्रपर्युदासो वक्तुम्—इति, न तदाहृतं, हेत्वन्तरं व्यपदिष्टम्। अपि वा—इति पक्षव्यावर्त्तनम्।

भा. शूद्रः—इति। नैष दोषः,—'विद्यानिर्देशात्, विद्यां निर्देक्ष्यति, अनुक्तामपि अध्येष्यते—इति, 'शक्यते हि अनुक्तमप्यध्येतुम्। तस्मात् चातुर्वर्ण्यस्याप्यधिकारः॥

सू. अवैद्यत्वादभावः कर्म्मणि स्यात्॥ ३७॥ (आ० नि०)॥

भा. न च एतदस्ति,—शूद्रोऽध्येष्यते—इति, प्रतिषिद्धम् अस्य अध्ययनं, 'शूद्रेण न अध्येतव्यम्'—इति, अधीयानस्यापि अध्ययनं सफलं न भवति, दोषश्च जायते। अतोऽवैद्यः शूद्रः, अस्य 'अभावः कर्मणि'—इति सिद्धम्।

अथापि वैद्यत्वेन सिध्येत्*, तथाप्यनग्नित्वात् 'अभावः कर्मणि स्यात्'। 'अथ कथम् अनग्निता?'—इति। मापकानि हि ब्राह्मणादीनामाधाने वाक्यानि। 'ननु 'य एवं विद्वानग्नि माधत्ते'—इति आधानस्य विधायकं; तत्र ब्राह्मणस्य, 'वसन्ते अग्निमादधीत'—इति निमित्तार्थानि वचनानि—इति गम्यते'। अत्र उच्यते,—'ब्राह्मणोऽग्निमादधीत'—इति श्रुत्या विधानं गम्यते। 'यः एवं विद्वान् अग्निमाधत्ते'—इति स्तुत्या, तत् आनुमानिकं प्रत्यक्षश्रुतात् दुर्बलं। तस्मात् मापकानि वचनानि, अतः शूद्रस्य अनधिकारः॥

सू. तथा चान्यार्थदर्शनम्॥ ३८॥ (यु०)॥

भा 'अन्यार्थदर्शनं' 'च' भवति, यथा शूद्रस्य न अध्ययनम्—इति। किं लिङ्गं भवति?। 'पद्यु वा एतत् श्मशानं, यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्रसमीपे न अध्येयम्'—इति अनध्ययनं शूद्रस्य दर्शयति। तस्मात् अपशूद्राणाम् अधिकारः। 'ननु आहवनीयादिनापि, यागो वचनप्रामाण्यात् शूद्रस्य विधीयते'।

---

* अवैद्यत्वेन न सिध्येत् इति का० कौ० पु० पाठः॥

भा. उच्यते, न अत्र यागसद्भावो विधीयते स्वर्गकामस्य, किं तर्हि स्वर्गफलता विशिष्टस्य यागस्य। तस्मात् असम्भवः शूद्रस्य अग्निहोत्रादिषु॥ (६।१।७ अ०)॥

---

यागे निर्धनस्यानधिकाराधिकरणम् ॥

सू. त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥ ३९ ॥ (पू०)॥

भा. अग्निहोत्रादिषु एव सन्देहः,—किम् अद्रव्यस्य अधिकारो न?—इति। उच्यते, 'त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नो' अधिक्रियेत, न अद्रव्यः। कुतः?। न हि शक्नोत्यद्रव्यो द्रव्यसंयुक्तं कर्म अनुष्ठातुम्। तस्मात् अद्रव्यस्य अनधिकारः॥

सू. अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥ ४० ॥ (सि०)॥

भा 'नैवं स्यात्', यदुक्तम्,—अद्रव्यस्य अनधिकारः—इति। कुतः?। 'अनित्यत्वात्',—अनित्यो द्रव्यसंयोगः, न हि कश्चित् जात्या अद्रव्य एव पुरुषः। अस्ति उपायो येन द्रव्यवान् भवति। यः शक्नोति यष्टुम्, तस्य 'यजेत'—इति वाचको भवति, यो न कथञ्चिदपि शक्नोति यागम् अभिनिर्वर्त्तयितुम्, तं न अधिकरोति 'यजेत'—शब्दः। यस्तु केनचित् प्रकारेण शक्नोति, न तं वर्जयित्वा प्रवर्त्तते। 'अर्थात्' च 'द्रव्यसंयोगः' भविष्यति, जीविष्यति विना धनेन—इत्येतत् अनुपपन्नम्। तस्मात् अर्थात् द्रव्यसंयोगः॥ (६।१।८ अ०)॥

---

यागेऽङ्गहीनस्याप्यधिकाराधिकरणम् ॥

सू अङ्गहीनस्य तद्धर्मा ॥ ४१ ॥

भा अग्निहोत्रादिषु एवाङ्गहीनं प्रति सन्देहः,—किम् असावधिक्रियते, उत न?—इति। तत्राप्यधिकरणातिदेशः। असमर्थः—इति कृत्वा पूर्वः पक्षः, शक्तेर्विद्यमानत्वात् उत्तरः। तदिदम् अभिधीयते,—'अङ्गहीनस्य तद्धर्मा'। किन्धर्मा?। अद्रव्यधर्मा—इति॥ (६।१।८ सू०)॥

---

अचिकित्स्याङ्गवैकल्यस्य यागानधिकाराधिकरणम॥

सू. उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्* ॥ ४२ ॥

भा यस्य तु अप्रतिसमाधेयमङ्गवैकल्यं, तं प्रति विचारः,—किं अधिक्रियते, न?—इति, पूर्वाधिकरणेन अधिक्रियते—इति प्राप्ते ब्रूमः,—न अधिक्रियते—इति। कुतः?। शक्त्यभावात्, न असौ केनचित् अपि प्रकारेण शक्नोति यष्टुम्, तस्मात् तस्य अधिकारो न गम्यते।

''ननु यत् शक्नोति, तत्र अधिक्रियते—इति, चक्षुर्विकलो विना आज्यावेक्षणेन, विना विष्णुक्रमैः पङ्गुः, विना प्रैषादिश्रवणेन च बधिरः, एतान् पदार्थान् प्रति चक्षुर्विकलादीनामनधिकारः'—इति। न—इत्युच्यते, न आज्यावेक्षणादि पुरुषं प्रति निर्दिश्यते, यदि हि तं प्रति निर्दिश्येत, ततो विकलोऽप्यधिक्रियेत, क्रतुम् प्रति एषाम् उपदेशः, प्रकरणाविशेषात्, पुरुषस्य च आख्यातेन अनभिधानात्—इति, उक्तमेतत् "विधिर्वा संयोगान्तरात्"—(२।४।१२ सू०) इत्यत्र। तत्र

---

* "उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् आज्यादीनामनधिकारोऽप्रतिसमाधेयत्वात्। इतरेषामनवस्थितत्वात् पूर्वो न्यायः" इति वार्त्तिकमत्रानुसन्धेयम्॥

भा. विना विगुणं कर्म प्रयुक्तमपि न फलं साधयेत्। तस्मात् तस्य अनधिकारः॥ (६।१।१० अ०)॥

---

दर्शपूर्णमासयोः च्यार्षेयस्यैवाधिकाराधिकरणम्॥

सू. अ-त्र्यार्षेयस्य हानं स्यात्॥ ४३॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'आर्षेयं वृणीते, एकं वृणीते, द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते'*—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अत्र्यार्षेयस्य अधिकारः उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—अत्र्यार्षेयोऽप्यधिक्रियते—इति। कुतः?। 'आर्षेयं वृणीते'—इति सामान्यवचनम्, तस्मात् एकं वरिष्यति द्वौ वा, तत्र दर्शयति, 'एकं वृणीते द्वौ वृणीते'—इति तथा प्रतिषेधति, 'न चतुरो वृणीते'—इति 'न पञ्चातिवृणीते'—इति। न हि अप्राप्तस्य प्रतिषेधोऽवकल्पते। तस्मात् अत्र्यार्षेयोऽप्यधिक्रियेत।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यो न त्र्यार्षेयः, स न अधिक्रियेत। कुतः?। 'त्रीन् वृणीते'—इति विशेषवचनात्, विधिश्च अप्राप्तत्वात्। 'ननु 'एकं वृणीते'—इत्यपि विशेषवचनमस्ति'। न—इत्युच्यते, विधायिकाया विभक्तेरभावात्। 'ननु स्तुत्या विधास्यन्ते, यथा 'त्रीन् वृणीते'—इति। उच्यते, त्रयाणामेव स्तुतिः, सा त्रित्वं विधास्यति। 'एकं वृणीते'—इत्यवयुत्यवादोऽयं त्रयाणामेव, तत्रापि त्रित्वमेव श्रूयते विधातुम्। एवम् एकवाक्येन विधानं भविष्यति—इति। 'न चतुरो वृणीते, न पञ्चातिवृणीते'—

---

* ऋषिर्गोत्रप्रवर्त्तकः कश्यपभरद्वाजादिस्तस्य सम्बन्धि आर्षेयं वृणीते उच्चारयति, कश्यपगोत्रोऽयं भरद्वाजगोत्रोऽयमिति तदुच्चारणम्। एकमार्षेयमुच्चारयति भरद्वाजवत्। द्वावार्षेयावुच्चारयति उपमन्युवसिष्ठगोत्रोऽयमित्यादि, त्रीन् आर्षेयानुच्चारयति आङ्गिरस-बार्हस्पत्यभारद्वाजगोत्रोऽयमित्यादय इति न्यायमालानुसन्धेया॥

भा इति नित्यानुवादो भविष्यति। तस्मात् चार्थ्यस्य अधिकारो नान्यस्य—इति॥ (६।१।१२ अ०)॥

---

चातुर्वर्ण्यातिरिक्तस्य रथकारस्याधानेऽधिकाराधिकरणम्॥ (रथकारन्याय)॥

सू वचनाद्रथकारस्याधानेऽस्य* सर्व्वशेषत्वात्॥ ४४॥ (सि०)॥

भा आधाने श्रूयते,—'वर्षासु रथकार आदधीत'—इति। तत्र सन्देह —किं त्रैवर्णिकानामन्यतमो रथकार, आहोस्वित् अत्रैवर्णिक ?—इति। किं प्राप्तम्?—'रथकारस्य' अत्रैवर्णिकस्य आधानमेतत्। कुत ?। 'वचनात्', न हि वचनस्य किञ्चित् अशक्यमस्ति†, सर्वशेषस्य अत्रैवर्णिक आधाने‡, ब्राह्मणराजन्य विशामुक्तम् आधान, परिशेषात् अत्रैवर्णिको रथकार स्यात्॥

सू न्याय्यो वा कर्म्मसंयोगात् शूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात्॥ ४५॥ (पू०)॥

भा 'न्याय्यो वा' स्यात्, त्रैवर्णिको रथकार रथकर्मणा विशेषेण उच्यते, शूद्रो हि असमर्थत्वात् प्रतिषिद्ध। तस्मात् त्रैवर्णिको रथकार स्यात्॥

सू अकर्म्मत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ४६॥ (उ०)॥

भा नास्ति त्रैवर्णिको रथकार, प्रतिषिद्ध हि तस्य शिल्पोपजीवित्व, अत्रैवर्णिकस्त्वस्ति। तस्मात् वचनप्रामाण्यात् स आधास्यते॥

---

* आधानस्य इति का० मु० पु० पाठ। आधाने इति का० सो० पु० पाठ॥
† अशक्यमस्ति इति का० धा० पु० पाठ॥
‡ आधानम इति का० सो० पु० पाठ॥

सू. आनर्थक्यं च संयोगात् ॥ ४७ ॥ (यु०) ॥

भा. ब्राह्मणादिषु वसन्तादयो नियताः, तान् प्रति वर्षा उच्यमाना अप्यसम्बन्धात् आनर्थक्यं प्राप्नुयुः। तस्मात् अत्रैवर्णिको रथकारः —इति ॥

सू. गुणार्थेनेति चेत् ॥ ४८ ॥ (आ०) ॥

भा. एवं चेत् पश्यसि,—नास्ति त्रैवर्णिको रथकारः, प्रतिषिद्धत्वात् शिल्पोपजीवित्वस्य—इति। 'गुणार्थेन'* कश्चित् भविष्यति रथकारो वैतस्येन, तस्य इदम् आधानं विधास्यते ॥

सू. उक्तमनिमित्तत्वम् ॥ ४९ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. उक्तम्, एतत् अस्माभिः,—न निमित्तार्थान्येतानि श्रवणानि —इति। 'किम् अतो यदि न निमित्तार्थानि?'। एतत् अतो भवति, प्रापकाणि—इति, प्रापितत्वात् तेषाम् आधानस्य, पुनः प्रापकम् अनर्थकं, तेन यस्य अप्राप्तं, तस्य भविष्यति—इति। 'अथ उच्येत, एतदेकं निमित्तार्थं भविष्यति'—इति। नैतदेवम् अवकल्पते, वसन्तादिसंयुक्तं तत् कर्मामिव वर्षाभिः सम्बध्येत। अपि च, प्रापकपक्षे आधानं विधीयते श्रुत्या, निमित्तपक्षे पुनर्वर्षा विधातव्याः वाक्येन, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी—इति। तस्मात् अत्रैवर्णिकस्य इदम् आधानम्—इति ॥

सू. सौधन्वनास्तु हीनत्वात् मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन् ॥ ५० ॥ (रथ सि०)॥

भा. न तु सर्व एव अत्रैवर्णिको रथकारः, 'सौधन्वनाः'—इत्येव

---

* गुणार्थेनेम इति का० मो० पु० पाठः ॥

भा जातिवचनः शब्दः, सौधन्वना नाम जातिः अभिधीयते, हीनास्तु किञ्चित् त्रैवर्णिकेभ्यः, जात्यन्तरं, न तु शूद्राः, न वैश्या, न क्षत्रियाः, तेषाम् इदमाधानम्। 'कथम् अवगम्यते?'। मन्त्रवर्णाच्च, मन्त्रवर्णो हि भवति, 'सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षस'—इति, 'ऋभूणान्तु'—इति रथकारस्य आधानमन्त्रः, तस्मात् सौधन्वना ऋभवः—इति, ऋभवश्च रथकाराः। अपि च 'नेमिं नयन्ति ऋभवो यथा'—इति ये नेमिं नयन्ति ते ऋभवः—इत्युच्यन्ते, रथकाराश्च नेमिं नयन्ति। तस्मात् अत्रैवर्णिकानाम् अशूद्राणाम् एतत् आधानम्—इति॥ (६।१।१२ अ०)॥

---

त्रैवर्णिकभिन्नस्य निषादस्य रौद्रयागेऽधिकाराधिकरणम्॥ (निषादस्थपतिन्याय)॥

सू स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्॥ ५१॥

भा 'वास्तुमध्ये रौद्रं चरुं निर्वपेत्, यत्र रुद्रः प्रजाः शमयेत्'—इत्येताम् इष्टिं प्रकृत्य उच्यते, 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'—इति। निषादस्थपतिं प्रति सन्देहः,—किम् अधिहिताग्नीनाम् अन्यतमः, उत अन्य एव?—इति। अन्यतम'—इति ब्रूमः, स हि समर्थः, विद्वत्त्वात् अग्निमत्त्वाच्च, अन्योऽविद्वत्त्वाद् नग्नित्वात् असमर्थः—इति।

'ननु निषादस्थपतिशब्दस्तथ नोपपद्यते'। उच्यते,—न, नोपपद्यते, निषादानां स्थपतिः—इति षष्ठीसमासो भविष्यति, ऐष्टो निषादानाम्। तस्मात् अधिहिताधिकारम् एतत् ग्रासम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्', निषाद एव स्थपतिर्भवितुमर्हति। कस्मात्?। 'शब्दसामर्थ्यात्', निषादं हि निषादशब्दः शक्नोति वदितुम् श्रवणेनैव, निषादानाम्तु स्थपतिं लक्षणया ब्रूयात्। श्रुतिलक्षणा-

भा. विशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। 'अथ उच्यते,—नैष दोषः, निषादशब्दो निषादवचन एव, षष्ठी सम्बन्धस्य वाचिका'—इति। तन्न, षष्ठ्यश्रवणात्, न अत्र षष्ठीं शृणुमः। 'आह, लोपसामर्थ्यात् षष्ठ्यर्थोऽवगम्यते'—इति। सत्यमवगम्यते, न तु लोपेन। केन तर्हि?। निषादशब्दलक्षणया, तस्याश्च दौर्बल्यम्—इत्युक्तम्। समानाधिकरणसमासस्तु बलीयान्। तत्र हि स्वार्थे शब्दौ वृत्तौ भवतः*। द्वितीया च विभक्तिः तन्त्रेण उभाभ्यां सम्बध्यते, तेन द्वितीयानिर्दिष्टो निषादो गम्यते। तत्र षष्ठ्यर्थं कल्पयन् अश्रुतं गृह्णीयात्। तस्मात् निषाद एव स्थपतिः स्यात्॥

सू. लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५२ ॥

भा. लिङ्गं दृश्यते, 'कूटं दक्षिणा'—इति निषादस्य द्रव्यं दर्शयति। कूटं हि निषादानाम् एवोपकारकं, न आर्याणाम्, एवं स्वमेव तन्निषादानाम्—इति॥ (६।१।१३ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य प्रथमः पादः॥

---

* "षष्ठ्या लोपे नास्ति प्रमाणं, यतो राजपुरुष इत्यत्रापि राजा स्वामी पुरुषपदेनोद्दिष्टो विशेष्य कर्तव्य, तत्रापि षष्ठीश्रवणमेव नास्ति, किन्तु स्वस्वामिसम्बन्धात् षष्ठ्यर्थमारोप्य तदा समासो भवति। राज्ञः पुरुष इति वाक्यम् अर्थघटनार्थम्" इति वार्तिककृतामनुसन्धेयम्॥

## षष्ठे अध्याये द्वितीयः पादः ॥

सत्रे प्रत्येकस्य सत्रिणः फलसम्बन्धाधिकरणम् ॥१॥

सू पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् तस्य तस्याधिकारः स्यात् ॥१॥ (सि०) ॥

भा 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्', 'ऋद्धिकामा उपेयुः', तथा, 'त एव तथैवंकामाः सत्रम् उपेयुः', 'सप्तदशावराः चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन्'—इति। तेषु सन्देहः,—किं तस्य तस्य कृत्स्नेन फलेन अर्थिनः सत्रे अधिकारः, उत पर्यायेणार्थिन्या अधिकारः?—इति। 'आह, ननु अर्थिनो बहुसंख्याविशिष्टा निर्दिश्यन्ते, कथम् एषाम् एकशोऽधिकारो भविष्यति?—इति'। उच्यते, 'ऋद्धिकामाः'—इत्येवमादि विधीयमानम् ऋद्धिलक्षितेषु समस्तेषु व्यस्तेषु च प्राप्तं न शक्यं बहुवचनेन विशेषेऽवस्थापयितुम्, तेन तं तमधिकुर्यात् पर्यायं वा?—इति भवति सन्देहः।

किं तावत् प्राप्तम्?—एकैको न समर्थो यज्ञकर्तृकं सत्रम् रचयितुम्* पर्यायेणतु कर्तॄनर्थिनोऽवगच्छामः। न च अकर्तुः फलं भवति, न च एकः कर्त्ता उच्यते, तस्मात् समस्तानां फलम्। एकैकस्य फलावयवः, नाधिकं स्यात् कृत्स्नं फलम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः, 'तस्य तस्य' अर्थिनः कृत्स्नं फलं सत्रात् निष्पद्यते। कुतः?। पुरुषार्थस्य एकैकस्य सिद्धिर्यतो भवति, यद् क्रियमाणे सर्वः एकैकः पुरुषार्थं साधयति सत्रेण, कर्तृणाम् फलं च भवति, एकैकश्च अत्र कर्त्ता।

---

* सम्पादयितुम् इति का० मी० पु० पाठः ॥

भा. 'आह, ननु एतत् उक्तम्,—एकैको न शक्नोति बहुकर्तृकं कर्तुम्'—इति। उच्यते, शक्नोति एकैकस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां, यदा एकैकः स्वातन्त्र्येण प्रवर्त्तते, तदा अन्यान् सङ्गानिर्वृत्त्यर्थं सामादिभिः प्रयोच्यते। एवम् एकः पुरुषार्थं साधयति, इतर इतरस्य, तेन सर्वे कर्त्तारः सव्यपेक्षा भविष्यन्ति। सर्वे चेत् कर्त्तारः, पृथक् पृथगेव फलेन सम्भंत्स्यन्ते॥

सू. अपि चोत्पत्तिसंयोगो यथा स्यात् सत्वदर्शनं, तथा भावो विभागे स्यात्॥ २॥ (यु०)॥

भा. 'अपि च' नैतत् विरुद्धं, यदेकं कर्म बहुभिः क्रियते—इति। 'यदि उच्येत, विरुद्धम्, एकेन कर्मणि कृते द्वितीयः किं कुर्यात्?'—इति। अत्र उच्यते,—पर्यायेण क्रियायाम् एवं दोषः, तन्त्रेण तु क्रियायां भवति कश्चित् सम्भवः, 'यथा स्यात् सत्वदर्शनं तथा भावो विभागे स्यात्',—यथा एकैकस्य सत्वस्य हस्तिनोऽश्वस्य वा दर्शनम् एकैकेन कृत्स्नमभिनिर्वर्त्त्यते; एवमेव सत्त्वे तन्त्रभावो भवेत्, सर्वेषां मथकं द्रव्यं, मथकस्य आहवनीयस्योपरि अध्वर्युः अपविध्यति, तत्र सर्वे कर्त्तारः तन्त्रेण भवन्ति।

न च अत्र उत्पन्नसंयोगः, उत्पत्त्यैव तु सङ्ख्यया कर्म संयुज्यते, यदि हि उत्पन्नं संयुज्येत, ततोऽनेकसम्बन्धार्थम्—इति वचनं गम्येत, उत्पत्तिसंयोगे त्वेतन्नास्ति, तस्मात् एकैकस्य कृत्स्नेन फलेन अभिसम्बन्धः—इति॥ (६।२।१ अ०)॥

---

दर्शादौ कर्त्रैक्यनियमाधिकरणम्॥

सू. प्रयोगे पुरुषश्रुतेः यथाकामी प्रयोगे स्यात्॥ ३॥ (पू०)॥

भा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग-

भा. कामो यजेत'—इति श्रूयते। अत्र सन्देहः,—किम् अनियमेन एको द्वौ बहवो वा यजेरन्, अथ वा एक एव यजेत?—इति। 'ननु तृतीये (७ पा०। १८ सू०) उक्तं "आरुफलं प्रयोक्तरि" —इति'। यदा प्रयोक्तरि, तदा विवक्षितम् एकत्वं यथा, तथा वक्ष्यामः इह तु तदेवाक्षिप्यते, पुनश्च निर्णेष्यते—इति।

किं प्राप्तम्?—'यथाकामी प्रयोगे स्यात्'। कुतः?। 'पुरुष श्रुतेः', पुरुषः श्रूयते, पुरुषे यागं भावयित्वा ज्ञातार्थः शब्दः एकस्य द्वयोर्बहूनां वा यागं न वारयति। न असौ पुरुषो यागे श्रूयते,—यागमभिनिर्वर्त्तयेत्, यागेन वा फलम् अभिनिर्वर्त्तयेत् —इति, कथन्तर्हि?—यागेन फलं प्राप्नुयात्—इति, यागस्य वा फलनिर्वर्त्तने वा नाङ्गं पुरुषः, यदि हि अङ्गम् अभविष्यत् यागे फलनिर्वृत्तौ वा, तदा सङ्ख्या गुणभूता तदङ्गं पुरुषं परिच्छिन्द्यात्। अथ पुनः अनङ्गीभूतं पुरुषं प्रकाशयत् लक्षणत्वेनैव पुरुषेऽभिसम्बध्येत, न गुणवचनतया; तत्र च अविवक्षितं सङ्ख्यावचनं, यावान् अर्थो समर्थस्य तावन्तं सर्वमधिष्ठाय एतत् उच्यमानं न शक्यते एकेन वचनेन विशेषयितुम्। 'कथं च पुरुषप्राधान्यम्?'। न फलोत्पत्त्या किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, न यागोत्पत्त्या, आत्मा तु फलसम्बद्धः सर्वस्य इष्टः, तदर्थं कर्म कर्त्तव्यम्, इतरथा उच्यमानमपि न क्रियेत, तत्र वचनानर्थक्यं स्यात्, तस्मात् यथाकाम्यं स्यात्,—एको द्वौ बहवो वा यजेरन्—इति, तथा च दर्शयति,—'युवं हि स्थः स्वर्पती—इति द्वयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्'—इति, 'एते असृग्रमिन्दवः —इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः'—इति द्वयोः बहूनां च यागं प्रदर्शयति॥

सू प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत्॥ ४॥ (आ०)॥

भा 'इति चेत्', इदं चेत् पश्यसि, 'प्रत्यर्थं श्रुतिभावः' स्यात्,

भा. यागमभिनिर्वर्त्तयेत् ततश्च फलं प्राप्नुयात्—इति। कुतः?। एतत् उभयं हि एतस्मात् अवगम्यते, कतरदत्र जह्मीमः?—इति न अध्यवस्यामः। तस्मात् उभयमपि प्रत्येतव्यम्। 'आह, ननु अनेकार्थवचनता न न्याय्या'—इति। उच्यते, यत् अवगम्यते तन्नाय्यम्, उभयं च प्रतीयते, तस्मात् उभयार्थवचनतैव न्याय्या। यागं प्रति च गुणभावात् विवक्षितम् एकवचनम्॥

सू. तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात् कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ॥ ५ ॥ (आ॰ नि॰) ॥

भा. नैतदेवं, 'तादर्थ्ये' पुरुषे प्रधानभूते* सति न अङ्गभूतः पुरुषः प्रतीयते, 'अनुक्ते' हि न्याये न प्रतीमः अर्थान्तरं, यतः गुणभावात् प्रधानभावः, प्रधानभूतश्च अत्र कर्त्ता, वचनस्य अर्थवत्वात्, अतो न गुणभावः कर्तुः अवकल्पते, चोदनैकत्वात्, एका हि विधायिका चोदना, सा यदि फलोत्पत्तिं वा यागोत्पत्तिं वा विधत्ते, तदा कर्त्ता न स्वार्थेन, यदा पुनः स्वार्थेन, तदा यागः फलं वा तादर्थ्येन, न च एतत् यौगपद्येन भवति, स्वार्थं एकः, तदर्थं इतरो वैपरीत्येन वा—इति, यथा उभाभ्यां बाहुभ्याम् इषून् अस्यति देवदत्तः—इति गम्यते, न च यौगपद्येन, यदा दक्षिणेन अस्यति, तदा सव्येन धनुःपृष्ठं नमयति, न तेन अपि अस्यति—इति गम्यते, तत्र व्यापृतत्वात्। एवं यदा पुरुषप्राधान्यं, तदा यागस्य फलस्य वा गुणभावो गम्यते, तत्र व्यापृतत्वात् न तयोः प्राधान्यमपि गम्यते। तस्मात् न यागे फले वा पुरुषस्य गुणभावः, अतो यथाकाम्यं स्यात्, एको द्वौ बहवो वा यजेरन्—इति॥

* पुरुषप्राधान्ये इति का॰ कौ॰ पु॰ पाठः ॥

सू अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात्प्रयोगायोपदिश्येत, प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणावत् ॥ ६ ॥ (सि०) ॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः, 'प्रयोगायोपदिश्येत' कर्त्ता, न स्वार्थेन। कथम्?। 'यजेत' इत्यस्यार्थः यागं कुर्यात्, यागेन वा कुर्यात्—इति, सत्ताभिव्यक्तिमात्रं गम्यते, न फलस्य कर्त्ता धाता वा, स्वर्गकामशब्दश्च स्वर्गकाममात्रे वर्त्तते, न विशेषम् अवलम्बते, आत्मनः परस्य वा—इति,* शब्दप्रमाणकाश्च वयम् ईदृशेषु अर्थेषु। 'कथन्तर्हि कामस्य आत्मसम्बन्धोऽवगम्यते?'। 'सम्बन्धात्', फलकामोऽनुक्तेऽपि शब्देन, आत्मनः एव फलं कामयते, न परस्य. यत्र तु उभावर्थौ वक्तव्यौ भवतः, 'प्रत्यर्थं' तत्र विधिः श्रूयते, यथा 'कृष्णविषाणया कण्डूयति', चात्वाले कृष्णविषाणाम् प्रास्यति'—इति। यत्र एवं द्वे श्रुती विधायकौ भवत', तत्र गुणभावः प्राधान्यं च गम्यते। न त्वत्र एवं द्वे विधायिके श्रुती विद्येते, गुणभूतस्तु पुरुषः श्रूयते 'भावयेत्'—इति, तत्र यज्यर्थः करणं; कर्म वा। सम्बन्धात्तु पुरुषप्राधान्यं, न कस्यचित् सुखेन उत्पन्नेन प्रयोजनं, सुखसम्बन्धेन आत्मनस्तु कृत्यम्। तस्मात् सम्बन्धात् पुरुषप्राधान्यं गम्यते, न श्रुतेः। अतो गुणभूतस्य पुरुषस्य सङ्ख्या विवक्षिता—इति॥

सू अन्यस्य† स्यादिति चेत् ॥ ७ ॥ (आ०) ॥

भा 'इति चेत्' भवान् पश्यति, एवं सति यदि स्वर्गकामः अन्यस्य अपि स्वर्गं कामयमानो भवति, अन्यस्य स्वर्गं कामयमानोऽपि अन्यो यजेत, तत्र पूर्वोक्तो न्यायः प्रत्युद्धृतो भवति, "शास्त्रफलं प्रयोक्तरि"—इति ॥

* स्वर्गप्रतीतिमात्रे स्वर्गकामशब्दो वर्त्तते इत्यधिक पाठ आ० को० पु० ॥
† अन्य इति का० को० पु० पाठ ॥

सू. अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा न परस्य स्वर्गकामः—इत्येवं न यजेत, न, अन्यस्य स्वर्गकामशब्दो न वाचकः—इति; कथन्तर्हि?—फलमसौ न प्राप्नोति—इति। कथं पुनः फलस्य अप्राप्तिः?। उपयहविशेषश्रवणात्, 'यजेत'—इति, यद्वा आधाने, 'ब्राह्मणो वसन्तेऽग्निमादधीत'—इति, तदा तु कामश्रुतौ उपयहोऽनुवाद एव॥

सू फलकामो निमित्तमिति चेत् ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा एवं 'चेत्' भवान् मन्यते, न स्वर्गकामशब्दो न वाचकः—इति, अन्यो न यजते फलाभावात्, न अस्य यागः—इति, सूक्तवाकफलार्थितया तर्हि यजेत, 'आशास्तेऽयं यजमानः आयुराशास्ते'—इति प्रयोजयितारं निर्दिश्यति होता, फलविधिश्च 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'—इति विधानात्, यदि फलविधिः अयं मान्त्रवर्णिकः, तर्हि सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रहृतो भवति, इतरथा अदृष्टं कल्पेत। तस्मात् आनुषङ्गिकफलार्थम् अन्यस्य स्वर्गकामोऽन्यो यजेत—इति॥

सू न नित्यत्वात् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदस्ति, यस्य एव प्रधानकर्मफलं, तस्य एव आनुषङ्गिकमपि भवितुमर्हति, एवं सार्थेन आधानं हतं भवति, न हि आधानस्य सार्थतायाम् अस्ति विशेषः प्रधानफलं वा आनुषङ्गिकं वा सर्वमेव आधातरि समवेतुमर्हति, नित्यकाम्यता च विरुध्येत, यद्यायुरादिकामो यजेत, न तर्हि नित्यं, यदि नित्यं न आयुरादिकामः। तस्मात् न अवस्थितो न्यायः प्रत्युधियेत, न च पुरुषः प्रधानभूतश्चोद्यते गुणभावात्तु अस्य विवक्षितमेकत्वम्। तस्मात् एक एव यजेत॥

सू.　**कर्म तथेति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥**

भा.　अथ यदुक्तं, द्वयोर्बहूनाञ्च यागं दर्शयति,—'युवं हि स्थः स्वःपती—इति द्वयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्', 'एते असृग्रमिन्दवः—इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात्'—इति द्वियजमानके बहुयजमानके च कर्मणि प्रतिपद्विधानं 'कर्म' 'तथा' युक्तं स्यात्—इति, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

सू.　**न समवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥**

भा.　नैतदेवं, समवेतं हि कर्म विद्यते द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बहुभिश्च यजमानैः, वचनेन, यथा अहीनाः, तेषु प्रतिपद्विधानम् अर्थवत् भविष्यति। तस्मात् एको यजेत—इति॥ (६।२। २ अ०)॥

---

आरब्धकाम्यकर्मणोऽपि समाप्तिनियमाधिकरणम् ॥

सू　**प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥**

भा.　'प्रजाकामो यजेत', 'ग्रामकामो यजेत'—इत्येवमादि कर्म समाम्नायते। तत्र सन्देहः,—किं प्रकान्तं नियोगतः समापनीयम्, उतेच्छया कार्यं त्र्येयं वा?—इति। किं प्राप्तं?—नियोगतः परिसमापयितव्यम्—इति। कुतः?। एवं हि श्रूयते, —इदं कामो यजेत—इति, एव तस्य आख्यातस्य अर्थम् उपदिशन्ति, 'उपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम् आह'—इति, उपक्रमादारभ्य यावत् परिसमाप्तिः—इत्येतावान् व्यापारविशेषः तस्य अर्थः, न यथा पाकः त्यागः—इति। तत्र हि पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते, न आरभ्य परिसमापयितव्यम्—

भा इति। एवं च आख्यातार्थे लौकिका अपि प्रतिपद्यन्ते, तत्र न आरम्भे पुरुषप्रयत्नः चोद्यते—इति गम्यते। यतश्चोदितं न नियोगत आरभन्ते, नियोगतः पुनः परिसमापयन्ति, तेन नोभे आरम्भपरिसमाप्ती शब्दार्थः, किन्तर्हि?—परिसमाप्तिः शब्दार्थः, परिसमाप्तसामर्थ्यप्राप्तत्वात् आरम्भस्य। तस्मात् परिसमाप्तिः शब्दार्थः—इति गम्यते। सा चेत् शब्दार्थः, सा कर्त्तव्यतया चोद्यते, आरम्भे नास्ति कर्त्तव्यतावचनं; तेन न नियोगत आरम्भः, नियोगतस्तु परिसमाप्तिः। तेन उपक्रान्ते कर्मणि यदि वीयात् फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलं, तस्यामप्यवस्थायां, कर्त्तव्यमेव उपक्रान्तस्य परिसमापनम्।

'ननु अर्थिनो योऽर्थः, सोऽत्र कर्त्तव्यतयोच्यते'। नैतदेवं, वाक्यार्थो हि स भवति, यागस्य तु कर्त्तव्यता श्रुत्या गम्यते, तस्मात् ग्रामकामेन याग आरब्धः परिसमापनीयः, ग्रामादिकामनावचनं निमित्तत्वेन तदा भवति, निमित्ते च उत्पन्ने यत् कर्त्तव्यम्—इत्युच्यते, तद्विनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यमेव, उपक्रान्तस्य समापनं कर्त्तव्यम्—इति चोद्यते, तद्विनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यम्, न हि तद्विनष्टम् अनुत्पन्नं भवति, उत्पत्तिश्च निमित्तं न भावः। तस्मात् वीतायामपि फलेच्छायाम् उपक्रान्तं परिसमापयितव्यम्। क्रियाया हि निमित्तम् आरम्भः, सोऽपि परिसमाप्तेः—इति॥

सू फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥ १४ ॥ (पू०)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'अनियमो' 'वा'। कस्मात्?। 'फलार्थित्वात्' फलार्थिनः (फलं चिकीर्षमाणस्य) उपायोऽयं विधीयते, न कर्त्तव्यता, सा हि विधीयमाना फलस्य वा यागस्य वा स्यात्, फलस्य न तावत् वक्तव्या, न हि यो यत् कामयते तस्य तत् कर्त्तव्यता उपदेष्टव्या, वेदैवासौ

सू. कर्म्म तथेति चेत् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तं, द्वयोर्बहूनाञ्च यागं दर्शयति,—'युवं हि स्थः स्वःपती—इति द्वयोः यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्', 'एते असृग्रमिन्दवः—इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यात्—इति द्वियजमानके बहुयजमानके च कर्मणि प्रतिपद्विधानं 'कर्म' 'तथा' युक्तं स्यात्—इति, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

सू. न समवायात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. नैतदेवं, समवेतं हि कर्म विद्यते द्वाभ्यां यजमानाभ्यां बहुभिश्च यजमानैः, वचनेन, यथा अहीनाः, तेषु प्रतिपद्विधानम् अर्थवत् भविष्यति। तस्मात् एको यजेत—इति ॥ (६।२। २ अ०) ॥

---

आरब्धकाम्यकर्म्मणोऽपि समाप्तिनियमाधिकरणम् ॥

सू प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा. 'प्रजाकामो यजेत', 'ग्रामकामो यजेत'—इत्येवमादि कर्म समाम्नायते। तत्र सन्देहः,—किं प्रक्रान्तं नियोगतः समापनीयम्, उतेच्छया कार्यं त्याज्यं वा?—इति। किं प्राप्तं?—नियोगतः परिसमापयितव्यम्—इति। कुतः?। एवं हि श्रूयते,—इदं कामो यजेत—इति, एवं तस्य आख्यातस्य अर्थम् उपदिशन्ति, 'उपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम् आह'—इति, उपक्रमादारभ्य यावत् परिसमाप्तिः—इत्येतावान् व्यापारविशेषः तस्य अर्थः, न यथा पाकः त्यागः—इति। तत्र हि पाकसत्तामात्रं निर्दिश्यते, न आरभ्य परिसमापयितव्यम्—

भा इति। एवं च आख्यातार्थं लौकिका अपि प्रतिपद्यन्ते, तत्र न आरम्भे पुरुषप्रयत्नः चोद्यते—इति गम्यते। यतश्चोदितं न नियोगत आरभन्ते, नियोगतः पुनः परिसमापयन्ति, तेन नोभे आरम्भपरिसमाप्ती शब्दार्थः, किन्तर्हि?—परिसमाप्तिः शब्दार्थः, परिसमाप्तसामर्थ्यप्राप्तत्वात् आरम्भस्य। तस्मात् परिसमाप्तिः शब्दार्थः—इति गम्यते। सा चेत् शब्दार्थः, सा कर्त्तव्यतया चोद्यते, आरम्भे नास्ति कर्त्तव्यतावचनं; तेन न नियोगत आरम्भः, नियोगतस्तु परिसमाप्तिः। तेन उपक्रान्ते कर्मणि यदि भीयात् फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलं, तस्यामप्यवस्थायां, कर्त्तव्यमेव उपक्रान्तस्य परिसमापनम्।

'ननु अर्थिनो योऽर्थः, सोऽत्र कर्त्तव्यतयोच्यते'। नैतदेवं, वाक्यार्थो हि स भवति, यागस्य तु कर्त्तव्यता श्रुत्या गम्यते; तस्मात् ग्रामकामेन याग आरब्धः परिसमापनीयः; ग्रामादिकामनावचनं निमित्तत्वेन तदा भवति, निमित्ते च उत्पन्ने यत् कर्त्तव्यम्—इत्युच्यते, तद्विनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यमेव, उपक्रान्तस्य समापनं कर्त्तव्यम्—इति चोद्यते, तद्विनष्टेऽपि निमित्ते कर्त्तव्यम्, न हि तद्विनष्टम् अनुत्पन्नं भवति, उत्पत्तिश्च निमित्त न भावः। तस्मात् वीतायामपि फलेच्छायाम् उपक्रान्तं परिसमापयितव्यम्। क्रियाया हि निमित्तम् आरम्भः, योऽपि परिसमाप्तेः—इति॥

सू. फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ॥ १४ ॥ (पू०)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'अनियमो' 'वा'। कस्मात्?। 'फलार्थित्वात्' फलार्थिनः (फलं चिकीर्षमाणस्य) उपायोऽयं विधीयते, न कर्त्तव्यता, सा हि विधीयमाना फलस्य वा वा स्यात्, फलस्य न तावत् वक्तव्या, न हि यो यत् तस्य तत् कर्त्तव्यता उपदेष्टव्या, वेदैवासौ मयैवैतत्

भा —इति, उपायं तु न वेद, तमाकाङ्क्षते, इदम् उपदिश्यते,—यागः उपायः—इति, यागेन क्रियते—इति। न च यागस्य कर्त्तव्यता, प्रत्यक्षविरोधात्, प्रत्यक्षस्तु क्लेशो यागः, यदि यागेन अन्यस्य कर्त्तव्यता, तदा न विरोधः; यागकर्त्तव्यतायां फलं कल्प्यं, न च, कल्प्यमानस्य प्रमाणमस्ति?। कर्त्तव्यो पदेशस्तु भक्ष्यादिषु अर्थेषु भवति, तस्मात् न यागः कर्त्तव्यः। फलकामस्य यत् इष्टं तत् कर्त्तव्यमनूद्य यथाप्राप्तम् यागस्य साधनता विधीयते, तेन न अवश्यं समापनीयं भवति, यथा अनुपक्रान्तं न अवश्योपक्रमितव्यम्, एवम् उपक्रान्तं न अवश्यं समापयितव्यम्। यत्तु वाक्यार्थः श्रुत्या बाध्यते—इति, यत्र श्रुत्यर्थो न सम्भवति, तत्र वाक्यार्थो गृह्यते—इत्युक्तमेव। तस्मात् अनियमः॥

सू नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात्॥ १५॥ (उ०)॥

भा आरम्भो हि निमित्तं समाप्तेः। कथं?। 'तत्' 'कर्तुः कारणं स्यात्'। किं कारणम्?। सत्यसङ्कल्पता, यो हि आरब्धमेव-ञ्जातीयकं समापयति, न तं शिष्टा विगर्हन्ते,—प्राक्रमिकोऽयम् असंव्यवहार्यः—इति, शिष्टविगर्हणा च दोषः। तस्मात् आरभ्य समापयितव्यम्। 'आह, शिष्टाः पुनः किमर्थं विगर्हन्ते—इति। उच्यते,—विगर्हन्ते तावत्, किं नो विदितेन कारणेन? —इति*॥ (६।२।३ अ०)॥

---

* अत्र ' न च स्मार्तमेव मूलात् विना विगर्हन्ते शिष्टाः, अशिष्टा एव ते स्युः यदि विगर्हेयुः विना कारणेन, न च सर्वेषामाचार्याणां धर्मप्रशिक्षितचेतसामशिष्टत्वं शक्यमङ्गीकर्तुम् अतः शिष्टाचारात् विगर्हणरूपा स्मृतिः स्मृते श्रुतिं कल्पयते—प्रक्रान्तमारब्धं कर्म अवश्यं समापनीयमिति। किञ्च तैत्तिरीयशाखायामन्यपरं वचनमस्ति, यत् प्रक्रम्य असमापनमभिलक्ष्य प्रायश्चित्तं विधत्ते 'देवताभ्यो वा एष आवृश्च्यते यो 'यक्ष्ये

आरब्धलौकिककर्मणः समाप्तेरनियमाधिकरणम् ॥

सू. लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा. केनचित् गृहम् उपक्रान्तं भवति शकटं रथो वा, नैता अस्य फलेच्छा, अवाप्नोति वा फलम्। तत्र सन्देहः,—किं तेन नियोगतः परिसमापयितव्यम्, उत इच्छया उत्स्रष्टव्यम् अपि?—इति। किं प्राप्तम्?—'लोके कर्माणि एवञ्जातीयकानि उपक्रम्य परिसमापयितव्यानि, यथैव वैदिकानि तथैव तानि नियोगतः परिसमापनीयानि'* । कुतः?। 'ततोऽधिपुरुषज्ञानं', ततः तत्पुरुषज्ञानं भवितुमर्हति। कुतः?। शास्त्रात्, आम्नायते हि तच्छास्त्रं, तत्रापि देवताध्यापारोऽङ्गीक्रियते,—पूर्वस्यां दिशि एता देवता इतरास्तु एताः—इति, यदि शास्त्रज्ञाते देवताध्यापारे उपक्रम्यापरिसमाप्यमाने शिष्टविगर्हणम्, एवम् इहापि भवितुमर्हति ॥

सू. अपराधेऽपि† च तैः शास्त्रम् ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा. तेषां 'च' लौकिकानाम् 'अपराधे' 'तैः' तद्धर्भिः प्रायश्चित्तशास्त्रमाम्नायते, 'आरे भग्ने इन्द्रमाङ्गिरसेभ्यः पायसं च ब्राह्मणो भोजयितव्यः'—इति, प्रायश्चित्तं च यदहृष्टार्थं, न शास्त्राहृते; अथ प्रसङ्गपरिहारार्थं, ततोऽप्याहृतमेव तत्—इति गम्यते ॥

---

इत्युक्त्वा न यजते, चैधातवीयेन यजेत, न देवताश्च चाल्यन्ते' इति। इष्यते चावाप्तेऽपि फले समाप्तिं कारीर्याः, 'यदि वर्षेत् तावत्येव होतव्यम्' इति" इति सन्दर्भमयानुसन्धेयम् ॥

* यथैव वैदिकानि नियोगतः परिसमापनीयानि तथैवैतत् इति पाठः भा० से० प० एवं क ख पु० ॥

† का० सो० पुस्तके 'अपि'कारो नास्ति ॥

सू अशास्त्रा तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं, तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् ॥ १८ ॥ (सि०)॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'अशास्त्रा तु' एषाम् 'उपसम्प्राप्तिः'—इति ब्रूमः। स्मृतेरस्याः शास्त्रं भवता अनुमीयते,—न शास्त्रमन्तरेण स्मृतिः, न च स्मृतिम् अन्तरेण तद्गुणा अन्य उपपद्यते—इति; अत उच्यते,—भवति अथ स्मृतिः,—एवमिदं गृहादि कर्म रमणीयं भवति—इति, न अस्मात् कर्मणोऽदृष्टं किञ्चित्—इति। या च असौ रमणीयता सा अन्तरेणापि शास्त्रं, शक्या ज्ञातुम्, ज्ञात्वा च स्मर्यते। तस्मात् न अस्याः स्मृतेः शास्त्रं प्रकल्प्यम्, यदन्तरेण शास्त्रं, न प्राप्येत, ततः शास्त्रम् अर्थवत्—इति प्रकल्प्येत। तस्मात् न इदं शास्त्रीयं, शास्त्रोक्ते च शामित्रे त्यक्तेऽप्यन्ते शिष्टा गर्हन्ते, देवताश्रये च। 'ननु अत्रापि देवताः परिगृहीताः;—अस्यान्दिशि इयं देवता यजतेऽस्यामियम्'—इति। उच्यते, पुरुषमनु देवताः शिष्टाः स्मरन्ति, न गृहमनु, तस्मात् अदोषः—इति॥ (६।२।४ अ०)॥

---

प्रतिषिद्धकर्मणामनुष्ठानेऽनिष्टापाताधिकरणम् ॥ (कलञ्जन्याय)॥

सू प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥ १९ ॥ (पू०)॥

भा इदं हि उपदिशन्ति,—'न कलञ्जं भक्षयितव्यम्, न लशुनं न गृञ्जनं च'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् एवञ्जातीयकं फलकामेन न भक्षयितव्यम्, निष्कामेण आद्यम्, अथ वा नियोगतो वर्जयितव्यमेव?—इति। किं प्राप्तम्?—फलार्थिना न भक्षयितव्यम्, अनर्थिनोऽनियमः—इति। कुतः?। नियमो ह्ययम् उच्यते,—इदं न भक्षयितव्यम्—इति, एवम् उभे इयमापतति,

भा —यदि वा अभक्षणं कर्त्तव्यम्—इति, यदि वा भक्षणं न कर्त्तव्यम्—इति, यदि नञ्विशिष्टं भक्षणं कर्त्तव्यम्—इत्यभ्युपगम्यते, ततोऽभक्षणं श्रुत्या तच्चो विदधाति, नञ् भक्षयति विशेषणं, तद्व्यापाराच्च कर्त्तव्यतया नञ् न सम्बध्यते। अथ नञर्थः कर्त्तव्यः, ततो वाक्येन विधानं, भक्षयतिश्च नञ्विशेषणं, श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्मात् अभक्षणं कर्त्तव्यम्—इति गम्यते, अभक्षणं च भक्षणाभावः, न तस्य कर्त्तव्यता अस्ति। तस्मात् यः तत्र मानसो व्यापारः, स इह उपदिश्यते, येन उपायेन नञ्विशिष्टं भक्षणं भवति; पूर्वं नञ्भक्षयत्योः सम्बन्धः, ततो विधानं। यथा, 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत'—इत्येवमादिषु प्रजापतिव्रतेषु कुर्वतः फलं, अकुर्वतो न फलं न दोषः; एवम् इहापि, 'विभक्तत्वात् अकर्मणाम्', न अत्र कर्म प्रतिषिध्यते, अकर्ममात्रम् उपदिश्यते, अन्यद्धि कर्म भक्षणं प्रतिषिध्यमानं, अन्यत् अकर्म मानसः सङ्कल्पः—इति ॥

सू. शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते तयोरसमवायित्वात्तादर्थ्ये विध्यतिक्रमः ॥ २० ॥ (सि०)॥

भा. उपवर्णनापरिहारः तावत् उच्यते,—युक्तं, यत् प्रजापतिव्रतेषु 'शास्त्राणाम् अर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते'; तत्र नियमः कर्त्तव्यतयोपदिश्यते, यस्य कर्त्तव्यः, स कल्याणोदयः, यो न कर्त्तव्यः स पापोदयः। 'कथं पुनः प्रजापतिव्रतेषु नियमः कर्त्तव्यतया चोद्यते?'—इति। उच्यते, तस्य व्रतम्—इति प्रकृत्य प्रजापतिव्रतानि समाम्नातानि, व्रतम्—इति च मानसं कर्म उच्यते,—इदं न करिष्यामि—इति यः सङ्कल्पः। कतमत्तत् व्रतम्?। 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत'—इति, यथा तदीक्षणं न भवति, तथा मानसो व्यापारः कर्त्तव्यः, तस्य च पालनम्। तत्र तस्मात् पुरुषार्थोऽस्ति—इत्यवगन्तव्यम्। तत्र च एतान्येव

भा प्रकृत्य उच्यते,—'एतावता हैनसाऽयुक्तो भवति'—इति (एतावता ह्येतेन अयुक्त एनसा भवति)—इति।

अथ इह 'तयो' असमवायित्वम् इह क्रिया प्रतिषिध्यते, न अक्रिया उपदिश्यते, न हि, कलञ्ज भक्षयन् प्रतिषेधविधि न अतिक्रामति, इह पुनरादित्य पश्यन् न अतिक्रामति विधि न हि तस्य दर्शनं प्रतिषिद्धम्, नियम तत्र उपदिष्ट, यस्तु नियम करोति, स फलेन सम्बध्यते, इह तु प्रतिषिध्यते कलञ्जादि। कथम् अवगम्यते?। न अत्र तस्य, व्रतम्—इति प्रकृत्य वचनमस्ति। न च, न भक्षयितव्यम्—इत्यस्य मानसो व्यापारोऽर्थं, भक्षयितव्यम्—इति च भक्षणं कर्तव्य शब्देन उच्यते, न—इति तत् प्रतिषिध्यते श्रुत्यैव। एवं प्रसिद्धोऽर्थोऽनुगृहीतो भवति, इतरथा लक्षणा स्यात्, श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तस्मात् इह प्रतिषेध।

"उच्यते, अस्तु प्रतिषिद्ध नाम, दोष अत्र न श्रूयते*। तस्मात् प्रतिषिद्धमप्यनुष्ठातव्यम—इति। 'कल्पयिष्यते—इति चेत्। न प्रमाणाभावात्। 'अर्थापत्ति प्रमाणम् उपदेशवैयर्थ्य प्रसङ्गात्—इति यद्यचेत्त। नैतदेव, अर्थोऽपि हि उपदेशोऽज्ञानात् सम्भवति, तस्मात् न कल्प्यो दोष —इति। उच्यते, अस्य न कल्पनीय, किन्तु क्लृप्त एव। कथम्?। अनन्तरमेवैनं शिष्टा वर्जयेयु, पतित कर्मफलेभ्य—इति वदन्त, महांश्च एष दोष, यच्छिष्टा वर्जयन्ति। तस्मात् नियोगत कलञ्जादि न भक्षयितव्यम्—इति, यथा, न सर्पाय अङ्गुलि दद्यात् तत्र दोषदर्शनात् नियोगतो न सर्पाय अङ्गुलिर्दीयते, कण्टको वा न पादेन अधिष्ठीयते, एवम् इदमपि—इति॥ (६।२।५ अ०)॥

* अत्र प्रतिषिद्ध नाम न दोषोऽत्र श्रूयते इति पाठ का० को० पु०॥

† [illegible] इति वार्त्तिकमतानुमतम्।

गुर्व्वनुगमनादीनामुपनयनोत्तरकालकर्त्तव्यताधिकरणम् ॥

सू. तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्त्तेरन् ॥ २१ ॥
(पू॰) ॥

भा. इह स्मार्त्ताः पदार्था उदाहरणम्, मृत्युपस्थितनियमाश्च आचाराः,—'गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च', 'हृद्धयाः प्रत्युत्थेयः सम्मन्तव्यश्च'—इति। तत्र सन्देहः,—किं जातमात्राणाम् इमे पदार्था उत उपनीतानाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—अविशेषोपदेशात् जातमात्राणाम्। कुतः?। पुरुषे ते शिष्यन्ते, जातमात्रश्च पुरुषो भवति। तस्मात् जातमात्राणाम् इमे पदार्थाः,—इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—

सू. अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्त्तेरन् ॥ २२ ॥
(सि॰) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'उपायेन प्रवर्त्तेरन्' (उपनयनेन सह प्रवर्त्तेरन्), 'वेदतुल्यत्वात्', वेदतुल्या हि स्मृतिः, वैदिका एव पदार्थाः स्मर्य्यन्ते—इत्युक्त (१।३।१ अ॰), वैदिकाश्च पदार्था उपनयनोत्तरकाले समाम्नाताः, स्मार्त्ताश्च एते वैदिका एव, तस्मात् उपनयनोत्तरकाला एते—इति॥ (६।२।६ अ॰)॥

---

एव "विधायकपदस्य नञ्पदेन अन्वये सति रात्रिश्राद्ध असत्प्रतिग्रहस्य निषेधस्य विधेयत्वम् न तु निषेधो व्यर्थ, नरकपातनिवारकत्वात्। एवञ्च सति अघुते न किमपि कर्त्तव्यं स्यादेव च अघुते सकल कर्त्तव्या इति तदर्थं भयकरमिदं मन्तव्यम् आश्रयणीया। तस्मात् स्वर्गकामिनो नायमधिकारः किन्तु नरकात् भीतस्य अधिकारः" इति न्यायमाला च सुस्पष्टा॥

अग्निहोत्रादिषु यावज्जीवकर्मणाम् सकालमात्रकर्तव्यताधिकरणम् ॥ (अग्निहोत्रस्य प)॥

सू अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो* विधीयते ॥ २३ ॥
(१म पू०)॥

भा इदमामनन्ति,—'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—इति पुरुषार्थोऽयं यागो विधीयते, न चायमभ्यासः कर्मशेषः—इत्युक्तम्। इह इदानीं सन्दिह्यते, किं सातत्येन होतव्यं, उत न सातत्येन?—इति। किं प्राप्तम्?—पुरुषं प्रत्युपदिष्टत्वात् सातत्येन, अयं पुरुषः—इति सातत्येन अनुष्ठातव्यम्। 'ननु 'प्रदोषम् अग्निहोत्रं होतव्यं, व्युष्टायां प्रातर्'—इति श्रूयते, 'पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत, अमावास्यायाममावास्येन यजेत'—इति'। नैव सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रयोगः, अतः कालमात्रेण होनो न दोषः ॥

सू तस्मिन्नसम्भवन्नर्थात् ॥ २४ ॥ (२य पू०)॥

भा नैतदस्ति, यत्, जुहुधि जुहुधि—इत्येव होतव्यम्—इति, यथा शक्नोति, तथा जुहुयात्—इत्युच्यते, न च सातत्येन शक्यते, अवश्यम् अनेन आहारविहाराः कर्तव्याः। तस्मात् अर्थाविरुद्धेषु कालेषु होतव्यम्—इति ॥

सू न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ॥ २५ ॥ (सि०)॥

भा न चैतदस्ति, यदुक्तम्, अर्थाविरुद्धेषु कालेषु सततं होतव्यम्—इति, काल एषः श्रूयते,—'प्रदोषम् अग्निहोत्रं होतव्यं, व्युष्टायां प्रातर्'—इति। तथा, 'पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेत, अमावास्यायाममावास्येन यजेत'—इति। तस्मात् न

---

* पुरुषार्थोऽभिधीयते इति का० सो० पु० एवं क० म० पु० पाठः ॥
† कालमात्रे होनेऽपि इति का० मी० पु० पाठः ॥

भा. सातत्यम्—इति। 'आह, ननु विगुणस्यापि प्रयोगात् न काल —आदरणीयः'—इति। अत्र उच्यते, न कालो गुणः, निमित्तं हि एतत्—इत्युक्तम्। तस्मात् अन्येषु कालेषु अविहितत्वात् कृतमप्यकृतम् स्यात्। तस्मात् आश्रितकालस्य यावज्जीवं प्रयोगः—इति ॥

सू. दर्शनात्काललिङ्गानां कालविधानम् ॥ २६ ॥ (यु०) ॥

भा. लिङ्गं च भवति,—'अथ वा एष स्वर्गात् लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पूर्णमासीममावस्यां वा अतिपातयेत्'—इति, यदि सर्वस्मिन् काले होमः, तदा कस्यातिपत्तिः स्यात्? तस्मादपि न सततमभ्यासः ॥ (६।२।७ अ०) ॥

---

अग्निहोत्रादीनां स्वकालावृत्त्या आवृत्त्यधिकरणम् ॥

सू. तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्त्तेत ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. 'प्रदोषे* अग्निहोत्रं होतव्यम्, व्युष्टायां प्रातः'—इति, तथा 'पौर्णमास्यां पौर्णमासेन यजेतामावास्यायामामावास्येन यजेत' —इति। तत्र सन्देहः,—किं सकृत् प्रदोषे होतव्यम्, उत प्रदोषे प्रदोषे?—इति, तथा सकृत् व्युष्टायां प्रातः, उत व्युष्टायां व्युष्टायाम्?—इति, तथा किं सकृत् पौर्णमास्याममावास्यायां वा, उत आगते आगते काले?—इति। किं प्राप्तम्?—सकृत् कृत्वा कृतार्थः शब्दः, न नियमः पौनःपुन्ये।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—'आगमेन प्रवर्त्तेत', आगते आगते काले प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति। कुतः?। 'तेषाम् औत्पत्तिकत्वात्', उत्पद्यमानं कर्म कालसंयुक्तमेव उत्पद्यते, तदुक्तं,—निमित्तार्थाः

* सर्व्वेषु पुस्तकेषु पूर्व्वत्र प्रदोषमग्निहोत्रम् होतव्यमिति पठितम्, अत्र प्रदोषे इति पठितम् न सङ्गच्छते ॥

भा. कालश्रुतयः—इति, निमित्ते च समाप्ते नैमित्तिकोऽर्थः कर्त्तव्यो भवति। तस्मात् आगते आगते काले प्रयोगः कर्त्तव्यः ॥

सू. तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥ २८ ॥ (यु०) ॥

भा. 'अप वा एष स्वर्गात् लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत्'—इति आगते आगते काले प्रयोगं दर्शयति ॥ (६।२।८ अ०) ॥

---

दर्शादौ भेदाद्याहुत्या होमाद्यधिकरणम् ॥

सू. तथान्तःक्रतुप्रयुक्तानि ॥ २९ ॥

भा. 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति'—इति दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते। तत्र सन्देहः,—सकृत् भिन्ने स्कन्ने च कृत्वा कृतार्थः, उत भिन्ने भिन्ने स्कन्ने स्कन्ने च?—इति। तत्र अधिकरणातिदेशो यः पूर्वत्र पूर्वः पक्षः स इह पूर्वः, य उत्तरः, स इह उत्तरः—इति, सकृत् कृत्वा कृतार्थः—इति पूर्वः पक्षः, निमित्तत्वात् पुनः प्रयोगः—इति उत्तरः ॥ (६।२।९ अ०) ॥

---

गुर्वनुगमनादीनां प्रतिनिमित्तमावृत्त्यधिकरणम् ॥

सू. आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥ ३० ॥

भा. 'गुरुरनुगन्तव्योऽभिवादयितव्यश्च, वृद्धवयाः प्रत्युत्थेयः सम्मन्तव्यश्च'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् आगते आगते गुरौ वृद्धवयसि च, यदुक्तं, तत् कर्त्तव्यम्, उत सकृत्कृते कृतार्थता?—इति। 'आचारात् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात्'—इति अधिकरणातिदेशः। तत्र यः पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः, यः उत्तरः स उत्तरः, सकृत्कृत्वा कृतार्थः—इति पूर्वः

भा. पद्यः, निमित्तत्वात् पुनः प्रयोगः—इति उत्तरः॥ (६।२।१० अ०)॥

---

ऋणत्रयापाकरणस्य ब्राह्मणचत्रियवैश्यानां नित्यताधिकरणम्॥

सू. ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात्॥ ३१॥

भा इदं श्रूयते,—'सोमेन यजेत', 'गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणम् उपनयीत', 'प्रजाम् उत्पादयेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं नित्यानि एतानि उत अनित्यानि?—इति। किं प्राप्तम्?—कामसंयोगात् अनित्यानि।

इति प्राप्ते उच्यते, ब्राह्मणादीनाम् सोमादीनि नित्यानि—इति। कुतः?। ऋणवाक्येन हि संयोगो भवति, 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा* जायते यज्ञेन देवेभ्यो ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः प्रजया पितृभ्यः—इति, स वै तर्ह्यनृणो यदा यज्वा ब्रह्मचारी प्रजावान्'—इति, ऋणसंस्तवोऽवश्यकर्त्तव्यानां भवति, तस्मात् नित्यानि—इति।

'ननु चिह्नमसाधकं, न्याय उच्यताम्, यस्यैतत् द्योतकम्' —इति। उच्यते,—अकामसंयुक्तानि एषां पृथक् वाक्यानि भवन्ति, 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत', 'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति', 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'। तथा 'विद्यामधीयीत'। तथा 'प्रजा उत्पादयितव्या'—इति।—एवं नित्यतायाः प्राप्तायाः इदं चिह्नं भवति—इति।

अथ वा अयम् अन्योऽर्थः, 'ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात्', सोमादयो नियताः किं ब्राह्मणस्यैव,

---

* अत्र सर्वत्रैव पुस्तके ऋणवा इति पाठः। किन्तु ग्रन्थान्तरे ऋणवान् इति पाठो दृश्यते॥

भा॰ राजन्यवैश्ययोः अनियताः, उत सर्वेषां नियताः?—इति। किं प्राप्तम्?—ब्राह्मणस्यैव नियता न इतरयोः—इति। कुतः?। एवं श्रूयते,—'जायमानो ह वै ब्राह्मणः'—इति, ब्राह्मणस्य नियमो दृश्यते, न इतरयोः, ब्राह्मणसङ्कीर्त्तनात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सर्वेषां नियमः। कुतः?। अविशेषेण नियमविधानं यत्, तत् अकामसंयुक्तं वचनं नियामकं, तत् अविशिष्टं सर्वेषां, तस्मात् सर्वेषां नियमः—इति।

'ननु, जायमानो ह वै ब्राह्मणः—इति ब्राह्मणस्य सङ्कीर्त्तनम्'। उच्यते, भवति अस्मिन् वचने ब्राह्मणसङ्कीर्त्तनम्, न तु एतत् नियमस्य विधायकम्, एतैरकामसंयुक्तैर्वचनैर्विहितस्य नियमस्य अनुवादोऽयमवदानस्तुत्यर्थः, तस्मात् न अत्र ब्राह्मणसङ्कीर्त्तनेन राजन्यस्य वैश्यस्य वा अनियमो विज्ञायते। ब्राह्मणग्रहणं तु प्रदर्शनार्थं, जायमानो ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यो वा—इति, तथा जायमानो जातश्च—इति॥ (६।२।११ अ॰)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः॥

## षष्ठे अध्याये तृतीयः पादः ॥

अथ नित्ये यथाशक्त्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥*

सू. सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात् ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा. बह्वृचब्राह्मणे श्रूयते,—'यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहोति, यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'—इति ; नित्यमग्निहोत्रं, नित्यौ च दर्शपूर्णमासौ। तत्र यदेतत् कामश्रवणात् अन्यत् अकामश्रवणं द्वितीयं*, तत्र सन्देहः,—किं यः कार्त्स्न्येन विधिम् उपसंहर्त्तुम् शक्नोति, तस्यैवाधिकारः, उत विगुणमपि तत् प्रयोक्तव्यम्?—इति। एकादशे कामसंयुक्ते प्रथमे श्रवणे चिन्तयिष्यते साङ्गे, इह नित्ये श्रवणे द्वितीये†—इति।

'किं प्राप्तम्?—'सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात् तथाभूतोपदेशात्', यः कार्त्स्न्येन विधिमुपसंहर्त्तुम् शक्नोति, स एवानुतिष्ठेत्, 'तथाभूतोपदेशात्', यथाभूतं हि तत् कामसंयुक्तं श्रुतं, तथाभूतमेव नित्यमभ्युपदिश्यते। तस्मात् सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रयोगः कर्त्तव्यः। दर्शपूर्णमासशब्दश्च साङ्गस्यैव वाचकः। कथं?। पौर्णमास्याममावास्यायां च साङ्गं विधीयते, यत्र पौर्णमास्यां विहितं,

---

* कामश्रवणादकामसंयुक्तं द्वितीयमिति का० क्री० पु० पाठः ॥

† "एकादशे तु, 'अङ्गवत्' सर्वैरेव चाङ्गैर्नित्यकाम्योरविशिष्टे उतैकेनापीति, सर्वैरेवेति सिद्धान्तः। एकादशे सर्वाङ्गयुक्ते स्थिते चाग्निहोत्रं जुहोतीत्येवमन्यतरस्य हिपरित्यागमात्रस्य निमित्ते फले च विधानात् न कर्मान्तरमिदं नापि प्रयोगान्तरम् अन्यत्तत्त्वात् काम्ये नित्यप्रदेशस्य, वस्तिष्ठतस्यपि भेदः, तमेव चाश्रित्य भाष्यकारेणात्र 'द्वितीये श्रवणे' इति" इति वार्त्तिकम् ॥

भा. सा च पौर्णमासी; यदमावास्यायां विहितं, सा च अमावास्या —इति, साङ्गममावास्यायां विहितं, पौर्णमास्यां च, तस्मात् साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देन उच्यते—इति जैमिनिर्मन्यते स्म॥

सू. अपि वाऽप्येकदेशे स्यात् प्रधाने ह्यर्थनिर्वृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्॥ २॥ (सि०)॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'अप्येकदेशे' ऽङ्गानाम् 'स्यात्' एव प्रयोगः, यतः साङ्गस्यापि अनङ्गस्यापि प्रयुज्यमानस्य प्रधानात् एव अयमर्थो निष्पद्यते, 'गुणमात्रं' सर्वाङ्गप्रयोगेण भवति। को गुणः?। साङ्गात् स्वर्गाभिनिर्वृत्तिः, प्रधानमात्रादिदमन्यत् फलम्। तस्मात् स्वर्गमात्रार्थं संपूर्णाङ्गं करिष्यामि —इति आरब्धं, यदि कानिचित् अङ्गानि न शक्नोति कर्तुम्, तथापि अस्मात् एकदेशाङ्गगुणयुक्तात् प्रधानात् फलं भविष्यति। तस्मात् प्रधानमात्रस्य प्रयोगमाह, न अङ्गानाम्, दर्शपूर्णमासशब्दकः अग्निहोत्रशब्दकश्च प्रधानपदार्थेभ्यान्यानि अङ्गानि तदर्थानीति॥

सू. तदकर्म्मणि च दोषस्तस्मात् ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाभिसम्बन्धात्॥ ३॥ (१ यु०)॥

भा प्राधानातिक्रमे 'दोषः' श्रूयते,—'एष वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी सन् पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेत्'—इति प्रधानातिक्रमे दोषं ब्रुवन् तस्य नित्यतां दर्शयति॥

सू. कर्म्माभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्व्वेषामुपदेशः स्यादिति॥ ४॥ (आ०)॥

भा यदुक्तं,—नास्ति भेदः,—इमानि अङ्गानि, इमानि प्रधानानि

भा.—इति, 'प्रयोगवचनैकत्वात्'—इति 'जैमिनिः' आह स्म, 'सर्वेषाम्' उपदेशकः, 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेत'—इति ॥

सू अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्यात् यथा क्रत्वन्तरेषु ॥ ५॥ (आ॰ नि॰) ॥

भा. एकाङ्गप्रयोगेऽपि स्यात् विगुणादपि फलमित्यर्थः। कुतः?। 'अर्थस्य व्यपवर्गित्वात्', व्यपवृक्तमङ्गेभ्यः प्रधानम्, अग्निहोत्रसंज्ञकात् दर्शपूर्णमाससंज्ञकाच फलमिह भवति। तद्धि कर्त्तव्यतया उपदिश्यते। यत् पौर्णमास्याम् उपदिष्टं, सा पौर्णमासी, यदमावास्यायां सा अमावास्या, 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाचुरतो भवति'—इति। तस्मात् अग्नये पुरोडाशः अग्नीषोमाभ्यां च, आज्यं चाग्नीषोमादिभ्यः पौर्णमास्याम्। आग्नेयसान्नाय्यादीनाममावास्यायाम्।

यदुक्तं,—'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत, अमावास्यायाममावास्यया यजेत'—इति साङ्गस्य विधानात् साङ्गं दर्शपूर्णमासशब्देनाभिधीयते—इति, नैतदेवं, सिद्धे हि दर्शार्थे पौर्णमासार्थे च साङ्गं फले विधीयते। तस्मात् न साङ्गमग्निहोत्रपदवाच्यं दर्शपौर्णमासपदवाच्यञ्च। यच अग्निहोत्रं तत् इह चोद्यते कर्त्तव्यतया, यौ च दर्शपूर्णमासौ। तस्मात् विगुणमपि कर्त्तव्यमेव अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च। 'यथा क्रत्वन्तरेषु' प्रकृतिविकृतिषु परस्य धर्म्मा परस्य न भवन्ति, एवं न कामसंयुक्तस्य धर्म्मा नित्यस्य भवितुमर्हन्ति ॥

सू विध्यपराधे च दर्शनात् समाप्तेः ॥ ६ ॥ (२ यु॰) ॥

भा. विध्यपराधेषु च समाप्तिं दर्शयति, 'तदेव यादृक् तादृक् होतव्यम्'—इति विगुणस्य समाप्तिं दर्शयति ॥

सू. प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥ ७ ॥ (३ यु०) ॥

भा विध्यपराधे च प्रायश्चित्तानि विधीयन्ते निमित्ते कर्माङ्ग भूतानि, यथा, 'भिन्ने जुहोति'—इति। विगुणे निष्फले सति कस्यादङ्गभूतैः प्रयोजनं स्यात्? तस्मात् विगुणानामपि प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति ॥ (६।३।१ अ०) ॥

---

अथ वैकल्ये काम्यस्य निष्फलताधिकरणम् ॥

सू कामेषु चैवमर्थित्वात् ॥ ८ ॥ (पू०) ॥

भा 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः', 'सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः', 'वैश्वदेवीं साङ्ग्रहायणीं निर्वपेत् ग्रामकामः'—इत्येवमादिषु सन्देहः,—किं विगुणमपि फलवत्, उत अविगुणमेव फलवत्?—इति। किं प्राप्तम्?—'काम्येषु चैवं' स्यात्, विगुणमपि फलवत्'—इति। कुतः?। 'अर्थित्वात्', यदि विगुणमपि फलवत् एवं अर्थिमात्रमधिकृतं भविष्यति, अन्यथा सामान्यशब्दोऽन्तरेण विशेषं*, विशेषेऽवस्थापितो भविष्यति। 'असमर्थत्वान्नाधिक्रियते'—इति चेत्। साङ्गं न समर्थः कर्तुम्, प्रधानमात्रं तु शक्नोति, प्रधानमात्रे अधिकरिष्यति ॥

सू असंयोगात्तु नैवं स्यात् विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ॥ ९ ॥ (सि०) ॥

भा. तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते, 'नैवं स्यात्',—यदुक्तं विगुणमपि फलवत्—इति, 'असंयोगात्' प्रधानमात्रस्य फलेन, साङ्गात्

---

* कारणमिति का० श्री० पु० पाठः ॥

भा. हि फलं श्रूयते प्रधानात्, न केवलात्, तेन यद्यपि केवलम् उच्यते, तथापि न एवञ्जातीयकम् तत् कुर्यात्, न केवलस्य फलेन संयोगः—इति, शब्दप्रमाणकस्य अयमर्थो विधीयते, शब्दस्य साक्षात् फलमाह—इति वक्ष्यामः। तस्मात् न विगुणं कर्म कर्त्तव्यम् एवञ्जातीयकम्—इति ॥

सू. अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥ १०॥ (यु०) ॥

भा. न च अत्र प्रधानमात्रस्य अकर्मणि प्रत्यवाय उच्यते, यथा दर्शपूर्णमासयोः; तस्मात् अपि न विगुणमेवंलक्षणकं कर्म प्रयोक्तव्यम्—इति ॥ (६।३।२ अ०)॥

---

द्रव्यभेदेऽपि कर्माभेदाधिकरणम् ॥

सू. क्रियाणामाश्रितत्वात् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. दर्शपूर्णमासयागः पुरोडाशेन उक्तः, स च पुरोडाशो व्रीहिमयः कर्त्तव्यः—इति श्रूयते। तत्र एतत् चिन्त्यते,—यदि नीवारमयेन पुरोडाशेन यागः क्रियेत, किं स एव यागः स्यात्, उत अन्यः?—इति। किं प्राप्तम्?—'द्रव्यान्तरे विभागः स्यात्', (अन्यो यागः)। कुतः?। आश्रितत्वात्, आश्रयभेदाद्धि गम्यते विशेषः, अयमन्यो नीवाराश्रयो व्रीह्याश्रयात्—इति, आश्रयभेदस्तावत् विस्पष्ट एव, तद्भेदात् रूपमपि भिन्नं गम्यते। तस्मात् अन्यो यागो द्रव्यान्तरः—इति ॥

सू. अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैक-कर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्ववत् ॥ १२ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'क्रि[illegible]त' अन्यथा

भा. न्तरेऽपि, यदा क्रिया भवति चलनं पतनं वा, तदापि तावान् एव सोऽर्थः, न च कश्चित् तत्र व्यतिरिक्तो विशेषो हीनो वा, नो खल्वप्यन्यदेव रूपं, न च शब्दान्तरं वाचकम्।

'ननु आश्रयभेदो विस्पष्टः'। उच्यते, भिन्नमेव वयमाश्रयं प्रतिजानीमहे, न तु तद्भेदादाश्रितस्य भेदः, अनन्यत्वात्, न हि, वसने वाससि वा भिन्ने तद्भेदात् पुरुषभेदो गम्यते। 'सोऽपि तस्य आत्मा भिन्नः'—इति चेत्। नैतदेवं, विशेषमनुपलभमानैरेवं शक्यं वक्तुम्, न च, अस्य विशेष उपलभ्यते।

"ननु अयमेव विशेषो यत्, एकोऽपि विनष्टः, एकोऽपि वर्तते। 'न विनष्टः'—इति यदुच्यते", तत्र, भागस्य उपलम्भनात्, सर्वे प्रमाणं नास्ति, तस्मात् विनष्टः। न च, प्रत्यभिज्ञायते तद्द्रव्यातिरिक्तं, भेदानुपलम्भात्। 'कथन्तर्हि 'चलति'—इति प्रत्ययः—इति?' चेत्। उच्यते,—देशान्तरे सम्प्रतिपत्तिदर्शनात्, यत् देशान्तरं गच्छत् आगच्छच्च 'चलति' —इत्युच्यते, तत्र गन्तापि प्रत्यक्षः, देशान्तरमपि, तेन 'गतः' —इति च उच्यते, आगतः—इति च उच्यते"। सत्यं,

भा. विनष्टाद्विनष्टोऽन्यः, योऽपि तु असावन्यः, सोऽपि यजतिशब्द-वाच्य एव, यजतिसामान्यं न भिद्यते, न च शब्देन न उच्यते। तस्मात् योऽपि नीवारैर्यागं कुर्यात्, तेनापि चोदितमेव कृतं, चोदितं च कुर्वत ईप्सितं भवति, न अपूर्वकृतं। नामधेयं च दर्शयति 'दर्शः'—इति वा 'पूर्णमासः'—इति वा अस्यैव सामान्यस्य, यथा सर्व्वेषु सामान्यस्य नामधेयं, न व्यक्तीनाम्। किं प्रयोजनं चिन्तायाः? उत्तरेणाधिकरणेनैतत् विचार्यते॥ (६।३।२ अ०)॥

---

नित्यकर्मणोऽनित्यारब्धकर्मणश्च द्रव्यापचारे प्रतिनिधिना समापनाधिकरणम्॥

सू. श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे नागमोऽन्यस्याशिष्टत्वात् ॥ १३ ॥ (पू०)॥

भा. अग्निहोत्रादीनि नित्यानि कर्म्माणि, उदाहरणं। तेषु श्रुत-द्रव्यापचारे भवति सन्देहः,—किं प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः कर्त्तव्यः, उत तदन्तं कर्म उत्स्रष्टव्यम्?—इति। किं प्राप्तम्? —शिष्टस्य अभावे 'न आगमोऽन्यस्य', तदन्तमेव उत्स्रष्टव्यम्। कुतः?। 'अशिष्टत्वात्', यत् व्रीहियवगुणकं श्रुतं फलवत्, तत् नीवारगुणकं क्रियमाणम् अफलकं भवति, तस्मात् तदन्तमेव उत्स्रष्टव्यम्—इति॥

सू. क्वचिद्विधानाच्च ॥ १४ ॥ (यु०)॥

भा. क्वचित् विधीयते,—'यदि सोमं न विन्देत् पूतीकानभिषुणु-यात्'—इति, यदि च प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः कर्त्तव्यः स्यात्, न विधीयेत! विधीयते तु, तस्मात् यत्र न विधीयते, न तत्र प्रतिनिधिः—इति॥

सू　आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥ १५ ॥ (सि०) ॥

भा　'आगमो वा' प्रतिनिधेयस्य द्रव्यस्य। कुतः?। 'चोदनार्थाविशेषात्', यजतिचोदनाचोदितो हि अर्थो न विशिष्यते व्रीहिभिर्नीवारैर्वा क्रियमाणः, यागस्य अवश्यकर्त्तव्यो नित्येषु अनित्येषु च प्रारब्धेषु ॥

सू　नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥ १६ ॥ (यु०) ॥

भा　अथ यदुक्तं,—'क्वचित् विधानात्'—इति। उच्यते,—'नियमार्थः क्वचित् विधिः', सोमाभावे बहुषु सदृशेषु प्राप्तेषु नियमः क्रियते,—पूतीका एवाभिषोतव्या—इति। तस्मात् प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति ॥

सू　तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥ १७ ॥ (आ० नि०)

भा　कथम् पुनरिदम् अवगम्यते,—नियमार्थमेव तद्वचनम्?—इति। उच्यते,—यतः प्राप्ताः पूतीकाः। कथं च ते प्राप्ताः?। 'तच्चिकीर्षा हि', तत्र सादृश्यचिकीर्षा—इत्येतत् वक्ष्यामः, तच्चिकीर्षया च प्राप्ताः पूतीकाः। तस्मात् 'तन्नित्यं', वचनमेतत् नियमाय नित्यम्—इति गम्यते ॥ (६।३।४ अ०) ॥

---

देवताग्निशब्दक्रियाणामपचारे प्रतिनिध्यभावाधिकरणम् ॥

सू　न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥ १८ ॥ (सि०) ॥

भा　देवता 'आग्नेयोऽष्टाकपालः'—इत्येवमाद्याः, अग्निः, 'यत् आहवनीये जुहोति तेन सोऽस्य अभीष्टः प्रीतो भवति'—इति। शब्दो (मन्त्र) 'बर्हिर्देवसदनं दामि'—इत्येवमादिः, क्रियाः

भा. 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति'—इत्येवमाद्याः। तत्र सन्देहः,—देवताग्नि-शब्द-क्रियाणाम् अपचारे प्रतिनिधिः उपादेयः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—पूर्वाधिकरणन्यायेन प्रतिनिधायान्यत्, प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'न' देवताग्नि शब्द-क्रियाणाम् अपचारे प्रतिनिधिना भवितव्यम्—इति। कुतः?। 'अन्यार्थसंयोगात्', प्रतिनिधीयमानम् अन्यत् एतेभ्यः, अन्यच* तेषामर्थं न शक्नुयात् कर्तुम्। कश्च तेषाम् अर्थः?। देवता तावदुद्देशेन अर्थं साधयति, अग्निम् उद्दिश्य, अष्टाकपालः पौर्णमास्याममावास्यायां च त्यज्यते। यच अन्येषु हविःषु विहितौ, न ततो दर्शपूर्णमासौ भवतः, तत्र अन्या उद्दिश्यमाना न श्रुताया उद्देश्याया अर्थं कुर्यात्, न हि अन्यस्याम् उद्दिश्यमानायां दर्शपूर्णमासौ भवतः। तस्मात् न देवता प्रतिनिधीयते।

तथा, 'यत् आहवनीये जुह्वति'—इत्याहवनीयापचारे न अन्योऽग्निः प्रतिनिधातव्यः, अन्यत् वा द्रव्यम्—इति। कुतः?। 'अन्यार्थसंयोगात्', प्रतिनिधीयमानम् आहवनीयकार्ये न वर्त्तते। कथम्?। अदृष्टम् आहवनीयस्य कार्यम्, आहवनीयस्य उपरि त्यज्यमाने यत् भवति, न तत् अन्यस्य उपरि; न हि, यजतिशब्देन सामर्थ्यात् तत् गृह्यते, यस्योपरि त्यज्यते, न हि, उपरि त्यज्यमानस्य देशः किञ्चित् उपकरोति—इति। तस्मात् न अग्नेः प्रतिनिधिः।

तथा, मन्त्रापचारे न अन्यो मन्त्रः प्रतिनिधीयते, मन्त्रस्य हि एतत् प्रयोजनम्, यत्, स्मारयति क्रियां साधनं वा, असति स्मरणे न क्रिया संवर्त्तेत, तत् अपचरिते मन्त्रे यदि तस्यार्थं

* अन्यच इति पाठः का० म० पु० एवं का० सो० पुस्तके नास्ति॥

† अर्पितमिति का० सो० पु० पाठः ॥

भा अन्यं शब्दम् उच्चारयति* पूर्वं प्रतीतेऽर्थे शब्दम् उच्चारयन्, न शब्देनार्थं प्रतीयात्। अथ प्रतीतमपि पुनः प्रतिनिधिशब्दोच्चारणेन प्रतीयात् (शब्दात् प्रतीतिं कुर्यात्), एवञ्च प्रतिनिधिशब्दोच्चारणानुरोधोऽनर्थकः स्यात्; न हि, शब्देन प्रत्यायपयितव्यम्—इति किञ्चित् प्रमाणमस्ति, यत् अस्ति, तत् विशेषेणैवानेन शब्देन बर्हिरादिना—इत्येवं, तदभावे शब्दान्तरानुरोधी अनर्थकः स्यात्। तस्मात् न शब्दस्य प्रतिनिधिः।

क्रियापचारे न क्रियान्तरम्, 'अन्यार्थसंयोगात्', समिद्यजिमन्तौ दर्शपूर्णमासौ कर्तव्यौ, तौ अन्यस्यां क्रियमाणायां न भवन्तौ भवतः। तस्मात् क्रियायां न प्रतिनिधिः—इति॥

सू. देवतायां च तदर्थत्वात्॥ १९॥ (यु०)॥

भा देवतायाम् अपरो विशेषः, येन न प्रतिनिधीयते, देवता नाम, यदर्थं किञ्चित् चोद्यते, सा; अन्या तस्याः स्थाने प्रतिनिधीयमाना न देवता स्यात्, चोदिता हि देवता भवति, न अचोदिता, सम्बन्धिशब्दश्च एषः, या यदर्थं चोद्यते, सा तस्यैव देवता, न अन्यस्य; 'देवता'—इति सम्बन्धिशब्दो न जातिशब्दः। तस्मादपि न देवतायाः प्रतिनिधिः—इति॥ (६।३।५ अ०)॥

---

प्रतिषिद्धद्रव्यस्य प्रतिनिधित्वाभावाधिकरणम्॥

सू प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः॥ २०॥

भा. अथ यत् प्रतिषिद्धम्,—'अयज्ञिया वै वरकाः कोद्रवा', अयज्ञिया वै माषाः'—इति, किं तत् श्रुतद्रव्यापचारे प्रति-

---

* पूरयितुमिति अधिक पाठ का० क्री० पु०॥

भा. निधातव्यम्, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रतिनिधेयम्—इति, "आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्" (६।३।१५ सू०)—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रतिषिद्धं च' न प्रतिनिधातव्यम्—इति, अविशेषेण हि एतत् उच्यते,—न यज्ञार्हा माषा मरकाः कोद्रवाश्च—इति, यज्ञसम्बन्ध एषां प्रतिषिध्यते। नैते यज्ञाङ्गभावं नेतव्याः—इति, प्रतिनिधीयमानास्तु अङ्गभावं नीता स्युः। तस्मात् न एते प्रतिनिधातव्याः—इति॥ (६।३।६ अ०)॥

---

स्वामिन प्रतिनिध्यभावाधिकरणम्॥

सू. तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्म्मयोगित्वात्॥ २१॥

भा. अग्निहोत्रादीनि कर्माणि उदाहरणं। तेषु स्वामिनि अपचरति सन्देहः,—किम् अन्यः प्रतिनिधातव्यो न?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रतिनिधातव्यः—इति। कुतः?। "आगमो वा चोदनार्थाविशेषात्"—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तथा स्वामिनः' स्यात्। कोऽर्थः?। न प्रतिनिधिः। कुतः?। 'फलसमवायात्', योऽर्थो स्वत्यागेन ऋत्विजः परिक्रीणीते, यश्च स्वं प्रदेयं त्यजति, स स्वामी, यदि स प्रतिनिधीयते, स्वामिना यत् कर्त्तव्यं, तत् सर्वं कुर्यात्, तत् सर्वं कुर्वन्, स्वाम्येव स्यात्, न प्रतिनिधिः; स एव हि फलेन सम्बध्यते। य उत्सर्गं करोति, स फलवान् भवति, तदुक्तं,—"शास्त्रफलं प्रयोक्तरि" (३।७।१८ सू०)—इति। तस्मात् न स्वामिनः प्रतिनिधिः—इति॥ (६।३।७ अ०)॥

---

अथ कश्चित् स्वामिनोऽपचारे प्रतिनिधानाधिकरणम् ॥ (सत्रन्याय)॥

सू. बहूनां तु प्रवृत्तेऽन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥ २२ ॥

भा. सत्राणि उदाहरणं,—'सप्तदशावराः सत्रमासीरन्'—इति, तेषु कस्मिंश्चित् स्वामिनि अपचरति सन्देहः,—किं तत्र अन्यः प्रतिनिधातव्यः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—न स्वामिनः प्रतिनिधिः—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'बहूनां' यजमानानां प्रवृत्ते कर्मणि, अपचरिते कस्मिंश्चित् स्वामिनि अन्यमागमयेत्। कुतः?। एवम् अवैगुण्यं भवति—इति, स्वामिगता सप्तदशादि-सङ्ख्या तत्र अङ्गं, तया विना कर्म विगुणं, तत्सम्पादनाय अन्यः आगमयितव्यः।

'ननु स्वामिगता सङ्ख्या, न तु आगम्यमानः स्वामी—इति वक्ष्यामः; तेन अशक्यैव सा सङ्ख्या उपादातुम्—इति। उच्यते,—स्वामिगता न हि भविष्यति, न हि सा शक्या कर्तुम् —इति; इदं तु शक्यं कर्तुम्, ये स्वामिनां पदार्थाः, ते इह सप्तदशावरैः कर्तव्याः—इत्येतत् उपपादितं भविष्यति। तस्मात् प्रतिनिधातव्यं तत्र—इति ॥ (६।३।८ अ०)॥

---

अथ प्रतिनिहितस्यास्वामित्वाधिकरणम् ॥

सू. सः स्वामी स्यात् तत्संयोगात् ॥ २३ ॥ (पू०)॥

भा. तस्मिन् आगम्यमाने इदानीं सन्देहः,—किम् असौ स्वामी, उत कर्मकरः?—इति। किं प्राप्तम्?—'स स्वामी स्यात्'। कस्मात्?। 'तत्संयोगात्', तेन (स्वामित्वेन) संयोगः, यो हि असौ आनीयते, स स्वामी क्रियते, स्वामिनि अपचरिते अन्यो यदि स्वामी क्रियते, ततः स प्रतिनिधिः छलो भवति। तस्मात् स्वामी—इति ॥

सू॰ कर्मकरो वा भृतत्वात्* ॥ २४ ॥ (सि॰) ॥

भा॰ 'कर्मकरो वा' स स्यात्। कुतः?। 'भृतत्वात्', भृतो हि असौ तैः शिष्टैः स्वामिभिः प्रयुक्तः, परिक्रीयमाणो न स्वामी भवति, यः फलं प्राप्नोति, सः स्वामी, यः परस्योपकारे वर्त्तते, स कर्मकरः, नैष असौ फलं प्राप्नोति। कुतः?। यो हि आरभ्य परिसमापयति, स फलवान्, एष हि आख्यातार्थः, स हि उपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्तम् आह। 'ननु तेऽपि तत्र विगुणं कुर्वन्ति, सप्तदशानां स्वामिनामभावात्, तस्मात् तेऽपि न स्वामिनः, नो चेत् स्वामिनः, न फलं प्राप्नुवन्ति'। उच्यते, न सप्तदशावराः फलसमवाये भवेयुः—इति श्रूयते, न सङ्ख्या फलपरिग्रहे गुणभूता। किन्तर्हि?—पदार्थेषु, सप्तदशावरैर्याजमानाः पदार्थाः कर्त्तव्याः—इति, ते च प्रतिनिहितेन क्रियन्ते, अफलस्येऽपि च सत्यं सङ्कल्पं कर्त्तुम् अन्यमानयन्ति। आनीयमानस्य च न तेन प्रयोजनम्॥

सू॰ तस्मिंश्च फलदर्शनात्॥ २५ ॥ (यु॰) ॥

भा॰ 'तस्मिंश्च दिष्टां गतिं गते फलं दर्शयति,—'यो दीक्षितानां प्रमीयेत अपि तस्य फलम्—इति। तस्मात् कर्मकरः—इति॥ (६।२।८ अ॰) ॥

---

सत्रे प्रतिनिहितस्य यजमानधर्मप्राप्तिविधिकरणम्॥

सू॰ स तद्धर्मा स्यात् कर्मसंयोगात्॥ २६ ॥

भा॰ बहूनां कस्मिंश्चित् अपचरिते प्रतिनिधेयोऽन्यः—इत्येतत्

---

* क्रीयमाण इति का॰ श्री॰ पु॰ पाठः। एव परत्र॥

भा समधिगतम्, इदम् इदानीं तत्र सन्दिग्धं,—किम् असौ स्वामिधर्मा स्यात्, उत ऋत्विग्धर्मा?। किं प्राप्तम्?—ऋत्विग्धर्मा। कुतः?। परार्थं हि स यजति, यश्च परार्थं यजति, स ऋत्विक्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'स तद्धर्मा स्यात्' (स्वामिधर्मा), तस्य हि कार्यं श्रूयते, यश्च यस्य कार्यम् अधितिष्ठति, स तद्धर्मैः सम्बध्यते, यथा स्रुग्धर्मे.* स्वधितिरिति॥ (६।३।१० अ०)॥

---

श्रुतद्रव्यापचारे तत्सदृशस्यैव प्रतिनिधित्वाधिकरणम्॥

सू॰ सामान्यं तच्चिकीर्षा हि॥ २७॥

भा श्रुते द्रव्ये अपचरति प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोक्तव्यम्—इति स्थितम्। तत्र सन्देहः,—किं यत्किञ्चित् द्रव्यम् उपादाय प्रयोगः कर्त्तव्यः, उत सदृशम्?—इति। किं प्राप्तम्?—यत्किञ्चित् उपादाय—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—सामान्यं यत्र गृह्यते, तत् उपादातव्यं सदृशम्—इति। कुतः?। सर्वे हि आकृतिवचनाः शब्दाः, आकृतिश्च यद्यपि अङ्गभावेन श्रूयते, तथापि न साक्षात् तस्याः क्रियां प्रत्यङ्गभावः। यत्तु क्रियासाधनं द्रव्यमर्थादङ्गभूतं प्राप्तं, तत् परिच्छिन्दती क्रियाया अङ्गभावं याति, यैश्च आकृत्या विशेषाः परिच्छिद्यन्ते, ते विशेषा अङ्गभूताः, अथ तस्या आकृतावपचरितायाम् अर्थप्राप्तं द्रव्यं गृहीतव्यमेव, यस्मिंश्च सदृशे गृह्यमाणे तेषां विशेषाणां केचित् संगृहीता भवन्ति, स तत्र लाभो लभ्यते—इति, तत्सदृशं द्रव्यम् उपादातव्यं भवति। तस्मात् व्रीहीणाम् अपचारे नीवाराः प्रतिनिधेयाः—इति॥ (६।३।११ अ०)॥

---

* स्रुग्धर्मैरिति का॰ को॰ पु॰ पाठः॥

† य कश्चित प्रतिनिधिम इति क॰ स॰ पु॰ पाठः। यत किञ्चित प्रतिनिधिमिति आ॰ सो॰ पु॰ पाठः॥

द्रव्यापचारे वैकल्पिकद्रव्यान्तरानुपादानाधिकरणम् ॥

सू निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥ २८ ॥ (सि०) ॥

भा अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुः अग्निषोमीयः, 'यो दीक्षितो यत् अग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र श्रूयते, 'खादिरे पशुं बध्नाति पालाशे बध्नाति रौहितके बध्नाति'—इति। तत्र कदाचित् खदिरगुणके प्रयोगे आरब्धे खदिरो विनष्टः, तत्र सन्देहः,—किं वैकल्पिकस्य उपादानम् उत खदिरसदृशस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—वैकल्पिकस्य—इति। कुतः?। स हि श्रुतः, खदिरसदृशो न श्रूयते, तस्मात् वैकल्पिकस्य उपादानम् —इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'विकल्पे यत् प्रवृत्तं', तत्सदृशम् उपादेयं, यत् प्रवृत्त यस्मिन् प्रयोगे, तत् निर्दिष्टं, तत् अङ्गभूतं, वैकल्पिकम् अनङ्गम्। आश्रितखदिरे प्रयोगे पलाशरौहितकावनङ्गभूतौ, तौ न शक्येते यदा खदिरः, तदा एव कर्तुम्, अशक्यं च अश्रुतं। तस्मात् आश्रितखदिरे प्रयोगे इतरौ न उपादेयौ, अनङ्गभूतत्वात्, खदिरस्य सदृशम् अन्वेषितव्यम्—इति॥

सू अशब्दमिति चेत् ॥ २९ ॥ (आ०) ॥

भा 'इति चेत्' पश्यसि,—खदिरसदृशम् उपादेयम्—इति, अशब्दमेवं कृतं भवति। तस्मात् शब्दवत्त्वात् वैकल्पिकम् उपादेयम्॥

सू नानङ्गत्वात् ॥ ३० ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवम्, अनङ्गं तस्मिन् प्रयोगे वैकल्पिकं, आश्रितखदिरो

भा हि स प्रयोगो, यो निर्दिष्टः, तस्य निर्देशात् इतरावश्रुतौ। "ननु निर्देशाभावेऽङ्गभावविरोधः, तेन श्रुतौ—इति। 'किम् अतः?'। यद्येवम्, यदा उपात्तस्य अभावः, तदा श्रवणम्'। नैतदेवं, नैमित्तिकं हि तथा प्रतिज्ञायेत, सति वचने* निमित्ते, असति खदिरे इतरौ श्रुतौ—इति। तत्र को दोषः?। स एव अपेक्षितोऽनपेक्षितश्च—इति विरोधो भवेत्, संस्काराश्च खदिरे कर्त्तव्याः, खदिरसदृशे तद्बुद्ध्या गृह्यमाणे श्रुतबुद्ध्या कृता भवन्ति, वैकल्पिकेन तु श्रुतेन असम्बद्धाः। तस्मात् उपात्तसदृशो ग्राह्यः —इति॥ (६।३।१२ सू०)॥

---

पूतिकस्य सोमप्रतिनिधित्वाधिकरणम्॥

सू वचनाच्चान्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य॥ ३१॥

भा. इदमामनन्ति, 'यदि न सोमं विन्देत् पूतीकानभिषुणुयात्'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अयमभावे निमित्ते विधिः, उत प्रतिनिधिनियमः?—इति। किं प्राप्तम्?—अभावे विधिः—इति। कुतः?। विधानात्, न हि प्रतिनिधिर्विधीयते, साध्यसिद्धये साधनं स्वयमेवोपादीयते, इदं तु विधीयते, तत् कल्पान्तरमप्येवं अर्थवत् भवति। तस्मात् न प्रतिनिधिः।

इत्येवं प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रतिनिधिः' स्यात्। कुतः?। विनष्टे हि साधने साध्यसिद्ध्यर्थं साधनान्तरम् उपादीयते, श्रुतस्य अभावात्। 'ननु अन्याय्याः पूतीकाः, अन्यद्धि सदृशान्तरमस्ति'—इति। तदुच्यते,—'वचनात्',—सदृशे प्राप्ते, बहुषु वा असदृशेषु पूतीका अल्पसदृशा नियम्यन्ते। कथम्?। तद्धि

---

* असति निमित्तवचने इति का० प्री० पु०॥

† अनुमेन गम्यता इति क० ख० पु० एव पा० सो० पु०॥

भा. प्रक्रान्तं कर्म अवश्यं कर्त्तव्यं, तस्याम् अवस्थायाम् अन्तरेणैव वचनं प्रतिनिधेयं द्रव्यान्तरं प्राप्तमेव, प्राप्ते वचनं न विधिः—इति गम्यते; प्राप्तस्य अनुवादो भवितुमर्हति। 'किमर्थम् अनुवादः?—इति चेत्। उच्यते,—अल्पसादृश्यम् अप्राप्तं, तद्विधानार्थम् अनुवादः। प्रयोजनं पच्चोक्तं, प्रतिनिधिपक्षे सोमसदृशस्य उपादानं पूतीकविनाशे, द्रव्यान्तरविधौ पूतीकसदृशम् उपादेयम्॥ (६।३।१३ अ०)॥

---

प्रतिनिध्यपचारे उपात्तद्रव्यसदृशस्य पुनः प्रतिनिधित्वाधिकरणम्॥

सू. न प्रतिनिधौ समत्वात्॥ ३२॥

भा. इदं विचार्यते, श्रुते द्रव्ये उपात्ते अपचरिते प्रतिनिधिम् उपादाय प्रयोगः प्राप्तः, यदा सोऽपि विनष्टः प्रतिनिहितः, तदा किं प्रतिनिधिसदृशम् उपादेयम्, उत उपात्तस्य विनष्टस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—प्रतिनिहिते विनष्टे तत्सदृशम् उपादेयं पूर्वेण न्यायेन। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'प्रतिनिधौ' 'न' स्यात् प्रतिनिधिः—इति। कुतः?। 'समत्वात्', यथैव असौ पूर्वः प्रतिनिहितः श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया; एवम् अयमपि श्रुतचिकीर्षया, न प्रतिनिधिचिकीर्षया। तस्मात् न प्रतिनिधिसदृशम् उपादेयम् उपात्तनष्टस्य एव सदृशोऽन्वेषितव्यः—इति॥ (६।३।१४ अ०)॥

---

श्रुतस्यापि प्रतिनिधेरपचारे उपात्तसदृशस्य पुनः प्रतिनिधित्वाधिकरणम्॥

सू. स्यात् श्रुतिलक्षणे नियतत्वात्॥ ३३॥ (पू०)॥

भा. अथ श्रुतिलक्षणे कथं? यथा, 'यदि सोमं न विन्देत् पूतीकान् अभिषुणुयात्'—इति, पूतीकेषु विनष्टेषु पूतीकसदृशम् उपा-

भा देयम् उत सोमसदृशम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'स्यात् श्रुतिलक्षणे' प्रतिनिधौ प्रतिनिधिसदृशस्य उपादानं कर्त्तव्यम् सोमाभावे पूतीकपर्णयो विहिता', स चायं श्रुतः सोमाभाव। तस्मात् पूतीकपर्णाश्च उपादेयाः—इति॥

सू 'न, तदीप्सा हि॥ ३४॥ (सि०)॥

भा नैतदेव, न हि पूतीकपर्णानामीप्सा, पूतीकेषु यत् सोमसादृश्य, तन्नियम्यते, तथा हि पूतीकविधानं दृष्टार्थम्, असदृशविधानेऽदृष्ट कल्प्येत। अतो यस्मिन् तत् अपूतीकसदृशेऽपि द्रव्ये भवति तत् ग्रहीतव्य, न पूतीकसादृश्यमाद्रियेत—इति॥ (६। ३। १५ अ०)॥

---

मुख्यापचारे तत्प्राप्तौ तस्यैवोपादानाधिकरणम्॥

सू मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात्॥ ३५॥

भा अथ यत्र विनष्टे श्रुते प्रतिनिधिम् उपादातुम् प्रस्थितो मुख्यमेव उपलभते, तत्र किं प्रतिनिधिमेव उपाददीत, उत तमेव मुख्यम्?—इति। किं तावत् प्राप्तं?—प्रतिनिधि' उपादातव्य—इति, एवसङ्कल्पितवानसौ प्रतिनिधिम् उपाददान एव सत्यसङ्कल्पो भवति। तस्मात् प्रतिनिधातव्यम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'मुख्याधिगमे' तमेव उपाददीत, अभावे हि श्रुतस्य, अनुकल्प, प्रतिनिधि, श्रुते हि सकला यज्ञश्च, प्रतिनिधौ विकला.। अथ यदुक्त,—सङ्कल्पभेददोष—इति, श्रुतेषु असौ शिष्टविगर्हणाया वा॥ (६। ३। १६ अ०)॥

---

प्रतिनिधिना प्रारब्धे कर्मणि श्रुतद्रव्यलाभेऽपि प्रतिनिधिनैव समापनाधिकरणम्॥

सू प्रवृत्तेऽपीति चेत्॥ ३६॥ (पू०)॥

भा. अथ अग्निहोत्रादिषु कर्मसु श्रुतद्रव्यापचारे प्रतिनिधौ उपात्ते कृतेषु केषुचित् संस्कारेषु यदि तदेव श्रुतम् उपलभ्येत, किं श्रुतम् उपादीयेत, उत तेनैव प्रतिनिहितेन समापयितव्यम्?—इति। किं प्राप्तम्?—श्रुतम् उपादीयेत प्रवृत्तेऽपि, तदुक्तम्, "आगमो हि तदभावात्"—इति। तस्मात् न प्रतिनिधातव्यम्—इति॥

सू नानर्थकत्वात्॥ ३७॥ (सि०)॥

भा. नैतदेवं, येन हि खदिराभावे कदरे पशुर्नियुक्तो भवति, अथ खदिरम् उपलभते, प्रवृत्तेऽर्थे किं खदिरेण कुर्यात्? अर्थार्थं हि खदिरोपादानं न खदिरोपादानार्थमेव। तस्मात् न श्रुतम् उपादीयेत॥ (६।३।१७ अ०)॥

---

सत्यपि संस्कारयोग्येऽमुख्ये मुख्यस्यैवोपादानाधिकरणम्॥

सू. द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात्॥ ३८॥

भा. प्रवृत्ते पशुकर्मणि, यूपकाले अस्ति महत्कदरं द्रव्यं तक्षणादिसंस्कारक्षमं, अस्ति खदिरद्रव्यम् अनेवंजातीयकं। तत्र किम् उपादेयम्?—इति। संस्कारा न परिलोप्स्यन्ते—इति कदरम् उपादीयेत—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं' प्रति आद्रियेरन्, न संस्कारान्। कुतः?। 'तदर्थत्वात्', संस्कारा हि द्रव्यं कर्मयोग्यं कुर्वन्ति, तत्र संस्कारपरिलोपे द्रव्यमपि तावत् गृह्यते, द्रव्याभावे न द्रव्यं, न संस्काराः, द्रव्यं तेषां द्वारं, वचनप्रामा-

भा. ण्यात्, तदभावे नष्टद्वारं न अपूर्वं गच्छेयुः। तस्मात् खदिरम् उपाददीरन्—इति॥ (६।३।१८ अ०)॥

---

प्रयोजनाधीनस्य मुख्यस्य सर्वेऽपि प्रतिनिध्यादानाधिकरणम्॥

सू. अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात्॥ ३९॥

भा. अस्ति यूपकाले खदिरलता यष्ठोरभागलभ्ये न समर्था, कदरद्रव्यं तु तत् समर्थं। तत्र सन्देहः,—किम् उपादेयं खदिरद्रव्यम्, उत कदरद्रव्यम्?—इति। खदिरद्रव्यम्—इति आह, तद्धि श्रुतं, तत् उपाददानः शास्त्रविहितं करोति, प्रतिनिधौ अश्रुतकारी स्यात्। तस्मात् न प्रतिनिधातव्यम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'अर्थद्रव्यविरोधे' अर्थं प्रति आदर्त्तव्यं, तदर्थं हि द्रव्योपादानं नियोजनात्, अप्रागलभ्यं यष्ठोः भविष्यति—इति, न द्रव्यमेव उपादीयेत—इति, कदरम् उपाददानो द्रव्यश्रुतिं बाधते, अर्थं तु अनुगृह्णाति, खदिरलताम् उपाददानः उभयं बाधते। तस्मात् कदरद्रव्यम् उपादेयम्, द्रव्याभावे हि तदुत्पत्तिः (प्रतिनिधेरुपपत्तिः) उक्ता, द्रव्याणि अर्थं प्रति शेषभूतानि॥ (६।३।१९ अ०)॥

---

प्रधाननिर्व्वाहकत्वे बहुनिर्व्वाहपर्याप्तस्यापि मुख्यस्योपादानाधिकरणम्॥

सू. विधिरप्येकदेशे स्यात्॥ ४०॥ (पू०)॥

भा. सन्ति व्रीहयः, यावन्तो द्यवदानमात्रं निर्वर्त्तयन्ति, तथा सन्ति नीवाराः शेषकार्याणाम् अपि पर्याप्ताः, तत्र किम् उपादेयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'अपि' 'एकदेशे'-द्यव-

भा. दानमात्रेऽपि निर्वर्त्यमाने प्रतिनिधिः उपादेयः। किंकारणम्?। शेषकार्याणां सम्पत्तिर्भविष्यति—इति॥

सू. अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वात् एकदेशेन निर्वर्त्तेतार्थानामविभक्तत्वाद्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्॥ ४१॥ (सि०)॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'एकदेशेन' व्रीहीणां प्रधानमात्रं निर्वर्त्तयितव्यम्। कुतः?। 'अर्थस्य शक्यत्वात्', योऽसावर्थो, येन कार्यं तत्तावत् निर्वर्त्यते, शेषकार्याणि यदि न शक्यानि, न अङ्गानुरोधेन प्रधानस्य गुणो बाधितव्यः। तत् हि अङ्गं, यत् प्रधानस्य उपकरोति, न यत् अपकारे वर्त्तते। तत्र च शेषकार्याणि क्रियमाणानि प्रधाने व्रीहित्वं गुणं विहन्युः, व्रीहित्वं च प्रधाने साक्षादङ्गभूतं श्रूयते,— 'व्रीहिभिर्यजेत'—इति। तस्मात् न तेषु अनुरोधः कार्यः, भवति हि अङ्गप्रधानविभागे एतत् एवं स्यात्, अस्ति हि असौ। तस्मात् न प्रतिनिधिः—इति। तथा च अन्यार्थदर्शनमपि भवति, 'तदेव यादृक् तादृक् होतव्यम्'—इति॥ (६।३।१९ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य तृतीयः पादः॥

षष्ठे अध्याये चतुर्थः पादः॥



अवदाननाशे पुनरवदानार्थम् प्रतिनिधिप्रादानाधिकरणम् ॥

सू. शेषात् द्व्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥ (पू०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वाऽच्युतो भवति'—इति। तत्र यदि द्व्यवदान-मात्रम् उद्धृतं व्यापद्यते, किं शेषात् पुनरवदेयं, न?—इति भवति संशयः। किं प्राप्तम्?—'द्व्यवदाननाशे' 'शेषात्' पुनरव देयं। कुतः?। 'तदर्थत्वात्', अग्न्यर्थं हि तद्धविः, अग्नये यागो निर्वर्त्तयितव्यः—इति, तदवदाने विनष्टे यागः कर्त्तव्य एवावतिष्ठते, प्रयोजनं च यागेन। स च आग्नेयेन क्रियमाणः सुतः एवाभिनिर्वर्त्तितो भवति—इति किमिति न क्रियेत। तस्मात् शेषात् अवदातव्यम्—इति॥

सू. निर्देशाद्वान्यदागमयेत् ॥ २ ॥ (सि०)॥

भा अथ 'वा अन्यत्' हवि 'आगमयेत्' न शेषात् अवदातव्यम्। कुतः?। 'निर्देशात्', निर्देशो हि भवति,—'मध्यात् पूर्वार्द्धात् अवदेयम्'—इति, द्व्यवदानं च होमसम्बद्धं, 'द्व्यवदानं जुहोति' —इति, तत्र अन्यत् शिष्टं मध्यस्य पूर्वार्द्धस्य विशेषणार्थं। यत्र तद्धोमसंयुक्तं तद्विनष्टं, तच्छेषेण क्रियमाणममध्येनापूर्वार्द्धेन च हतं स्यात्। 'ननु अवत्ते यत् शिष्टं ततो मध्यात् पूर्वार्द्धाच्च ग्रहीष्यते'। उच्यते, हाऽवत्तस्य यत् मध्यं पूर्वार्द्धं च तच्चोदितं, न इतरस्य।

अथ वा 'निर्देशात्'—इति, विनष्टे हि अन्यत् द्रव्य निर्दिश्यते,—'यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुः दुष्येयुर्वा अपहरेयुर्वा

भा. आज्येन ता देवताः परिसङ्ख्याय यजेरन्'—इति हविषो नाशे आज्यं प्राप्तम्। तेन न शेषात् अवदातव्यम्—इति।

अपर आह,—शेषनिर्देशात्—इति, निर्दिश्यते हि तच्छिष्टमपरेभ्यः 'शेषकार्य्येभ्यः'—इति, तन्न उपपद्यते, न हि तानि शेषकार्य्याणि हवींषि प्रयोजयन्ति, न च अनिष्टप्रयोजनं हविरन्यच प्रतिपाद्यम्। तस्मात् न अयमर्थः॥ (६।४।१ अ०)॥

---

स्विष्टकृदर्थस्यावदानस्य नाशे अपुनरवदानाधिकरणम्॥

सू. अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणत्वात्॥ ३॥

भा. अथ स्विष्टकृदर्थमवत्तं यदि विनश्यति, तत्र किं शेषात् अवदेयम् उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—पुनः शेषात् अवदेयम्—इति। कुतः?। न अत्र कृत्स्नस्य उत्तरार्द्धादवदीयते*। कस्य तर्हि?। सन्निहितस्य, सति हि प्रयोजने सन्निहितस्य अवदेयम्—इति, तस्मात्† अवदीयमाने श्रुतं कृतं भवति। तस्मात् शेषात् अवदेयम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'शेषभाजां स्यात्' लोपः। कुतः?। 'विशिष्टकारणत्वात्', विशिष्टं हि कारणं तस्य अवदाने, कथं प्रतिपाद्येत?—इति; प्रतिपत्तिश्च विविक्तकरणेन उपकरोति, तस्य विविक्तकरणाय प्रतिपाद्यमानस्य नियमोऽयं स्विष्टकृद्धोमेन प्रतिपादयितव्यः, तथा हि स प्रतिपादितो भवति; स यदि होमायोद्धृतो विपद्येत, कृते विवेके न पुनर्ग्रहणं प्रयोजयेत्, प्रतिपाद्यमानश्च स्विष्टकृद्धोमेन प्रतिपादयितव्यः—इति, प्रतिपाद्यमानाभावात् लोप एव स्विष्टकृतः स्यात्, प्रधाने कृते शिष्टं

---

* उत्तरार्द्धात् स्यद्यते इति सा० सो० पु० पाठः॥

† तस्य इति क० सं० पु०॥

भा. सर्वशेषकार्यसाधारणम्। तच एकस्य उद्धृतौ शिष्टम् अन्यच प्रतिपादनीयम्॥ (६।४।२ अ०)॥

---

ऋत्विजामेव शेषभक्षणाधिकरणम्॥

सू. निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत्॥ ४॥ (पू०)॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तच भक्षाः प्राशित्र-चतुर्द्धाकरण शंयुवाककालाः। तेषु सन्देहः,—किम् अन्ये एव तेषां भक्षयितारः, उत प्रकरणगताः?—इति। किं प्राप्तम्?—'शेषभक्षोऽन्यैः' अप्रकरणस्थैः कर्त्तव्यः। कुतः?। 'निर्देशात्', निर्दिश्यन्ते हि अध्वर्य्वादयः इडाभक्षे, 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति'—इति, सर्वेषु भक्षयितुषु प्राप्तेषु परिसङ्ख्यानार्थो निर्देशः क्रियते,—इडामेव एते भक्षयेयुः—इति, यथा 'आग्नेयोऽष्टाकपालः'—इति सर्वस्मिन् अवयविनि यागानियमे प्राप्ते हवदानमात्रं श्रूयते, विधिर्वा न, प्राप्तत्वात्, न अनुवादोऽनर्थकत्वात्, परिसङ्ख्या तु अर्थवत्त्वाय; एवमेषां परिसङ्ख्या—इति। अपि च यदि प्रकृता एव भक्षयेयुः, अश्वमेधे दोषः स्यात्, बहुत्वात् भक्षाणां, भक्षयन्तो म्रियेरन्॥

सू. सर्व्वैर्वा समवायात्स्यात्॥ ५॥ (सि०)॥

भा. 'सर्वैर्वा' प्रकृतैरेव भक्ष्येत, तद्धि भक्षणं पुरुषसंस्कारार्थं, पुरुषाः संस्कृताः प्रचरिष्यन्ति—इति। तेषु विनिगमनाया अभावात् यावन्तः प्रकरणे समवेताः, ते सर्वे भक्षयेयुरिति॥

सू. निर्देशस्य गुणार्थत्वम्॥ ६॥ (आ० नि० १म)॥

भा. अथ यदुक्तं,—'निर्देशात्'—इति, गुणार्थः सः,—अन्ये कर्म-

भा. कारत्वात् एव प्राप्ताः, तत्र यजमानः तेषां पञ्चमो वचनात् निर्दिश्यते, तत्प्राप्त्यर्थं चेदं वचनम्; ततो न परिसङ्ख्या ॥

सू. प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥ ७ ॥ (आ० नि० २य) ॥

भा. यत्तु द्रव्यदानमात्रं प्रधाने निर्दिश्यते, तत् वचनप्रामाण्यात् परिसङ्ख्यानार्थे, न हि तत्र कस्यचित् अपूर्वस्य विधिः, इह यजमानो विधीयते, विधिपरिसङ्ख्यासंशये विधिर्न्याय्यान्। तत्र स्वार्थे शब्दः, परिसङ्ख्यायां त्रयो दोषाः,—स्वार्थहानम्, अस्वार्थपरिग्रहः, प्राप्तबाधश्च—इति। तस्मात् प्राशिता एव भक्षयेयुः —इति ॥

सू. अर्थवदिति चेत् ॥ ८ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—अश्वमेधे विरोधः स्यात्, बहुत्वात् भक्षाणाम् —इति, तत्परिहर्तव्यम् ॥

सू. न चोदनाविरोधात् ॥ ९ ॥ (आ० नि० ३य) ॥

भा. अश्वमेधे न सर्वं भक्षयिष्यन्ति, अर्थात् सर्वं भक्षयन्तोऽश्वमेधं न समापयेयुः, तत्र अश्वमेधश्रुतिः प्रत्यक्षा, सा विरुध्यमाना चोदकप्राप्तं सर्वभक्षणं बाधते, प्रकृतौ तु न विरोधः। तस्मात् सर्वं प्राशिता भक्षयेयुः—इति ॥ (६।४।२अ०) ॥

---

हविरेकदेशभेदे प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ॥ १० ॥ (सि० ) ॥

भा. स्तो दर्शपूर्णमासौ, तत्र आमनन्ति, 'भिन्ने जुहोति, स्कन्ने जुहोति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं कृत्स्ने भिन्ने स्कन्ने च

भा. प्रायश्चित्तम्, उत एकदेशेऽपि भिन्ने सकले च?—इति। किं पुनः सर्वभिन्नम्, किम् एकदेशभिन्नम्?—इति, चूर्णीकृतम् अयोग्यं प्रयोजनाय, कृत्स्नभिन्नम्; यत् सकले विगतेऽपि प्रयोजनसमर्थम्, तत् एकदेशभिन्नम्—इति। किं प्राप्तम्?—एकदेशभिन्नेऽपि 'प्रायश्चित्तम्'। कस्मात्?। 'अर्थसमवायात्', समवेतं तत्र भेदनम्, एकदेशभिन्नमपि भिन्नम्—इति, एवं प्राप्ते निमित्ते नैमित्तिकं कर्त्तव्यं भवति॥

सू. न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥ ११ ॥ (पू०)॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'न' 'अशेषे' भिन्ने प्रायश्चित्तं स्यात्, विनष्टसंस्कारार्थं हि प्रायश्चित्तम्। कुतः?। एतद्भेदनवता प्रयोजनमस्ति, न होमेन, तेन संस्कृतेन प्रयोगः करिष्यते—इति प्रायश्चित्तम् क्रियते, न च, तेन चूर्णीकृतेन प्रयोगः शक्यते कर्तुम्। तस्मात् प्रायश्चित्तम् अनर्थकम्। एकदेशभिन्नेन तु संस्कृतेन शक्यते प्रयोगः, तस्मात् एकदेशभिन्ने प्रायश्चित्तम् स्यात्—इति॥

सू. स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थेनानित्यत्वात् ॥ १२ ॥ (उ०)॥

भा. 'स्यात् वा' प्रायश्चित्तं, कृत्स्नभिन्नेऽपि। कुतः?। 'प्राप्तनिमित्तत्वात्', प्राप्तं हि निमित्तं भेदनं, प्राप्ते च निमित्ते नैमित्तिकं कर्त्तव्यम्। यत्र उक्तं,—व्यापन्नसंस्कारार्थं प्रायश्चित्तम—इति, न अयं तस्य धर्मः। कुतः?। 'नित्यसंयोगात्', नित्यवत् होमः, अनित्यं हि भेदनं, न हि नित्यम् 'अनित्यस्य उपकर्त्तुम् चोद्यते, यदि नित्यं दर्शपूर्णमासयोरङ्गं नानित्यस्य उपकाराय। कुतः?। कदाचित् अनित्यं नैव स्यात्, तत्र कथं तस्य उपकारकं भवेत्?। तत्र को दोषः?। न शक्यं

भा. नित्येन उपकर्त्तुम्, तेन 'नित्यम् उपकुर्यात्'—इति वचनं प्रलाप एव। अथ नैमित्तिकं, न दोषो भवति। तस्मात् अयमपक्ष एव। अस्मिन् पक्षे यदा भिन्नं, तदा होमः, यदा न भिन्नं, तदा नैव होमो विधीयते; भवद्दीये पक्षे भवति दोषः, नित्यानित्ययोर्नास्ति सम्बन्धः—इति। तस्मात् भिन्नमात्रे प्रायश्चित्तम्—इति ॥

सू. गुणानाञ्च परार्थत्वाद्वचनात् व्यपाश्रयः स्यात् ॥ १३ ॥ (यु०) ॥

भा. असति वचने न गुणो गुणार्थो भवितुमर्हति, प्रकरणतः सर्वं प्रधानार्थम्, भिन्नमपि होमोऽपि, न च भिन्नम् आधारभावेन* उपदिश्यते, भिन्नस्य आधारभावे हि न होमान्तरं विधीयेत। प्रधानस्य एव हि तदा भिन्नो गुणः—इति गम्यते, तत्र आहवनीयसंयोगो बाध्येत। 'वचनाद्विकल्पः'—इति चेत्। न, निमित्तत्वेन सम्भवात्, होमस्य च श्रुत्या विहितत्वात्, यदा होमो विधीयते, तदा श्रुत्या, यदा भिन्नो गुणः, तदा वाक्येन। तस्मात् न आधारो भिन्नः। 'यद्युच्येत,—निमित्तपक्षेऽपि न होमान्तरं, प्रकृतस्यैव होमस्य निमित्तं विधीयेत'—इति। तत्र, अनुपादीयमानं हि निमित्तम्—इत्युच्यते, यदि हि विधीयेत, निमित्तमेव तत् न स्यात्। यदि च यस्यापि निमित्तं सोऽपि उद्दिश्येत, तत्र द्वयोः उद्दिश्यमानयोः सम्बन्ध एव न स्यात्। न च, अत्र भेदनं कुर्यात्—इति विधीयते, भेदने निर्वृत्ते यदन्यत् श्रूयते, तद्विधीयते ॥

सू. भेदार्थमिति चेत् ॥ १४ ॥ (आ०) ॥

भा. अथ उच्येत,—एवमुपायं तत्कपालं सन्धीयते, 'गायत्र्या

* आधारत्वेन इति का० सो० पु० ॥

भा. त्वा शताधारया सन्दधीत'—इति तत्कपालं सन्दधाम्'—इति। तत्र वक्ष्यामः,—

सू. शेषभूतत्वात् ॥ १५ ॥ (आ० नि०)॥

भा. न भेदनस्य शेषभूतं युज्यते, न तत् सन्धातुम् शक्यते होमेन मन्त्रेण वा। सदापि सन्धीयमानस्य भिन्नबुद्धिर्नैवापेयात्॥

सू. अनर्थकश्च सर्व्वनाशे स्यात् ॥ १६ ॥ (यु०)॥

भा. 'सर्वनाशे च श्रूयते,—'भिन्नम् कपालमप्सु प्रवहन्ति'—इति, तत्र अनर्थकः संस्कारः। 'ननु तत उद्धृत्योपधायिष्यते'। न —इति ब्रूमः,—'अन्यत् उपदधाति'—इति हि आमनन्ति। तस्मात् नैमित्तिकं कर्माङ्गं 'भिन्ने जुहोति'—इति॥ (६।४। ४ अ०)॥

---

क्षामे सर्व्वदाहे प्रायश्चित्तानुष्ठानाधिकरणम्। (क्षामेष्टिन्याय)।

सू. क्षामे तु सर्व्वदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीयत्वात् ॥ १७ ॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'अथ यस्य पुरोडाशौ क्षायतः तं यज्ञ वरुणो गृह्णाति, यदा तद्धविः सन्तिष्ठेत अथ तदेव हविर्निर्वपेत्, यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिः'—इति। तत्र सन्देह', —किं सर्वक्षामे प्रायश्चित्तं, उत एकदेशे क्षामे?—इति। किं प्राप्तम्?—क्षामनिमित्तत्वात् कृत्स्ने वा एकदेशे वा। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'क्षामे तु सर्वदाहे स्यात्'—इति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, क्षामे सर्वदाहे प्रायश्चित्तं स्यात्। कुतः?। 'एकदेशस्य अवर्जनीयत्वात्', न शक्यते एकदेशक्षामता वर्जयितुम्, नियतमग्निसंयोगे दाह्यस्य सूक्ष्मा अवयवाः क्षीयन्ते, तस्मिंश्च

भा. कपालेषु अधः पाकार्थं पुरोडाशोऽधिश्रीयते, उपरि च अङ्गारा अभ्युह्यन्ते, तदवर्जनीयं, निमित्तत्वेनापि श्रूयमाणं नित्यमेव स्यात्। तत्र 'यस्य'—इति निमित्तश्रवणम् विवक्षितं स्यात्। तस्मात् सर्वक्षामे प्रायश्चित्तम्—इति॥

सू. दर्शनादेकदेशे स्यात् ॥ १८ ॥ (आ॰)॥

भा. न च एतदस्ति,—सर्वदाहे प्रायश्चित्तम्—इति, एकदेशे क्षायति, भवितुमर्हति, निमित्तं हि उपसम्प्राप्तं क्षाणं नाम, एकदेशक्षाणमपि क्षाणमेव*, यदि तत्र न क्रियते, श्रुतं न क्रियेत, न च एतत् युक्तम्। अपि च दर्शयति,—'यदा तद्धविः सन्तिष्ठेत, अथैतदेव हविर्निर्वपेत्'—इति, तेनैव हविषा संस्थानं दर्शयति, तत् सर्वक्षाणे न अवकल्पते। तस्मात् एकदेशे एव क्षायति प्रायश्चित्तम्—इति॥

सू. अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥ १९ ॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति,—यदुक्तम्,—एकदेशेऽपि क्षायति प्रायश्चित्तम्—इति, किन्तर्हि?—कृत्स्नक्षामे एव प्रायश्चित्तं, उपसंप्राप्तं हि निमित्तं, यत् शास्त्रोक्तं 'पुरोडाशौ क्षायतः'—इति, कृत्स्नस्य क्षातिः न अवयवस्य, न च एकदेशक्षामे, तस्य अवर्जनीयत्वात्। अथ यदुक्तं,—क्षामेण हविषा समाप्तिर्दृश्यते,—'यदा तद्धविः सन्तिष्ठेत'—इति; उच्यते, संस्थाने निमित्ते प्रायश्चित्तं, यदाप्यन्येनापि हविषा तत् संस्थाप्यते, तदापि प्रायश्चित्तम्—इति न दोषः॥

---

* एकदेशक्षाणमपि क्षाणमेवेत्यधिकः का॰ सो॰ पुस्तकस्थपाठोऽत्र न दृश्यते।

सू. तद्धविःशब्दान्नेति चेत् ॥ २० ॥ (आ०) ॥

भा. एवं 'चेत्' उच्यते,—अन्येन हविषा यदा संस्थाप्यते—इति, नैवं, 'तद्धविःशब्दात्', तद्धविःशब्दोऽत्र भवति, 'यदा तत् हविः सन्तिष्ठेत'—इति; अत्र अन्येन हविषा संस्थाप्यमाने तद्धविःशब्दो न अवकल्पेत—इति ॥

सू. स्यादन्यायत्वादिज्यागामी* हविःशब्दः तल्लिङ्ग-संयोगात् ॥ २१ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. 'स्यात्' 'इज्यागामी हविःशब्दः' 'तद्धविः सन्तिष्ठेत' (तद्धविष्कं कर्म सन्तिष्ठेत)—इति। 'ननु मुख्याभावे गौणो गृह्यते, न अन्यथा'—इति। उच्यते, मुख्याभाव एव अयम्। कथं?। यदा सन्तिष्ठेत, तत् कर्म तेन हविषेति वाक्यम्भिद्येत। अवाचकं च स्यात्। कर्मैव हि सन्तिष्ठते, न हविः, तेन निमित्तम्, 'तत् हविः'—इत्यनुवादः। अनुवादश्चेत् अन्यहविष्केऽपि कर्मणि संस्थिते प्रायश्चित्तम्—इति गम्यते। 'कथं पुनर्हविःशब्दः कर्मणि वर्त्तते?'—इति। 'तल्लिङ्गसंयोगात्', हविःसम्बद्धं कर्म हविःशब्देन हविःसम्बन्धात्† अवगम्यते, यथा मञ्चकारितया देवदत्तसम्बद्धया लक्ष्यते सिंहः, एवं हविषापि कर्म लक्ष्यते। तस्मात् इज्याव्यापत्तौ प्रायश्चित्तम्—इति ॥ (६।४।५ अ०) ॥

---

एकहविरार्त्तावपि पञ्चशरावनिर्वापाधिकरणम् ॥

सू. यथाश्रुतीति चेत् ॥ २२ ॥ (पू०) ॥

भा. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'—इति श्रूयते, तत्र

---

* अन्यायत्वात् इति का० ओ० पुस्तके नास्ति।

† हविषु एव मुख्यत्वात् इति भा० दे० प० पाठः।

भा. इदमस्ति वचनं,—'यस्य उभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् उभयस्मिन्* आर्त्ते पञ्चशरावो निर्वप्तव्यः, उत अन्यतरस्मिन्?—इति। किं प्राप्तम्?—'इति चेत्' पश्यसि,—एवञ्जातीयके एकस्मिन्†—इति।

तत्र ब्रूमः,—उभयोः—इति। कुतः?। 'यथाश्रुति' भवितुमर्हति, यत् यत् श्रूयते, तत् अवगम्यते, उभयोश्चार्त्तौ श्रूयते, श्रूयमाणं च विवक्षितुम् न्याय्यम्, इतरथा यावदेव हविः—इति तावदेव उभयं हविः—इति स्यात्। तस्मात् उभयोरार्त्यां पञ्चशरावः—इति॥

सू. न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम्॥ २३॥ (सि॰)॥

भा नैतदेवं, 'उपपातो हि' आर्त्तिसम्बद्धं द्रव्यं, तत् 'कारणं', तस्य लक्षणं हविरार्त्तिः, तत् व्यस्तं समस्तं च निमित्तं, न हि उभयशब्देन शक्यं विशेष्टुम्, विशिष्यमाणे हि वाक्यम्भिद्येत, —हविषः आर्त्तौ पञ्चशरावः, स च उभयस्य हविषः—इति।

'आह, यदि विशेषणं न लभ्यते, हविषापि ते विशेषणं न प्राप्नोति'। तदभिधीयते,—लभ्यामहे हविषा विशेषणम्, अविशेष्यमाणेऽनर्थकं स्यात्, 'यस्य आर्त्तिमार्च्छेत्'—इत्यविशेषे यत्किञ्चित्—इति गम्यते‡, तत्र सर्वस्य एव किञ्चित् आर्त्तिमृच्छति, अन्नतस्यरितं निमिषितं चिन्तितम्§—इति, तत्र 'यस्य'—इति निमित्तवचनं नित्यमनुपपन्नं गम्यते। तस्मात् अवश्यमार्त्तिर्विशेष्टव्या, सा च हविषा विशिष्यते, तथा हविः

---

* उभयस्मिन्निति का॰ क्री॰ पु॰ पाठः।

† 'एवञ्जातीयके कस्मिंश्चिदिति' इति पाठः स॰ सं॰ पु॰ एवं का॰ सो॰ पु॰ पाठ

‡ अविशेषात् यत्किञ्चिदिति क्रमेण इति का॰ क्री॰ पु॰ पाठः।

§ चिन्तितमिति का॰ क्री॰ पुस्तके नास्ति।

भा. आर्त्तिसम्बन्धनिर्वृत्तिनिमित्तं पञ्चशरावस्य ; शक्नोति हि श्रुत्या तं सम्बन्धं वक्तुम्। हविरुभयसम्बन्धं तु वाक्येन ब्रूयात्, दुर्बलं च वाक्यं श्रुतेः।

'ननु हविरार्त्तिसम्बन्धोऽपि वाक्येन एव'। उच्यते, आर्त्ति-निर्वृत्तिरपि तत्र गम्यते, सा च श्रुत्या, हविरुभयसम्बन्धेऽत्यन्तं श्रुतिरपन्ह्नीयते। तस्मात् न तत्सम्बन्धो निर्वर्त्यमानो नि-र्दिश्यते—इति। 'कथं तर्हि उभयशब्दः?'। 'उभयम्'—इति नित्यानुवादः, एकस्मिन् अप्यार्त्ते अपरस्मिन् अपि। तस्मादुक्तं 'यस्य उभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत्'—इति।

'अथ कस्मात् न पदद्वयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तं प्रतीयते?—इति, यस्य उभयगुणविशिष्टं हविरार्त्तिमार्च्छेत्—इति'। अत्र उच्यते, कथं तावत् भवान् मन्यते, विशिष्टेन अर्थेन विशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्?—इति। 'आह, विशिष्टार्थस्य सन्निधानात् विशिष्टोऽर्थो आर्त्तिर्लक्षितः'। किं पुनः स्यात् यद्येवं भवेत्?। 'तत उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्—इति गम्यते'। अत्र उच्यते, इदं तावत् देवानांप्रियः प्रष्टव्यः, यस्यापि हि विशिष्टार्थः आर्त्तिलक्षितो भवति, किं तस्याविशिष्टो दण्डः पराणुद्यते?। 'किम् अतो यत्र पराणुद्यते?'। एतदतो भवति, अविशिष्टगताप्यार्त्तिर्निमित्तं पञ्चशरावस्य भवति। 'ननु उभय-शब्दो हविर्विशेषयति'। न, हविःशब्देनासम्बध्यमानः तत्र शक्नोति विशेष्टुम्। 'आनन्तर्यात् सम्भंत्स्यते तर्हि'। तथापि न समर्थः, न हि असौ निवृत्तिं प्रयोजयति।

'आह, विशेषवचनत्वात् तन्निवर्त्तको भविष्यति; यथा शुक्ला गौरानीयताम्—इति, न, एवम् अभिहिते कृष्णाम् आनयन्ति, शुक्लशब्दः एनां गां कृष्णादिभ्यो निवर्त्तयति'। उच्यते, विषम उपन्यासः, न तत्र गवाकृत्या द्रव्यं लक्षयित्वा, तस्यानयनम् उच्यते, तत्रापि चेदेवम् अभविष्यत्, नैव एनां

11. मुख्यशब्दो* यद्येष्यत, उभयविशेषणविशिष्टं तु तत्र आनयनं प्रधानम् उच्यते, इह पुनराप्तिहविर्लक्षिते द्रव्ये पञ्चशरावः। 'किं पुनः कारणम्, प्रधानभूते आख्यातार्थे संहृत्य विशेषणं भवति, परार्थे पुनर्वियुज्य?—इति'। उच्यते, प्रधानभूते आकृतिर्गुणो वा तत्सम्बन्धार्थम् उच्यते, तत्र उभयविशेषणविशिष्टः एकस्मात् वाक्यात् अवगम्यते, तद्विशिष्टं च ज्ञात्वा ज्ञाती भवति, अन्यतरविशिष्टं कुर्वन् अश्रुतं कुर्यात्, यत्र पुनराकृतिलक्षिते द्रव्ये आख्यातार्थः कीर्त्यते, तत्र सर्वेष्वेव तज्जातीयेषु उक्तो भवति, न तत्र एकस्मिन् निर्वृत्ते ज्ञातं मन्येत, अपरस्मिन् अपि हि आकृतिलक्षिते तत् उक्तमेव, तत्र उक्तम् अप्रतिषिद्धं च किमिति न क्रियेत? आख्यातार्थे पुनः प्रधाने न तस्य आकृतिलक्षितेन सम्बन्धः, तत्र तदाकृतिकान्तरे अनुषज्यमाणेऽपि ज्ञातमेव प्रधानं, सगुणं च प्रधानं भवति, न च किञ्चित् श्रुतं हीयेतेति, तस्मात् तत्र विशेषणं युक्तं, न तु इह तथा, इह हि 'हविराकृतिकस्य द्रव्यस्य आर्त्तौ पञ्चशरावः'—इत्युक्तं, तत्र शक्यं विशेषवचनेन प्रतिषेधावाचकेन निवर्तयितुम्।

अपि च उभयशब्दे हविषा सम्बध्यमानेऽपि नैव उभयविशिष्टा आर्त्तिः प्रतीयते। 'किंकारणं?'। हविषा उभयशब्दः सम्बध्यते, न 'आर्त्तिमार्च्छेत्'—इत्यनेन पदेन, तत्र सन्निहितेऽपि उभयशब्दे हविःशब्दस्य यावानर्थः, तावतैवार्त्तिः सम्बध्यते, अविशिष्टश्च तत्र अर्थः। तस्मात् न उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्—इति।

'अथ आर्त्यान्वयविभक्तियोगात् उभयशब्दस्य, उभयविशिष्टा आर्त्तिः—इत्युच्यते'। तत्र, विभक्तिसंयोगो हि हविर्विशेषणम् उभयशब्दं शक्नुयात् कर्तुम्, समभिव्याहारात्, न आर्त्तिविशेषणं, न हि, अस्य आर्त्त्या हविर्विशिष्टस्य समभिव्याहारोऽस्ति।

* पञ्चशरावादिति अधिकः पाठः का॰ सो॰ पु॰ ।

† ज्ञाती इति का॰ सो॰ पु॰ पाठः ।

भा. 'अथ उच्यते,—असत्यपि समभिव्याहारे आर्त्तिशब्दसन्निधानात् तद्विशिष्टैवार्त्तिः प्रत्येष्यते'—इति। तन्न, असत्यां हि आकाङ्क्षायां सन्निधानम् अकारणं भवति, यथा भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य—इति। 'एकवाक्यगतत्वात् तद्विशिष्टं गम्यते—इति चेत्'। नैतदेवम्, एकस्मिन् अपि वाक्ये तदवयवभूतस्य अनपेक्षितस्य नैव भवति सम्बन्धः, यथा, अश्वेन व्रजति श्वेतेन पटेन प्रावृतः—इति, न अनपेक्षितस्य अश्वस्य श्वैत्यं विशेषणं भवति।

'अथ उच्यते,—आर्त्तिविशिष्टेन हविषा उभयस्य सम्बन्धः'—इति। तदपि नोपपद्यते, न हि 'आर्त्तिमार्च्छेत्'—इति हविर्विशेषणत्वेन उपादीयते, किन्तर्हि?—पञ्चशरावस्य निमित्तत्वेन, हविरार्त्तिः उभय पञ्चशरावसम्बन्धे यौगपद्येन अभ्युपगम्यमाने वाक्यम्भिद्येत।

'अथ हविः आर्त्तिलक्षितेन सम्बद्धं, 'आर्च्छेत्'—इति पुनः हविर्विशिष्टेन उभयशब्देन सम्बध्येत'। तथापि वाक्यम्भिद्येत। तस्मात् न उभयविशिष्टा आर्त्तिर्निमित्तम्।

'आह, यथैव आख्यातार्थप्राधान्ये उभयविशिष्टा उच्यते—इति न अन्यतरविशिष्टा निमित्तम् गम्यते, एवम् इतरस्मिन् अपि पक्षे उभयविशेषणविशिष्टा वा उच्यते—इति यद्यपि स्वेन आत्मनाऽविशिष्टा, तथापि अन्यतरविशिष्टा भवन्ती न निमित्तं भवितुमर्हति—इति, को विशेषः?'—इति। तदभिधीयते, मत्पक्षे उपादेयत्वेन विशेषणद्वयं, त्वत्पक्षे पुनर्लक्षणत्वेन। 'आह, किम् अतः, यत् लक्षणत्वेन?'। उच्यते, एतत् अतो भवति, हविरार्त्त्या लक्ष्यते द्रव्यं, तस्य किञ्चित् वक्तव्यम्—इति तत् अलक्षितम् उच्यमानं न विज्ञायेत कस्य स्यात्?—इति, अथ वा सर्वस्यैव द्रव्यस्य—इति गम्येत; तस्मिन् उभयस्मिन् अध्यधिश्रिते सति तस्य आश्रयं लक्षयितुम् हविरार्त्तिः उच्यते,

भा. तत्र द्वयमापतति, यत् हविरार्त्तिकं तदार्त्तम्—इति, यद्वा यत् हविरार्त्तिकं, तदुभयम्—इति, यदि तावत् यत् हविरार्त्तिकं तदार्त्तम्—इत्यपेक्ष्यते ततो हविरार्त्तिकम् उभयम् अनुभयं वा आर्त्तं निमित्तम् गम्यते। अथ यत् हविरार्त्तिकं तत् उभयम्—इति ततो न आर्त्तिर्हविषा विशेष्यते। हविषा अविशिष्यमाणायाम् आर्त्तौ उभयशब्दो हविर्विशेष्यति—इति नैतत् अवकल्पते। 'कथम्?'—इति। एवं किल विशेष्येत, यत् हविरार्त्तिकम् उभयम्—इति, तत्र पुनर्वक्तव्यम्, यत् हविरार्त्तिकम् उभयं, तचेदार्त्तम्—इति, कथं तेन विशिष्टेन आर्त्तिः सम्बध्येत?—इति, न पुनः उभयहविःशब्दौ च आर्त्ति-विशेषणार्थम् उच्चार्येयाताम्। अथ पुनरुच्चारणं न क्रियते, तथा यद्यपि हविःशब्दः तक्षेण आर्त्युभयाश्रयलक्षणार्थं न उच्चार्येत, अविशिष्टम् आर्त्तिलक्षणं स्यात्, अविशिष्टम् उभयस्य; विशिष्टे इष्टे पुनरुच्चारणं कर्त्तव्यम्, तत्र वाक्यभेदः।

एवम् उभयशब्दो यदि आर्त्त्या सम्बध्येत न हविर्विशिष्टं स्यात्, तत्र अविशिष्टस्य हविष आर्त्तिर्निमित्तम्, स्यात्। अथ हविःशब्देन सम्बध्येत, पुनरार्त्तिसम्बन्धार्थे हविःशब्दसहितम् उच्चार्येत, तचैतत्—इति वा सर्वनाम्ना निर्दिश्येत, तत्र स एव वाक्यभेदः।

उपादेयत्वे पुनर्न अन्योन्यविशेषणत्वेन प्रयोजनं; इयमपि आर्त्तिं विशिष्टम् उच्चार्येत, तत्र न अन्यतरविशिष्टा आर्त्ति-र्निमित्तम् भविष्यति; लक्षणत्वे तु अन्यतरविशिष्टा भवति —इत्येष विशेषः। अपि च, सर्वस्यैव पदस्य पदान्तरसम्बन्धे सति च, शब्दाकृते तृतीयेन पदेन सत्यां गतौ सन्निहितेनापि सम्बन्धो न युक्तः, न हि भवति, 'भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य' —इत्यत्र राजा पुरुषविशेषणम्, असत्यान्तु गतौ उपादेयस्य अनेकस्यापि प्रधानेन सम्बन्धोऽवकल्पते व्यवहितेनापि; व्यव-

भा धानात् अर्थो बलीयान्—इति, लक्षणत्वे तु, लक्षणद्वयसन्निपातेऽवश्यंद्वयोरन्यतमस्मिन् व्यवहितो गुणो वा-ह्वातव्यो भवति॥ (६।४।६ अ०)॥

---

होमाभिषवोभयकर्तुरेव भक्षाधिकरणम्॥

सू होमाभिषवभक्षणं च तद्वत्॥ २४॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि भक्षान् भक्षयन्ति'—इति। तत्र अन्येन वचनेन अभिषव उक्तः, यजतिना होमः, तौ तावत् न विधीयेते, न च तयोः क्रमः, अर्थात् एव हि स प्राप्तः; तस्मात् एककर्तृकं होमाभिषवाभ्यां भक्षणं विधीयते,—अभिषवे कृते होमे च तत्कर्तृभिः भक्षणं कर्त्तव्यम्—इति। तत्र एष सन्देहः,—किम् उभयं यः कुर्यात् स एव भक्षयेत्, उत अन्यतरेणापि भक्षणम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'होमाभिषवभक्षणं च तद्वत्, तद्वदेव स्यात्, यद्वद्विष आर्त्तिः। कथं?। नैतदेवम् सम्बध्यते,—अभिषुत्य ततो हुत्वा ततो भक्षयेत्—इति, न अनेन अभिषवस्य होमस्य च क्रमः कीर्त्यते, अभिषुत्य ये जुह्वति, ते भक्षयन्ति—इति, वाक्यं हि एवम्भिद्येत,—अभिषुत्य भक्षयन्ति, हुत्वा भक्षयन्ति—इति। तस्मात् होमाभिषवयोः परस्परेण सम्बन्धो नास्ति—इति एकेनापि भक्षणं सम्बध्येत, अपरेणापि, अभिषुत्य भक्षयन्ति*—इति। तस्मात् अन्यतरेण निमित्तेन भक्षणं भवति—इति॥

सू उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम्॥ २५॥ (सि०)॥

भा उभाभ्यां वा निमित्ताभ्यां भक्षयेत्, न भक्षणं होमाभिषवयो-

---

* अत्र 'हुत्वा भक्षयन्ति' इति अधिकः पाठः आ० मो० पु०॥

भा धर्मौ विधीयते, किं हि स्यात् यदि तयोर्धर्मौ विधीयेतं? होमाभिषवौ प्रधानम्—इति भक्षणं गुणः प्रति-प्रधानं भिद्येत। अथ पुनः उभाभ्यां निमित्ताभ्यां भक्षणं विधीयते, तस्मिन् विहिते एकोऽर्थो विहितो भवति, तेनैकं वाक्य, तदेतावति पर्यवसितं भवति, अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्ति—इति। तत्र एतदवान्तरं वाक्यं, 'हुत्वा भक्षयन्ति'—इति, न च महावाक्ये सति अवान्तरवाक्यं प्रमाणं भवति, पदान्तरस्य बाधनात्, यथा, 'नोद्यन्तमादित्यमीक्षेत'—इति प्रतिषेधो गम्यते महावाक्यात्, अवान्तरवाक्यात् ईक्षणविधानम्। तस्मात् अन्यतरन्निमित्तं भक्षणम् अश्रुतं, महावाक्यात् इदम् अवगम्यते, द्वे निमित्ते भक्षणस्य—इति, भक्षणं च अन्यथा कुर्वन् श्रुतं परित्यजेत्। तस्मात् उभाभ्यां भक्षणम्—इति॥ (६।४।७ अ०)॥

---

पुनराधानं प्रति यज्ञानुगमद्वयस्य निमित्तताधिकरणम्॥

सू पुनराधेयमोदनवत्॥ २६॥ (पू०)॥

भा अग्निहोत्रे श्रूयते,—'यस्योभावनुगतावग्नी अभिनिम्लोचेत्, यस्य वाऽभ्युदियात् पुनराधेयमेव तस्य प्रायश्चित्तिः'*—इति; तत्र सन्देहः,—किम् अन्यतरानुगमने पुनराधेयम्, उत उभयानुगमने?—इति। किं प्राप्तम्?—'पुनराधेयमोदनवत्' स्यात्, यथा पञ्चशरावोऽन्यतरस्य आर्त्तौ भवति, एवं पुनराधेयम् अन्यतरानुगमने भवितुमर्हति, वाक्यभेदप्रसङ्गात्—इति, यथा इह यक्ष्ये, इह सक्तं करिष्यामि—इत्येवमेवाभिसम्बन्धः† —इति॥

---

* आहवनीयगार्हपत्यावुभावग्नी अनुगतौ नष्टौ यदा भवतस्तदा सूर्य्यस्य अस्तमय उदयो वा यदि भवेत तदा पुनराधेयं कार्य्यमित्यर्थः इति माधवः॥

† इत्येवैनमेव तत्र सम्बध्यते इति का० क्री० पु० पाठः॥

सू. द्रव्योत्पत्तेर्वोभयोः स्यात् ॥ २७ ॥ (सि०)॥

भा द्रव्ये विनष्टे तस्यैव द्रव्यस्य उत्पत्तिरत्र प्रायश्चित्तं, तस्य* दृष्टं प्रयोजनं, कथं द्रव्यं भवेत्?—इति पुनराधानं क्रियते; तत्र एष धर्मो,—द्वावग्नी सह उत्पद्येते, न पृथक्त्वेन; तत्र, अन्यतरानुगमने न शक्यते एक आधातुम्, विगुणं स्यात्। 'अथ द्वितीयमभ्यादधीत'। स यदि तावदाहवनीयः, तत्र आहवनीयोऽन्यो होमार्थो विद्यते एव—इति न स होमाय स्यात्। यस्तु होमार्थम् उत्पाद्यते स आहवनीयः, यत एष संस्कारशब्दः, संस्कारशब्दश्च एकेनापि संस्कारेण विना न भवति, एषोऽपि च संस्कारः, यत् होमार्थता, 'यत् आहवनीये जुहोति'—इति श्रूयते, तत् एकस्मिन् अनुगते, एकस्मिन् आधीयमाने वैगुण्यं, द्वयोरपि हि वैगुण्यमेव। तस्मात् न एकस्मिन् अनुगते पुनराधेयम् अशक्यत्वात्—इति॥ (६।४। ८ अ०)॥

---

पञ्चशरावनिर्वापस्य कर्मान्तरताधिकरणम्॥

सू. पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात्॥ २८॥ (पू०)॥

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'यस्य उभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत् ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं हविषि आर्त्ते पञ्चशरावः प्रतिनिधिः, उत निमित्ते कर्मान्तरम्?—इति। 'कथं प्रतिनिधिः, कथं कर्मान्तरम्?'—इति। यद्येवम् अभिसम्बन्धो भवति,—पञ्चशरावं निर्वपेत् (कुर्यात्)—इति,

---

* तथा इति क० सं० पु०॥

भा ततः साम्नाय्यस्य कार्ये पञ्चशरावः प्रतिनिधिः—इति ; अथ न पञ्चशरावो निर्वपतिना, किन्तु देवतया सम्बध्यते* पञ्चशरावम् ऐन्द्रं कुर्यात्—इति, ततो निमित्ते यजतिर्विधीयते।

किं तावत् प्राप्तम्?—'पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात्', 'पञ्चशरावः' साम्नाय्यस्य 'प्रतिनिधिः'। कुतः?। 'द्रव्यश्रुतेः', द्रव्यस्य निर्वापे श्रवणं, न इन्द्रसम्बन्धः। कुतः?। एवं निर्वापविधिर्भविष्यति, तत्र श्रुतिर्विधायिका, इतरथा द्रव्यदेवतासम्बन्धे वाक्यं स्यात्, तच्च दुर्बलं श्रुतेः। तस्मात् प्रतिनिधिः—इति ॥

सू चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि ॥ २९ ॥ (सि०)॥

भा निमित्ते वा यजतिः कर्मान्तरं, 'द्रव्यदेवताविधिः'; द्रव्यदेवतम् इह श्रूयते,—'पञ्चशरावम् ऐन्द्रं कुर्यात्'—इति, इतरथा हि 'ऐन्द्रम्'—इति प्रमादपाठोऽवगम्येत। ऐन्द्रमाहेन्द्रयोर्वा अयथार्थानुवादः 'ऐन्द्रम्'—इति स्यात्। 'अवाच्ये हि' ते देवते, ऐन्द्रशब्देन इन्द्रो महेन्द्रश्च न शक्योऽनुवदितुम्; विशेषणत्वे वाक्यभेदः। 'ननु श्रुतिर्बलीयसी'—इत्युक्तम्। सत्यमेवं, किन्तु इतरस्मिन् पक्षे बाध्यतेतरां श्रुतिः, ऐन्द्रशब्दस्य श्रुतत्वात्॥ (६।४।९ अ०)॥

---

पञ्चशरावयागस्य नैमित्तिकदर्शयागाङ्गताधिकरण

सू स प्रत्यामनेत् स्थानात् ॥ ३० ॥ (पू०)॥

भा. स एष नैमित्तिको यागः, किम् अमावास्यां प्रति आमनेत्,

---

*पञ्चशरावो देवतया सम्बध्यते इति का० कौ० पु० पाठः। पञ्चशरावो न निर्वपतिना सम्बध्यते इति का० सो० पु० पाठः।

भा. न?—इति। किं प्राप्तम्?—'स प्रत्याम्नेत्, स्थानात्', 'स' एष यागः अमावास्यां प्रति आम्नातुमर्हति। कुतः?। 'स्थानात्', यागे विनष्टे याग एष श्रूयमाणो यदि न नष्टस्याङ्गं, ततोऽर्थवान् भवति; अथ अङ्गं, निष्प्रयोजनस्यार्थे क्रियमाणं निष्प्रयोजनमेव भवितुमर्हति, विगुणं च निष्प्रयोजनमेव, विनष्टमामावास्यम्—इति प्रत्यक्षम्, इदम् अपि कर्त्तव्यम्—इति शाब्दं, यत् विनष्टं, तत् निष्फलम्—इति न कर्त्तव्यम्; इदं च कर्त्तव्यम्—इति प्रत्याम्नायोऽवगम्यते॥

सू. अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात्॥ ३१॥ (सि०)॥

भा. अङ्गं वा एतत् विधीयते, हविष आर्त्तौ निमित्ते यागः श्रूयते, तत्र त्रयमापतति,—यद्वा निमित्ते स्वतन्त्रं कल्प्यं फलं, यद्वा अमावास्याया यत् कार्यं तदस्य, यद्वा तस्य अङ्गम्—इति। स्वप्रधानं तावत् न, कल्प्यत्वात् फलस्य। न अमावास्यायाः कार्ये। किं कारणम्?। अश्रवणात्, नैवं श्रूयते,—तस्याः कार्ये वर्त्तते—इति, कर्त्तव्योपदेशेनापि न अन्यतमाश्रवणात् त्रिषु एषु पक्षेषु; तेषु च पक्षेषु विवक्षितेषु कर्त्तव्योपदेशोऽवकल्पते।

'ननु एवम् अभिसम्बन्धो भविष्यति,—यस्य उभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत् स एतेन यागेन साधयेत्, यत् साधयितुकामः; किञ्च असौ साधयितुकामः, यदमावास्यायाः फलम्'—इति। अत्र उच्यते,—फलपदेन सम्बन्धाभावात् सम्बन्धस्य विधायकं वाक्यं, श्रुत्या च यागकर्त्तव्यता विधीयते, सा च वाक्यात् बलीयसी। तस्मात् न तत्कार्ये वर्त्तते—इति। किन्तर्हि प्रयोजनम्?। तस्या अमावास्याया अङ्गम्। 'ननु एतदपि नास्ति तस्या अङ्गम्'—इति। अत्र उच्यते,—तत्सम्बन्धेन समाम्नानात्* तत्प्रयोगवचनेन गृह्यते, दर्शपूर्णमासाभ्यां फलं

* तत्प्रयोगविधिसमाम्नानात् इति का० श्री० पु० पाठः॥

भा. साधयेत् सर्वैरङ्गैः सह, अस्यां च आर्त्तौ एष याग इतिकर्त्तव्यता —इति। तस्मात् एवम् अवगम्यते,—विनष्टे हविषि आमावास्यं यद्य शक्नोति स्वकार्यं कर्तुम्, तत् अनया इतिकर्त्तव्यतया सहितं शक्नोति—इति। तस्मात् निमित्ते कर्माङ्गम्—इति ॥ (६। ४। २० अ०)॥

---

सत्रायागूर्य्याप्रवृत्तस्य विश्वजिदावश्यकताधिकरणम् ॥

सू. विश्वजित्त्वप्रवृत्ते भावः कर्म्मणि स्यात् ॥ ३२ ॥ (सि०)॥

भा. एतदाम्नायते,—'सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्यः, आत्मानमागुरते, यः सत्राय आगुरते, विश्वजिता अतिरात्रेण सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेत, सर्वाभ्यः एव देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्यः, आत्मानं निष्क्रीणीते'—इति, सत्राय आगोरणे निमित्ते विश्वजित् श्रूयते। तत्र सन्देहः,— किं सत्राय आगूर्य्य यः सत्रं प्रयुङ्क्ते, तस्य विश्वजित्, उत यो न प्रयुङ्क्ते तस्य?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—यश्च प्रयुङ्क्ते, यश्च न—इति अविशेषात्; अथ वा प्रयुञ्जानस्य। कुतः?। निमित्ते कर्माङ्गम् एवञ्जातीयकम्—इत्युक्तं, तत् अप्रयुज्यमानस्य कथम् अङ्गं स्यात्?—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'विश्वजित्तु अप्रवृत्ते' भवेत्, सत्रस्य क्रियाया अभावे विश्वजित्। किं कारणम्?। एवं हि श्रूयते,—'यः सत्राय आगुरते, स विश्वजिता अतिरात्रेण यजेत'—इति, यः सत्रं करिष्यामि—इत्येवम् आगुरते, स विश्वजिता यागेन साधयेत्—इति, यदर्थम् असौ सत्रं कर्तुमिच्छति, तदर्थम्—इति गम्यते। 'कथम्'?। य आगुरते, स तेन यजेत, यागेन निर्वर्त्तयेत्—इति वाक्यार्थो गम्यते, न यागं निर्वर्त्तयेत्—इति। कुतः?। यागस्य गुणत्वेन श्रवणात्। 'कथम् तस्य गुणत्वम्?'।

भा तृतीयानिर्देशात्, प्राधान्ये हि फलं कल्प्येत। इतरस्मिंस्तु पक्षे प्रत्यक्षात् वाक्यात् फलावगमः॥

सू निष्क्रयवादाच्च ॥ ३३ ॥ (यु०) ॥

भा एवं तत्र श्रूयते,—'सर्वाभ्यो वा एष देवताभ्यः, सर्वेभ्यः पृष्ठेभ्य यत् आत्मानं निष्क्रीणीते'—इति, निष्क्रयद्वारेण च संस्तवः प्रवृत्ते न युज्यते। तस्मात् अप्रवृत्ते विश्वजित्—इति। 'अथ कस्मात् नेयमभिसम्बन्धः क्रियते?—आगूर्यं सत्राय विश्वजिता यजेत—इति, विश्वजितः सत्रस्य च सम्बन्धो विज्ञायेत, आगोरणवेलायाम्'—इति। नैवम्, आगोरणविशेषणं हि सत्रं सत्रविश्वजित्सम्बन्धे व्यवहितकल्पना स्यात्। श्रुतिश्च पुरुषेण विश्वजितं सम्बन्धयति,—'विश्वजिता यजेत पुरुषः'—इति, न सत्रेण; सत्रस्य विश्वजित् यागः—इति, 'आगूर्यं'—इति च; एवं श्रवणम् अर्थवत् भवति। सत्राङ्गत्वे तु अर्थप्राप्तं न वक्तव्यम्, न च, आगूर्यं यजेत—इति आगोरणानन्तर्यं शक्यं विधातुम्, अप्रत्ययार्थो हि तदा आश्रीयेत, समानकर्तृकता हि गम्यते, पूर्वकालभावस्य च अर्थप्राप्तत्वात् न वक्तव्यता। तस्मात् 'आगूर्यं'—इत्यनेनैव विश्वजितः सम्बन्धः, स चेत्, आगूर्य* न सत्रेण यजेत तस्य विश्वजित्—इति॥ (६।४।११ अ०)॥

---

बर्हिषेत्यादिसूत्रे व्रतकालविधानार्थताधिकरणम् ॥

सू वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥ ३४ ॥ (पू०)

भा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते,—'बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतम् उपयन्ति, वत्सेन अमावास्यायाम्'†—इति। तत्र सन्देहः,—किं

---

* न आगूर्य इति का० मी० पु० पाठः ॥

† पूर्णमासे व्रतमुपयन्ति बर्हिषेति का० मी० पु० पाठः । अत्र व्रतं भोजनमिति माधवः ॥

भा. वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते, उत व्रतस्य कालः—इति, अथ वत्सो व्रताङ्गम्—इति। किं प्राप्तम्?—वत्ससाधनकं व्रतं विधीयते?—इति, अमावास्यायां वत्सैर्व्रतं कुर्यात्—इति, वत्स-व्रतसयोगोऽपूर्वः, स विधीयते, तस्मिंश्च विधीयमाने उभयमपि विहितं भवति वत्सो व्रतञ्च॥

सू. कालो वा उत्पन्नसंयोगात् यथोक्तस्य॥ ३५॥ (सि०)॥

भा. 'यथोक्तस्य' (वचनान्तरेण प्राप्तस्य) कालोऽयं विधीयते। कुतः?। 'उत्पन्नसंयोगात्', उत्पन्नसंयोगोऽयं व्रतस्य, न उत्पत्तिसंयोगः। कथम्?। 'अमावसमांसं वङ्क्षर्पिष्कं व्रतं व्रतयन्ति'—इति विहितं पूर्वं व्रतम्, अप्रज्ञातश्च कालः, तस्मात् कालविधिरिति॥

सू. अर्थापरिमाणाच्च॥ ३६॥ (यु०)॥

भा. न च शक्योऽप्यर्थः परिमातुम्,—'वत्सेन व्रतम् उपयन्ति' —इति किं वत्सोऽपि व्रतयितव्यः? (एवं वत्सेन व्रतम् उपगतं भवति), किं वत्सेन.स्वतत्स्थानीयेन व्रतयितव्यम्?—इति (एवं तदुपेतं भवति), उत वत्सं सन्निधाय तदुपेयात्?—इति, नैव व्यवतिष्ठते शास्त्रार्थः, करणं हि एतत् निर्दिष्टं, न इति-कर्त्तव्यता; एतावत् उक्तं,—वत्ससाधनं व्रतं कुर्यात्। कथम्? —इत्येतदविशेषाकाङ्क्षमेव अवतिष्ठेत, नैव अर्थः परिच्छिद्यते, व्रते किं वत्सेन क्रियते—इति, अथ वा यदा तदेति? तथा वत्सो व्रतेन सम्बध्यमानः दृष्टः स्यात्, अपरार्थतामापद्येत, परार्थतां च अस्य द्योतयति विभक्तिः तृतीया, साधकतमे हि सा भवति। तस्मात् अपि कालार्थः संयोगः॥

सू. वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात्तदङ्गं स्यात्॥ ३' (२

भा. यदुक्तं,—विहितत्वात् व्रतस्य

भा यत्तूक्तं, कालविधानार्थः—इति, तन्न, 'वत्स.' तदङ्गत्वेन विधीयते। कुतः?। 'श्रुतिसंयोगात्', वत्सेऽङ्गे विधीयमाने श्रुतिः निमित्तम्, काले लक्षणाशब्दः स्यात्! श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या। तस्मात् अङ्गं वत्सः—इति॥

सू कालस्तु स्यादचोदना॥ ३८॥ (उ०)॥

भा 'कालस्तु' एष निर्दिश्यते, न वत्सोऽङ्गं विधीयते, नैषा चोदना, बर्हिषा वै पौर्णमासे व्रतम् उपयन्ति, वत्सेन अमावास्यायाम्—इति। कथम् अवगम्यते?। विधिना एकवाक्यत्वात्, परस्तात् विधिः समाम्नायते, 'पुरा वत्सानाम् उपाकर्त्तोर्दम्पती अश्नीयताम्'—इति, यदि एषोऽपि विधिः स्यात्, वाक्यभिद्येत, अनुवादश्च तथाभूतस्य अर्थस्य भवति, न च वत्साङ्गता प्रमाता, प्रमातस्तु कालः॥

सू अनर्थकश्च कर्मसंयोगे॥ ३९॥ (यु० १)॥

भा न च, शक्यो वत्सोऽव्रतयितुम्, कर्मसंयोगे वत्सेन न अर्थं शक्यते कश्चित् कर्तुम्। तस्मात् अपि न वत्सोऽङ्गम्॥

सू अवचनाच्च स्वशब्दस्य॥ ४०॥ (यु० २)॥

भा न च एतदुच्यते, विशयस्य अपितं वत्सं व्रतयिष्यते—इति, न च, अस्य अर्थस्य स्वशब्दः श्रूयते, 'वत्सः'—इत्याकृतिशब्दः मासे न वर्त्तते। तस्मात् एष काल.—इति॥ (६।४।१२ अ०)॥

---

बर्हिर्वत्सायुक्तकालस्य सम्पत्सन्नयत्सुभयसाधारणताधिकरणम्॥

सू कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात्॥ ४१॥ (पू०)॥

भा. कालार्थः संयोग'—इत्येतत् समधिगतम्; इदानीं सन्देहः,—

भा किं सन्नयत्पक्षे एव कालः, उत असन्नयतोऽपि?—इति। किं प्राप्तम्?—'सन्नयत्पक्षे'। कुतः?। एवं श्रूयते, 'पुरा वत्सानामपाकर्त्ता'—इति, न च असन्नयतो वत्सापाकरणमस्ति, तस्मात् सन्नयत्पक्षे एव कालः, अपाकरणम् लिङ्गम्—इति॥

सू कालार्थत्वाद्वोभयोः प्रतीयेत॥ ४२॥ (सि॰)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, न सन्नयत्पक्ष एव, असन्नयतोऽप्येष कालः स्यात्। कुतः?। 'कालार्थत्वात्', न वत्सापाकरणेन व्रते किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, कालेन तु प्रयोजनं, येन च तत्र प्रयोजनं, स लक्ष्यते। 'कथं पुनर्वत्सापाकरणम् कालार्थम्?'—इति, परार्थत्वात्, पयसे, हि ते अपाक्रियन्ते, तथाहि दृष्टार्थता भवति, इतरथा अदृष्टार्थता स्यात्, तस्मात् न उपादेयत्वेन वत्सापाकरणं श्रूयते—इति। यत्तूक्तं,—तल्लिङ्गसंयोगात् सन्नयत्पक्षे एव—इति। तन्न, असन्नयतोऽपि कालाद्दानात्, यस्यापि न साम्नाय्यं, तस्यापि वत्सापाकरणमेव न स्यात्, न तु वत्सापाकरणकालोऽपि, कालेन च न प्रयोजनं, न वत्सापाकरणेन, यथा शङ्खवेलायामागन्तव्यम्—इति, यस्मिन्नपि ग्रामे शङ्खो न आध्मायते, तस्मिन्नपि स तथाकालोऽस्ति—इति, न आगमनं परिहास्यते। एवम् इहापि असत्यपि वत्सापाकरणे तत्काले विद्यमाने व्रतम्, तस्मिन् काले न परिहास्यते—इति॥ (६। ४। १३ अ॰)॥

---

अथ शाखयेत्यस्य काल प्रधान यैतार्थाधिकरणम्॥

सू प्रस्तरे शाखा श्रयणवत्॥ ४३॥ (पू॰)॥

भा 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत—इति, तत्र श्रूयते, 'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति'—इति, तत्र सन्देहः,—किं शाखा

भा प्रस्तरस्याङ्गभूता, अङ्गप्रयोजनसम्बन्ध तयो अथ कालार्थ संयोग प्रस्तरप्रहरणकाले शाखा प्रहर्तव्या?—इति। किं माप्तं?—'प्रस्तरे शाखा अयणवत्' प्रस्तरस्य अङ्गभूता शाखा। कुत?। सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति—इति, सहयुक्तेऽप्रधाने तृतीया विभक्तिर्भवति (२। ३। १९ सू०), सा च शाखाया तृतीया तस्मात् प्रस्तरस्य शाखा गुणभूता, प्रस्तरे च द्वितीया, सहयोगे च तृतीया, तृतीया गुणत, द्वितीया प्रधानत। 'ननु न शाखया प्रस्तरस्य कश्चित् उपकार क्रियते। सत्य न दृष्ट क्रियते, किन्तु अदृष्ट क्रियते, 'अयणवत्', यथा 'पयसा मैत्रावरुण श्रीणाति—इति द्वितीयातृतीयासंयोगात् अदृष्टस्य उपकारो गम्यते एवम् इहापि—इति॥

सू कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात्॥ ४४॥ (सि०)॥

भा 'कालविधिर्वा स्यात्। कुत?। 'उभयोर्विद्यमानत्वात्', प्रस्तरस्तावत् स्रुग्धारणार्थं मात्रो विद्यते, तस्य प्रहरणमपि विशिष्टे काले वाक्यान्तरेण विहित, तत शाखाया प्रतिपाद नार्थं, तस्य एतत् पुनर्वचनम्। 'उच्यते, भवतु प्रस्तरस्य पुनर्वचनं शाखा तु अत्र विधीयते—इति। उच्यते, 'उभयो अपि 'विद्यमानत्वात् शाखा पूर्वं विहिता वत्सापाकरणार्था इदानीं पुन किं गुणभूता चोद्यते, उत प्रतिपाद्यते?—इति, प्रतिपाद्यमानाया दृष्ट प्रयोजन, देशवियोगात् प्रचरितुम् अवकाश स्यात् या यावती च माषा देशान्तरसंयोगस्य न दृष्ट किञ्चित् अस्ति तस्मात् प्रहरणे प्रतिपत्ति तस्या, तस्मात् परत प्रयोजनाभावात् कालनियम क्रियते*। 'ननु तृतीया अप्रधाने भवति, सा च शाखायाम्। अत्र उच्यते, या असौ

---

* सूक्ष्म इति च० सो० पु० पाठ।

भा. शाखायां तृतीया, सा द्वितीयार्थे; या च प्रस्तरे द्वितीया, सा तृतीयार्थे। 'कथम् अवगम्यते?'। सद्वयोगे एकस्मिन् काले उभयमपि प्रहर्त्तव्यम्—इति, अत्र यस्य निर्ज्ञातः कालः, तस्य अनुवादः, यस्य तु अनिर्ज्ञातः, तस्य विधिः, शाखायाश्च अनिर्ज्ञातः, प्रस्तरस्य निर्ज्ञातः, तस्य पुनरुच्चारणम् अनिर्ज्ञातार्थं, तत् अप्रधानम्; इतरस्य उच्चारणं प्रधानं, प्राधान्यं च द्वितीयार्थः, तत्र तृतीया; पारार्थ्यम् अपि तृतीयार्थः, तत्र द्वितीया। तस्मात् अयथार्थे विभक्तिवचनम् ॥

सू. अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥ ४५ ॥ (यु० १) ॥

भा. न च, शाखया प्रस्तरस्य उपकारो दृष्टः क्रियते, काष्ठं, दह्यमानस्य तृणस्य न उपकारे वर्त्तते, तृणं तु काष्ठस्य उपकुर्यात्। तस्मात् न शाखा प्रस्तरार्था ॥

सू. तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥ ४६ ॥ (यु० २) ॥

भा. 'किं भवति प्रयोजनं, यदि प्रस्तरस्य गुणभूता, तथापि प्रस्तरप्रहारकाले शाखा प्रतिपाद्यते'?—इति। उच्यते, यदि प्रस्तरस्य प्रक्रियमाणस्य अङ्गभूता शाखा, ततो विना प्रस्तरेण, न प्रहर्त्तव्या भवति; अथाङ्गभूता, विनापि प्रस्तरेण प्रहर्त्तव्या,* अस्माभिः उक्तं प्रस्तरकाले प्रहर्त्तव्या—इति, 'तस्माच्च विप्रयोगे स्यात्' 'तस्मात्', एव कारणात् प्रस्तरविप्रयोगेऽपि शाखायाः प्रहरणं स्यात्—इति ॥

सू. उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥ ४७ ॥ (पू०) ॥

भा. यथा पूर्वः पक्षः, तथा सति, शाखाकार्ये सति असति च शाखा

---

* अयमाधमेत्यादिपाठो क० सं० पुस्तके नास्ति ।

भा विद्यते—इति उपवेषो सति च असति च स्यात्, यथा तु सिद्धान्तः, तथा सान्नाय्यपक्षे शाखा सतो हि प्रतिपाद्यत—इति। तत्रैव उपवेषो न अन्यत्र—इति ॥ (६।४।१४ अ०)॥

इति श्रीवरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

---

## षष्ठे अध्याये पञ्चमः पादः ॥

---

### दर्शेऽभ्युदयेऽ नैमित्तिकदेवतापनयाधिकरणम् ॥

सू० अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्यात् यथा पञ्चशरावे ॥ १ ॥ (पू०) ॥

भा इदमामनन्ति, 'वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्द्धयति, वर्द्धयत्यस्य भ्रातृव्यं, यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेत् ये मध्यमाः स्युः, तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठाः तान् इन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्, ये चोदिष्ठाः, तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्'—इति, तत्र सन्देहः,—किं कालापराधे यागान्तरम् इदं चोद्यते, उत तेषु एव प्रकृतेषु कर्मसु निमित्ते देवतापनयः?—इति।

किं प्राप्तम्?—'अभ्युदये' यः कालापराधः, तत्र 'इज्याचोदना स्यात्'। कथम्?। 'पुरोडाशमग्नये दात्रे मध्यमान् कुर्वते, ये स्थविष्ठाः तान् इन्द्राय प्रदात्रे दधनि चरुं कुर्यात्, चोदिष्ठान् विष्णवे शिपिविष्टाय'—इति, यजतिस्तु फलभोक्तृसंयोगादिति* विधानं गम्यते, 'यथा पञ्चशरावे' द्रव्यदेवतासम्बन्धेन कर्मान्तरं गम्यते, यथा पशुकामेष्ट्यां, 'यः पशुकामः स्यात्, सोऽमावास्यायाम् इष्ट्वा वत्सान् अपाकुर्यात्, ये स्थविष्ठाः, तानग्नये सनिमतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्, ये मध्यमाः, तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुं येऽणिष्ठाः, तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुम्'—इति: एवम् इहापि—इति। अपि च न प्रकृते द्रव्ये देवता

---

* द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादिति अ० ४० पा० पादः ॥

भा श्रूयते, 'शृते चरुम्'—इति हि तत्र भवति वचनं, न च अभ्युदयकाले श्रपणं ज्ञातमस्ति तस्मात् कर्मान्तरम्* ॥

सू अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥ २ ॥ (सि०) ॥

भा देवतापनयो वा। कुतः?। 'विद्यमानत्वात्', विद्यन्ते हि कर्माणि प्रकृतानि, तेषु विद्यमानेषु पुनर्देवतासम्बन्धो हविषो नोपपद्यते, यस्य अनुपपत्त्या यागः कल्प्येत। तस्मात् न यागान्तरं, तेषु एव हविःषु देवतान्तराणि विधीयन्ते ॥

सू तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥ ३ ॥ (यु० १) ॥

भा देवतापनयस्वरूपाश्चामी शब्दाः भवन्ति, 'ये मध्यमाः, तेषां देवतान्तरं विधीयते, तत्र द्रव्यं प्राप्तम्, अप्राप्ता देवता विधीयते। 'कथं पुनर्देवताविधानार्थे न अनेकगुणविधानदोषो जायेत?' —इति। उच्यते,—नैव अत्र अनेको गुणो विधीयते कस्मिंश्चित् वाक्ये, 'तण्डुलान् विभजेत्'—इत्यत्र तावत् विभागमात्रं विधीयते, अन्यत् सर्वमनूद्यते, तस्मात् अदोषः। ये मध्यमाः, तेषाम् अग्निर्देवता विधीयते, अन्यत् पुरोडाशादि अनूद्यते, ये स्थविष्ठाः, तेषां दधिसहितानाम् इन्द्रो देवता अस्मिन् वाक्ये विधीयते। तत्र अर्थप्राप्ते श्रपणे सति, चरुता, सह सतत्त्वर्थेन अर्थप्राप्तेनैव अस्मिन् वाक्येऽनूद्यते, ये क्षोदिष्ठाः, तेषां शृत-सहितानाम् विष्णुः शिपिविष्टो देवता विधीयते, अन्यत् सर्वमनूद्यते। तस्मात् अदोषः॥

सू आतञ्चनाभ्यासस्य दर्शनात् ॥ ४ ॥ (यु० २) ॥

भा आतञ्चनाभ्यासं दर्शयति। कथम्?। एवं श्रूयते,—'यदि

---

* अभ्युदयादि का० भो० रम क० प० पुस्तके नास्ति।

भा. विभीयादभिमोदेष्यतीति महाराचे हवींषि निर्वपेत्, फलीकृतैस्तण्डुलैरुपासीत, अर्द्धं दधि हविरातञ्चनार्थं निदध्यात्, अर्द्धं न, यद्यभ्युदियात् अनेनातञ्च प्रचरेत्, यद्यु न, ब्राह्मणं भोजयेत्' —इति। यदि कर्मान्तरम्, उपादेयत्वेन तदा तण्डुला दधि इतं च; तस्मात् लौकिकानि उपादेयानि, न ह्येष तदा प्रकृतानां व्यापारः, तत्र अविनष्टे दधनि अपरेद्युरामावास्ये क्रियमाणे विद्यते दधीति न आतञ्चनमावर्त्तेत, तस्यामेवाभ्युदितेष्टौ दधि विद्यते—इति न आतञ्चनं स्यात्। अथ निमित्ते देवतापनयः, ततस्तस्मिन् दधनि चरुः कृतः—इति, पुनरामावास्ये दोहे आतञ्चनेन कार्यम्, एवम् आतञ्चनाभ्यासस्य दर्शनं देवताविधाने युज्यते—इति॥

सू अपूर्व्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥ ५ ॥ (आ० नि० १)॥

भा अथ यदुक्तं,—यथा पशुकामेष्ट्यां कर्मान्तरं,—'यः पशुकामः स्यात्, सोऽमावास्याम् इष्ट्वा वत्सानपाकुर्यात्'—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। तत्र उच्यते,—युक्तं, यत्, तत्र कर्मान्तरविधानम्। कुतः?। 'अपूर्वत्वात्'—न तत्र कश्चित् पूर्वप्राप्तो यागो विद्यते, 'सोऽमावास्याम् इष्ट्वा'—इति हि परिसमाप्ते तस्मिन् इदमारभ्यते; तत्र द्रव्यदेवतासंयुक्तो निर्वपतिशब्दो न अन्तरेण उत्सर्गं, द्रव्यदेवतयोः सम्बन्धो विद्यते—इति यजतिं गमयति। न तु इह एवम्, इह हि यागः प्रकृतो गम्यते, तस्मिन्नेव विद्यमानस्य द्रव्यस्य देवतासम्बन्धमात्रं विधीयते—इति न दोषो भवति॥

सू. पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥ ६ ॥ (आ० नि० २)॥

भा अथ यदुपवर्णितं,—यथा पञ्चशरावे

भा एवम् इहापि—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्—इति। अथ उच्यते, —युक्तं पञ्चशरावे कर्मान्तरं, दुष्टं हि तत्र द्रव्यं, यस्य देवता विधीयते; तत्र अवश्यं द्रव्यम् उपादेयत्वेन चोदयितव्यं, तस्मिन् उपादीयमाने देवतान्तरे च अपूर्वः सम्बन्धो विधीयते, तत् यागान्तरं भवति—इति। 'इतरत्' इह द्रव्यम् 'अदुष्टं', तदनूद्य, महते यागे देवता विधीयते—इत्युक्तं, तस्मात् अदोषः —इति॥

सू साान्नाय्येऽपि तथेति चेत्॥ ७॥ (आ०)॥

भा. एवं 'चेत्' पश्यसि, साान्नाय्येऽपि दोषः, तदपि हि अभ्युदये तत्कालापराधात् दुष्टम्—इति॥

सू न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम्॥ ८॥ (आ० नि० ६)॥

भा नैतदेवं, पञ्चशरावे हि दुष्टं द्रव्यं, इह तादृशमेव अव-तिष्ठते। 'ननु कालापराधेन दुष्टम्'। न दुष्यति, 'अविशिष्टं हि कारणम्', अभ्युदये प्रायश्चित्तविधानं दुष्टेऽप्युपपद्यते, काला-पराधे अदुष्टेऽपि तत्, अकाले हि अभिप्रहितस्य प्रक्रमते देवता-विधानं, न तु विनष्टस्य॥

सू लक्षणार्था शृतश्रुतिः॥ ९॥ (आ० नि० ७)॥

भा अथ यदुक्तं,—न महते द्रव्ये देवता श्रूयते, 'शृते चरुम्'— इति तत्र भवति वचनं, न च अभ्युदयकाले श्रपणं छलमपि —इति, तत्परिहर्त्तव्यम्। अत्र उच्यते, 'लक्षणार्था' इयं 'शृतश्रुतिः', (धर्मलक्षणार्था) शृते, शृतसम्बन्धितधर्मकः— इति॥ (६।५।२ अ०)॥

---

उपांशुयाजेऽपि देवतापनयाधिकरणम् ॥

सू. उपांशुयाजेऽवचनात् यथाप्रकृति ॥ १० ॥ (पू०) ॥

भा. तस्मिन् एव अभ्युदये संशयः, किम् उपांशुयागेऽपि देवतापनयो भवेत्, न?—इति। किं प्राप्तम्?—उपांशुयाजो 'यथाप्रकृति' स्यात्। कस्मात्?। 'अवचनात्', यथा अमीषु वचनं, 'मध्यमानामग्नये दात्रे पुरोडाशाः, स्थविष्ठानाम् इन्द्राय प्रदात्रे दधनि चरुः, क्षोदिष्ठानाम् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुः'—इति। नैतत् उपांशुयाजेऽस्ति। तस्मात् स यथादेवतं स्यात् ॥

सू. अपनयो वा प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ॥ ११ ॥ (सि०) ॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। उपांशुयाजस्य 'अपनयः'। केन कारणेन?। 'प्रवृत्त्या', अकाले तत्प्रवृत्तिः देवतापनयस्य कारणम्। कुतः?। न हि अत्र अभ्युदये सति तण्डुला विभागार्थम् उपादीयन्ते, किन्तर्हि,—अभ्युदितस्य हविषो विभाग उच्यते, अभ्युदयेन अपराद्धस्य—इति। कथम् अवगम्यते?। 'यस्य अभ्युदियात्'—इतिविशेषश्रवणात्, सर्वस्यैव हि अपराधेन अभ्युदेति, अपराधश्च अकाले तत्प्रवृत्तिः। एवञ्च सति न तद्धविः तण्डुलैः शक्यं विशेष्टुम्। तस्मात् उपांशुयागस्यापि विभागः, 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्'—इति हि अनेन वाक्येन देवतापनयः क्रियते, विधिर्हि अत्र 'विभजेत्'—इति (विभागं कुर्यादित्यर्थः)। कथमिति?। विभागे विशेषपराणि उत्तराणि वाक्यानि,—इदमिदं च द्रव्यमस्यै देवतायै, इदमिदं च अस्यै—इति। यस्य द्रव्यस्य विशेषविभागो नास्ति, तस्यापि 'विभजेत्'—इति सामान्यविभागः। तस्मात् यथैव इतरेषां विभागः, एवम् उपांशुयाजस्यापि—इति। अथ वा उपांशुयाजद्रव्यात्

भा. पूर्वेण वाक्येनापनीता देवता, न तदपरेण वाक्येन देवतान्तरे संयोजितं। तस्मात् माहेन्द्रमेव तत्* ॥ (६।५।२ अ०)॥

---

अनिरुप्तेऽप्यभ्युदयेऽधिकरणम् ॥

सू. निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् ॥ १२ ॥ (पू०)॥

भा. अस्मिन् एव उदाहरणे संशयः, किं यदि निरुप्तेऽभ्युदयोऽवगम्यते, तदाऽभ्युदितेष्टिः, उत अनिरुप्तेऽपि?—इति। किं प्राप्तम्?—'निरुप्तेऽवगतेऽभ्युदितेष्टिः स्यात्। कुतः?। 'तत्संयोगात्', निर्वापसंयोगो हि भवति,—'यस्य हविर्निरुप्तम्'—इति। तस्मात् अनिरुप्ते नैतत् विधानम्—इति॥

सू. प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ १३ ॥ (सि०)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। अकाले तत्प्रवृत्तिमात्रे स्यात् एतद्विधानं, प्राप्तं हि तावत्येव निमित्तं,—'यस्य हविः—अभ्युदेति'—इति, हविर्ग्रहणं लक्षणत्वेन, 'यस्य हविः—अभ्युदेति'—इति हविर्लक्षित उदयो निमित्तं, प्रवृत्तं हविः लक्षयति, न तदाधीनम्; तस्मात् 'हविः अभ्युदेति'—इत्युच्यमाने प्रवृत्तं हविः अभ्युदेति—इति गम्यते; न हि तत् निरुप्तम्—इत्येतेन शक्यं विशेषयितुम्, भिद्येत हि तदा वाक्यं, —यस्य हविर्निरुप्तं, न अनिरुप्तम्—इत्येवमपेक्ष्यमाणे हविः अभ्युदेति—इति न शक्यते विधातुम्। तस्मात् अनिरुप्तेऽपि इष्टिः—इति॥

सू लक्षणमात्रमितरत् ॥ १४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तम्,—निरुप्तसंयोगो भवति, 'यस्य हविर्निरुप्तम्'—इति, लक्षणमात्रमेतत् 'निरुप्तम्'—इति, कस्मिंश्चित् पदार्थे तस्य प्रवृत्ते—इत्यर्थः ॥

सू. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १५ ॥ (यु०) ॥

भा. अन्यार्थोऽपि च एतमर्थं दर्शयति, 'स यद्यगृहीतं हविरभ्युदियात्, प्रज्ञातमेव तदेया व्रतचर्या, यत् पूर्वद्युर्दुग्धं दधि हविरातञ्चनं तत् कुर्वन्ति, प्रतिमुञ्चन्ति वत्सान्, तानेव तत् पुनरपाकुर्वन्ति, तानपराह्ने पर्णशाखया अपाकरोति, तत् यथैवादः प्रज्ञातमामावास्यं हविरेवमेव तद्‌यद्यु व्रतचर्या या नोदाशसेत, गृहीतं वा हविरभ्युदियात् इतरथा तर्हि कुर्यात्, एतानेव तण्डुलान् सद्यःफलोद्धतान्'—इति, अगृहीते* हविषि अन्यं विधिं ब्रुवन् गृहीतेऽप्यनिरुप्ते वाऽभ्युदये प्रायश्चित्तं दर्शयति ॥ (६।५।३ अ०) ॥

---

अनिरुप्तेऽभ्युदये वैकृतीभ्यो निर्वापाधिकरणम् ॥

सू अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा प्रवृत्तमात्रं निमित्तम्—इति स्थितम्। नैमित्तिकस्तु देवतापनयो देवतान्तरसंयोगश्च, किं निर्वापोत्तरकाल तण्डुलावस्थे हविषि कर्त्तव्यो निर्वापस्तु प्राकृतीभ्य एव स्यात्, ज्ञातेऽभ्युदये; उत वैकृतीभ्य एव?—इति संशयः। किं तावत् प्राप्तम्?—

---

* अगृहीते इति का० औ० पु० पाठ ॥

भा 'अनिरुप्तेऽभ्युदिते माहतीभ्यो निर्वपेत्—इत्याश्मरथ्य' आचार्यो मन्यते स्म। कुत ?। 'तण्डुलभूतेषु अपनयात्', तण्डुलभूतेषु अपनय श्रूयते, 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्तात् चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्—इत्यभ्युदयावगमात्* अनन्तर तण्डुलविभागम् आह, सोऽतण्डुलभूतेषु न अवकल्पते। तस्मात् अनिरुप्ते तण्डुलाभावादनपनीता देवता माश्मरथ्य—इति माहतीभ्य एव निर्वपेत्—इति॥

सू व्यूर्द्धभाग्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य॥ १७॥ (सि॰)॥

भा तुशब्द पक्ष व्यावर्त्तयति। व्यूर्द्धं ये भजन्ते कर्म, ताभ्यो निर्वपेत्—इति 'आलेखन' आचार्यो मन्यते स्म। कुत ?। तत् कारित्वात् देवतापनयस्य', यस्मात् अकाले तदमहत्तिकारितो देवतापनय, तस्मात् अपनीता देवता—इति व्यूर्द्धभाग्यो निर्वप्तव्या॥ (६।५।४ अ॰)॥

---

विनिरुप्तेऽभ्युदये अस्य तूष्णीनिर्वापाधिकरणम्॥

सू विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात्॥ १८॥ (१म पू॰)॥

भा अथ प्रारब्धे चतुर्मुष्टिनिर्वापे अपरिसमाप्ते भवति सशय, यत् निरुप्त तत् निरुप्तमेव, अवशिष्ट किं माहतीभ्यो निर्वप्तव्य, किं वैमृतीभ्य, उत तूष्णीमेव ?—इति। किं प्राप्तम् ?—'विनिरुप्ते' (सामिनिरुप्ते—इत्यर्थ) न तत्र देवतापनय स्यात्। कुत ?। 'तद्गुणत्वात्, निर्वापस्य गुणो देवता, न मुष्टीनाम्

---

* अभ्युदयादिति आ॰ सो॰ पु॰ पाठ॥

भा. स च निर्वापः तद्देवताकः। कुतः?। चतुःसङ्ख्यापूरणार्थत्वात् अभ्यासमात्रं कर्त्तव्यं, तच्च अभ्यासमात्रं पुनः क्रियते, पूर्वमेव कृते तस्मिन् निर्वापे न देवता अपनीता। स एव अयं पुनः क्रियते, पुनरपि क्रियमानस्य अनपनीतैव देवता भवितुमर्हति —इति प्राकृतीभ्य एव निर्वप्तव्यं, न च उत्तरो मुष्टिः पृथक् पदार्थो, येन देवतापनयो भवेत्, कृतस्य निर्वापस्य सङ्ख्या-पूरणम् एतत् क्रियते। तस्मात् अनपनयः—इति ॥

सू अप्राकृतेन हि संयोगः तत्स्थानीयत्वात् ॥ १९ ॥ (२य पू०) ॥

भा. न प्राकृतीभ्योः निर्वप्तव्यं, काभ्यस्तर्हि वैकृतीभ्यः। कुतः?। 'अप्राकृतेन' देवताविशेषेण संयोगः श्रूयते, न अधिकृतेन,— 'त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्'—इति प्राकृतीभ्य आच्छिद्य वैकृती-भ्यो निर्वप्तव्यो विधीयते, ता इदानीं तत्स्थानीयाः। तस्मात् विनिरुप्ते निवृत्ता देवता अन्याः, अन्याश्चोपजाताः। तस्मात् वैकृतीनाम् संयोगेन निर्वापशेषः कर्त्तव्यः—इति ॥

सू अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥ २० ॥ (सि०) ॥

भा अभावात् इतरस्यार्हस्य* देवतासंयुक्तस्य, न निर्वापो भवति देवतासयुक्तः, यदि निर्वापोऽर्हं अन्यदेवत्योऽर्होऽप्यन्यस्यै देव-तायै, नैव निर्वाप इतरदेवताको वा इतरदेवताको वा; तस्मात् तूष्णीमेव निर्वप्तव्यम्, अवश्यम् अन्यतरत्र सङ्कल्पभेदो भवति ॥ (६।५।५ अ०) ॥

---

* इतरस्यार्थस्य इति का० कौ० पु० पाठ ॥

सन्नयदसन्नयदुभयस्यैवाभ्युदये प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥

सू सान्नाय्यसंयोगान्नासन्नयतः स्यात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा अभ्युदितेष्टिरेव उदाहरणम्। तत्र श्रूयते,—'दधनि चरुम्, शृते चरुम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सन्नयतो भवति अभ्युदये प्रायश्चित्तम् उत अविशेषेण?—इति। किं प्राप्तम्?—'सन्नयतः' अभ्युदये प्रायश्चित्तम्। कुतः?। 'सान्नाय्यसंयोगात्', सान्नाय्यसंयोगो हि भवति, 'शृते चरुम्, दधनि चरुम्'—इति, शृताद्यभावात्, न असन्नयतो भवितुमर्हति, वैगुण्यं हि तथा स्यात् ॥

सू औषधसंयोगाद्वोभयोः ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'उभयोः' अपि स्यात् न केवलस्य सन्नयतः, 'औषधसंयोगात्', 'ये मध्यमा ये स्थविष्ठा ये क्षोदिष्ठा'—इति भवति औषधसंयोगः, स च असन्नयतोऽपि सन्नयतोऽपि—इति। तस्मात् न असति कारणेऽसन्नयतो निवर्त्तेत, उभयोरपि पक्षयोः प्रायश्चित्तम्—इति ॥

सू वैगुण्यान्नेति चेत् ॥ २३ ॥ (आ०) ॥

भा. इति यदुक्तं—असन्नयतो दध्नः शृतस्य च अभावात् दधिकरणता नास्ति। तस्मात् वैगुण्यं तस्मिन् पक्षे—इति, तत् परिहर्त्तव्यम्—इति ॥

सू नातत्संस्कारत्वात् ॥ २४ ॥ (आ० नि०) ॥

भा नैतदेवं, न हि दधि अधिकरणस्वरो अपणे श्रूयते, किन्तु यथा* स्थविष्ठा इन्द्राय प्रदाने, एवं दध्यपि देवतासम्बन्धार्थं

* अत्र यथेति पदम् एवमिति पाठश्च का० सो० एव क० म० पुस्तके नास्ति॥

भा. विधीयते, न चरुसम्बन्धार्थम्—इति, भिद्येत हि तथा वाक्यं, —स्थविष्ठा देवतायै, दधनि च ते कर्त्तव्याः—इति ; सप्तमी-संयोगस्तु प्राप्तेऽर्थेऽनुवादः। तस्मात् अविवक्षितं तेषां साहित्यं, लक्षणत्वेन हि ते श्रूयन्ते—इति, न हि पयो दधि च नास्ति —इति स्थविष्ठानाम् न देवतापनयो भवति, असन्नयतोऽपि अर्थात् अपि अर्पयिष्यते—इति ॥ (६।५।६ अ०)॥

---

सत्राय प्रवृत्तमात्रस्य विश्वजिदधिकरणम् ॥

सू साम्युत्थाने विश्वजित्क्रीते विभागसंयोगात् ॥ २५ ॥ (पू०)॥

भा इदमामनन्ति, 'यदि सत्राय दीक्षिता अथ साम्युत्तिष्ठेरन्,* सोममपभज्य विश्वजिता अतिरात्रेण सर्वस्तोमेन सर्वपृष्ठेन सर्ववेदसदक्षिणेन यजेरन्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं क्रीत राजकस्योत्थाने विश्वजित्, उत प्रवृत्तमात्रस्य?—इति। किं प्राप्तम्?—'साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते'† स्यात्। कुतः? 'विभागसंयोगात्',—'सोममपभज्य विश्वजिता यजेरन्'—इति, ये हि अक्रीते राजनि उत्तिष्ठन्ति, तेषां सोमविभागाभावात् वैगुण्यं स्यात्। तस्मात् क्रीतराजका उत्तिष्ठन्तो विश्वजितं कुर्युः ॥

सू प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥ २६ ॥ (सि०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। प्रवृत्तमात्रस्य उत्थाने स्यात्। कुतः?। 'प्रापणात् निमित्तस्य', साम्युत्थानं निमित्तं विश्वजितः,

---

* साम्युत्तिष्ठासेरन् इति का० क्री० पु० पाठः। एवं सत्र यथेति पाठो नास्ति ॥

† अत्र सोमे इत्यधिकः पाठः का० क्री० पु० ॥

भा- तच प्राप्तं, न च तच्छक्यं विशेषयितुम्,—क्रीते सोमे साम्युत्थानम् —इति॥

सू- **आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥ २७ ॥ (आ० नि०)॥**

भा अथ यदुक्तम्,—अक्रीते राजन्युत्तिष्ठन्तो विभागाभावात् विगुणं कुर्युः—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्; अत्र उच्यते,—न विभागो विधीयते, भिद्येत हि तथा वाक्यं,—साम्युत्थाने विश्वजिता यजेरन्, सोमस्य तु अपभागं हत्वेति; तेन 'अपभज्य'—इति अनुवादः। कथम् प्राप्तिः?—इति चेत्। अर्थात् उत्तिष्ठतां विभागो भवति धनस्य, सोऽयं सर्वद्रव्याणाम् विभागः सोम-विभागेन उच्यते,—सोमं विभज्यान्यानि च द्रव्याणि—इति आदेशार्था इतरा श्रुतिर्भवति। तस्मात् क्रीते च अक्रीते च राजनि उत्तिष्ठतां विश्वजित्—इति॥ (६।५।७ अ०)॥

---

दीक्षापरिमाणस्य द्वादशाहनियमाधिकरणम्॥

सू **दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात्* ॥ २८ ॥ (पू०)॥**

भा ज्योतिष्टोमं प्रकृत्य श्रूयते,—'एका दीक्षा तिस्र उपसदः पञ्चमीं प्रसुतः'—इति 'तिस्रो दीक्षाः' 'द्वादश दीक्षाः'—इति बहूनि दीक्षापरिमाणानि आम्नातानि। तेषु सन्देहः,—किम् अनियमो,—यदा तदा परिमाणम् उपादेयम्; उत द्वादश दीक्षाः?—इति। किं प्राप्तम्?—'दीक्षापरिमाणे यथाकामी' स्यात्, नास्ति नियमः। कुतः?। 'अविशेषात्', न कश्चन

---

* अत्र "यथाप्युक्त सिद्धान्तो वर्णितः" इत्यादिना "तस्माद्दिवसावधारणा, दीक्षापरिमाणे यथाकामीति सिद्धान्तवत्" इत्यन्तेन सन्दर्भेण वार्त्तिककृता सूत्राभिप्राय मन्यथा वर्णयन् भाष्यव्याख्यानं नाभ्यमोदि। एतमेवाधिकरणं द्विधा विभज्य न्याय मालायामधिकरणद्वयं प्रदर्शितं। अतश्च भाष्यन्यायमालायोरन्यदो अधिकरणसङ्ख्यासाम्यं नास्ति॥

भा. विशेष उपादीयते। तस्मात् यत्किञ्चित् परिमाणम् उपादेयम् —इति ॥

सू. द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥ २९ ॥ (सि०) ॥

भा. 'द्वादशाहः' एव परिमाणम् उपादीयेत। कुतः?। 'लिङ्गात्' (सामर्थ्यात्—इत्यर्थः)। किं सामर्थ्यं?। 'द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत'*—इति नित्यवदाम्नायते, न पाक्षिकं; तदेव नित्यं कुर्वन्, न शक्नोति अन्यत्परिमाणम् उपादातुम्। तस्मात् द्वादशाहः एव परिमाणं नियम्येत, अन्यानि परिमाणानि विकृतौ भविष्यन्तीति न एषाम् आनर्थक्यम्—इति॥ (६।५। ८ अ०) ॥

---

गवामयने माघपौर्णमास्या पुरस्ताद्दीक्षाधिकरणम् ॥

सू. पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥ ३० ॥ (१म पू०) ॥

भा. गवामयने श्रूयते,—'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन्' —इति। तत्र सन्देहः,—कस्याः पौर्णमास्याः?—इति। किं प्राप्तम्?—'पौर्णमास्याम्—अनियमः'—इति। कुतः?। 'अविशेषात्', न अत्र कश्चित् विशेषवचनः शब्दः उपादीयते ॥

सू. आनन्तर्य्यात् तु चैत्री स्यात् ॥ ३१ ॥ (२य पू०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतत्,—अनियमः—इति, 'चैत्री' पौर्णमासी तु भवेत्। कुतः?। 'आनन्तर्य्यात्', पौर्णमासीम् उक्त्वा अनन्तरं वाक्यशेषे चैत्री सङ्कीर्त्त्यते, 'पुरस्तात् पौर्णमास्याश्चतुरहे दीक्षेरन् ऋतुमुखं वा एषा पौर्णमासी सम्वत्स-

भा रस्य, या चैत्री पौर्णमासी'—इति। अत्र "सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्" (१।४।२९ सू०)—इति चैत्री नियम्येत॥

सू माघी वैकाष्टकाश्रुतेः॥ ३२॥ (सि०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न चैतत् अस्ति चैत्री—इति, किन्तर्हि?—'माघी'—इति। कुतः?। 'एकाष्टकाश्रुतेः', क्रये हि एकाष्टकाश्रुतिर्भवति, तेषाम् 'एकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते' —इति। तस्मात् माघ्याः पुरस्तात् चतुरहे दीक्षितस्य एकाष्टकायां क्रयः शक्यते कर्त्तुम्, न चैत्र्याः; तदेतत् सामर्थ्यं नाम लिङ्गं, तत् वाक्यस्य बाधकं भवति। तस्मात् माघी पौर्णमासी—इति॥

सू अन्या अपीति चेत्॥ ३३॥ (आ०)॥

भा. इति चेत् पश्यसि,—माघी पौर्णमासी, एवम् एकाष्टकायां क्रयः सम्पत्स्यते—इति; तत् न, अपरा अपि अष्टम्य एकाष्टकाः, 'द्वादश एकाष्टकाः'—इति, तेन न दोषः॥

सू न भक्तित्वादेषा हि लोके॥ ३४॥ (आ० नि०)॥

भा नैतदेवं, भाक्तो हि अन्यासु अष्टमीषु एकाष्टकाशब्दः, एषा हि मुख्या, या माघ्या इत्तरा, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये सम्प्रत्ययः; तस्मात् माघ्येव पौर्णमासी—इति॥

सू दीक्षापराधे चानुग्रहात्॥ ३५॥ (यु० १)॥

भा 'एकाष्टकायां दीक्षेरन्, एषा वै संवत्सरस्य पत्नी, यत् एकाष्टका' इत्युक्त्वा पुनः, चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षां विधाय 'तेषाम् एकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते, तेनैकाष्टकां

भा. नच्छंवट्* कुर्वन्ति'—इति, दीघातः प्रचुरताम् एकाष्टकां क्रमेण तु गृह्णन् माघ्याः पौर्णमास्याः अधिकारं दर्शयति। अस्याश्च माघ्याम् अष्टम्यामभीज्यमानायां भवति मन्त्रः, 'यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रीं धेनुमिवायतीं, सम्वत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली—इति अष्टकायै सुराधसे स्वाहा'—इति, याऽसौ माघ्यष्टमी, ताम् एकाष्टकां दर्शयति ॥

सू उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥ ३६ ॥ (यु० २) ॥

भा. 'उत्थाने च' अनुप्ररोहं दर्शयति, 'तान् उत्तिष्ठत ओषधयो वनस्पतयोऽनूत्तिष्ठन्ति'—इति वसन्ते उत्थानं दर्शयति, तस्मिन् ओषधयो वनस्पतयश्च उत्तिष्ठन्ति। तस्मादपि सा नियम्यते ॥

सू अस्यां च सर्व्वलिङ्गानि ॥ ३७ ॥ (यु० ३) ॥

भा 'आर्त्तं वा एते सम्वत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते—इति, आर्त्ता यस्मिन् काले भवन्ति, स आर्त्तः कालः, शीतेन च आर्त्ता भवन्ति। तस्मात् माघ्यष्टमी एकाष्टका—इति। तथा, 'व्यस्तं वा एते सम्वत्सरस्याभिदीक्षन्ते, य एकाष्टकायां दीक्षन्ते'—इति, अयनपरिवृत्तिर्व्यस्तशब्देन उच्यते। तथा 'अपो नाभिनन्दन्तोऽवभृथमभ्यवयन्ति'—इति चैत्र्यां दीक्षिता अभिनन्दन्तोऽभ्यवेयुः। तस्मादपि माघी पौर्णमासी —इति ॥ (६। ५। ९ अ०) ॥

---

* नच्छन्द् समीपोमासमिति क० स० पुस्तके टीका वर्त्तते ॥

दीक्षोत्कर्षे नियतानामनुत्कर्षाधिकरणम् ॥

सू दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥ ३८ ॥

भा इदम् श्रूयते,—'तस्मात् दीक्षितो न ददाति न पचति न जुहोति'—इति ज्योतिष्टोमे समामनन्ति, यदि तु दैवात् मानुषात् वा प्रतिबन्धात् दीक्षाकाल उत्कृष्यते, तत्र सन्देहः,—किं दानहोमपाकानाम् उत्कर्षः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—'अनुत्कर्षः', नियता हि दान होम पाकाः, 'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति'—इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः तेषामपवादो,—येष्वहःसु साङ्गो ज्योतिष्टोमो विहितः, तावन्ति अहानि मुक्त्वा अन्येषु अहःसु कर्त्तव्याः, ज्योतिष्टोम विधानकालात् परतो प्रतिषिद्धाः। तस्मात् कर्त्तव्याः, प्राप्तो हि तेषां कालः—इति ॥

सू उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥ ३९ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते। यदुक्तम्,—'नैषाम् उत्कर्ष'—इति नैतदेवम् उत्क्रष्टव्याः। कुतः? 'दीक्षितत्वात्', दीक्षितस्य ते प्रतिषिद्धाः, न दीक्षितो यस्मिन् काले, लक्षणा हि एव स्यात् यथा तु वयं ब्रूमः, तथा श्रुतिः कारणम्, प्राक् च अवभृथात्, अयं दीक्षित एव, अविशिष्टं हि कारणम् यत् एव ज्योतिष्टोमविधानकाले, तदेव अतिक्रान्तेऽपि, उभयथा हि दीक्षितत्वं हि कारणम्। तस्मात् तेषाम् उत्कर्ष—इति॥ (६।५।१० अ०)॥

---

ज्योतिष्टोमोत्कर्षे प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू. तत्र प्रतिहोमो न विद्यते, यथा पूर्वेषाम् ॥ ४० ॥

भा. तत्र उत्कृष्यमाणे ज्योतिष्टोमे*, अहुतेषु होमेषु किं परिसङ्ख्याय होमाः कर्त्तव्याः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—परिसङ्ख्याय होमाः क्रियेरन्। किंकारणम्?। अवश्यकर्त्तव्यतया हि ते विहिता होमाः, अतिपन्ना अपि कर्त्तव्या एव, तथा हि एषाम् अवश्यकर्त्तव्यता अनुगृहीता भविष्यति, प्रधानमात्रं तु नियतं, न अत्र कालानुरोधः कर्त्तव्यः, नदीवेगस्थानीयत्वात्। यद्यपि अतिक्रान्ताः कालाः, अतिक्रान्तानाम् परिसङ्ख्याय प्रधानमात्राणि कर्त्तव्यानि, यथा अवश्यकर्त्तव्यं भुक्तिस्नानदानादि, यत् अतिक्रान्तं भवति, तत् परिसङ्ख्याय क्रियते, एवमिदम् अपि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'तत्र प्रतिहोमो न विद्यते, यथा पूर्वेषां', कर्त्तव्यम् अहुत्वा कुर्यात्, न अकर्त्तव्यम्, अकर्त्तव्याश्च एते, प्रतिषिद्धत्वात्, 'यथा पूर्वेषां', असति कालातिक्रमे अहुतानाम् न प्रतिहोमः, एवम् एषामपि—इति ॥

सू. कालप्राधान्याच्च ॥ ४१ ॥ (यु०) ॥

भा. कालप्राधान्यं च भवति, निमित्तत्वेन तस्य श्रुतत्वात्, तदभावे विहितमेव न भवति, प्रधानमात्रं यद्यपि नियम्येत, तथापि निमित्ते काले, स च नदीवेगस्थानीयः कालोऽतिक्रान्तः, अतो न प्रतिहोमः कर्त्तव्यः—इति ॥ (६।५।११ अ०) ॥

---

* ज्योतिष्टोमकाले इति का० क्रो० पु० पाठः ॥

उदवसानीयोत्कर्षेऽपि प्रतिहोमाननुष्ठानाधिकरणम् ॥

सू प्रतिषेधाच्चोर्द्ध्वमवभृथादिष्टेः ॥ ४२ ॥

भा ऊर्द्ध्वमवभृथात् आ उदवसानीयाया इष्टेर्ये होमाः, तेष्वतिपन्नेषु दैवेन मानुषेण वा प्रतिबन्धेन भवति संशयः —किं प्रतिहोमः कर्त्तव्यः, उत न?—इति। किं प्राप्तम्?—कर्त्तव्यः —इति, उन्मुक्तदीक्षो हि स तदा भवति, दीक्षाणाम् उन्मोचनार्थो हि अवभृथः, तस्मात् कर्त्तव्याः, ते न कृताः —इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,— ऊर्द्ध्वम् अवभृथात्, आ उदवसानीयाया 'इष्टेः, अतिपन्नानाम् न प्रतिहोमः स्यात्। कुतः?। 'प्रतिषेधात्, प्रतिषेधो हि भवति, 'एतया पुनराधेयसम्मितया इष्ट्या अग्निहोत्रं होतव्यम्—इति, प्रागुदवसानीयायाः, होमस्य प्रतिषेधः, यावत् उदवसानीया उत्स्थास्यते, तावत् प्रतिषेधः, एवं श्रुतिः, इतरथा लक्षणा स्यात्। तस्मात् अकर्त्तव्याः, ते न कृताः —इति, न स्यात् प्रतिहोमः —इति॥ (६।५।१२ अ०)॥

---

प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रभृत्यारम्भाधिकरणम् ॥

सू प्रतिहोमश्चेत् सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ॥ ४३ ॥

भा एतेषु एव उदाहरणेषु भवति संशयः, किं प्रतिहोमे सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि आरभ्येरन्* उत प्रातः अग्निहोत्रप्रभृतीनि?—इति। 'ननु नास्त्येव प्रतिहोमः —इति स्थितम्। उच्यते,—अस्ति—इति कृत्वा चिन्तयाम। कृत्वा चिन्तेयम्, अन्येषु सदृशन्यायेषु उदाहरणेषु अस्याः प्रयोजनम् अस्ति—

---

* हूयेरन् इति का० मी० पु० पाठः ॥

भा. इति चिन्त्यते। किं प्राप्तम्?—अनियमः, अर्थहततत्वात्। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यदि प्रतिहोमः क्रियते, सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन्। कुतः?। सायमग्निहोत्रादारभ्य अतिपन्नानि, तेनैवानुपूर्व्येण प्रतिहोतव्यानि—इति॥ (६।५।१३ अ०)॥

---

षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रप्रभृत्यनुष्ठानाधिकरणम्॥

सू. प्रातस्तु षोडशिनि ॥ ४४ ॥

भा. षोडशिसंस्थे सोमेऽतिपन्नेषु होमेषु सन्देहः,—किं सायमग्निहोत्रेण—इति, उत प्रातः*?—इति। किं प्राप्तम्?—सायमग्निहोत्रेणेति पूर्वस्मिन् अधिकरणे उक्तम्, उत्सर्गेण सर्वत्रैवम्—इति प्राप्तम्। तथा प्राप्ते उच्यते,—'प्रातस्तु षोडशिनि', षोडशिसंस्थे प्रातरग्निहोत्रादीनि अतिपन्नानि—इति प्रातरग्निहोत्रादेव समारभ्यानि—इति॥ (६।५।१४ अ०)॥

---

भेदादिनिमित्तकहोमस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम्॥

सू. प्रायश्चित्तमधिकारे सर्व्वत्र दोषसामान्यात् ॥ ४५ ॥ (पू०)॥

भा. दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति'—इति। तत्र किं दर्शपूर्णमासयोरेवैतत्,—भिन्ने स्कन्ने च प्रायश्चित्तम् उत यत्र भिद्यते स्कन्दति च?—इति। किं प्राप्तम्?

---

* "प्रातःसवने बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणा ऋत्विजः शालायाः यदि प्रसर्पन्ति, तदानीमेकस्य पृष्ठतोऽन्यः इत्येव पिपीलिकावत् पङ्क्त्याकारेण गन्तव्यम्। तत्र पुरतो गन्तुः कच्छं गृहीत्वैव पृष्ठतोऽन्यो गच्छेत। एवं सति यदि प्रमादादुद्गाता गृहीतं कच्छं मुञ्चेत, तदा दक्षिणामदत्त्वा प्रक्रान्तो यज्ञः समापनीयः। तं समाप्य पुनरपि स यज्ञः प्रयोक्तव्यः तस्मिन् प्रयोगे पूर्व्वं यद्दित्सितं द्रव्यं तत् दद्यात्। यदा प्रतिहर्त्ता मुञ्चेत्, तदा तस्मिन्नेः प्रयोगे सर्व्वस्वं दद्यात" इति न्यायमालाऽनुसन्धेया॥

भा —प्रकरणे यत् प्रायश्चित्तम् एवञ्जातीयकम् किञ्चित् उत्पन्नं, तत् सर्वत्र यत्र यत्र भिद्यते स्कन्दति वा, तत्र तत्र स्यात्। कस्मात्? 'दोषसामान्यात्', समान निमित्तम् स्कन्दनम् भेदनम् वा, स एवात्र दोष —इति अभिप्रेतम्। प्रकरणात् दर्शपूर्ण मासयो प्रायश्चित्तम्, वाक्यात् अन्यत्रापि, प्रकरणाच्च वाक्य बलीय। तस्मात् सर्वत्र स्कन्ने भिन्ने च प्रायश्चित्तम्—इति॥

सू प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥ ४६ ॥ (सि० १)॥

भा 'प्रकरणे एव भिन्ने स्कन्ने वा प्रायश्चित्तम्। कुत ?। 'शब्द हेतुत्वात्', तेन प्राकृतेन अर्थेन सहैकवाक्यता एषां होमानाम्, ततो होमवतो यागस्य प्रत्यायने प्रकृतो 'यजेत —इति शब्दो हेतु एष चेत् तदुपकारेणार्थवान् भविष्यति—इति, इतरथा विना वाक्येन, फल कल्पयितव्यम् स्यात् तस्मात् वाक्य फला भावेनैव बाधितम्—इति कृत्वा प्रकरणम् अनुगृहीतव्यम्—इति॥

सू अतद्विकारश्च ॥ ४७ ॥ (सि० २)॥

भा न च, 'तद्विकार अग्निहोत्रम् ज्योतिष्टोमो वा, न दर्शपूर्ण मासविकारे यदि तद्विकारो भवेत् तथापि स्कन्ने भिन्ने वा प्रायश्चित्तम् स्यात्—इति॥ (६।५।१५ अ०)॥

---

व्यापन्नशब्दार्थनिर्णयाधिकरणम् ॥

सू व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्य्याणां तत् प्रतीयेत ॥ ४८ ॥

भा 'व्यापन्नमप्सु प्रहरति —इति श्रूयते। किं व्यापन्नम्—इत्युच्यते ?—इति तदभिधीयते,—व्यापन्नं, दूषितं येन कार्येन

भा क्रियते। किं तत्? । यत् अभोज्यमार्याणाम्, केशकीटाद्यपपन्नम् अन्येन वा उपघातेन उपहत, तदापन्नम्—इति ॥ (६।५। २६ अ०)॥

---

अपच्छेदयौगपद्येऽपि प्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥

सू विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ॥ ४९ ॥ (पू०)॥

भा प्रस्तोतृप्रतिहर्त्रोरुद्गातृप्रतिहर्त्रोर्वा यत्र अपच्छेदः, किं तत्र प्रायश्चित्तम् स्यात् न?—इति भवति संशय । किं तावत् प्राप्तम्?—'प्रायश्चित्तम् यौगपद्ये न विद्यते । कुत ?। 'विभाग श्रुते', विभक्तेऽपच्छेदे* प्रायश्चित्तमामनन्ति अपच्छेदस्य अयम् विभाग, स उभाभ्यां साध्यते, इह च एकेन साध्यमाने श्रूयते प्रायश्चित्तम्, उद्गात्रा प्रतिहर्त्रा वा। न च यदपरेण सह क्रियते, तत् केवलेन कृतं भवति, यदि हि केवलेन कृतं स्यात्, तेन कृत, अपर किं कुर्यात्?। तस्मात् न युगपदपच्छिन्नयो प्रायश्चित्तम्—इति ॥

सू स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ॥ ५० ॥ (सि०)॥

भा 'स्यात् वा' प्रायश्चित्तम् यौगपद्येऽपि प्राप्तम् हि निमित्तम् अपच्छेद उद्गातु प्रतिहर्तुश्च। यत्र हि द्वयो अपच्छेद, तत्र द्वावप्यपच्छिन्नौ, एकोऽप्यपरोऽपि, संयुक्तस्य हि पृथग्भावो ऽपच्छेद, स च उभयस्योऽपि, एकेनापि तत्र अपच्छेद क्रियते ऽनपेक्ष्य अपरम्, अपरेणापि। 'कालमात्रन्तु' तत्र 'एकम्, न

भा च कालैक्यादपच्छेदयोः ऐक्यं भवति। तस्मात् प्रायश्चित्तम् युगवदपच्छेदेऽपि॥ (६।५।१७ अ०)॥

---

यौगपद्येऽदाक्षिण्य सर्वस्वदाक्षिण्यविकल्पाधिकरणम्॥

सू तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्॥ ५१॥ (सि०)॥

भा यद्युद्गातृप्रतिहर्त्रोः युगपदपच्छेदो भवति, तत्र सन्देहः,—किम् अदाक्षिण्यं, सर्वस्वं वा विकल्पः, उत समुच्चयः?—इति। किं प्राप्तम्?—'तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात्', विरुद्धौ हि एतौ कल्पौ, सर्वस्वमदाक्षिण्यं च, तस्मात् विकल्पो भवितुमर्हति॥

सू प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात्॥ ५२॥ (पू०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति,—विकल्पः—इति, उभयोर्विधानात्, सर्वाङ्गोपसंहारी प्रयोगवचन एवम् उपपद्यते। विकल्पे हि पक्षे बाधः, तस्मात् समुच्चयः। अथ यदुक्तम्,—विरोधात् विकल्पः—इति। उच्यते,—'प्रयोगान्तरे वा उभयानुग्रहः स्यात्', तेन पुनः 'यजेत'—इत्युच्यते, द्वितस्य प्रयोगः। तत्र एकस्मिन् प्रयोगे एकः कल्पः, अन्यस्मिन् अपरो भविष्यति। एवम् अविरोधः। तस्मात् उभयं प्रायश्चित्तम्—इति॥

सू न चैकसंयोगात्॥ ५३॥ (उ०)॥

भा न च, एतदेवम्। कुतः?। 'एकसंयोगात्', स एव यागः पुनः क्रियेत, यदि अन्यतरेण विना वैगुण्यम्—इत्यवधार्येत, सर्वस्वे क्रियमाणे अदाक्षिण्याभावात् विगुणः स्यात्; न अन्यस्मिन् प्रयोगे क्रियमाणे अन्यः प्रयोगोऽनुगृह्यते, न च अदाक्षिण्यस्य

भा चेत्। प्रत्यक्षत्वेऽपि सति नैव बाधेत, यदि यथावर्णितोऽय-माम्नातार्थो न भवेत्, सति पूर्वविज्ञाने अशक्यत्वात् मासितं बाधेतैव। तस्मात् परबलीयस्त्वं न्याय्यमेव—इति॥ (६।५।१९ अ०)॥

---

उद्गातृप्रभृत्यपच्छेदेऽपि सर्वस्वदक्षिणादानाधिकरणम्॥

सू यद्युद्गाता जघन्यः स्यात् पुनर्यज्ञे सर्ववेदसन्दद्यात्, यथेतरस्मिन्॥ ५५॥

भा यदा प्रतिहर्तुः पूर्वमपच्छेदः तत उद्गातुः, तत्र अदक्षिणेन इष्ट्वा पुनर्यष्टव्यम्। तत्र सन्देहः,—पुनर्यागे किं द्वादशशतं दातव्यम् उत सर्वस्वम्?—इति। किं प्राप्तम्?—द्वादशशतम्। कुतः?। एवं हि आम्नायते, 'तत्र तत् दद्यात्, यत् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्', पूर्वस्मिंश्च प्रयोगे ज्योतिष्टोमदक्षिणैव प्राप्ता। तस्मात् द्वादशशतम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—तत्र 'पुनर्यज्ञे' सर्वं 'दद्यात्', 'यथा इतरस्मिन्' (पूर्वस्मिन् अहनि सर्वस्वम्)। 'कथम् तत्र सर्वस्वम्?—इति चेत्'। प्रतिहर्तुः अपच्छेदात्, प्रतिहर्त्तरि अपच्छिन्ने द्वादशशतं बाधित्वा सर्वस्वं दास्यन् भवति। 'ननु पूर्वस्मिन् अहनि द्वादशशतमप्यसौ दास्यन्नासीत्'। सत्यं, सर्वस्वदानेन तु उभयं प्रदत्तं भवति, तस्मात् तद्देयं। 'ननु अर्वागपि द्वादशशतात् सर्वस्वम्'। नैतदेवम्, अधिकृते द्वादशशते सर्वस्वम् अभ्यधिकं भवति। अपि च पूर्वस्मिन् अहनि नैव द्वादशशतं दास्यन् भवति—इति, एतावत् दास्यन्—इति उच्यते, यस्य उत्तरकाले तावद्दानं भवति। न च, पूर्वस्मिन् अहनि द्वादशशतं दीयते, तस्मात् न तद्दास्यन्—इत्यवगम्यते, मिथ्याबुद्धिः सा, तत्त्वेन व्यवहारः।

भा. 'ननु च सर्वस्वम् अपि प्रतिषिद्धं भवति, तदप्यसौ न दास्यन्निति, साम्प्रतस्य मिथ्याबुद्धिः'। न—इत्याह, साभ्यासस्य ज्योतिष्टोमस्य प्रयोगः, तत्र प्रथमप्रयोगे अदाक्षिण्यविरोधात् सर्वस्वम् बाध्यते, द्वितीयप्रयोगे तद्दानं चोद्यते; तत्र विरोधो नास्ति, तस्य एव यज्ञस्य स एव प्रयोगः, प्रतिहर्त्ता च तस्मिन् अपच्छिन्नः—इति द्वादशशतं बाधित्वा सर्वस्वमेव दास्यन् भवति। तस्मात् सर्वस्वम् तत्र देयम्—इति॥ (६।५।२० अ०)॥

---

अहर्गणेऽपच्छेदे न सर्वेषामावर्त्तनाधिकरणम् ॥

सू. अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्म्मपृथक्त्वात् ॥ ५६ ॥

भा अहर्गणे यदा भवति कस्मिंश्चिदहनि उद्गातुः अपच्छेदः, तदा सन्देहः,—किं कृत्स्नो अहर्गण आवर्त्तते, उत तदेव अहः? —इति। किं प्राप्तम्?—कृत्स्नोऽहर्गणः। कुतः?। अपरैरहोभिः विना, तदा विगुणं भवति, तस्मात् गण एवावर्त्तेत—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'यस्मिन् अपच्छेदः', 'तत्' एव 'आवर्त्तेत'। कुतः?। 'कर्म्मपृथक्त्वात्', पृथगेतानि कर्माणि, न अन्यत् अहः अन्यस्य गुणभूतं, इष्टा—इति च यागं परिसमाप्येति गम्यते, न साङ्गम्—इति; यान्यहरन्तराणि साहाय्येन उपकरिष्यन्ति, विद्यन्त एव तानि; अतः साहाय्यं करिष्यन्ति—इति। तस्मात् तदेवावर्त्तेत॥ (६।५।२१ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य पञ्चमः पादः॥

## षष्ठे अध्याये षष्ठ पाद ॥

—॥॥—

*सचे सम मकल्यानाम सत्राधिकाराधिकरणम ॥

सू सन्निपातेऽवैगुण्यात् प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन् ॥ १ ॥ (सि०) ॥

भा सत्राणि उदाहरणम् 'सप्तदशावरा सत्रमासीरन् य एव विद्वास सत्रमासते य एव विद्वास सत्रम् उपयन्ति'—इति। तत्र सन्देह,—किं समानकल्पानाम् भिन्नकल्पानाम् च सत्राधिकार, उत समानकल्पानामेव?—इति। के पुन समानकल्पा ?। 'राजन्याचिवधाश्ववसिष्ठवैन्यसुनकानाम् कण्वकश्यपसङ्कृतीनाम् नाराशसो द्वितीय प्रयाज तनूनपात् इतरेषाम्। एव केचित् नाराशसकल्पा केचित् तनूनपात्कल्पा। तत्र किं तावत् प्राप्तम्?— सन्निपाते बहूनाम् यजमानानाम् ये एव तुल्यकल्पा, त एव सह सत्रमासीरन्। कुत ?। 'अवैगुण्यात्, इतरथा यस्य कल्पो नोपसह्रियेत, तस्य वैगुण्य स्यात यथा प्रकृतावेव विना साद्गुण्येन, फलाभाव एवम् इहापि—इति ॥

सू वचनाद्वा शिरोवत् स्यात् ॥ २ ॥ (पू०) ॥

भा वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते। न च, एतदस्ति, भिन्नकल्पानाम् अनधिकार—इति, तेऽप्यधिक्रियेरन्। कुत ?। अविशेषेण सर्वेषा यजमानानाम् प्राप्ति, न च भिन्नकल्पानाम् प्रतिषेध। 'ननु वैगुण्य भिन्नकल्पानाम्। अत्र उच्यते,—

* अत्र वसिष्ठ इत्यत्र वशिष्ठ इति क० स० पु० पाठ। सर्व वैन्य इत्यत्र वैश्य इति क० स० द्वितीयपुस्तकपाठ।

भा. 'वचनात्', सामान्यवचनेन भिन्नकल्पा अपि गृहीताः, तत्र 'शिरोवत्' बाधः 'स्यात्', यथा, 'पुरुषशीर्षम् उपदधाति'—इति-वचनसामर्थ्यात् शवशिरसां स्पर्शनं स्मृतिविप्रतिषिद्धम् अपि क्रियते, एवं इहापि। अथ वा, 'आशिरवत्', यथा 'व्रतपेये घृतवतो भवति'—इतिवचनात् व्रतदुहि निष्क्रायाम् अन्यामाशिरे* गां कल्पयन्ति। एवम् एतदपि वचनात् भविष्यति॥

सू. न वाऽनारभ्य-वादत्वात् ॥ ३ ॥ (उ०) ॥

भा. नेतदस्ति, यदुक्तं,—भिन्नकल्पानाम् अप्यधिकारः—इति, समानकल्पाः एव अधिक्रियेरन्। कुतः?। अवैगुण्यात्। अथ यदुक्तं,—वचनात् वैगुण्येनापि सेत्स्यति—इति; तन्न, 'अनारभ्यवादत्वात्', तद्धि वचनात् प्रकल्प्यते, यस्मिन् अकल्प्यमाने वचनम् अनर्थकं भवति, यदि हि आरभ्य भिन्नकल्पान्, एतत् उच्येत, ततो वचनम् अनर्थकं भवति—इति भिन्नकल्पानामपि वचनमभ्युपगम्येत, न तु आरभ्य भिन्नकल्पान्, एतत् उच्यते; समानकल्पेषु अर्थवत्ता अस्य वचनस्य भविष्यति। तस्मात् न भिन्नकल्पानाम् अधिकारः—इति॥

सू. स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥ ४ ॥ (आ०) ॥

भा. 'स्यात् वा' भिन्नकल्पानाम् अधिकारः। कुतः?। 'यज्ञार्थ-त्वात् कल्पस्य, वसिष्ठादीनाम् नाराशंसकल्पो यज्ञस्य साधकः; स च यज्ञः सर्वेषां साधारणः, परकल्पेनापि सिद्धः सिद्धो भवति; यथा, 'यजमानेन सम्मायौदुम्बरीं परिवासयन्ति'—इति यस्य कस्यचित् परिमाणेन सिद्धो यज्ञोऽन्येषामपि सिद्धो भवति। 'उच्यते, ननु प्रयाजस्य वाक्येन पुरुषसम्बन्धः, स च प्रकरण-मात्रां यागार्थतां बाधिष्यते—इति'। न—इति ब्रूमः,—फलं

---

* सोमसन्धानार्थं दधि आशिरं भक्तिम् इति का॰ श्रौ॰ सू॰ टीका।

भा हि तदा कल्पयितव्यम्। 'ननु इतरथाप्यदृष्टम् अवश्यं कल्पनीयम्'। तत्र उच्यते, सत्यं कल्पनीयं, प्रमाणेन तु प्रयोगवचनैकवाक्येन, द्वितीये तु पक्षे कल्पयित्वा शब्दं, तेनैकवाक्यता स्यात्। 'अथ उच्येत, क्वचित् समाम्नातेन सहैकवाक्यता भविष्यति'। तथापि अप्रकृतेन श्रवणाद्दितेन च कल्प्यमाना प्रकृतकल्पनाया गुरुतरा स्यात्॥

सू न, तत्प्रधानत्वात्॥ ५॥ (आ० नि० १)॥

भा नैतदेवम्, 'तत्प्रधानत्वात्', पुरुषार्थो हि एष कल्पः। कथम्?। वसिष्ठादीनाम् नाराशंसो यज्ञाङ्गम्—इति, यत्र यस्य यज्ञाङ्गं, तेन सह फलदं कर्म तस्य भवति, तेनैवम् अभिसम्बन्धः क्रियते,—वसिष्ठानाम् नाराशंसेन सहितं कर्म फलदं भवति—इति॥

सू औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत्॥ ६॥
(आ० नि० २)॥

भा अथ यदुपवर्णितं, यथा औदुम्बरी तथेह—इति, पारार्थ्यम् औदुम्बर्याः, यजमानो गुणत्वेन श्रूयते। 'ननु तथापि प्रयोगवचनः पुरुषप्राधान्यं कुर्यात्'। नैष दोषः, एकेनापि यजमानेन सम्मिता च इयं सर्वथा यजमानसम्मिता भवति, न तु इह एकस्य सगृहीते सर्वथा संगृहीत। तस्मात् 'औदुम्बर्याः' पारार्थ्यम्, 'कपालवत्', यथा, 'पुरोडाशकपालेन तुषा उपवपन्ति—इति परार्थकपालेन तुषा उपवप्तव्याः—इत्युपादीयते, एवमेतदपि—इति॥

सू अन्येनापीति चेत्॥ ७॥ (आ०)॥

भा एवं 'चेत्' भवान् पश्यति,—यजमानेन सम्मानं, तत् प्रयो

भा जनं स्वेनान्येन वा यजमानेन—इति, तथा प्रयोगान्तरे यो यजमानः तेनापि सम्मानं प्राप्नोति ॥

सू नैकत्वात्तस्य चानधिकारात् शब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥ ८ ॥ (आ० नि०) ॥

भा अत्र उच्यते, न प्रयोगान्तरस्य यजमानः प्रसज्यते*। न तु यजमानशब्दे कश्चिद्विशेषः, यतो यजमानशब्दात् व्यवस्था स्यात्, किं तर्हि, एकत्वस्य विवक्षितत्वात्, न द्वाभ्यां याजमानानि कर्त्तव्यानि—इति न अन्य आनीयते। 'आह, अन्य एव तर्हि सर्वयाजमानेषु भवतु'। नैवं, कामिनं हि अधिकृत्य, साङ्गस्य यागस्य वचनम्। यजमानशब्दश्चाविभक्त इह औदुम्बर्याः सम्माने; तस्मात् न अन्यो भविष्यति ॥

सू सन्निपातात्तु निमित्तविघातः स्याद्बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्टत्वात् वसिष्ठनिर्वर्त्त्ये ॥ ९ ॥ (आ०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। बहुषु यजमानेषु 'सन्निपातात्', 'निमित्तविघातः स्यात्'। कुतः?। 'विभक्तशिष्टत्वात्, वसिष्ठनिर्वर्त्त्ये' प्रयोगे नाराशंसो नैमित्तिकः; अन्यस्मिन् तनूनपात् नैमित्तिकः, यत्र इदानीम् उभये कर्त्तारः सयहायेन‡, तत्र निर्वृत्तिर्न केवलेन। तस्मात् न केवलः कर्त्ता; न चेत् वासिष्ठः† केवलः कर्त्ता, तस्मात् तन्निमित्तं तत्र न कर्त्तव्यम्, न च इतरनिमित्तम्, उभयोरप्यन्योन्येन विघातः, 'बृहद्रथन्तरवत्', तत् यथा, 'बृहद्रथन्तरं पृष्ठं भवति'—इति न बृहत्साधनकं, न रथन्तरसाधनकम्—इति, नैव तत्र बृहत् निमित्तं भवति, न रथन्तरं वा। एवम् इहापि—इति ॥

---

* प्रसज्यते इति का० क्रो० पु० पाठः ।

† वसिष्ठ इति का० क्रो० पु० पाठः ।

‡ साहाय्येन इति का० क्रो० पु० पाठः ।

सू. अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात् ॥ १० ॥ (आ० नि० १) ॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षं व्यावर्त्तयति। कृत्स्नं प्रति केवलस्य कर्तृत्वेन संयोगो भवति, तस्मात् 'अविघातः' नैमित्तिकानाम्। कथम् पुनः कार्त्स्न्येन कर्त्तव्यत्वम्?। 'स्वामित्वेनाभिसम्बन्धात्', कर्म प्रति स्वामित्वेन केवलानाम् वसिष्ठादीनामभिसम्बन्धो भवति, कर्म पुरुषाणाम् उपकारकं, नह्नि एकैकस्य शक्नोति फलं निर्वर्त्तयितुम्; तस्मात् एकैकः कृत्स्नस्य कर्त्ता—इति तत् नैमित्तिकं सर्वं प्राप्नोति; यथा, तुण्डमात्रे दीयताम्—इति, यद्यपि सा तुण्ड-डपित्थयोर्माता, तथापि तस्यै दीयते; कार्त्स्न्येन हि तस्य सा माता भवति, न हि व्यासज्यते मातृत्वं; तद्वत् इहापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् असमानकल्पानाम् अनधिकारः॥

सू सान्नोः कर्म्मवृद्ध्येकदेशेन संयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्धः तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ॥ ११ ॥ (आ० नि० २) ॥

भा. अथ यदुक्तं, दृहद्रथन्तरवत्—इति, तत्परिहरणीयम्। दृहद्रथन्तरयोः 'साम्नोः' नैमित्तिक—'कर्मवृद्ध्येकदेशेन' संयोगो भवति, तत्र हि उभयोः साधकत्वं, न एकस्य। स्तोत्रैकदेशेन तु तत्र साम्नोः सम्बन्धः, न कृत्स्नेन स्तोत्रेण, गुणत्वेन हि तत्र साम श्रूयते, स्तोत्रं प्राधान्येन। तस्मात् तत्र विघातः स्यात्॥ (६। ६। ६ अ०)॥

---

भिन्नकल्पयोरपि राज्ञः पुरोहितस्य च कुलाययज्ञेऽधिकाराधिकरणम्॥

सू. वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥ १२ ॥ (पू०) ॥

भा इदं समामनन्ति,—'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ

भा. यजेयाताम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं राज्ञो द्वौ पुरोहितौ यजेयातां, उत राजा च पुरोहितश्च?—इति। किं प्राप्तम्? —राज्ञो द्वौ पुरोहितौ—इति। कुतः?। पुरोहितशब्दात् परं द्विवचनं श्रूयते, तच्छब्दवाच्यस्य द्वित्वं शक्नोति वदितुम्। पुरोहितस्य तच्छब्दवाच्यः श्रुत्या, न राजा; पुरोहितवचनः पुरोहितशब्दः; लक्षणया युगपदधिकरणवचनतायां हि तत् भवति। 'ननु एकस्य द्वौ पुरोहितौ न स्तः, 'पुरोहितं वृणीत' —इति हि उपादीयमानस्य विवक्षितम् एकत्वम्'—इति। उच्यते, 'वचनात्' एतत् भविष्यति, किं हि वचनं न कल्पयेत्? एतेनैव कारणेन द्वौ भविष्यतः, यथा वचनेन 'अञ्जलिना जुहोति'—इत्येकस्यैव द्वौ पाणी भवतः, यद्यपि सख्यो प्राप्तः तथापि—इति॥

सू अर्थाभावात्तु नैवं स्यात्॥ १३॥ (उ०)॥

भा तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते। 'नैवं स्यात्', द्वौ पुरोहितौ —इति। कुतः?। 'अर्थाभावात्', नैवायम् अर्थोऽस्ति,—द्वौ पुरोहितौ—इति, एकस्य राज्ञः एक एव पुरोहितः उपादेयत्वेन हि श्रूयते, 'पुरोहितं करोति'—इति, एकत्वं विवक्षितम्। 'ननु वचनात्—इत्युक्तम्'। उच्यते, न तु वचनात् एतत् शक्यं, संस्कारनिमित्तत्वात् पुरोहितशब्दस्य, क्रियमाणोऽपि न पुरोहितः स्यात्॥

सू अर्थानाञ्च विभक्तत्वात् न तच्छ्रुतेन सम्बन्धः॥ १४॥ (यु०)॥

भा अर्थानाञ्च विभक्तत्वं श्रूयते,—'तेजःसंस्तवो ब्राह्मणस्य, वीर्यसंस्तवो राजन्यस्य'। ताभ्यां वर्णाभ्यां तेन तेन फलेन सम्बन्धोऽनूद्यते। तस्मात् अपि न द्वौ पुरोहितौ—इति।

सू पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥ १५ ॥
(आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तम्, एतस्मात् एव कारणात् एकस्यैव पुरुषस्य द्वौ पाणी भवतः—इति; युक्तं तत्र, 'पाणेः प्रत्यङ्गभूतत्वात्', अञ्जलिं प्रत्यङ्गभूतौ* दक्षिणस्य पाणेः सव्यः पाणिः, तेन विना अञ्जलिरेव न भवति, न हि द्वाभ्यां दक्षिणाभ्याम् अञ्जलिः—इति उच्यते, तस्मात् राजा च पुरोहितश्च स्यात्। 'ननु तत्र राजपुरोहितश्च राजपुरोहितश्च राजपुरोहितौ यजेयाताम्'—इति। उच्यते,—न तौ सायुज्यकामौ भवतः, स राजा पुरोहितेन सहैककार्यो भवति, न तु पुरोहितः पुरोहितेन; उभावपि तौ हि राजानम् अभिवदन्तौ पुरोहितौ—इत्युच्येते, न हि ताविच्छन्तौ,† संस्कारशब्दो हि पुरोहितः—इति। 'ननु लक्षणा भवति भवत्पक्षे'। उच्यते, मुख्याभावे लक्षणयापि व्यवहारो भवति, यथा, अग्नौ तिष्ठत्यवटे तिष्ठति'—इति। तस्मात् राजा च पुरोहितश्च राजपुरोहितौ—इति॥ (६।६।२ अ०) ॥

---

सत्रे ब्राह्मणमात्राधिकाराधिकरणम् ॥

सू सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥ १६ ॥ (पू०) ॥

भा इह सत्राणि उदाहरणम्। 'य एवं विद्वांसः सत्रमासते, य एवं विद्वांसः सत्रम् उपयन्ति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं सत्राणि त्रयाणामपि वर्णानाम्, उत ब्राह्मणानाम् एव?—इति। किं प्राप्तम्?—'सत्राणि सर्ववर्णानाम्' भवेयुः—इति।

---

* अञ्जलौ प्रत्यङ्गभूतौ इति पा० सो० पु० पाठः।
† तमिच्छन्तौ इति का० सो० पु० पाठः।

भा कस्मात्?। 'अविशेषात्', न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयते, अमीषां वर्णानाम् सत्राणि भवन्ति, अमीषां न—इति। तस्मात् त्रयाणामपि वर्णानाम् अधिकारः—इति॥

सू · लिङ्गदर्शनाच्च॥ १७॥ (यु०)॥

भा इतश्च पश्यामः, त्रयाणाम् सत्राणि—इति। कुतः?। 'लिङ्गदर्शनात्'। किं लिङ्गं भवति?। एवम् आह, 'वार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थुरश्मं राजन्यस्य रायोवाजीयं वैश्यस्य'—इति द्वादशाहे भवति वचनं ब्रह्मसामविधानपरम्, तस्मिन् राजन्यवैश्यानाम् दर्शनं भवति। तस्मात् अपि सर्ववर्णानाम् अधिकारः—इति॥

सू ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात्॥ १८॥ (सि०)॥

भा. वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। न च एतदस्ति, त्रयाणामपि वर्णानाम्—इति। किं तर्हि?—'ब्राह्मणानाम्' एव स्यात्। कुतः?। 'इतरयोरार्त्विज्याभावात्', इतरयोर्हि वर्णयोराजन्यवैश्ययोः आर्त्विज्यं प्रतिषिद्धं; स्वयमेव आर्त्विज्येन च विना विगुणत्वम्। तस्मात् ब्राह्मणानामेव स्यात्॥

सू वचनादिति चेत्॥ १९॥ (आ०)॥

भा इति चेत् पश्यसि,—राजन्यवैश्ययोर्वैगुण्यमापद्यते—इति। 'वचनात्' यजमानाः सन्तः ऋत्विजो भविष्यन्ति, 'ये यजमानास्ते ऋत्विजः'—इति। के पुनर्यजमानाः?। ये तत्र फलं कामयमानाः सत्रकर्मणि प्रवृत्तास्ते राजन्या अपि वैश्या अपि, तेषाम् ऋत्विक्कर्म विधीयते। 'तत्र एतत् स्यात्' येषाम् आर्त्विज्यं शक्यं कर्त्तुम्, तेषामेव तत् ब्राह्मणानाम्,

भा हि राजन्यवैश्यानां, न तेषाम् इदम् आर्त्विज्यविधानमिति। नैतदेवं, यथैव ब्राह्मणानां यजमानानामप्राप्तं वचनविधानात् भवति, एवम् अब्राह्मणानामपि यजमानानां वचनप्रामाण्या देव भवितुमर्हति—इति। तस्मात् आर्त्विज्यसंस्कृता राजन्य वैश्या अपि सत्रमासीरन्—इति॥

सू न स्वामित्वं हि विधीयते ॥ २० ॥ (आ० नि०)॥

भा नैतदेवम्, 'स्वामित्वम्' अनेन वचनेन विधीयते,—एवङ्कामा सत्रमासीरन्—इति विधीयते, न आर्त्विज्यम्। 'अथ 'ये यज मानास्ते ऋत्विजः —इत्यनेन वचनेन विहितम् आर्त्विज्यम् —इति। उच्यते, तदपि न। कथम्?। न ह्येषा वचनव्यक्ति —'ये यजमानाः —इत्युद्देशपदं,' 'ऋत्विजः'—इति विधेयपदं, तथा हि सति आर्त्विज्यमङ्गम् यजमानसंस्कारक विधीयेत, न यजमानाः आर्त्विज्यस्य अङ्गम्, तत्र प्राकृतार्थता नैषाम् आर्त्वि ज्यानां स्यात् संस्कारस्य अदृष्ट कल्प्येत। स च यजमान विषय —इति पुनरदृष्टम्। तस्मात् न यजमानानां सताम् आर्त्विज्याः पदार्था विधीयन्ते, किन्तर्हि?—आर्त्विज्यानाम् पदार्थानाम् अनन्यकर्तृकता, एषा च वचनव्यक्तिः,—ऋत्विजः इत्युद्देशपदम् ते—इति विधीयते, ये यजमानास्त एव ऋत्विजो भवन्ति, न अन्ये—इति आर्त्विज्येषु पदार्थेषु यज मानाः कर्त्तारो विधीयन्ते प्रत्याम्नानात् अन्ये निवर्तन्ते, एवं सति प्राकृतप्रयोजना एव आर्त्विज्याः पदार्थाः, न यजमान संस्कार अदृष्टो विधीयते—इति। 'यजमानकर्तृकल्पनाया मप्येषाम् अदृष्टम्—इति यदि कल्प्येत। तत्र ब्रूमः,—इतर स्मिन् अपि पक्षे यजमानविषयः सोऽदृष्टः संस्कारः—इति

---

* पदानि इति का० क्री० पु० पाठः।

भा. अवश्यं कल्पनीयम्, यत्र उभयोः पक्षयोर्दोषः न तमेकश्चोद्यो भवति ॥

सू. गार्हपते वा स्यातामविप्रतिषेधात् ॥ २१ ॥ (आ०) ॥

भा. 'गार्हपते' पदार्थे राजन्यवैश्यौ भविष्यतः, न च, तत्र आर्त्विज्यमयोजनम्। तस्मात् अविप्रतिषेधः तेषाम्—इति ॥

सू. न वा कल्पविरोधात् ॥ २२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. न चेतदस्ति,—गार्हपते वा पदार्थे राजन्यवैश्यौ—इति, कल्पविरोधो हि स्यात्,—'यजमानचमसः सोममय एकेषां, फलमयचमस एकेषाम्' तथा, 'ब्रह्मसाम बार्हद्गिरं ब्राह्मणानाम्, पार्थरश्मं राजन्यानाम्, रायोवाजीयं वैश्यानाम्'। तस्मात् गार्हपते निवेशः—इत्येतदपि नास्ति ॥

सू. स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥ २३ ॥
(आ० नि०) ॥

भा अथ यदुक्तं,—लिङ्गदर्शनात्—इति, तत्परिहर्त्तव्यम्; अत्र उच्यते, अहीनमेव सत्रशब्देन वक्ष्यति, यतः स्वामित्वमृत्विजां विधीयते। अत ऋत्विजां स्वामित्वात् राजन्यवैश्यानां सत्रं न अवकल्पते—इति। तस्मात् अहीने लिङ्गदर्शनम्॥ (६।६।३ अ०) ॥

---

सत्रे विश्वामित्रतत्समानकल्पानामेवाधिकाराधिकरणम् ॥

सू. वासिष्ठानाम् वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥ २४ ॥
(१ पू०) ॥

भा. एतत् समधिगतं ब्राह्मणानामेव सत्रं, न राजन्यवैश्यानाम्

भा —इति, अथ इदानीम् इदं सन्दिग्धं, किं सर्वेषां ब्राह्मणानाम्, उत वासिष्ठानां स, उत भृगुशुनकवसिष्ठान् वर्जयित्वा अन्येषाम्?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वेषाम् अविशेषात्, न हि कश्चिद्विशेष आश्रीयतेऽमीषां ब्राह्मणानां सत्रम् अमीषां न—इति। तस्मात् सर्वेषाम्—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'वासिष्ठानाम्' ब्रह्मत्वस्य नियमात्, वासिष्ठानां सत्रं स्यात्, न अन्येषाम्। कुतः?। ब्रह्मत्वस्य नियमो भवति, 'वासिष्ठो ब्रह्मा भवति'—इत्यतो वासिष्ठानां, तत् समानकल्पानाञ्च सत्रं स्यात्—इति॥

सू सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥ २५ ॥ (२य पू॰)॥

भा 'सर्वेषां वा' सत्रं स्यात्, अविशेषात्। 'ननु वासिष्ठो ब्रह्मा'—इत्युच्यते। न—इति ब्रूमः, पुनः प्रतिसूयते,—'य एव कश्चन स्तोमभागमधीयीत स एव ब्रह्मा भवेत्'—इति। वासिष्ठोपदेशः इदानीं किमर्थः?—इति चेत्। स्तोमभागमध्यसार्थः,—स्तोमभागान् अधीयानोऽवासिष्ठोऽपि वासिष्ठकार्यं समर्थः कर्तुम्—इति॥

सू विश्वामित्रस्य होत्रनियमात् भृगुशुनकवसिष्ठानाम् अनधिकारः ॥ २६ ॥ (सि॰)॥

भा भृग्वादीनाम् अनधिकारः स्यात्। कुतः?। वैश्वामित्रस्य होत्रं नियम्यते,—'विश्वामित्रो होता भवति'—इति। तस्मात् वैश्वामित्राणाम्, तैश्च समानकल्पानाम् अधिकारः—इति॥ (६। ६। ४ अ॰)॥

भवे आहिताग्नेरेवाधिकाराधिकरणम् ॥

सू विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ॥ २७ ॥ (पू०) ॥

भा सत्त्राण्येव उदाहरणम्,—'य एवं विद्वांसः सत्त्रमासते, य एवं विद्वांसः सत्त्रम् उपयन्ति'—इति; तेषु सन्देहः,—किं साग्नीनामनग्नीनाञ्च तानि भवन्ति, उत साग्नीनामेव?—इति। किं प्राप्तम्?—साग्नीनामनग्नीनाञ्च। कुतः?। 'विहारस्य प्रभुत्वात्', प्रभवति हि परकीयोऽपि विहारः सर्वेषाम् उपकर्तुम्, कर्त्तव्यो हि तेन सिध्यति—इति स यदीयेन—तदीयेन वा सिद्धिमुपैति। तस्मात् अनग्नीनामपि भवितुमर्हति—इति ॥

सू सारस्वते च दर्शनात् ॥ २८ ॥ (यु० १) ॥

भा. सारस्वते च सत्त्रे भवति दर्शनं,—'परस्यैवा एते स्वर्गं लोकं यन्ति, येऽनाहिताग्नयः सत्त्रमासते'—इति, अनाहिताग्नीनां सत्त्रं दर्शयति। तस्मात् अपि सर्वेषाम् ॥

सू प्रायश्चित्तविधानाच ॥ २९ ॥ (यु० २) ॥

भा प्रायश्चित्तं विधीयते,—'अग्नये विविचयेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपेत् यस्याहिताग्नेः अन्यैरग्निभिः अग्नयः संसृज्येरन्'—इति, संसर्गेऽग्नीनाम् प्रायश्चित्तं दर्शयति, स एवं स्यात् अनाहिते, नान्यथा, तस्मादप्यनग्नीना सत्त्राणि—इति ॥

सू साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥ ३० ॥ (सि०) ॥

भा 'साग्नीनाम् वा' सत्त्राणि, न अनग्नीनाम्। कस्मात्?। 'इष्टिपूर्वत्वात्', इष्टिपूर्वत्व सोमानामाम्नातं,—'दर्शपूर्णमासौ इष्ट्वा सोमेन यजेत'—इति ज्योतिष्टोमस्य इष्टिपूर्वत्वम् तथो

भा. इकपरम्परया सत्त्वाणि प्रति प्राप्तम्। तस्मात् अनग्नीनां तानि भवेयुः—इति ॥

सू स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥ ३१ ॥ (यु० १) ॥

भा. स्वार्थेन च अग्नयः प्रयुक्ताः। कथम्?। उपग्रहविशेषात्, उपग्रहविशेषो हि भवति,—'अग्नीनादधीत'—इति। तस्मात् अन्यस्य अग्निभिः अन्यस्य न सिद्धिः, यद्यपि क्रत्वर्था अग्नयः—इति ॥

सू सन्निवापं च दर्शयति ॥ ३२ ॥ (यु० २) ॥

भा 'सावित्राणि होष्यन्तः सन्निवपेरन्'*—इति तेनापि साग्नयः सत्त्वाण्युपासते—इति गम्यते। एवं लिङ्गपरिहारौ अग्निष्टे-ऽधिकरणेऽभ्यधिनायते ॥ (६। ६। ५ अ०) ॥

---

जुह्वादीनां साधारणाधिकरणम् ॥

सू जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रतीयेत ॥ ३३ ॥ (पू०) ॥

भा किं जुह्वादीनि पात्राणि कस्यचित् एव यजमानस्य, उपादाय प्रयोगः कर्त्तव्यः, उत अन्यानि साधारणानि कर्त्तव्यानि? किं प्राप्तम्?—यस्य—कस्यचित् एव यजमानस्य उपादाय प्रयोगः कर्त्तव्यः। कुतः?। न हि स्वं पात्रं यजमानः प्रयुङ्क्ते —स्वेन पात्रेण प्रयोगः कर्त्तव्यः—इति। तस्मात् परकीयपात्रैः अन्ये यजेरन्—इति ॥

---

* अग्नीन् निर्वपेत इत्यधिक पाठः आ० सो० पु० एव का० कौ० पु० पाठ ।

सू. अपि* वान्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्व्वीरन् विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥ ३४ ॥ (सि०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। नैतदेवं, 'अन्यानि' हि 'पात्राणि साधारणानि' कर्त्तव्यानि। कस्मात्?। 'विप्रतिषेधात्', विप्रतिषेधो भवति, कदाचित्तानि पात्राणि उपात्तानि भवेयुः, अथ मरणं कस्यचित् यजमानस्य आपद्येत, तत्र विप्रतिषेधः स्यात्, 'आहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च'—इति यदि तं नेर्द्दहेयुः, इतरेषां यज्ञो विरुध्येत। अथ तैयंज्ञं समापयेयुः। इतरस्य शरीरसंस्काराः परिलुप्येरन्, अन्येषु पुनः साधारणेषु उपादीयमानेषु न किञ्चित् अपि विरुध्येत। तस्मात्‡ तथा कार्य्यम्—इति ॥

सू. प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥ ३५ ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ इदानीं पूर्व्वोक्तस्य लिङ्गस्य परिहार उच्यते, प्रायश्चित्तम् अस्मत्पक्षे परिकल्पिष्यते। कथम्?। अरण्ये कान्तारे गच्छतां स्थितानां वा दस्युभयात् श्वापदभयात् वा वासे जाते दावाग्निना वा संदह्येरन्, मिथो वासविषयः प्रायश्चित्तस्य भविष्यति—इति ॥ (६।६।६ अ०) ॥

---

* अपि चेति क० म० पु० पाठः।

† न पत्र समयद्वँ‌धेदृदिति क० म० पु० पाठः।

‡ न तथा कार्य्यमिति का० क्री० पाठः।

विकृतसप्तदशसामिधेनीषु वर्णत्रयाधिकाराधिकरणम् ॥

सू पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान् प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात्* ॥ ३६ ॥ (पू०) ॥

भा अध्वरकल्पा उदाहरणम्, 'आग्रयणेष्टिः पशुः'—इत्येवंलक्षणानि कर्माणि, येषु सप्तदश सामिधेन्यः; तेषु सन्देहः,—किं त्रयाणामपि वर्णानामेभिः कर्मभिरधिकारः, उत वैश्यस्यैव?—इति। किं प्राप्तम्?—एतस्यां 'विकृतौ' 'पुरुषकल्पेन' कर्ता नियम्येत। कुतः?। यज्ञोऽयमध्वरकल्पादिः, एतत्सङ्ख्यागुणकः, इयं च सङ्ख्या वैश्यस्य उक्ता, तेन वैश्य एव एतत् कर्म कृत्स्नं कर्तुं समर्थः, सप्तदशगुणकमेतत् कर्म, तत्र साप्तदश्यम् अवैश्येन क्रियमाणम् असाधु, इतरान् प्रति हि तत्र चोद्यते, तेन 'यजेत'—इत्यसामर्थ्यात् ब्राह्मणक्षत्रियान् न अधिकरिष्यति—इति ॥

सू लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥ ३७ ॥ (यु०) ॥

भा लिङ्गं च भवति—यथा वैश्यस्य साप्तदश्यम्—इति, 'सप्तदशो वैश्यः'—इति, तेन वैश्यस्य साप्तदश्यम्, अतो वैश्यस्य एवञ्जातीयकानि कर्माणि, यथा इज्याविशेषो वैश्यस्य भवति,—'वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत'—इति, वैश्यसम्बन्धात्; एवं साप्तदश्यं तस्यैव—इति ॥

सू न वा संयोगपृथक्त्वाद्गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥ ३८ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति, पृथगेतौ संयोगौ, एकं वाक्यं 'सप्तदश वैश्यस्य

---

* अधिकारसामर्थ्यात् इति का० सो० प० पु० ४ ।

भा. अनुब्रूयात्'—इति, वाक्यान्तरम् अध्वरकल्पादिषु 'सप्तदशानुब्रूयात्'—इति, स च गुणः—इज्याप्रधानो भवति, न इज्या गुणार्था। किम् अतः?। यद्येवं यत्र इज्या, तत्र तद्गुणेन भवितव्यं, न यत्र गुणः, तत्र इज्यया, वैश्यस्य गुणानुरोधेन—इज्यापि; त्रयाणां वर्णानाम् इज्या, सा तत्र गुणम् आकाङ्क्षति—इति। अपि च इज्या गुणभूतस्य अपरा चोदना, न सा वैश्यसंयुक्ता, सा तु अवैश्यकं गुणं प्रत्याययति। 'प्रथमं सवैश्यकम्—इति चेत्'। न, वैश्यस्य प्रधानत्वात्, प्रधानभूतस्तत्र वैश्यः श्रूयते। तस्मात् सर्वाधिकारः॥

सू. इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ॥ ३९ ॥ (यु०)॥

भा. अथ यदुक्तं,—वैश्यस्तोमे यथा, तथेहापि—इति; युक्तं तत्र, इज्या वैश्यस्य श्रूयते, तत्र वाचनिकेनैव विशेषेण नियम्येत। तस्मात् तत्र अदोषः—इति॥ (६।६।७ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य षष्ठः पादः॥

षष्ठे अध्याये सप्तमः पादः॥



विश्वजिति पित्रादीनामदेयत्वाधिकरणम्॥

सू स्वदाने सर्व्वमविशेषात्॥ १॥ (पू०)॥

भा इदमाम्नन्ति विश्वजिति, 'सर्वस्वन्ददाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं यावत्किञ्चित् स्वशब्देन उच्यते, यथा माता पिता—इत्येवमाद्यपि सर्वं देयं, उत यच प्रभुत्वयोगेन स्वशब्दस्तदेव देयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'अविशेषात्', माता पिता—इत्येवमाद्यपि दातव्यम्। 'ननु दानम्—इत्युच्यते स्वत्वनिवृत्तिः, परस्वत्वापादनं च, न च पित्रादीनाम् अशक्यं स्वत्वं निवर्त्तयितुम्, न हि कथञ्चित् पिता न पिता भवति'। उच्यते, सत्यं न असौ न पिता भवति, शक्यते तु परविधेयः कर्त्तुम्, परस्वत्वापादनं च दानं अर्थाच्च स्वत्वत्यागः। तस्मात् सर्वं देयम्—इति॥

सू यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात्॥ २॥ (सि०)॥

भा वाशब्देन पक्षो विपरिवर्त्तते। 'यस्य' प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तदेव देयं न इतरत्। कस्मात्?। प्रभुत्वयोगिनः शक्यत्वात्, 'इतरस्य' च 'अशक्यत्वात्', न हि पित्रादीनां शक्यते स्वत्वं परित्यक्तुम्।

'ननु च उक्तं परविधेयीकरणं तस्य शक्यम्'—इति। उच्यते, प्रभुत्वयोगिनः स्वस्य अत्र दीयमानस्य सर्वत्वम् उच्यते, न अप्रभुत्वयोगिनः स्वस्य दानं, न च एतच्छास्यं, यत् पित्रादीना परिचारकत्वं, यस्य चैतत् न्याय्यम् अपि भवेत्, स दद्यादपि।

भा 'अत्र आह, ननु यत्र स्वशब्दो वर्त्तते, तद्देयम्—इत्युक्ते पित्रादयो दातव्या गम्यन्ते। तस्मात् तान्प्रति प्रभुत्वाय स्मृतिं बाधित्वापि यतितव्यम्'—इति। अत्र उच्यते,—स्वशब्दोऽयमात्मीय-धन-ज्ञातीनां प्रत्येकं वाचको न समुदायस्य, तत्र आत्मीये सर्वतायां छतायां छते शास्त्रार्थे न अशक्येषु ज्ञातिषु सर्वता कल्पनीया, नापि स्मृतिर्बाधितव्या। अपि च गवादीनामात्मीयानां चोदकेन प्राप्तौ सत्यामवश्यम् आत्मीयगता सर्वता उपादेया, तस्याञ्च उपात्तायां छतः शास्त्रार्थः—इति ज्ञातीनाम् उपादाने न किञ्चित् कारणमस्ति, तस्मात् न पित्रादयो देयाः। तस्मात् यत्र एव प्रभुत्वयोगेन स्वत्वं, तदेव देयम्—इति॥ (६।७।१ अ०)॥

---

विश्वजिति पृथिव्या अदेयताधिकरणम्॥

सू न भूमिः स्यात्सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥ ३ ॥

भा अत्रैव सर्वदाने संशयः,—किं भूमिर्देया, न?—इति। का पुनर्भूमिः अत्राभिमता?। यदेतन्महदारब्धं द्रव्यान्तरं पृथिवी-गोलकं, न क्षेत्रमात्रं मृत्तिका वा।

तत्र किं प्राप्तम्?—अविशेषाद्देया, प्रभुत्वसम्बन्धेन हि तत्र स्वशब्दो वर्त्तते, शक्यते च मानसेन व्यापारेण स्वस्य स्वता निवर्त्तयितुम्—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'न भूमिर्देया'—इति। कुतः?। क्षेत्राणाम् ईशितारो मनुष्या दृश्यन्ते, न कृत्स्नस्य पृथिवीगोलकस्य—इति।

'आह, य इदानीं सार्वभौमः, स तर्हि दास्यति'। सोऽपि न—इति ब्रूमः। कुतः?। यावता भोगेन सार्वभौमो भूमेरीष्टे, तावता अन्योऽपि, न तत्र कश्चिद्विशेषः, सार्वभौमत्वेऽस्य त्वेतदधिकं यत् असौ पृथिव्यां सम्भूतानां व्रीह्यादीनां रक्षणेन

मा निर्विष्टस्य कस्यचित् भागस्य ईष्टे, न भूमेः, तन्निर्विष्टाश्च* ये मनुष्याः, तैरन्यत् सर्वप्राणिनाम्† धारणविक्रमणादि यत् भूमिकृतं, तत्रेशित्वं प्रति न कश्चिद्विशेषः। तस्मात् न भूमि देया॥ (६।७।२ अ०)॥

---

विश्वजिति अश्वादीनामदेयताधिकरणम्॥

सू अकार्य्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात्॥ ४॥

भा विश्वजित्येव सन्देहः—किम् अश्वादयो देयाः, न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वस्य विहितत्वात्, देया अश्वाः—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—यस्य च दानम् अकार्य्यं, तच्च न देयम्, यथा अश्वानाम्; तेषां हि दानम् अकार्य्यम्। 'एष हि विशेषः अश्वानाम्, अन्येभ्यो द्रव्येभ्यः, यत् एषां दानं प्रतिपिध्यते,—'न केशरिणो ददाति न उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति'—इति विश्वजिति एव समाम्नायते। तस्मात् न अश्वा देयाः—इति॥ (६।७।२ अ०)॥

---

विश्वजिति विद्यमानानामेव सर्वस्वानाम दानाधिकरणम्॥

सू नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः॥ ५॥

भा विश्वजित्येव सन्देहः—'सर्वस्वं ददाति'—इति, किम् अर्ज्जयित्वा उपकरणानि यावन्ति मनुष्यस्य, यावन्ति च शक्नोति उपार्जयितुम्, सर्वाणि तानि दद्यात् शतभाण्डादीनि, उत यान्येव अस्य विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देयानि, न अविद्यमानानि कर्त्तव्यानि?—इति। कुतः संशयः?। उभयथा वचनव्यक्तेः सम्भवात्,

---

* नर्निविष्टा इति का० क्री० पु० पाठ।
† सर्वप्राणिनामिति पाठ का० क्री० पुस्तके नास्ति

भा.—यदि वा एवं वचनं व्यज्यते, यानि सर्व्वाणि स्वानि, (कानि तानि?—यानि पुरुषस्य उपकारकाणि शयनादीनि), तानि सर्व्वाणि दद्यात्—इति विधीयते, यदा यानि स्वानि पुरुषस्य दाने शक्यानि, तानि सर्व्वाणि—इति सर्व्वत्वं विधीयते। यदि दानं विधीयते, ततोऽप्राप्तदानानाम् क्षतभाण्डकानामपि दानम्। अथ सर्व्वता विधीयते, ततो विद्यमानानामेव।

किं तावत् प्राप्तम्?—क्षतभाण्डकानि देयानि—इति, तथा दानविधाने श्रुतिः अनुगृह्यते, इतरथा वाक्यं; तयोश्च श्रुतिर्बलीयसी। तस्मात् क्षतभाण्डकानि देयानि—इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'नित्यत्वाच्च अनित्यैर्नास्ति सम्बन्धः', चशब्दोऽन्वादेशे, न अश्वा दातव्याः—इत्युक्तं, क्षतभाण्डकानि च न देयानि—इति; नित्यं हि विश्वजिति दानं चोदकेन प्राप्तम् अनूद्यते, अनित्यानि च क्षतभाण्डकानि, न शक्यानि सर्व्वाणि विश्वजिति क्रियमाणे उपसंहर्त्तुम्, तत्र क्षतभाण्डकानाम् केषाञ्चित् उत्पत्तिं विश्वजिति दानं प्रतीक्षेत, नैमित्तिकं तत् स्यात्, न नित्यं, नित्यवच्च तत् चोदकेन विधीयते, न निमित्तसंयोगेन। तस्मात् अवश्यमेतदभ्युपगन्तव्यं,—साकल्यं देयानाम् प्राप्तानाम् विधीयते—इति, श्रुत्यसम्भवे च वाक्यार्थो ग्रहीतव्य एव भवति, तस्मात् न क्षतभाण्डकानि दातव्यानि॥ (६।७।४ अ०)॥

---

विश्वजिति शुश्रूषकशूद्रस्यादेयताधिकरणम्॥

सू शूद्रश्च धर्म्मशास्त्रत्वात्॥ ६॥

भा. विश्वजित्येव सन्दिह्यते,—किं परिचारकः शूद्रो देयः, न?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्व्वस्य स्वस्य विहितत्वाद्देयः—इति।

भा एवं प्राप्ते ब्रूम, 'शूद्राय न देय—इत्यन्वादेश। कुत ?। 'धर्मशासनत्वात्', धर्मशासनोपनतत्वात् तस्य,—'एवम् असौ नक्षो त्रैवर्णिकाय उपनत इमं शुश्रूषमाणो धर्मेण सम्भत्स्यते* —इति सोऽन्यस्मै दीयमाणो न इच्छेदपि, न च अनिच्छत तस्य स प्रभवति, न च बलात्स्वीकर्त्तव्य, यस्त्वन्यायेन स्वीकुर्यात् स दद्यादपि, धर्मोपनतमात्रेण तु न शक्यो दातुम्॥ (६। ७। ५ अ०)॥

---

विश्वजिति दक्षिणाकाले विद्यमानानामेव सर्वस्वानाम देयताधिकरणम्।

सू दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दान-संयोगात्॥ ७॥

भा विश्वजित्येव सन्देह —किं प्राग्दक्षिणाकालात् विद्यमानं नियोगतो दक्षिणाकाले निधातव्यम् ऊर्ध्वं च दक्षिणाकालात् भविष्यत् अनागतमपि दक्षिणाकाले देयम्, उत यदेव दक्षिणाकाले विद्यते, तदेव देयम्?—इति। किं प्राप्तम्?—यस्यापि प्रागूर्ध्वं च स्वता तदपि देयं, स्वमात्रस्य दानविधानात्। एवं प्राप्ते ब्रूम —'दक्षिणाकाले यत् स्वं विद्यते' तत् एव देयं न यत प्रागूर्ध्वं च। कुत ?। स्वस्य अत्र दानम् अनूद्य साकल्यं विधीयते तच्च दानं दक्षिणाकाले प्राप्तत्वात् तस्मिन्नेव काले ऽनूद्यते। तस्मात् दक्षिणाकाल एव विद्यमानं देयम्—इति॥ (६। ७। ६ अ०)॥

---

* सम्भत्स्य इति आ० सा० एन का० स्रो० पु० पाठ।

विश्वजिति दक्षिणाकालेऽपरिसमाप्तिसमुद्धाराधिकरणम् ॥

सू. अशेषत्वात्तदन्तः स्यात् कर्म्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥ ८ ॥ (१म पू०) ॥

भा. तस्मिन्नेव विश्वजिति सन्देहः,—किं दक्षिणाकाले एव विश्वजित् उत्स्रष्टव्यः, उत न सर्वं दातव्यं, परिसमापनीयः?—इति। किं प्राप्तम्?—उत्स्रष्टव्यः—इति। कुतः?। 'अशेषत्वात्'। कथम् अशेषता?। 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति'—इति, न च शक्यम् अन्तरेण द्रव्यं, परिसमापयितुम्। तस्मात् 'तदन्तः स्यात्'।

सू. अपि वा शेषकर्म्म स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥ ९ ॥ (२य पू०) ॥

भा. 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। 'शेषकर्म स्यात्', न सर्वस्वं दक्षिणाकाले देयं, यावता तत् कर्म परिसमाप्यते, तावत् शेषयितव्यम्। कुतः?। 'क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात्', क्रतोः परिसमाप्तिः प्रत्यक्षशिष्टा, 'विश्वजिता यजेत'—इति विश्वजितम् उपक्रम्य, परिसमापयेत्—इत्यर्थः। परिसमापयता यत् शक्यते दातुम्, तावत् सर्वम्—इत्यर्थः। तस्मात् न तदन्तम् उत्स्रष्टव्यम् —इति ॥

सू. तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १० ॥ (यु०) ॥

भा. एवञ्च कृत्वा 'अन्यार्थदर्शनम्' उपपद्यते,—'अवभृथादुदेत्य वत्सत्वचमाच्छादयति'—इति शेषे सति अवकल्पते ॥

सू. अशेषं तु समञ्जसादानेन शेषकर्म स्यात् ॥ ११ ॥ (आ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। एतत् समञ्जसाभूतं, यत् 'अशेषं'

भा प्रदीयते—इति, एवं 'सर्वस्वं ददाति'—इति शब्दः उपपन्नो भवति—इति। यत्तु प्रत्यक्षा समाप्तिः—इति, तत्र ब्रूमः,—'आदानेन शेषकर्म' भविष्यति—इति। उच्यते,—

सू नादानस्य नित्यत्वात् ॥ १२ ॥ (आ० नि०) ॥

भा आदानं त्वनित्यं, नित्यं च शेषकर्म, न हि तयोः सम्बन्धो ऽवकल्पते। तस्मात् शेषयितव्यं किञ्चित्—इति ॥

सू दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन *संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ॥ १३ ॥ (सि०) ॥

भा तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, नैतदस्ति,—किञ्चित् शेषयितव्यम्—इति, 'दीक्षासु तु' विनिर्देशो† भवति, प्रकृतौ एव ज्योतिष्टोमे, स इह चोदकेन प्राप्तः,—इदं क्रत्वर्थम्, इदं भक्ष्यार्थम्, इदम् आनमनाय—इति, तदिह यत् आनमनाय दातव्यं तस्य अयं विकारः सर्वता नाम। कुत एतत्?। यतः 'स्वं ददाति'—इत्यनूद्यते, सर्वता एव विधीयते तेन, न अदातव्यस्य दानं विधीयते, न च भक्ष्यार्थं क्रत्वर्थं च दातव्यम्। 'तस्मात् अविरोधो' भविष्यति—इति ॥ (६।७।७ अ०)॥

---

अहर्गणस्थेऽपि विश्वजिति सर्वस्वदानाधिकरणम् ॥

सू अहर्गणे च तद्धर्मा स्यात् सर्व्वेषामविशेषात् ॥ १४ ॥ (सि०) ॥

भा अस्ति अहर्गणः अष्टरात्रः,—'अथ एतस्य अष्टरात्रस्य विश्व

---

* दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोग इति का० क्रो० पु० पाठः। दीक्षासु तु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन न संयोग (?) इति का० म० पु० एवं का० सो० पु० पाठः ॥

† प्रकृतौ कर्मारम्भ एव सङ्कल्पमात्रेण व्यावहारिक धनं वचनबलात् त्रिधा व्यवस्थापितम्

भा जिदभिजितौ एकाहावभितः, उभयतोज्योतिर्मध्ये षडहः, पशुकामो हि एतेन यजेत—इति। तत्र सन्देहः,—किम् अहर्गणस्यास्यापि सर्वस्वमेव दक्षिणा स्यात्,* आहो द्वादशं शतम्?—इति। किं प्राप्तम्?—सर्वस्वम्। कुतः?। 'सर्वेषां' विश्वजिताम् 'अविशेषात्', य एव प्रकृतौ विश्वजितो धर्मः, स एव चास्य चोदकेन भविष्यति। तस्मात् सर्वस्वं देयम्—इति ॥

सू द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥ १५ ॥ (पू०) ॥

भा 'द्वादशशतं वा' देयम्—इति; 'प्रकृतिवत्' कर्त्तव्यं, ज्योतिष्टोमस्य प्रकृतिः, तत्र धर्मा विहिताः, न विश्वजिति ह्यस्याः प्रतीयन्ते। तस्मात् द्वादशशतम् अत्र देयम्—इति ॥

सू अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् ॥ १६ ॥ (उ०) ॥

भा. तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। 'नैवं' भवितुमर्हति। कुतः?। नैष यतो विश्वजितो गुणो द्वादशशतं; नामधेयेन हि अत्र धर्मग्रहणम्। तस्मात् विश्वजितो भविष्यति, न ज्योतिष्टोमात्—इति ॥

सू· लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १७ ॥ (यु०) ॥

भा लिङ्गं खल्वपि दर्शयति। किं लिङ्गं भवति?—इति। एवमाह, 'हीयते वा एष पशुभिर्यो विश्वजिति सर्वं न ददाति'—इति नियतं सर्वस्वदानं दर्शयति अहर्गणे॥ (६।७।८ अ०)॥

---

इदमेव दशार्थम् इदमेव मध्यार्थम्, इदमेव दक्षिणार्थमिति" इति माधवोदमबाह्युम्भेदम् ॥

* चास्य इति का० सो० पु० पाठः ॥

† 'सदेवैतत् भाष्यकारमतम् वार्त्तिककारस्तु द्वादशशतमित्येव सिद्धान्तितवान्" इत्यादि, "सूत्रकारस्तु नामातिदेशस्य प्राबल्यमात्रं कुमारिलवान्" इत्यन्तं माधवोदमनुसन्धेयम् ॥

विश्वजिति द्वादशशतन्यूनधनस्यानधिकाराधिकरणम् ॥

सू विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥ १८ ॥ (पू०) ॥

भा 'विश्वजिति सर्वस्वं ददाति'—इति; तत्र एषोऽर्थः सांशयिकः, किं यस्य द्वादशशतम्, अधिकम्, ऊनं वा विद्यते, तस्यापि विश्वजिता अधिकारः, उत यस्य सकलमधिकं वा तस्यैव ?—इति। किं प्राप्तम् ?—'विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात्', न विशेषः कश्चिदाश्रीयते, यस्य द्वादशशतम् अधिकम्, ऊनं वा अस्ति—इति। तस्मात् सर्वस्य विश्वजिता अधिकारः—इति ॥

सू अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥ १९ ॥ (सि०) ॥

भा न चैतदस्ति, सर्वस्य विश्वजिता अधिकारः—इति, कस्य तर्हि ?—यस्य द्वादशशतमस्ति, 'अधिकं वा'—इति। कुतः ?। 'प्रतिप्रसवात्', प्रतिप्रसवो हि ज्योतिष्टोमे सर्वस्वस्य उच्यते,—द्वादशशतं विधाय आह, 'एतावता* वाव ऋत्विज आनेया अपि वा सर्वस्वेन'—इति, यदि एतावता नेच्छेयुः, सर्वस्वेना-ऽऽनमयितव्याः—इति, तद्यदि द्वादशेन शतेन न इच्छन्ति, न इच्छन्तितरां ततो न्यूनेन। तस्मात् द्वादशशतं ज्योतिष्टोमे, यदा सर्वस्वं तदिह उभयमपि प्राप्तं, तत्र एकः पक्षो नियम्यते,—सर्वस्वं देयम्—इति। स एष न विधिः, प्राप्तत्वात्, अनियतप्राप्तस्तु नियम्यते, स चेत् नियम्यते, यादृशस्तत्र, तादृश एव इह। तत्र च द्वादशशतम् अधिकं वा सर्वस्वम्, इहापि तदेव। तस्मात् न न्यूनधनस्य अधिकारः—इति ॥

सू अनुग्रहाच्च पादवत् ॥ २० ॥ (यु०) ॥

भा चशब्देन अन्वाचयः। इतश्च अधिकं सर्वस्वं, अधिके हि

* "एवम" इति का० क्री० पु० पाठः ॥

भा. दीयमाने तदन्तर्गतत्वात् द्वादशशतमपि दत्तं भवति, 'पादवत्', यथा, कार्षापणे दीयमाने पादोऽपि दत्तो भवति, एवम् इहापि —इति ॥ (६।७।९ अ०) ॥

---

अथ अपरिमितं देयमित्यनेन सङ्ख्यान्तरविधानाधिकरणम् ॥

सू. अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात् ॥ २१ ॥ (पू०) ॥

भा. आधाने श्रूयते,—'एका देया षड् देयाः द्वादश देयाश्चतुर्विंशतिर्देयाः* शतं देयं सहस्रं देयं अपरिमितं देयम्'—इति। तत्र सन्देहः,—किं, यत् परिमितम् 'एका देया'—इत्येवमादि, तन्न दातव्यम्—इति प्रतिषेधो विधीयते, उत अपरिमितं नाम किञ्चित्, तस्य दानं विधीयते?—इति। किं प्राप्तम्?—'अपरिमिते' श्रूयमाणे ब्रूमः, 'शिष्टस्य' एकादेः सङ्ख्येयस्य या 'सङ्ख्या', सा प्रतिषिध्यते। कुतः?। 'तच्छ्रुतित्वात्', परिमितशब्दश्रवणात् गणितम् अवगम्यते, तच्च एकादिकं, तस्य नञ्शब्देन प्रतिषेधः क्रियते, तत्र श्रुतोऽर्थः कृतो भवति, इतरथा अपरिमितशब्दे प्रतिश्रुतिस्त्यज्येत, अन्याय्या वक्रत्वम् अस्यार्थः कल्प्येत; तस्मात् परिमितस्य प्रतिषेधः—इति ॥

सू. कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसङ्ख्यानात् ॥ २२ ॥ (सि०) ॥

भा. 'कल्पान्तरं वा' स्यात्,—अपरो दानकल्पो विधीयते, यथा 'एका देया'—इति दानविधिकल्पः, एवम् एषोऽपि दानविधिकल्प एव स्यात्, तेन हि पूर्वेण, तुल्यमेव इदं प्रसङ्ख्यायते। का अस्य पूर्वेण तुल्यता?। प्रतिज्ञातस्य अर्थस्य अवगमिता

---

* चतुर्विंशतिरिति क० ख० पु० पाठः ॥

भा श्रुतिरस्ति—इति ; पूर्वं च हि देयशब्दश्रुत्या* दानं विधीयते —इति, इहापि देयशब्दश्रुतिः, सा श्रूयमाणा शक्नोति दानं विधातुम्। प्रतिषेधे हि विधीयमाने वाक्यस्य व्यापारः ; तच्च दुर्बलं श्रुतिं प्रति ; तस्मात् कल्पान्तरम्। यच्च अपरिमितशब्दे प्रसिद्धिर्बाध्यते—इति, समुदायप्रसिद्धिरवयवप्रसिद्धेर्बाधिकैव समधिगता।

'ननु नात्र प्रसिद्धिः, लक्षणेयं,—यत् बहु, तत् न शक्यं परिमातुं, तस्मात् अपरिमितत्वेन लक्ष्यते बहुत्वम्—इति'। तच्च न, अनेकस्मिन् अशक्यपरिमाणे सति बहुषु रूढः, 'अपरिमितम् अस्य धनं', बहु—इति गम्यते ; यथा, कुशलः, प्रवीणः—इति बहुषु कुशानां लातृगुणेषु सत्सु निपुणतायामेव कुशलशब्दो रोहाद्रूढिशब्द एव भवति, बहुषु च वीणावादस्य गुणेषु सत्सु निपुण एव प्रवीणशब्दो वर्तमानो रूढः—इत्युच्यते। तस्मात् सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्यात् रोहति शब्दः। तस्मात् समुदायप्रसिद्धा अपरिमितशब्देऽवयवप्रसिद्धिर्बाध्यते, अश्वकर्णशब्दवत्। अतः कल्पान्तरम्—इति ॥ (६।७।१० अ०)॥

---

अपरिमितशब्देन सहस्राधिकस्य ग्रहणाधिकरणम् ॥

सू अनियमोऽविशेषात् ॥ २३ ॥ (पू०)॥

भा अपरिमिते कल्पान्तरम्—इति समधिगतम्। अथ इदानीं सन्दिह्यते,—किं सहस्रात् ऊनम् अपरिमितम्, उत सहस्रात् अधिकम्?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—'अनियमोऽविशेषात्', न कश्चित् इह बहुत्वे विशेष आश्रीयते,—सहस्रादूनम् अधिकं वा—इति, अनाश्रीयमाणे यथा इष्टं† तथा साधु। तस्मात् अनियमः ॥

* देयशब्दात् श्रुत्या इति का० सो० पु० पाठः ॥

† इच्छायां यथा इष्टं भवति का० सो० पु० पाठः ॥

सू अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरेषां सन्निधानात् ॥ २४ ॥

भा. 'वा'—इतिपक्षव्यावृत्तिः,—नैतदस्ति, अधिकम् ऊनं वा सह स्यात्—इति। किं तर्हि?—'अधिकम् एव—इति। कुतः?। 'बह्वर्थत्वात्' अपरिमितशब्दस्य, बहुषु हि इमं शब्दम् उपचरन्ति,—इत्येतत् उक्तं, बहुत्वं च आपेक्षिकं, किञ्चित् अपेक्ष्य ततोऽधिकं बहु—इत्युच्यते। असत्याम् अपेक्षायाम् अपरिपूर्णमेतत्, यथा, पुत्त्रः—इति किञ्चित् अपेक्ष्य भवति, न अन्यथा, तत्र महतं सन्निहितं च अपेक्ष्य निर्णयः; सहस्रं च सन्निहितम्; तस्मात् ततोऽधिकम् अपरिमितम्—इति ॥

सू. अर्थवादश्च तद्वत्* ॥ २५ ॥ (यु०)॥

भा कथम् एवम्?। 'तत्र उत्तरार्द्धे अपरिमितम्'—इति तद्गुणता सहस्रस्य दर्शयति॥ (६।७।११ अ०)॥

---

इति प्रत्याद्यपरकृतिपुराकल्पानामर्थवादताधिकरणम् ॥

सू परकृति-पुराकल्पं च मनुष्यधर्म्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्त्तनम् ॥ २६ ॥ (१म पू०)॥

भा इह परकृतयः पुराकल्पाश्च उदाहरणम्;—यथा, 'इति ह स्माह बर्कुर्वार्ष्णिर्माषान्मे पचत न वा एतेषां हविर्गृह्णन्ति' —इति, पुराकल्पः—'उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुस्तान् ह असुरा रक्षांसि निजघ्नुः'—इत्येवमादयः। तेषु सन्देहः,—किम् एते मनुष्यधर्मा विधयः, उत तद्गोचाणाम्; अथ वा

* तदर्थवत इति क० सं० पु० पाठ। "तदर्थत्वात्" इति का० वि

भा अर्थवादाः?—इति। किं तावत् प्राप्तम्?—मनुष्यधर्मा विधयः—इति। कुतः?। 'अर्थाय' प्रयोजनाय 'अनुकीर्त्तनम्' एतत् भवति, कर्तृमनुष्यसम्बन्धकीर्त्तनेन क्रिया प्रशस्ता भवति, प्रशस्तं च प्रतिपाद्यं; स एव विधिरेव, अनेन प्रकारेण अतः—परैरपि मनुष्यैः कर्त्तव्यः—इति गम्यते॥

सू तद्युक्ते च प्रतिषेधात्॥२७॥ (यु०)॥

भा एवञ्जातीयकस्य विधेः प्रतिषेधो भवति,—'तद् यथा न कुर्यात्'—इति, प्रसक्तस्य च प्रतिषेधो न्याय्यः। तस्मात् अपि विधयः—इति॥

सू निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात् पञ्चावत्तवत्॥२८॥ (२य पू)॥

भा मनुष्यधर्मोऽयं विधिः एवञ्जातीयकः* इति गृह्यते,—तत्र तु विशिष्टगोत्राणां निर्देशात् तेषामेव धर्मः—इति गम्यते; स्तुत्या हि अयं कर्त्तव्यः—इति ज्ञायते, स च विशिष्टगोत्राणां श्रूयते, तस्मात् तद्गोत्राणामेव कर्त्तव्यः; 'पञ्चावत्तवत्', यथा, 'पञ्चावत्तं जमदग्नीनाम्'—इति तद्गोत्राणामेव भवति, एवम् इहापि—इति॥

सू विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात्॥२९॥ (३य पू०)॥

भा तुशब्दात् एषोऽपि पक्षो व्यावर्त्तते, 'विधौ' एतेषाम् 'उपदेशः स्यात्',—विधौ वेदेन स्तुतिनिर्देशः कृतः, न विध्याश्रये पुरुषे, पुरुषग्रहणं विधिप्रशंसार्थं; विधिः—इति क्रियामाह; एतस्याः

---

* 'अत्र तद्धर्मा स्यात्' इत्यधिक पाठो क० स० पु०॥

भा क्रियाया भावो यस्मात् अनेन पुरुषेण क्रियते, तस्मात् साधुरिति, न तु अत्र पुरुषः क्रियासम्बन्धेन निर्दिश्यते, किन्तु स्तोतव्यत्वेन। कुतः एतत्?। स्तुतिपदस्य अन्यस्य अभावात्। अपि च क्रियानिर्देशे श्रुत्या विधानं, क्रियापुरुषसम्बन्धनिर्देशे वाक्येन, स तच्च दुर्बलम्। तस्मात् पुरुषमात्रस्य विधानं प्राप्नोति, न तक्षोचाणाम्—इति॥

सू अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मात्* नित्यानुवादः स्यात्॥ ३०॥ (सि०)॥

भा एषोऽपि पक्षो वाशब्दात् विनिवृत्तः। नायं तक्षोचाणां विधिः, न मनुष्यमात्रस्य वा विधिः, विधिरेव वा—इति, अयं 'अर्थवादस्तु'। कुतः?। 'विधिशेषत्वात्' अन्यं त्वत्र विधिमामनन्ति, परकृत्युदाहरणे तावत्, 'तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्'—इति, पुराकल्पोदाहरणे, 'गृहपतेरेवाग्निषु निर्मथ्य निर्वपेरन्'—इति। न च द्वयोर्विध्योरेकवाक्यभावोऽस्ति, विधिना हि सम्बध्यमानयोः परकृति—पुराकल्पवचनयोः अन्या वचनव्यक्तिः, अन्या तु स्तुत्यर्थमहत्तयोः; न च उभयं यौगपद्येन सम्भवति। तस्मात् अर्थवादः—इति॥ (६।७।१२ अ०)॥

---

सहस्रसम्वत्सरस्य मनुष्यादिसम्बन्धितापराधिकरणम्॥

सू. सहस्रसम्वत्सरं तदायुषामसम्भवात् मनुष्येषु॥ ३१॥ (१म पू०)॥

भा. अस्ति सहस्रसंवत्सरम्—'पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः, पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदशाः, पञ्चपञ्चाशतः सप्तदशाः, पञ्चपञ्चाशत एकविंशा विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्'—इति। तत्र

---

* 'तस्मिन्' इति का० को० पु०॥

भा सन्देहः,—किं ये सहस्रायुषः, तेषाम् अनेन अधिकारः, उत मनुष्याणाम्?—इति (यदापि मनुष्याणा, तदापि बहवो विकल्पाः वक्ष्यमाणाः), अथ वा दिवसेषु संवत्सरशब्दः?—इति। किं प्राप्तम्?—सहस्रायुषा भवितुमर्हति। कुतः?। 'असम्भवात् मनुष्येषु', न मनुष्याणाम् एतावदायुर्विद्यते, गन्धर्वादयस्त्वेताव दायुषः—इति भवति स्मृतिः, उपचारोऽन्यार्थदर्शनं* च;— 'प्रजापतिं वै प्रजाः सृजमानं पाप्मा मृत्युरभिजघान स तपोऽतप्यत सहस्रसंवत्सरान् पाप्मानं विजिहासन्'—इति, विस्पष्टं चेदं सहस्रसंवत्सरम्। तस्मात् न मनुष्याणाम्—इति॥

सू अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ॥ ३२ ॥
(२य पू०)॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः,—न गन्धर्वादीनां, मनुष्याणामेव अधिकारः—इति। कुतः?। 'तदधिकारात्', मनुष्याधिकारं शास्त्रं समधिगतम्—इति, ते हि शक्नुवन्ति कार्त्स्न्येन यथोदितं विधिम् उपसंहर्तुम्—इति। 'आह, ननु नैतावदायुषो मनुष्याः'। उच्यते, रसायनैः आयुर्दीर्घं प्राप्स्यन्ति—इति॥

सू नासामर्थ्यात् ॥ ३३ ॥ (२य पू० नि० १)॥

भा न रसायनानामेतत् सामर्थ्यं दृष्टं, येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः, एतानि हि शरीरवर्द्धकानि, वलीपलितस्य नाशकानि, स्वरवर्णप्रसादकानि, मेधाजननानि, नैतावदायुषो दातॄणि दृश्यन्ते। 'ननु स्वरवर्णप्रसादादिदर्शनादेव ज्योग्जीवनमप्यनुमास्यते†'। न—इति ब्रूमः। कुतः?। 'शतायुर्वै पुरुषः'—

* का० मो० पुस्तके 'उपचारोऽन्यार्थदर्शनञ्च' दर्शनं सुखकल्पतयाऽधारि ॥
† 'ज्योग्जीवनं चिरकालजीवनम्' इति का० मो० पुस्तके टीका ॥

भा इत्यनुवादः, स एवं ज्योग्जीवे न अवकल्पते। 'अथ उच्यते, —शतान्यायुरस्य—इति विग्रहीष्यामः'। नैवं सङ्ख्याशब्दानां समास इष्यते, न च गमकानि भवन्ति, 'द्विवचनबहुवचनान्तानामसमासः'—इति चाभियुक्तवचनात्॥

सू. सम्बन्धादर्शनात्॥ ३४॥ (२य पू॰ नि॰ २)॥

भा न हि एतावदायुषा रसायनानां सम्बन्धो दृष्टपूर्वः, न च सम्बन्धादर्शनेऽनुमानमस्ति। 'ननु सामान्यतोदृष्टं भविष्यति, दृश्यन्ते तावत् कल्पस्य स्थिरभावस्य कारकाणि, एवम् अश्यमानानि वीर्यवन्ति स्थिरशरीरताम् उत्पादयिष्यन्ति, 'शतायुः पुरुषः'—इति सत्यपि वचने, अधिकं जीवनं दृश्यते एव'—इति। अथ उच्यते,—न वयम् एवमाह, कदाचित् यावद् यावज्जीव शरीरस्थिरतामुत्पादयेयुः, न सामान्यदृष्टकानां, यथा सहस्रशोऽभ्यासात् सङ्क्रमाणा दृष्टेयांश्च यावतीश्च गाथा माधुर्यन्ति, न तु अभ्यसमानाः पुरुषायुषेणापि योजनमात्रं सङ्क्रमेयुः, एवम् इहापि सम्बन्धाभावात् सहस्रायुष्ट्वं प्राप्नुयुर्नवेति* सन्दिग्धं, सन्दिग्धं चेत्, सामान्यतोदृष्टं न प्रमाणं, न च शब्दोऽर्थः प्रमाणमन्तरेण, अस्तोऽभ्युपगमात्। तस्मात् तदाश्रय, नैतावदायुषः शक्ति- इति पुरुषवचनेन उक्तम्॥ कथं तर्हि? —इति।

सू. स कुलकल्पः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात्॥ ३५॥ (५य पू॰)॥

भा. 'स, मनुष्याधिकारपक्षे 'कुलकल्पो' भविष्यति—इत्येव 'कार्ष्णाजिनि.' आचार्यो मन्यते स्म। कुत'?। 'एकस्मिन्

* [illegible]

भा असम्भवात्, पुरुषाणाम् इदम् अनुशासन, न च एतत् एक शक्नोति पारयितुम्, यथा शक्यते, तथा पारयितव्यम्—इति गम्यमाने, बहव शक्नुवन्त प्रवर्त्तेरन्,—अन्येऽपि तत्कुलीना अन्येनारब्ध समापयेयु—इति॥

सू अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात्॥ ३६॥
(इय पू० नि०)॥

भा शास्त्रफल हि प्रयोक्तरि समधिगत (३।७।८ अ०), यश्च कार्त्स्न्येन विधिम् उपसंहर्तुं समर्थं, स एवाधिक्रियते—इति। तस्मात् न कुलकल्पोऽवकल्प्यते, कथ तर्हि?—सम्प्रदायमात्रेण धर्म—इत्यध्यवसीयते, एव श्रूयते, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य'—इति। 'एव तर्हि एतदध्यवसेय,—वचनप्रामाण्यात् एतत् कर्म कुर्वताम् आयुर्वर्द्धते—इति। तच्च न, प्रमाणाभावात्, न हि एतस्मिन् अर्थे वाक्यम् अन्यद्वा प्रमाणमस्ति। 'ननु अर्थापत्ति, अन्यथा आनर्थक्य भविष्यति—इति। उच्यते,—न आनर्थक्यम् अध्ययनादेव हि अदृष्ट भविष्यति, तथा हि सामान्येन अदृष्टं कल्पयितुम् लघीय, न तु कर्मणा आयुर्वर्द्धते—इति विशेषा दृष्टकल्पना। अथ वा आनर्थक्यमेव अभ्युपगम्येत, न अयुक्ति फल कल्प्यम्। 'अथ उच्येत, अर्द्धतृतीयानि शतानि दीर्घ प्यन्त चतुर्भिवर्षैं समाप्यन्ते—इति। एवमपि नियतपरिमाण चोद्येत, 'चतुर्विंशतिपरमा सप्तदशावरा सत्रमासीरन्—इति। 'वचनस्य तु आनर्थक्यपरिहाराय परिमाण धारयिष्यते—इति चेत्। तदयुक्तम्, अध्ययनात् फलमस्ति। तस्मात् न एषा कल्पना—इति॥ कथन्तर्हि?। एवम्,—

सू विप्रतिषेधात्तु गुणान्यतरः* स्यादिति लावुकायन ॥ ३७ ॥ (सि० उपक्रम १) ॥

भा 'अन्यतर अत्र गौण शब्द 'स्यात्,—यदि वा असवत्सरे सवत्सरशब्द, यदि वा पञ्चपञ्चाशत —इति शब्दो गौण —इति। कुत एतत्?। 'विप्रतिषेधात्', विप्रतिषेधो हि भवति, उभयस्मिन् विहिते। कथ?। वाक्य हि भिद्येत, यदि पञ्चपञ्चाशतविहित, न सवत्सरा, अथ सवत्सराविहित, न पञ्चपञ्चाशत। तस्मात् विरोधात् अन्यतरत् वचन गौणम् —इति 'लावुकायन आचार्यो मन्यते स्म। आचार्यग्रहण पूजार्थं, नात्मन प्रतिषेधार्थम्॥

सू सवत्सरो विचालित्वात् ॥ ३८ ॥ (सि० उ० २) ॥

भा एतदुक्तम्—अन्यतरत् गौणम्—इति, तदवधारयितव्य तदुच्यते सवत्सरवचन गौणम्—इति। कुत?। 'विचालित्वात् विचाली हि सवत्सरशब्द यावतोऽपि गणितदिवसक, शीतोष्णवर्षालक्षणोऽपि, चान्द्रमसोऽपि स एव उच्यतेऽन्याद शक्यते कल्पयितुम्। पञ्चपञ्चाशत —इत्ययन्तु सङ्ख्यापरिमाण स्यार्थस्या वाचक, एकेनाप्यूने न भवति ॥

सू सा प्रकृति स्यादधिकारात् ॥ ३९ ॥ (४र्थ पू०) ॥

भा गवामयने मासा प्रकृता, मासेषु च सम्वत्सरशब्द उक्त, —'यो वै मास सम्वत्सर —इति। तस्मात् पञ्चपञ्चाशतो मासा —इति। 'ननु एतस्मिन् पक्षे सहस्रसम्वत्सरशब्दो न अवकल्पते। उच्यते, नामधेयमेतत् सहस्रसम्वत्सरशब्द —

* गुणस्त्वन्तर इति का० श्री० पु० पाठ ॥

† सङ्ख्यापरिमाणस्यार्थस्य इति क० म० पु० पाठ ॥

भा इति, न गुणविधिः, नामधेयं च न विधीयते, अविधीयमानश्च येन केनचित् गुणेन अवकल्प्यते।

नैषोऽपि पक्षो युज्यते, अत्रापि हि स एव दोषः, न तावज्जीवनमस्ति, यावदेतत् अवकल्प्येत,* दाराग्निकालसोमपूर्वत्वापेक्षत्वेति, तेनैतस्मिंश्च क्रियमाणेऽपरिसमाप्ते एवायुः पर्युपयुक्तं स्यात्, तथा च अध्ययनात् एव अदृष्टं कल्प्येत।

एवं तर्हि,—द्वादशाहः प्रकृतिरिति पञ्चपञ्चाशतो द्वादशाहा भविष्यन्ति—इति, तथा च दृश्यते 'द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा'—इति तत्र स दोषो न भविष्यतीति। नैवं, तत्र संवत्सरशब्दस्य साक्षात् प्रतिमाशब्देन संयोगात्†। अपि च 'पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृत'—इत्युक्तं त्रिवृच्छब्दस्य द्वादशाहे दिवसे दृष्टं, न द्वादशरात्रे। तस्मात् नैवम्॥

सू अहानि वाभिसङ्ख्यत्वात्॥ ४०॥ (सि०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति—न च एतदस्ति,—पञ्चपञ्चाशतो द्वादशरात्रा—इति अहान्येव त्रिवृच्छब्देनाख्यायन्ते। तस्मात् अहः स संवत्सरशब्दः—इति॥ अथ वा, वाशब्दः पक्षान्तरं व्यावर्त्तयति—न पञ्चपञ्चाशतो मासाः, किन्तर्हि दिवसाः, द्वादशाहे त्रिवृत् अहः प्रकृतं, तत्र संवत्सरशब्दो दृश्यते,—'आदित्यो वा सर्वे ऋतवः, स यदैवोदेत्यथ वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा, यदाऽपराह्णोऽथ शरत् यदाऽस्तमेत्यथ हेमन्तशिशिरौ'—इति सर्वान् ऋतून् अहनि सम्पादयति, सर्वे च ऋतवः संवत्सरः। तस्मात् अहः

* अवकल्प्येत इति का० श्री० पु० पाठः॥

† न हि तत्र संवत्सरशब्दः साक्षात् प्रतिमाशब्देन सम्बध्यादिति क० म० पुरातन पुस्तकपाठः। नैवं न हि तत्र रात्रिशब्दः संवत्सरशब्दस्यापस्य प्रतिमाशब्देन सम्बन्धा दिति का० मा० पु० पाठः॥

भा. सम्वत्सरशब्देन उच्यते। अपि च 'पञ्चपञ्चाशतस्त्रिवृतः— इति त्रिवृतां पञ्चपञ्चाशत्त्वं, न च द्वादशरात्रस्त्रिवृत्, एकं हि द्वादशाहे त्रिवृदहः, न तत्र त्रिवृत्सङ्ख्याया द्वादशरात्रेण मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यं, त्रिवृदहःसम्बन्धलक्षणया स्यात्, अभिप्लवे त्रिवृदहः, तेन श्रुत्यैव सामानाधिकरण्यं, श्रुतिश्च लक्षणाया ज्यायसी। तस्मात् पञ्चपञ्चाशदहानि सम्वत्सरः स्यात्—इति॥ (६।७।१२ अ०)॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य सप्तमः पादः॥



अथानाहिताग्नेरेव चतुर्होत्रादिहोमाधिकाराधिकरणम् ॥

सू इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्याद् अपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥ १ ॥ (१म पू०) ॥

भा इह चतुर्होत्रादय आम्नायते, 'प्रजाकामं चतुर्होत्रा याजयेच्चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वा चतुर्होतारं व्याचक्षीत पूर्वेण ग्रहेणार्द्धं जुहुयात् तदुत्तरेणार्द्धम्'*—इति। तत्र सन्देहः —किं पवमानेष्टिसंस्कृतेषु अग्निषु एवमादयः उत असंस्कृतेष्वपि? तथा पञ्चाग्रयणमपि वक्ष्यमाणं विचारयिष्यते। किं तावत् प्राप्तम्?— संस्कृतेषु अग्निषु एवञ्जातीयकः 'अक्रतुशेषोऽपि होमः स्यात्। यद्यप्यपूर्वा दर्विहोमा न कुतश्चिद्धर्मान् आकाङ्क्षन्ति तथापि आहवनीयादयो होमादीन् आकाङ्क्षन्ति†। 'यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति'—इत्येवमादिभिः श्रुतिभिः। एवमिष्टिपूर्वत्वात् सर्वहोमानां संस्कृताग्निष्टत्वम्‡ एवञ्जातीयकानाम्—इति ॥

सू इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतॄनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥ २ ॥ (उ०) ॥

भा तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते। चतुर्होतृहोमा 'असंस्कृतेषु' अग्निषु भवेयुः तथा हि दर्शयति एषा वा अनाहिताग्नेः

* एकस्यार्द्धमिति का० को० पु० पाठः। "पृथिवी होता द्यौरध्वर्युः इत्यादिको मन्त्रश्चतुर्होता" इति माधवः।

† अत्र होमादीनाकाङ्क्षन्त इति पाठो भवितुं युक्तः।

‡ संस्कृताग्निनिष्पन्नमिति का० को० पु० पाठः।

भा रिष्टिर्यच्चतुर्होतारः'—इति, अनाहिताग्नेरिष्टयो न विद्यन्ते, ये त्वेते चतुर्होतारः, तस्यैवैव इष्टिरिति, अनाहिताग्निः एवञ्जातीयकान् होमान् दर्शयति। तस्मात् असंस्कृतेषु भवेयुः। 'ननु लिङ्गम् असाधकं, प्राप्तिर्वक्तव्या'—इति। तदुच्यते,—

सू. उपदेशस्त्वपूर्व्वत्वात् ॥ ३ ॥ (यु०)॥

भा एवं तर्हि, अक्रतुशेषाणां विधिः एषा भविष्यति,—'एषा अनाहिताग्नेः क्रिया'—इति। एवम् अर्थवद्वचनं भविष्यति, वादमात्रम् अनर्थकं भवति, अस्य च अस्ति विधिसामर्थ्यम्। तस्मात् विधिः असंस्कृतेषु—इति॥

सू. स सर्व्वेषामविशेषात् ॥ ४ ॥ (२य पू०)॥

भा. आह, एतत् गृह्यते विधिः—इति; यत्तु,—अक्रतुशेषाणाम् —इति, तन्न, 'सर्वेषां' क्रतुशेषाणाम् अक्रतुशेषाणां च चतुर्होतृहोमानाम्। कुतः?। 'अविशेषात्', न क्रतुशेषाणामेव अयं धर्म उच्यते, न अक्रतुशेषाणाम्—इति; तस्मात् सर्वेषाम्॥

सू अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्द्देशः ॥ ५ ॥ (सि०)॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। अक्रतुशेषाणाम् एव अयं धर्मो न क्रतुशेषाणाम्। कुतः?। 'अनाहिताग्नेः' 'क्रत्वभावात्', न हि अनाहिताग्नेः क्रतवः सन्ति; न च क्रत्वङ्गं केवलं प्रयुज्यमानं कस्मैचित् प्रयोजनाय स्यात्; न च अस्य अन्यत् फलं प्रकल्प्येत, प्रमाणाभावात्; वचनस्य हि अन्यदपि प्रयोजनमस्ति; न च, अनेन वचनेन शक्यतेऽनाहिताग्नेः क्रतुः कल्पयितुम्। तस्मात् अक्रतुशेषाणाम् अयं धर्मः—इति॥

सू जपो वानग्निसंयोगात् ॥ ६ ॥ (आ०) ॥

भा वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते। न असस्कृतेषु अग्निषु एव जातीयका होमा स्युः। कुतः?। आधानस्य सर्वशेषत्वात्। 'ननु वचनमिदम्—'एषा अनाहिताग्नेरिष्टि'—इति। न—इति ब्रूमः जपार्थवाद एष भविष्यति, ये जपरूपास्तेषाम् अर्थवादो, न सर्वथा चतुर्होतॄणाम्, एवं, 'यदाहवनीये जुहोति'—इत्येवमादीनां वचनानाम् अर्थवत्ता भविष्यति॥

सू इष्टित्वेन तु संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात् ॥ ७ ॥ (उ०) ॥

भा यदुक्तम्—'एषा वा अनाहिताग्नेः क्रिया इष्टितुल्या'—इति जपानाम् एष वाद—इति, तन्न, नैषा वचनव्यक्तिः,—येषा अनाहिताग्नेः क्रिया, सा इष्टितुल्या—इति। किंकारणम्?। वाक्यभेदप्रसङ्गादनुवादोऽनर्थकः स्यात्, इतरस्मिन् पक्षे विधीयमान्—येयम् इष्टिः, एषा अनाहिताग्नेः—इति तदिदं सर्वत्वाद्धोमानामेव वादः। कथम्?। इष्टियोगः, स एवाधचनाधिको होम। यदुक्तं—सर्वहोमार्थ आहवनीय—इति, तत्र चतुर्होतॄनेवाधिकृत्य उच्यते, किन्तु अविशेषेण होमान् स चतुर्होतृषु असम्भवात् अन्येषु भविष्यति, चतुर्होतृषु च अनाहिताग्नेश्चर्यमाणेषु आहवनीयो न अङ्गम्—इति* ॥

सू उभयो पितृयज्ञवत् ॥ ८ ॥ (आ०) ॥

भा नैतदस्ति, अनाहिताग्नेरेव चतुर्होतारः—इति, 'उभयो' स्युः 'पितृयज्ञवत्', यथा पितृयज्ञ आहिताग्नेः अनाहिताग्नेश्च,

---

* तदत्र मैव च प्रमाणो भवति इत्यधिकः पाठः का० मो० पु०।

भा. एवं चतुर्होतारोऽपि। कथम् अवगम्यते?। वर्णितमेतत्,—यदा अनुवादवचः, तदा आहिताग्नेः, यदा विधिवचः, तदा अनाहिताग्नेः; उभयथा वचनव्यक्तिः प्रतीयते, न च प्रतीयमानोऽर्थः शक्यतेऽपह्नोतुम्। तस्मात् उभयोश्चतुर्होतारः—इति ॥

सू. निर्देशो वानाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥ ९ ॥ (उ०) ॥

भा. न चैतदस्ति,—उभयोश्चतुर्होतारो भवेयुः—इति। कथम्?। एष हि अनाहिताग्निनिर्देशः,—'एषा वा इष्टिः अनाहिताग्नेः'—इति वचनेन अधिकृतः, न आहिताग्निः, निर्देशसामर्थ्यात्। अर्थवादे च उपकीर्णं तथैव न विरुध्यते—इति। 'यदाहवनीये जुहोति'—इति वचनं न चतुर्होतॄनेव अधिकृत्य उच्यते—इत्युक्तम्। तस्मात् अनाहिताग्नेरेवञ्जातीयका होमाः ॥

सू. पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥ १० ॥ (आ० नि०) ॥

भा. अथ यदुक्तं,—पितृयज्ञवत्—इति, युक्तं पितृयज्ञे, तत्र आहिताग्निसंयुक्तस्य पुनरेतद्वचनं भवति,—'अप्यनाहिताग्निना कार्यः'—इति, एतद्वचनम् अनाहिताग्नेरपि—इति अनाहिताग्नौ अन्वाहार्यकं करोति, इह तथा नास्ति वचनं, नियोगत एको निर्देशः,—'एषा वा अनाहिताग्नेः'—इति, न अत्र अपिशब्दोऽस्ति। तस्मात् पितृयज्ञेन अतुल्यमेतत् ॥ (६। ८। ९ अ०) ॥

---

अनाहिताग्निपूपनयनहोमाधिकरणम् ॥

सू. उपनयन्नादधीत होमसंयोगात् ॥ ११ ॥ (पू०) ॥

भा. इदमामनन्ति, 'उपनयंस्तिस्रभिर्जुहुयात्'—इति। तत्र

भा सन्देहः,—किम् अयं होम आधानसंस्कृतेषु अग्निषु, उत असंस्कृतेषु?—इति। किं प्राप्तम्?—'उपनयनादधीत'—इति। कुतः?। 'होमसंयोगात्' आहवनीयस्य, 'यदाहवनीये जुहोति,'* तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति'—इति। तस्मात् आधानोत्तरकाला एते, होमाः—इति स्थितिः॥

सू स्थपतीष्टिवल्लौकिके वा विद्याकर्म्मानुपूर्व्वत्वात्॥ १२॥ (सि०)॥

भा न चैतदस्ति,—'आधाय एवञ्जातीयकं होतव्यम्'—इति। किं तर्हि?—लौकिके एव प्रवर्त्तेत—इति। कुतः?। 'विद्याकर्मानुपूर्व्वत्वात्', विद्याग्रहणार्था इमे होमाः; विद्यावतश्च आधानेन अधिकारः, सामर्थ्यात्। अतः आधानोत्तरकालता नैषाम् अवकल्पते, यथा स्थपतीष्ट्याम्॥

सू आधानञ्च भार्य्यासंयुक्तम्॥ १३॥ (यु०)॥

भा आधानं च भार्यासंयुक्तम् श्रूयते, विद्याग्रहणोत्तरकालश्च दारसंग्रहः। तस्मात् अपि न अवकल्पते पूर्व्वकालता आधानस्य॥

सू अकर्म्म चोर्द्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्म्मभिः॥ १४॥ (आ० नि०)॥

भा 'अत्र आह, या पूर्व्वमाधानात्, दारक्रिया, सा कर्मार्था भविष्यति, वचनाच्च ऊर्द्ध्वमाधानात्, अपत्यार्था,—द्वयोरपि कालयोः, पिण्डपितृयज्ञवत् नैष दोषो भविष्यति'—इति। अत्र उच्यते,—'अकर्म च' दारक्रिया, या आधानोत्तरकाले। कुतः?। आहवनीयादि—'समवायो' 'हि कर्मभिः' भवति, सार्थे च

* जुहोति इति का० मो० पु० पाठः।
† स्थपतिवल्लौकिके इति का० मो० पु० एवं का० स० द्वितीय पु० पाठः।

भा. अग्नयः आधातव्याः—इति नियमः। तस्मात् उभयस्मिन्नपि काले दारसंग्रहः—इत्येतत् नास्ति ॥

सू. आद्धवदिति चेत् ॥ १५ ॥ (आ०) ॥

भा. अत्र आह,—यथा पिण्डपितृयज्ञः आहिताग्नेः, अनाहिताग्नेश्च भवति, एवं दारसंग्रहोऽपि—इति यदुक्तं, तत्परिहर्त्तव्यम् ॥

सू. न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥ १६ ॥ (आ० नि० १) ॥

भा. नैवं; श्रुतिविप्रतिषेधो हि भवति, एवं क्रियमाणे दारकर्मणि विद्याग्रहणोत्तरकालं श्रूयमाणं, पूर्वं क्रियते—इति विप्रतिषिद्धम्। अर्थादन्यदेवेदम्—इति चेत्; न, अर्थप्राप्तस्यैव कालनियमः एषः, उपनयनं च कर्मार्थं, तत् द्वितीयस्यां विप्रतिषिध्येत ॥

सू. सर्व्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥ १७ ॥
(आ० नि० २ एवं पू०) ॥

भा. अथ उच्येत,—'प्रागाधानाच्च, कर्मार्था एव, ऊर्द्धं च अपत्यार्था एव अस्य* भविष्यति, तेनैवं सति अस्य न किञ्चित् विरोत्स्यते'—इति। उच्यते,—नैतदेवं, सर्वार्था हि सा, न केवलम् अपत्यार्थतामेष्यति, तदुक्तं,—फलोत्साहाविशेषात्—इति। तस्मात् अपि न द्विर्दारसंग्रहः। अपि च एवं स्मर्यते,—'धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरितव्या'—इति, एवं सति अतिचरिता स्यात्, अतो न द्विर्दारसंग्रहः। एकैव भार्या कर्मार्था अपत्यार्था च, तस्याश्च विद्याग्रहणोत्तरकालता। अतो न आधानसंस्कृतेषु एते होमाः—इति ॥

---

* सा इति का० क्री० पु० पाठः।

सू. सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत्* ॥ १८ ॥ (पू० नि०) ॥

भा. गृह्यते एतत्,—प्रागुपनयनात्, नास्ति पत्नी—इति; यदुक्तम् एकैव पत्नी—इति, तत्र ब्रूयते, यथैव स्मृतिः,—'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या'—इति, 'धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत'—इति च; एवम् इदमपि स्मर्यते एव, 'अन्यतरापाये अन्यां कुर्वीत'—इति। तस्मात् यस्य न धर्मसम्पन्ना न प्रजासम्पन्ना वा पत्नी, सोऽन्यां कुर्वीत—इति। 'सोमपानात्'—इति च अर्थवादं व्यपदिशति स्म,—'सोमपो न द्वितीया जायामभ्यपूयते'—इति द्वितीयामपि जायां दर्शयति ॥

सू पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ॥ १९ ॥ (आ० नि० ३) ॥

भा 'अथ कथं पितृयज्ञस्य द्वौ कालौ?'—इति। उच्यते, वचनं हि तत्र दृश्यते,—'अप्यनाहिताग्निना कार्यः—इति। तस्मात् प्रागाधानात् पितृयज्ञः—इति ॥ (६।८।२ अ०)॥

---

अथ विंशे स्थपतीष्ट्यधिकरणम् ॥

सू स्थपतीष्टिः प्रयाजवदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत ॥ २० ॥ (पू०) ॥

भा अस्ति स्थपतीष्टिः,—'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'—इति। तत्र सन्देहः,—किम् आधानसंस्कृतेषु अग्निषु स्यात्, उत लौकिकेषु?—इति। किं प्राप्तम्?—संस्कृतेषु—इति। कथम्?।

---

* उपयच्छेत इति भा० सी० पु० पाठ ॥

भा 'यदाहवनीये जुहोति'—इत्येवमादिवचनात्। 'ननु शूद्रस्य आहवनीयाभावात् नास्ति तस्य श्रुतिः'—इति। उच्यते,—सा हि आहवनीयं प्रयोजयेत्, यथा प्रयाजान् श्रुतान् प्रयोजयति, एव चोदकसामर्थ्यात्—इति। 'तादर्थ्याच्च अपवृज्येत', स्थपतीष्ट्यर्थं च आहिता अग्नयः, तस्याम् अपवृक्तायाम् अपवृज्येरन्, धारणे हि तेषां दृष्टकायम् आम्नातम्, अतिक्रान्ते कार्ये न स्यात्—इति॥

सू अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्व्वशेषत्वात्॥ २१॥ (सि०)॥

भा 'अपि वा'—इति पक्षव्यावृत्तिः। लौकिकेषु अग्निषु 'स्यात्' न संस्कृतेषु। कुतः?। 'आधानस्यासर्वशेषत्वात्', सर्वकर्मशेषभूता अग्नयः, तदङ्गमाधानं, न कर्माङ्गं, श्रुत्यादीनामभावात् न कर्मप्रयुक्तता आधानस्य, वाक्यसामर्थ्याच्च अग्निप्रयुक्तत्वं, यच्च दर्शपूर्णमासप्रयुक्तं, तच्चोदकेन प्राप्यते, न दृष्टप्रयुक्तम्। तस्मात् लौकिकेषु अग्निषु स्थपतीष्टिः—इति॥ (६। ८। ३ अ०)॥

---

अनाहिताग्नेरवकीर्णिपशुदानाधिकरणम्॥

सू अवकीर्णि-पशुश्च* तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्॥ २२॥

भा अस्ति अवकीर्णि-पशुः,—'ब्रह्मचार्य्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत'—इति। तत्र सन्देहः,—किं तदर्थम् आधानं कर्त्तव्यम्, उत लौकिकेषु अग्निषु तद्वर्त्तेत?—इति। 'अवकीर्णि पशुश्च

---

* अवकीर्णी पशौ इति भा० सो० पु० पाठः॥

भा तद्वत्'—इत्यधिकरणातिदेशः,—पूर्वस्य अधिकरणस्य यः पूर्वः पक्षः, स अत्र पूर्वः पक्षः; यः सिद्धान्तः, स सिद्धान्तः;—सर्वार्थम् आधानम्, तस्मात् आहिताग्निषु—इति पूर्वः पक्षः। आधानस्य अप्राप्तकालत्वात्'—इति सिद्धान्तः,—अप्राप्तोऽयम् आधानस्य कालः—इत्येतदुक्तं। तस्मात् इदमपि कर्म लौकिकेषु—इति॥ (६। ८। ४ अ०)॥

---

दैवकर्मणामुदगयनादिकालताधिकरणम्॥

सू उदगयनपूर्वपक्षाहःपुण्याहेषु दैवानि स्मृति-रूपान्यार्थदर्शनात्॥ २३॥ (सि०)॥

भा दैवानि कर्माणि उदाहरणम् उपनयनप्रभृतीनि। तत्र सन्देहः,—किम् अनियते काले दैवानि कर्त्तव्यानि, उत उदगयन पूर्वपक्षाह:-पुण्याहेषु?—इति। अनियते—इति प्राप्ते उदगयनादिषु—इत्युच्यते। कुतः?। एवं स्मरन्ति,—'तेषु कालेषु दैवानि'—इति। रूपार्थवादश्च,—'एतद्वै* देवानां रूपं, यत् उदगयनं, पूर्वपक्षोऽहः'—इति, न च वयं देवादीनां रूपं विद्मः, अथ त्वेषु कालेषु दैवानि क्रियन्ते, ततः एतेन सम्बन्धेन रूपवचनम् अवकल्पते। अन्यार्थं च वाक्यमेतत् दर्शयति,—पूर्वाह्णो वै देवानां, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम्, अपराह्णः पितॄणाम्—इति। तस्मात् एतेषु कालेषु दैवानि स्युः—इति॥

सू अहनि च कर्मसाकल्यम्॥ २४॥ (यु०)॥

भा 'अहनि च' विशेषः,—सकलं कर्म अहन्येव शक्यते कर्तुम्—इति, न रात्रौ करिष्यति॥ (६। ८। ५ अ०)॥

---

* एतद्वा इति आ० सो० पु० पाठ।

पितृकर्मणोऽपरपक्षादिकालताधिकरणम् ॥

सू इतरेषु तु पित्र्याणि ॥ २५ ॥

भा श्राद्धादीनि अपरपक्षे अपराह्णे च, स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥ (६।८।६ अ०*) ॥

---

ज्योतिष्टोमे याच्ञाक्रयणयोर्नित्यताधिकरणम् ॥

सू याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ॥ २६ ॥ (पू०) ॥

भा इदं समाम्नायते ज्योतिष्टोमे,—'द्वादश रात्रीर्दीक्षितो भृतिं वन्वीत'—इति, तथा 'सोमं क्रीणाति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं यस्य न विद्यते भृतिः, तेन वनितव्या, यस्य च न विद्यते सोमः, तेन क्रेतव्यः, उत उभयथापि सति च असति च?। किं प्राप्तम्?—'याच्ञाक्रयणम् अविद्यमाने' भृतिधने सोमे च स्यात्। कस्मात्?। द्रव्यसद्भावार्थं याच्ञाक्रयणं, तत् विद्यमानेऽनर्थकम्; अनर्थकं च उक्तमपि न कर्त्तव्यम्। तस्मात् अविद्यमाने भवेत्, लोकवत्; यथा यस्य लोके नास्ति द्रव्यं, स याचते क्रीणाति च, एवम् इहापि द्रष्टव्यम् ॥

सू नियतं वार्थवत्त्वात् स्यात् ॥ २७ ॥ (सि०) ॥

भा. 'नियतं वा' याच्ञाक्रयणं, तद्विद्यमाने अविद्यमाने च द्रव्ये स्यात्, एवं याच्ञाक्रयणम् 'अर्थवत्' भवति, ज्योतिष्टोमप्रयुक्तं हि तत् श्रूयते, न द्रव्यप्रयुक्तं; तत्र नित्यं ज्योतिष्टोमस्य, नैवं वचनं भवति,—यदा द्रव्यं नास्ति, तदा कर्त्तव्यम्—इति;

---

* न्यायमालायां भेदमधिकरणमेतस्य प्रदर्शितम्। वार्त्तिके तु 'अधिकरणम' इत्युक्तम्।

भा ज्योतिष्टोमस्य च नित्यमङ्गमुक्तं, द्रव्याभावो निमित्तम् उक्तम्—इति परिकल्प्येत, कल्पनाया शब्दो बाध्येत। अतो याच्ञा-क्रयणमस्त्रातम् द्रव्यम् इहोपयोक्तव्यम्, अन्यथा वैगुण्यं भवति। तस्मात् सति च असति च द्रव्ये याच्ञाक्रयणम् अनुष्ठातव्यम्—इति। अथ यदुक्तं,—लोकवत्—इति, लोके कर्म अर्थलक्षणं भवति, न शब्दलक्षणं, यथा अर्थः, तथा क्रियते; न, यथा शब्दः, वेदे तु शब्देनैव अर्थोऽवगम्यते, तथैव अनुष्ठेयम्—इति। तस्मात् विद्यमानेऽपि कर्त्तव्यम्॥ (६।८।७ अ०)॥

---

ज्योतिष्टोमादिषु पयोव्रतादीनामपि नित्यताधिकरणम्॥

सू तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम्॥ २८॥

भा ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'पयो व्रत ब्राह्मणस्य यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य'—इति, तथा दर्शपूर्णमासयोः प्रैषः,—'प्रोक्षणीरासादयेध्मं बर्हिरुपसादय स्रुचः सम्मृड्ढि पत्नीं सन्नह्याज्येनोदेहि'—इति, तथा वाजपेये श्रूयते,—'दर्भमयं वासो भवति'—इति, पशौ संज्ञप्तहोमः,—'यत् पशुर्मायुमकृतोरो वा पद्भिराहत अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः'—इति, तथा, 'योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः'—इति वचनम्, एतानि उदाहरणवचनानि।

तेषु सन्देहः,—किं यस्य अपरं भोजनं न विद्यते, स पयो व्रतयेत्, यवागूमामिक्षां वा, उत विद्यमानेऽपि?—इति, तथा यो प्रेषितः प्रैषार्थं न प्रतिपद्यते, स प्रेषितव्यः, उत प्रतिपद्यमानोऽपि?—इति; तथा, यस्य क्षौमयं वासो नास्ति, स दर्भमयं परिदधीत, उत विद्यमानेऽपि?—इति; तथा यस्य पशुर्मायुम् कुर्यात्, उरो वा पादौ वा हन्यात्, स एतेन मन्त्रेण जुहुयात्, उत अन्योऽपि?—इति, तथा, यो द्वेष्टि कश्चित्

भा अन्येन च ह्रियते, स एव मध्ये ब्रूयात्,—'योऽस्मान् द्वेष्टि'—इति; उत अद्विषन् अद्विष्यमाणस्यापि?—इति।

तत्र अधिकरणातिदेशोऽयम्। तत्र यः पूर्वस्मिन् अधिकरणे पूर्वः पक्षः, स इह पूर्वः पक्षः, यस्तत्र सिद्धान्तः, स इह सिद्धान्तः,—अविद्यमाने कुर्य्यात्—इति पूर्वः पक्षः; 'नियतं वार्थवत्त्वात्' (६।८।२७ सू०)—इत्युत्तरः। स एव अत्र न्यायः, यः पूर्वत्र॥ (६।८।८ अ०)॥

---

अपरराचे व्रतस्यानियमाधिकरणम् ॥

सू अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्॥ २९ ॥

भा. ज्योतिष्टोमे श्रूयते,—'मध्यन्दिनेऽपरराचे वा व्रतं व्रतयति'—इति। तत्र सन्देहः,—किं नियतम् अपरराचे व्रतम्, उत अनियतम्?—इति। किं प्राप्तम्?—'नियतं च अर्थवत्त्वात् स्यात्'—इति। एवं प्राप्ते ब्रूमः,—'अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्', यदा एवम् मन्येत,—अस्मिन् काले व्रतं मे जरिष्यति—इति, तदा व्रतयेत्, यदा तु खलु मन्येत,—न सम्यक् जरिष्यति—इति, तदा तत् व्रतं क्रियमाणम् अनर्थकं स्यात्, यदि हि अजीर्णेन यजमानो म्रियेत, तदा तत्त्वलोपः, तत्त्वलोपे च सर्वलोपः। तस्मात् अनियतं तस्मिन् काले व्रतं व्रतयितव्यम्—इति॥ (६।८।९ अ०)॥

---

ताद्र्थ्यिकाग्नीषोमीयपशुताधिकरणम् ॥ (इत्य विमाकर्षमिदम्) ॥

ए पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात्॥ ३० ॥ (पू०)॥

भा ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो,—'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते'—इति। तत्र सन्देहः,—किं यः—कश्चित् पशुरा-

भा लम्भनीयः, उत छागः?—इति वक्ष्यमाणेन अभिप्रायेण भवति संशयः। 'ननु एकेषामाम्नायते,—अजोऽग्नीषोमीयः'—इति, 'सर्वशाखाप्रत्ययं च एकं कर्म'—इति। अत्र उच्यते,—प्रति शाखं भिन्नानि कर्माणि—इति कृत्वा—चिन्ता। किं तावत् प्राप्तम्?—'पशुचोदनायाम् अनियमः'; उत्सर्गे कर्त्तव्ये द्रव्यं शक्यते उत्स्रष्टुम्, न पशुत्वं, द्रव्यं हि साधकम्, अतः अन्य द्रव्यम् अन्तरेण, उत्सर्गो न सम्भवति—इति द्रव्यम् उपादीयते। तस्मिन् उपादीयमाने अनियमः, यत्किञ्चित् उत्स्रष्टव्यम्—इति। कुतः एतत्?। 'अविशेषात्', न हि पशुशब्दसम्बद्धेषु कश्चिद्विशेषः उपलभ्यते। तस्मात् यः—कश्चित् पशुः—इति॥

सू छागो वा मन्त्रवर्णात्॥ ३१॥ (सि०)॥

भा वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति,—यत्र—क्वचन द्रव्ये पशुत्वम् उपादेयम्—इति। अस्ति उत्स्रष्टव्यस्य नियमकारणं मन्त्रवर्णः,—'अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि'—इति, छागप्रकाशनसमर्थो मन्त्रवर्णः समाम्नायते, यदि छागो न उपादेयः, ततस्तत्प्रकाशनसमर्थस्य उपादानम् अनर्थकम्, तेन अवगम्यते,—छागम् अधिकृत्य उत्सर्गं विदधाति—इति, मान्त्रवर्णिको द्रव्यनियमविधिः—इति॥

सू न, चोदनाविरोधात्॥ ३२॥ (आ०)॥

भा नैतदेवं, न शक्नोति मन्त्रवर्णश्चोदनाया प्रत्यर्थिन्या द्रव्य नियन्तुम्, यत्र हि द्रव्यस्य प्रकाशकं न श्रूयते, तत्र अप्रकाशितमेव तत्कर्त्तव्यम्—इति। तस्मात् न मन्त्रवर्णात् प्रकाश्यनियमविधिः* कल्प्यते,—एवमन्त्रा† प्रकाश्यं प्रकाशयितव्यम्—इति।

* प्रकाशकनियमविधिरिति त्या० सो० पु० पाठः।
† एव मन्त्रप्रकाश्यमिति क० स० द्वितीय पु० पाठः।

भा. अथ पुनः शब्देन अवगम्यते,—पशुत्वेन प्रकाशयितव्यम्—इति। तस्मात् न मन्त्रवर्णः तत्सद्भावे समर्थः। मन्त्रवर्णाद्धि कल्प्या प्रयोगवचनश्रुतिः, इह क्लृप्ता प्रयोगवचनेन उपसंहर्त्तव्या, अन्य एव पशुशब्दस्य अर्थः पशुत्वम्, अन्यो मन्त्रवर्णेन नियम्यते छागः। तस्मात् न मन्त्रवर्णश्चोदनाविरोधेन नियन्तुमर्हति—इति॥

सू आर्षेयवदिति चेत्॥ ३३॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. 'इति चेत्' पश्यसि,—न पशुत्वम् अन्येभ्यः पशुभ्य आच्छेत्तव्यम्—इति; यथा, 'आर्षेयं वृणीते, त्रीन् वृणीते'—इति सामान्यश्रुतिः त्रित्वयावतिष्ठते—इति, त्रित्वं विशेषो विवक्षितो न अन्ये विवक्षिताः—इति; एवम् इहापि पशुत्वं, छागं प्रकल्पयितुम् विवक्षितं, न अन्यान् विशेषान्—इति॥

सू न, तत्र ह्यचोदितत्वात्॥ ३४॥ (आ॰)॥

भा. नैतदेवं, 'तत्र हि' अचोदितं द्रव्यम् उत्पत्त्यां, मन्त्रवर्णे, वरणे पुनश्चोदितं; तत्र त्रित्वसङ्ख्यासम्बन्धस्य वरणे चोदितत्वात्, न अन्या सङ्ख्या क्रियते। आर्षेयशब्दादपि न अनार्षेयं, त्रिशब्दस्य हि तत् सामर्थ्यं, येन आर्षेयशब्दो विशिष्टसङ्ख्याविषयो नियम्यते, इह न मन्त्रस्य सामर्थ्यम्। तस्मात् अनियमः—इति॥

सू नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात्॥ ३५॥ (आ॰ नि॰)॥

भा. 'नियमो वा', 'ऐकार्थ्यं हि' पशुच्छागशब्दयोः,—सामान्यं पशुः—इति, छागादयो विशेषा उच्यन्ते। कथम्?। तैः सामानाधिकरण्यात्, पशुः छागः, पशुरुष्ट्रः, पशुर्मेषः पशुरश्वः—इति। एवं सति न मन्त्रवर्णः पशुशब्देन विरुध्यते, तेन छागो-

भा. ऽप्यालब्धव्यश्चोदितः, मन्त्रवर्णे उपादीयमाने इदम् अवगम्यते, छागं विवक्षित्वा अयं पशुशब्दः उच्चारितः—इति, न अन्यान् विशेषान्—इति। छागोपकरणम् अस्य उपदर्शितं, यदुपदर्शने पशुशब्दश्छागाभिप्रायः—इति गम्यते, यथा युगवरत्रे उपदर्शिते, ईषाचक्रादिसन्निधाने चेत् अश्वमानयेति उच्यते, तदा, यानाश्वमधिकृत्य ब्रूते—इति गम्यते, न तु विदेवनाश्वम् —इति। यदि हि अर्थभेदो भवेत् पशुच्छागशब्दयोः, पृथक्त्वेनाभिधानं, ततो भेदः स्यात्,—न छाग एव नियम्येत, अविशिष्टः छागार्थः—इति अशक्योपादानम्। अपि च, छागपक्षे तं मन्त्रवर्णं प्रकाशयेत्, छागार्थाभिधाने पुनः पशुशब्दस्य, छागमात्रावन्येषाम् अप्राप्तिरिति अन्यस्मिन् प्राप्ते लिङ्गेन नियमः क्रियते—इति॥

सू अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ॥ ३६ ॥ (आ०)॥

भा 'अनियमो वा', यः—कश्चित् पशुः उपादेयः, 'अर्थान्तरत्वात्',—अर्थान्तरं पशुत्वम्, अर्थान्तरं छागत्वम्,' अर्थयोरेव सामानाधिकरण्यं, न शब्दयोः। कथं पुनरर्थान्तरं गम्यते?। व्यतिरेकाच्छब्दभेदाच्च,—व्यतिरेको हि भवति,—कश्चित् पशुर्न छागः। तथा, 'छागः, पशुः'—इति शब्दभेदः; शब्दभेदादेवार्थभेदो न्याय्यः। एकस्मिन् वाक्ये समवायात्,—पशुं छागमानय—इति, इतरथा, अन्यतरेण गतार्थत्वात् अन्यतरो वाक्ये न समवेयात्, समवैति च। तस्मात् अन्यत् पशुत्वम्, अन्यत् छागत्वं; तस्मात् अनियमः,—यः—कश्चित् पशुः उपादेयः—इति।

तत्रोत्सूचिका* पश्वाप्तिः, अन्यत्वेऽपि सति नियम एव।

* मन्त्रोत्सूचिका इति का० सो० पु० पाठः।

भा. कुतः ?। 'मन्त्रस्य प्रयोगवचनेन गृहीतत्वात्, मन्त्रसाधनं हि कर्म—इति गम्यते, यदि छागम् उपादास्यामहे, सगुणं कर्म शक्ष्यामः कर्त्तुम्, मन्त्रम् उपाददानाः, मन्त्रस्य अर्थाप्तिकत्वात्, अथ अन्यम् उपादास्यामहे, मन्त्रस्य विषयाभावात् मन्त्रम् अप-जहतो न सगुणं कर्म निर्वर्त्तयेम, अतो न च श्रुतिं बाधामहे, अन्यस्मिन् पशुशब्दो वर्त्तते—इति, न च अन्यम् उपादास्यामहे, वैगुण्यादिभ्यतः। तस्मात् छागः एव उपादातव्यः—इति ॥

'ननु अश्वम् उपाददाना नैव मन्त्रवर्णम् अपहास्यामः, स एव अश्वः छागो भविष्यति, यश्छिन्नगमनोऽश्वः, स छागः, छिद्रेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्धः।

सू. रूपाल्लिङ्गाच्च ॥ ३७ ॥ (आ०) ॥

भा 'कश्चित् मुष्करा भविष्यन्ति'—इति श्रूयते, यदन्तरेण वचनम्, अमुष्करास्तदेदम् उपपद्यते। तस्मात् छिन्नगमनोऽश्वोऽपि छागः—इति कर्माख्या भविष्यति'। अत्र उच्यते,—

सू. छागे न कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥ ३८ ॥
(आ० नि०) ॥

भा 'छागे' 'कर्माख्या' रूपलिङ्गाभ्यां न अवकल्पते, न हि छाग-शब्दः छिन्नगमनवचनः, समुदायो हि असौ पृथक् अर्थान्तरे प्रसिद्धो, न असौ अवयवप्रसिद्ध्या बाधितव्यः। तस्मात् न अश्वः छागः ॥

सू रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ॥ ३९ ॥*
(आ० नि० १) ॥

भा इदम् अन्यपदोत्तरं सूत्रम्। 'अथ कस्मात् न वयोवचनो

* तेन इति का० क्री० पु० एव कं० म० द्वितीय पु० पाठः।

भवति? वयोवचना ह्येते शब्दाः छागश्छागलो वस्तः—इति, तेन अश्वोऽपि वयोवचनो भविष्यति'—इति। उच्यते,—नैतदेवं, सत्यं वयोवचनः, अजापतिगतन्तु वयो वदितुम् शक्नोति, यथा शोणः—इति वर्णवचनः अश्वजातिगतं वर्णं वदति, न अन्यम्। तस्मात् 'रूपान्यत्वात् न' वयोमात्रवचनः, किन्तु 'जातिशब्दः स्यात्, जात्याश्रयं वयो वदेत्। अतश्छाग एव नियम्यते॥

**सू** **विकारो नौत्पत्तिकत्वात्* ॥ ४० ॥ (आ० नि० २)॥**

**भा** इदमपि पदोत्तरम्,—इह अश्वादीनां विकारश्छागशब्दः, किञ्चिदत्र अश्वादीनाम् उच्चार्यते, न किञ्चित् अन्यदेव। तस्मात् अश्वोऽपि छागः—इति, 'न उत्पत्तिकत्वात्', औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः—इत्युक्तम् (१।१।३ सू०), न आख्याविकारः सम्भवति—इति। तस्मात् न अश्वश्छागः, अतः छाग एव उपादातव्यः—इति॥

**सू** **स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ॥ ४१ ॥ (आ० नि० ३)॥**

**भा** पदोत्तरमेव इदं सूत्रम्। अथ कस्मात् न छिद्रनिमित्तः छाग शब्दो भवति? एवं श्रूयते,—'सुषिरो वा एतर्हि पशुः यर्हि वपामुत्खिदन्ति'—इति। न—इत्युच्यते, छिद्रत्वस्य 'गुणस्य' 'पशोः' 'अचोदितत्वात्', 'अच्छिद्रं पशुमालभेत'—इति हि चोद्यते। तस्मात् अच्छिद्रः पशुः। न च, अवयवप्रसिद्ध्या समुदायप्रसिद्धिर्बाध्यते,—इत्युक्तमेव। तस्मात् छाग एव उपादेयो न अश्वादयः—इति॥

---

* 'विकार इति चेत ॥ ४० ॥ नौत्पत्तिकत्वात ॥ ४१ ॥' इत्येवं [illegible] या० मी० पुस्तके क० स० पुस्तके च पठितम्।

सू जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ॥ ४२ ॥ (सि०) ॥

भा वाशब्दः अवधारणायाम्। यस्मात् अवयवप्रसिद्धा समुदायप्रसिद्धिर्न बाध्यते, तस्मात् 'जातेः' एव छागशब्दो वाचकः, एवं समुदायस्य अर्थवत्ता अनुगृहीता भविष्यति—इति तत्प्रायवचनम् उपपद्यते, 'विश्वेषां देवानाम् उस्राणां छागानां मेषाणां वपानां मेदसोऽनुब्रूहि'—इति जातिप्राये वचनम् उपपद्यते, प्रायेणापि हि नियमः क्रियते, यथा, अयप्राये लिखितं दृष्ट्वा अयगोऽयम्—इति बुद्धिर्भवति। तस्मात् छाग एव उपादातव्यः—इति। छाग्या-चिन्तायां* प्रयोजनं न वक्तव्यम् ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य अष्टमः पादः ॥ अध्यायश्च समाप्तः ॥

समाप्तश्च पूर्वं षट्कं ॥

---

* शाखान्तरे विधौ एव "छागोऽग्नीषोमीयः" इति स्पष्टमुक्तत्वात् इयं कृता चिन्ता।

# मीमांसासूत्राणाम्

पूर्वार्द्धस्य

अक्षरानुसारि

सूचीपत्रम् ।

—∽०∽—


| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः | २१८ |
| अकर्मं पोदेशाधानात्मसवायो | ७१६ |
| अकर्माणि चाप्रत्यवायात् . . | ६५० |
| अकर्मत्वात्तु नैव स्यात् .. .. | ६७० |
| अकार्यत्वाच्च तत पुनर्विशेषः . | ७४३ |
| अगुणाच्च कर्मचोदना ... | १०९ |
| अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत । | १८ |
| अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः . | १८९ |
| अग्नौ कर्मनिर्देशात् . | ५२८ |
| अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ... .. | ६८० |
| अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यं .. .. | ५८० |
| अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् . | ६९१ |
| अङ्गहीनश्च तद्धर्मा .. .. | ६१८ |
| अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तम् . | ५५० |
| अङ्गानां तूपघातसंयोगे निमित्तार्थः | २१९ |
| अङ्गे गुणत्वात् .. ... | ५०२ |
| अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् . ... | ५०२ |
| अचेतनेऽर्थबन्धनात् . .. ... | ५७ |
| अचोदकाश्च संस्काराः .. .. | ५५१ |
| अचोदना गुणार्थेन . .. | ५३६ |
| अचोदितं च कर्मभेदात् . . . | ३११ |
| अतत्संस्कारार्थत्वाच्च . | ६६८ |
| अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् .. . | ७३९ |
| अतिदेशाच्च . ... | ५०२ |
| ,, . .. ... | ७१० |
| अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ... | २७१ |
| अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य ... | १९० |
| अतुल्यमाद्गमानानिधाना स्यु ... | ४१४ |
| अत्रार्थपरस्य नाम स्यात् ... .. | ६१९ |
| अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा | ८६४ |
| अथातः शेषलक्षणम् .. ... | २०८ |
| अथातो धर्मजिज्ञासा ... | १ |
| अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् .. | ५८२ |
| अद्रव्यत्वात् केवले कर्मशेषः स्यात् | १८८ |
| अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् .. ... | २२९ |
| अद्रव्यशब्दत्वात् . ... .. ... | ८० |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् | २०२ |
| अधिकं वा प्रतिप्रसवात् | ७५० |
| अधिकं वा स्याद्बहुर्थत्वादितरेषां .. | ७५९ |
| अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु | २५८ |
| अध्वर्युर्वा तद्र्थो हि न्यायपूर्वं | ४११ |
| अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् .. | ४०९ |
| अध्वर्युस्तु दर्शनात् .. .. | ४९३ |
| अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ... | ५७६ |
| अनर्थकत्वात् | ९१ |
| अनर्थकश्च तद्वचनम् . | १९६ |
| अनर्थकं तु नित्यं स्यात् ... . | ७७३ |
| अनर्थकश्च कर्मसंयोगे .. ... | ९८६ |
| अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् | ९८० |
| अनर्थकोपदेशः स्यादसम्बन्धात् | २११ |
| अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु .. | ११८ |
| अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ... | १९९ |
| अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि .. | ९१७ |
| अनित्यदर्शनाच्च . .. . | ९६ |
| अनित्यसंयोगात् . .. ... | ४१ |
| अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ... | ५८ |
| अनियमोऽन्यत्र .. .. | ५५० |
| अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यस्य ... | ७७६ |
| अनियमोऽविशेषात् .. ... .. | ७३१ |
| अनिष्टश्चोदिते प्राशनीयो ... | ७०७ |
| अनुग्रहाच्च जौहवस्य .. | ४१२ |
| अनुग्रहाच्च पादवत् .. .. ... | ७१० |
| अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात् .. | १०६ |
| अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् . ... | १६५ |
| अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं .. ... | ७९ |
| अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु ... | ११४ |
| अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधान.. | ६६५ |
| अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ... ... | ५०१ |
| अन्ते वा तदुक्तम् ... .. .. | ५०२ |
| अन्ते स्युरव्यवायात्.. .. .. | ५०४ |
| अन्यसमवेकार्थे . .. .. .. | २१५ |
| अन्ययोर्यथोक्तम् .. .. ... | ४८ |
| अन्यप्रतिषेधाच्च .. ... .. | ११६ |
| अन्यदर्शनाच्च .. .. .. .. | ८० |
| अन्यथार्थं प्रतीयते ... ... .. | ११४ |
| अन्यस्य स्यादिति चेत् ... ... | ९१८ |
| अन्या याप्नोति चेत्.. ... .. | ७१४ |
| अन्यानर्थक्यात् .. .. .. | ४१ |
| अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ... .. | ७७ |
| अन्यार्थो वा पुनः श्रुतिः .. .. | १८१ |
| अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः.. ... .. | ९१८ |
| अन्येन नैमित्तिकादि कारणप्राप्तिः | ९८१ |
| अन्यो नाप्नोति चेत् ... .. .. | ७१८ |
| अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानात् . | १९९ |
| अपदेशो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् | १११ |
| अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमान ... | ४१८ |
| अपनयाद्वा पूर्वस्य अनुपलक्षणम् | ११८ |
| अपनयो वाधानस्य सर्वकालत्वात् | ६९१ |
| अपनयो वा प्रवृत्ते यथेतरेषां .. | ७०५ |
| अपनयो वा विद्यमानत्वात् ... | ७०१ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| अपराधात् कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् | ४८ | अपि वा लौकिकेऽग्नौ | ७५९ |
| अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् | ६४२ | अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन .. | ६४७ |
| अपरिमिते शिष्टस्य सङ्ख्याप्रतिषेध | ८५१ | अपि वा तन्निर्देशाद्दक्षपदाना . | ६२५ |
| अपशुत्वे तु चोदना तत्सामान्यात् | ५१४ | अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दा | ६५७ |
| अपि वोत्पत्तिसंयोगो यथा स्यात् | ६९५ | अपि वा शेषकर्म्म स्यात् क्रतो | ७४७ |
| अपि वा कर्त्तृसामान्यात्प्रमाणमनु | ६५ | अपि वा शेषभाजा स्यात् | ६७५ |
| अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् | ६९८ | अपि वा श्रुतिभेदात् | ३९७ |
| अपि वा कारणाग्रहणे तदर्थमर्थ्यं | ४७० | अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे | १२२ |
| अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि | ६९ | अपि वा सद्वितीये स्याद्देवता | १०८ |
| अपि वा कालमात्रं स्याददर्शना | ५१८ | अपि वा सर्वधर्म्मः स्यात् | ७३ |
| अपि वा शाखसंयोगादविभाग | ७२० | अपि वा सर्वसङ्ख्यत्वाद्विकार | ४६८ |
| अपि वा शाखसंयोगादेकस्यैव | ७५८ | अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धो | ४८६ |
| अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्ने | ७९ | अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् | ७०३ |
| अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्य | ५१८ | अप्रकरणे तु तद्धर्म्मस्ततो | ३१६ |
| अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्व | १०७ | अप्रवृत्तत्वाच्च . | १४७ |
| अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु | ५०१ | अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरन् | ३३८ |
| अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो | ५१० | अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीय | ७०९ |
| अपि वाऽङ्गानि कानिचित् येष्वङ्ग | ११० | अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि | ४५ |
| अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्म्मः | ७१६ | अभागिप्रतिषेधाच्च . | ६१ |
| अपि वा द्विवचनात् प्रकृत | ४८५ | अभावदर्शनाच्च | ४५८ |
| अपि वा नामधेयं स्यात् | ८६ | अभावाच्चेतरस्य स्यात् | ७०९ |
| अपि वान्यानि पात्राणि | ७१९ | अभिघारणे विप्रकर्षादनूयाजवत् | ४१९ |
| अपि वाम्नायदर्शनात् यथाश्रुति | ६२२ | अभिधानस्य कन्दवत् | ११४ |
| अपि वाप्येकदेशे स्यात् प्रधाने | ६१४ | अभिधानेऽर्थवादः | ६१ |
| अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् | ११५ | अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो | ६९८ |
| अपि वाम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन | ४९८ | अभ्युदये कालापराधादिज्या | ७०१ |
| अपि वाऽदंस्य शब्दत्वात् | ६७१ | अभ्युदयमाख्या च पवमानहविषा | ४८९ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् | १७९ |
| अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात् स्रग्वत् | ४७८ |
| अर्थकर्म वाभिधानसंयोगात् .. | ६८० |
| अर्थवत्त्वे नानुमानं स्यात् कर्मकत्वे | ३८१ |
| अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे .. | ६७२ |
| अर्थलोपादकर्म स्यात् ... | २१२ |
| अर्थवद्विति चेत् ... .. .. | ६७७ |
| अर्थवादश्च तदर्थवत् ... | ११८ |
| अर्थवादश्च तद्वत् .. | ७१२ |
| अर्थवादोपपत्तेश्च .. | १७५ |
| " " ... | ११४ |
| अर्थवादो वा .. | ६० |
| अर्थवादो वा अनुपपातात् ... | २२० |
| अर्थवादो वा अर्थस्याविद्यमानत्वात् | ५७७ |
| अर्थवादो वा प्रकरणात् | २१५ |
| अर्थवादो वा विधि .. | ७१५ |
| अर्थविप्रतिषेधात् ... | ५७ |
| अर्थसमवायात् प्रायश्चित्त ... | ६७७ |
| अर्थस्तु विधिशेषत्वात् यथा लोके | ५४ |
| अर्थस्य त्वपवर्गित्वादेकस्यापि .. | ६१५ |
| अर्थाच्च ... .. .. | १२० |
| " ... .. .. | ५२९ |
| अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ... | १०६ |
| अर्थानाञ्च विभक्तत्वात् ... ... | ७२१ |
| अर्थापरिमाणाच्च ... | ६९५ |
| अर्थाभावात्तु नैव स्यात् ... ... | ७२१ |
| अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता | ४५० |
| अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु | १४२ |
| अर्थापत्तिभेद .. ... .. ... | १०२ |
| अर्थेन च समवेतत्वात् ... ... | ६११ |
| अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानाम ... | ११९ |
| अर्थेनेति चेत् ... ... | ३०५ |
| अर्थेऽपीति चेत् ... .. ... | ४०६ |
| अर्थे समवैषम्यतो द्रव्यकर्मणाम् .. | ६४८ |
| अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं . | १११ |
| अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैक ... .. | ४१५ |
| अवत्तोर्विमयश्च .. ... .. | ७६६ |
| अवचनाच्च स्वशब्दस्य .. ... ... | ६९६ |
| अवत्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च | २५४ |
| अवदानाभिधारणासादनेषु | ५८७ |
| अवाक्यशेषाच्च ... ... ... ... | ७२ |
| अविशेषात् ... . ... .. | ५८ |
| अविद्यमानवचनात् ... .. ... | ५७ |
| अविभागाच्च शेषस्य ... .. ... | २४७ |
| अविभागात्तु कर्मणा ... ... | १९१ |
| अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थे .. | ६८ |
| अविरुद्धं परम् ... ... . | ६० |
| अविशिष्टस्तु कारणं प्रधानेषु .. | ५०१ |
| अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ... ... | ५८ |
| अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति ... | ४४० |
| अविशेषात् स्तुति-र्व्यर्थेति चेत् ... | २०६ |
| अवेद्यत्वादभाव कर्मणि स्यात् ... | ६११ |
| अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतु ... | १०२ |
| अव्यवायाच्च ... . .. | ४१५ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| अशक्तौ न प्रतीयेरन् | ४१० | आग्नेयवत् पुनर्वचनम् | ९०१ |
| अशब्द इति चेत् स्याद्वाक्य | ४८१ | आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत | १९२ |
| अशब्दमिति चेत् | ६६० | आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् | १४६ |
| असम्भवत्वाच्च | २८२ | आघारादृष्टिमानेषु तथा स्यात् | ६५० |
| असमाप्ता नूपमन्याशि याक | ६४७ | आज्यमपीति चेत् | ४९४ |
| अशेषं तु समञ्जसमादानेन | ७४० | आज्याच्च सर्वसंयोगात् | ५४२ |
| अशेषत्वात् तदन्तः स्यात् कर्मणो | ७५७ | आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य | १४२ |
| अशेषत्वान्नैव स्यात् सर्वादानात् | ९४२ | आतश्चाभ्यासस्य दर्शनात् | ७०२ |
| असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थि | २८२ | आदाने करोतिशब्दः | ४६८ |
| असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादप | ९८० | आदित्यवद्यौगपद्यम् | ९७ |
| असंयोगात्तु नैव स्यात् विधेः | ६१६ | आदर्थार्थेतरा श्रुति | ७१९ |
| असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत | ५४१ | आधानश्च भार्यासंयुक्तम् | ७११ |
| असम्बन्धात् गौणकल्पना | ५५४ | आधानेऽपि तथेति चेत् | ४२१ |
| असावकल्पं तादर्थ्यात् | ६०२ | आधाने सर्वशेषत्वात् | १७५ |
| अस्थानात् | २४ | आनन्तर्यमचोदना | २२९ |
| अस्ताव मध्यच्छिद्राणि | ७१५ | आनन्तर्यात्तु चैवी स्यात् | ७१२ |
| अहर्गणे च तद्धर्मः स्यात् | ७४८ | आनर्थक्य च संयोगात् | ६२१ |
| अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदा | ७२५ | आनर्थक्यात्तदङ्गेषु | २१२ |
| अहानि वाभिसंख्यत्वात् | ७६० | आनर्थक्यादकारणं | ९९ |
| अहीनवत् पुरुषस्तदर्थत्वात् | ९११ | आमर्थक्याप्नेति | ४८१ |
| अहीनो वा प्रकरणाद् | ९८९ | आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् | २९ |
| आकालिकेप्सा | ४८ | आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरै | ६७९ |
| आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् | ८० | आरादपीति चेत् | ६८८ |
| आख्या चैव तदर्थत्वात् | २८३ | आर्षेयवदिति चेत् | ७७५ |
| आख्याः प्रवचनात् | ९७ | आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत | ४५७ |
| आख्या हि देशसंयोगात् | ७४ | इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत | ७४१ |
| आगमो वा | ६६० | इज्याविकारो | ९९२ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| इतरेषु तु पित्र्यानि ... ... ... | ७७१ |
| इष्टित्वेन तु संस्तव .. .. | २९२ |
| इष्टित्वेन तु संस्तुते होम स्यात्... | ७३४ |
| इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होम ... | ७९२ |
| इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोम .. | ४८९ |
| इष्ट्यग्ने वा तदर्था ह्यविशेषार्थं | ५७९ |
| इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात्.. . | ३७० |
| उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्वं | ८५ |
| उक्तन्तु वाक्यशेषत्वम् ... . | ५९ |
| उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्.. ... .. | ३० |
| उक्तमनिमित्तत्वम् ... ... ... | ९३१ |
| उक्तश्चानित्यसंयोग .. ... .. | ६२ |
| उक्ता च यजमानत्व ... .. | ४०५ |
| उक्थादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् | ३०१ |
| उत्कर्षात् ब्राह्मणस्य सोम स्यात् | ५९० |
| उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य . | ३०१ |
| उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं | ७१६ |
| उत्थाने चानुप्ररोहात् ... .. | ७१५ |
| उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादलोप .. | ५२४ |
| उत्पत्तिकालविषये काल . | ५१० |
| उत्पत्तिरिति चेत् . . .. | २९८ |
| उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् | ४८८ |
| उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः. - | ३९९ |
| उत्पत्तौ नित्य .. .. .. | ६२८ |
| उत्पत्तौ येन संयुक्तं . . .. | ४७९ |
| उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्युरर्थस्य | ४२ |
| उत्पन्नासंयोगात् प्रणीतानामाज्य | ४७७ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| उत्पन्नाधिकारात् सति सर्ववचनम् | ३४५ |
| उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारी | ३९६ |
| उदयनपूर्वपक्षादःपुण्याहेषु दैवानि | ७७० |
| उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् | ३५० |
| उपगाय लिङ्गदर्शनात् .. ... | ४०१ |
| उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ... .. ... | ७१२ |
| उपदेशो वा याज्याशब्दो हि .. | ६१२ |
| उपनयन्नादधीत होमसंयोगात्.. | ७६५ |
| उपवेषश्च पक्षे स्यात्.. ... ... | ६९९ |
| उपहव्येऽप्रतिप्रसव- ... .. . | ६०६ |
| उभयप्रयोगे त्ववचनात् यथाप्रकृति | ७०५ |
| उभयोर्वा तदर्थत्वात् .. .. | ३११ |
| उभयार्थमिति चेत् .. .. ... | ५० |
| उभयो पितृयज्ञवत्.. ... | ७९४ |
| उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्र | ६८८ |
| उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् .. | ५७१ |
| ऊह ... .. . . . | ६२ |
| ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ... | ४१५ |
| एक वा चोदनैकत्वात् .. .. | ५०० |
| एक वा तण्डुलभावाद्धविस्तदर्थ्यात् | ५९९ |
| एक वा संयोगरूपचोदना .. .. | २०० |
| एक शब्दसामर्थ्यात्.. .. . | ४९१ |
| एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि . | ११४ |
| एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ... | १२४ |
| एकत्वेऽपि परम् .. | १०९ |
| एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्ति ... | १०२ |
| एकदेश इति चेत ... .. .. | १०० |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| एकदेशत्वाच्च विभक्तिर्व्यत्यये स्यात् | ७८ |
| एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमान ... | ३५१ |
| एकनिष्पत्तेः ... ... | ३४९ |
| एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् | ४४७ |
| एकत्रिकाच्च . .. . | ३३२ |
| एकहीने वा क्रतुसंयोगात् .. | ३८३ |
| एकस्माच्चेत् यथाकाम्यविशेषात् .. | ३७९ |
| एकस्मिन्नेकसंयोगात् .. ... | ३०७ |
| एकस्मिन् वा देवतान्तराद्विभागवत् | २७३ |
| एकस्मिन् चार्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवत् | १०९ |
| एकस्मिन् समवत्तशब्दात् ... | ३५१ |
| एकस्य कर्मभेदादिति चेत् .. ... | ३९७ |
| एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थं | १०१ |
| एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् .. | ३७१ |
| एकस्मिन्नेव पुनः श्रुतिरविशेषात् ... | ११९ |
| ऐकशब्द्ये परार्थवत् ... | ८१ |
| ऐन्द्रवायवे तु वचनात् प्रतिकर्षं | २४८ |
| ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात् ... | १८२ |
| औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन .. | ७ |
| औदुम्बर्याः परार्थत्वात् कपालवत् | ७१८ |
| औपभृतं तथेति चेत् .. .. | ४६१ |
| औषधसंयोगाद्वोभयोः . | ७१० |
| करोतिशब्दात् .. | ६५ |
| कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् .. . | १८४ |
| कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः .. | ६०३ |
| कर्तृत्वं कर्मनिष्पादकात्मत्वात् .. | १९७ |
| कर्तृगुणे तु कर्मासमवायात् | १३३ |
| कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् | ३०९ |
| कर्तृदेशकालानामचोदनं . | ४८१ |
| कर्मकरो वा भृतत्वात् | ६६४ |
| कर्मकार्यात् .. .. | ४५५ |
| कर्मकार्यात् सर्वेषां ऋत्विक्त्वम् | ५०२ |
| कर्म तथेति चेत् .. .. | ६५० |
| कर्मधर्मो वा प्रवणवत् .. ... | ७५ |
| कर्मण्युक्ते च दर्शनात् ... .. | ४७९ |
| कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् .. | ६१० |
| कर्माभेदं तु जैमिनिः | ६१४ |
| कर्मार्थं फलं तेषां स्वामिनं .. | ४१६ |
| कर्मैके तत्र दर्शनात् .. .. | २४ |
| कल्पान्तरं वा .. .. | ७५१ |
| कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते | ६०२ |
| काम्यत्वाच्च ... .. | ३८१ |
| काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गः यथा | ६०२ |
| काम्येषु चैवमर्थित्वात् ... .. | ६५९ |
| कारणं स्यादिति चेत् . | ८९ |
| कारणं च ... ... | ५४१ |
| कारणाद्भ्यासइति .. .. | ५१८ |
| कारणानामसमर्थं स्यात् ... | ५६० |
| कारणानुपूर्व्याच्च .. .. | ५५८ |
| कालप्राधान्याच्च ... ... | ७१७ |
| कालविधिर्वोभयोः ... .. | ६९८ |
| कालश्चेत् सन्नयत् ... .. | ६६६ |
| कालश्रुतौ काल इति चेत् | ३०८ |
| कालेन स्यादचोदनात् .. | ६६६ |

# सूचीपत्रम् ।


| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| कालार्थत्वादुभयोः .. .. | ६९० |
| कालोत्कर्ष इति .. .. | ५४९ |
| काले वा .. ... ... | ६९५ |
| कृतकं चाभिधानम् ... | २०१ |
| कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत् स्यात् | २२६ |
| कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात्तेन | ५६५ |
| कृते वा विनियोगः स्यात् .. . | ३० |
| कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् | २५४ |
| क्रतुतो वार्थवादानुपपत्तेः स्यात् | ६०२ |
| क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् ... | ५०१ |
| क्रतुविशेषो वा चोदितत्वात् ... | ५७४ |
| क्रत्वन्तरवदिति चेत् | ५४४ |
| क्रतवो वा प्रयोगवचनात् | ५०८ |
| क्रमको योऽर्थस्तदाख्या | ५८९ |
| क्रमस्य देशसामान्यात् | ६८२ |
| क्रमेण वा नियम्येत | ५६० |
| क्रयस्य धर्ममात्रम् | ६६२ |
| क्रियाणामाश्रितत्वात् | ६५७ |
| क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्व | ६६४ |
| क्षामे तु सर्वदाहे ... | ६८० |
| क्वार्थत्वे वा स्यात् . | ०१५ |
| कौलेषु सामान्या ... | ११९ |
| गुणनाशे वेदने ... | ३६९ |
| गुणमुख्यव्यतिक्रमे ... | १८० |
| गुणवादस्तु ... | २५ |
| गुणविशेषादेकस्य . | ३८९ |
| गुणानामर्थे स्यात् ... | ६९० |
| गुणश्चापूर्वसंयोगे . | ६५७ |
| गुणस्तु क्रतुसंयोगात् ... | ६६८ |
| गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् . | ६६१ |
| गुणस्य तु विधानत्वात् | ६१९ |
| गुणस्य तु विधानार्थे . | ९८ |
| गुणानाञ्चोपरम्भः . | ३८० |
| गुणादप्रतिषेधः | ६१ |
| गुणानाञ्च परार्थत्वात् .. | ६७९ |
| गुणानामुत्पत्तिवाक्येन . | ६६५ |
| गुणाभावात् ... | ६५० |
| गुणाभिधानात् .. | ६६४ |
| गुणाभिधानात् सर्वार्थम् . | ६६१ |
| गुणार्थं वा पुनःश्रुतिः .. | ६०७ |
| गुणार्थित्वान्नेति चेत् .. | ६६५ |
| गुणार्थेनेति चेत् .. | ६११ |
| गुणार्थो व्यपदेशः .. | ६६६ |
| गुणाश्च नामसंयुक्ताः .. | ५६१ |
| गुणोपबन्धात् . | ६५८ |
| गौणी वा कर्मसामान्यात् ... | २६४ |
| ग्रहणाद्वापनयः स्यात् . . | ६६८ |
| ग्रहणाद्वापनीतम् .. | ६६९ |
| ग्रामणीर्भृत्ये .. | ६३६ |
| ग्रहवदिति चेत् .. .. | २७४ |
| ग्रहणाग्रहणाधर्यस्य समाम्नानात् | ४०९ |
| ग्रहणाध्वर्यव मैत्रावरुणे .. | ५९८ |
| ग्रहमिता वा मन्त्रिणामात् .. | ८५४ |
| ग्रहणे चाम्यदर्शनात् ... | ४०९ |

| सूत्रम् | पृष्ठं |
|---|---|
| चमसेषु समाख्यानात् संयोगस्य .. | २४९ |
| चमसैश्च तुल्यकालत्वात् .. | २१४ |
| चरावपीति चेत् . . .. | ६०६ |
| चरौ वा अर्थोक्तं .. ... ... | ३०६ |
| चातुर्मास्येष्वविशेषात् . . | ६२१ |
| चिकीर्षया च संयोगात् | ३८८ |
| चोदना प्रति भावाच्च | ४१४ |
| चोदना पुनरारम्भः . ... | १११ |
| चोदनायां फलाश्रुतेः ... ... | १४२ |
| चोदनायामनारम्भो ... ... | ४४७ |
| चोदनार्थकार्त्स्न्यात्तु ... ... | ३६८ |
| चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः .. . | १ |
| चोदना वा गुणानां .. | ४९६ |
| चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि | ६९१ |
| चोदना वाऽपूर्वत्वात् . . | ७०० |
| चोदना वाऽप्रकृतत्वात् | १४५ |
| चोदना वा शब्दार्थस्य . . | १४८ |
| चोदितत्वात् यथाश्रुति . . | ६०९ |
| चोदितस्तु प्रतीयेताविरोधात् | ७२ |
| चोदिते तु परार्थत्वाद्यथा .. | २२९ |
| चोदने चार्थकर्मसु | ४४२ |
| छन्दःप्रतिषेधस्तु . | १३४ |
| छन्दश्च देवतावत् . . | १३६ |
| जाते न कर्म ह्यस्य .. | ७७७ |
| जाते वा तत्स्वरणात् . .. | ७३४ |
| जातौ चाभिप्रयोगात् . . | ७६४ |
| जायन्ते चैकदेशत्वात् | २९९ |
| जाति .. | १०२ |
| जातिन्तु बादरायणोऽविशेषात् ... | ६०८ |
| जातिविशेषात् परं .. .. ... | २४५ |
| जातेर्वा तत्प्राय .. . .. | ७०९ |
| जात्यन्तराच्च शङ्कते ... ... .. | ४७० |
| जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात् सन्देहे ... | ७९८ |
| ज्ञाते च वाचनं ... ... ... | ४१९ |
| ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं ... | ५७४ |
| तच्चोदकेषु मन्त्राख्या.. ... .. | १९५ |
| तच्छब्दो वा .. ... .. ... | ५७० |
| तच्छेषो नोपपद्यते .. | ९८ |
| तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् .. | ४३२ |
| तत्प्रकरणे .. ... | २१६ |
| तत्फलत्वेऽपपत्ति . | ५८२ |
| तत्प्रकृत्यर्थं यथान्ये ... | २०१ |
| तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम् .. | ८९ |
| तत्प्रधाने वा तुल्यवत् . | ६१४ |
| तत्र कौत्सवमनुयाज ... | ४६१ |
| तत्र मन्त्रमभियोगविशेषात् ... | ७७ |
| तत्र प्रतिषेधो न विद्यते ... | ७१७ |
| तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः . | ७०२ |
| तत्र सर्वेऽविशेषात् ... | ५१५ |
| तत्रार्थात् कर्तृपरिमाणं .. | ३९७ |
| तत्रार्थात् प्रतिवचनम् .. | ७१९ |
| तदेकत्वमवदानम् ... .. | ६४३ |
| तदोत्पत्तिर्विभक्ता ... | ४६१ |
| तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था .. | ४०७ |

| सूत्रम् | पृष्ठ. |
|---|---|
| तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्य ... | १९० |
| तत्प्रस्तावाच्च ... | २४० |
| तत् सर्वत्राविशेषात् ... | ३२४ |
| तत् सर्वार्थमनादेशात् ... | ४९९ |
| तत् सर्वार्थमविशेषात् | ६०६ |
| तत्सिद्धिः ... | १०० |
| तथा कामोऽर्थसंयोगात् ... | ४६७ |
| तथा फलाभावात् ... | ९१ |
| तथा च लिङ्गम् ... | ४७६ |
| तथा च लोकभूतेषु | ४४० |
| तथा चान्यार्थदर्शनम् ... | ५२४ |
| „ „ ... | ५४६ |
| „ „ ... | ५६२ |
| „ „ ... | ५६५ |
| „ „ ... | ६१० |
| „ „ ... | ६१६ |
| „ „ | ७०० |
| „ „ ... | ७३० |
| तथा द्रव्येषु गुणश्रुति | ४८२ |
| तथा निर्मन्थ्ये ... | ९६ |
| तथान्यानुप्रत्यानि ... | ६५० |
| तथापूर्वम् | ३४२ |
| तथा फलाभावात् ... | ८१ |
| तथा भक्षप्रैषाच्छादनम् ... | ७०२ |
| तथाभिधानेन ... | २९० |
| तथा याज्यापुरोरुचौ ... | १२१ |
| तथा यूपस्य वेदिः ... | २९२ |
| तथा भौमिकादर्श ... | ३८६ |
| तथा स्वामिनः फलसमवायात् ... | ६६१ |
| तथा हि लिङ्गदर्शनं ... | ६३० |
| तथाज्ञानमपीति ... | २४८ |
| तथोत्थानविसर्जने ... | २११ |
| तदकर्म हि च दोषवत्त्वात् ... | ६५४ |
| तदर्थत्वात् प्रयोगस्य ... | ८४ |
| तदर्थवचनाच्च ... | ५८९ |
| तदर्थशास्त्रात् ... ... | ५५ |
| तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ... | ७७ |
| तदसंख्यं श्रवणात् ... | ४१२ |
| तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् | १९० |
| तदा द्विरभिसम्बन्धात् | ५५० |
| तदुत्पत्तेश्च दोषश्रुति ... ... | ६०८ |
| तदुक्ते श्रवणाज्जुहोति ... | ५८४ |
| तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय ... | ४९९ |
| तदुपक्रम उपक्रमस्त्वनेन ... | ५५८ |
| तदेकदेशो वा ... ... | ४६० |
| तदेकपात्राणां समवायात् ... | ६१९ |
| तद्गुणात्तु विधीयेरन् ... ... | ९१ |
| तद्व्याख्या प्रथमस्त्री ... ... | ४११ |
| तदपि शब्दार्थे भिद्येत् ... ... | ६८२ |
| तद्भावान्नियमार्थेन ... | २४ |
| तद्भेदात् कर्मणोऽभ्यासो ... | १२१ |
| तद्युक्ते तु प्रतिषेधात् ... ... | ७१८ |
| तद्युक्ते च फलश्रुतिः ... ... | २९० |
| तदूपत्वाच्च शब्दानां | ७०१ |
| तद्वचनादिक्रमे यथाप्रधानं ... | ५८२ |
| तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ... ... | ५४० |
| „ „ ... ... ... | ४१५ |
| तद्वच्च शेषवचनम् ... ... ... | २४० |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् .. .. .. | ६८२ |
| तद्वत् सवनान्तरे ... ... ... | ७०० |
| तदर्थत्वन्तु वचनप्राप्ते ... ... | २६६ |
| तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ... ... | ५०१ |
| तद्व्यपदेशं च ... ... | ९० |
| तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि .. ... | ६६० |
| तपश्च फलसिद्धित्वात् .. ... | ४१५ |
| तन्त्राच विप्रयोगे स्यात् ... .. | ६९९ |
| तत्रापि फलदर्शनात् .. ... | ६६५ |
| तथापि तु क्रियमाणानि ... ... | ६४० |
| तन्निप्रसमवप्रयोगात् ... .. | ६४८ |
| तस्य निमित्तपरीष्टिः .. .. | ६ |
| तस्य रूपोपदेशाभ्याम् ... ... | २६८ |
| तस्या यावदुक्तमाशीः ... ... | ६१० |
| तस्योपदेशसमाख्यानेन . ... | ४०७ |
| तादर्थ्यात् कर्म तादर्थ्यम् ... | ६११ |
| तादर्थ्येन गुणार्थता .. ... | ६२० |
| तानि द्वैधं गुणप्रधानम् ... .. | १११ |
| तानि च तुल्यवत्प्रख्यानात् ... | ५२२ |
| तासामग्निः प्रकृतितः .. ... | ७०२ |
| तुल्यं च साम्प्रदायिकम् .. .. | ४४ |
| तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः ... .. | ७०१ |
| तुल्यत्वात् क्रिययोर्न .. ... | ९१ |
| तुल्यन्तु कर्तृधर्मेण .. .. | ७५ |
| तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ... .. | ५२६ |
| तुल्यश्रुतित्वाद्वा .. . | ११५ |
| तुल्या च कारणश्रुतिः .. .. | ५३४ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| तेनोत्कृष्टस्य कालविधिः .. .. | ५७४ |
| तेषामर्थेन सम्बन्धः ... ... | ६११ |
| तेषाम्प्रयतार्थयोगेन ... .. | ११८ |
| तेषामौत्पत्तिकत्वात् ... ... | ६५९ |
| तैष्वदर्शनात् विरोधस्य .. .. | ७० |
| तं कर्मणां प्रयुक्तत्वात् ... ... | ४०६ |
| त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः ... .. | ६१७ |
| त्रयो विद्याख्या च ... .. ... | २०९ |
| त्रिशब्द परार्थत्वात् .. ... . | २०१ |
| त्वष्टारमुपलक्षयेत् ... .. .. | २०० |
| दक्षिणाकाले यत्स्वं तत् .. .. | ७४६ |
| दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् | ४२० |
| दर्शनात् कालतिङ्गानाम् . | ६४९ |
| दर्शनादिति चेत् ... .. | ६६७ |
| दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ... . | ७४ |
| दर्शनादेकदेशे स्यात् ... .. | ६८१ |
| दर्शपूर्णमासयोरिज्या .. .. | ५६० |
| दानश्च लिङ्गदर्शनात् .. .. | १९९ |
| दिग्विभागश्च तद्वत् . ... | ६१६ |
| दीक्षाकालस्य शिष्टत्वात् .. .. | ७११ |
| दीक्षादक्षिणन्तु वचनात् .. ... | ६६१ |
| दीक्षापराधे चानुग्रहात् .. | ७१४ |
| दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् | ७१२ |
| दीक्षासु तु विनिर्देशात् .. ... | ७५८ |
| द्रव्यपृथक्त्वात् .. ... | ४८ |
| दर्शने ... ... .. .. | ११२ |
| देवताया च तदर्थत्वात् .. .. | ६८२ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- |
| देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ... ... | २८४ |
| देशमात्रं वाऽशिष्येण ... ... | २८१ |
| दैवतैर्वैककर्म्यात् ... ... ... | ५११ |
| दोषात्तु वैदिके स्यात् ... ... | २१४ |
| दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात् ... | २१९ |
| दोषयोः कालभेदात् ... ... | २०७ |
| द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् ... ... | ११६ |
| द्रव्यं वा स्याच्चोदनायाः ... ... | १८८ |
| द्रव्यगुणसंस्कारेषु ... ... | २०९ |
| द्रव्यत्वात्तु पुंसां स्यात् ... .. | ६१० |
| द्रव्यसंयोगाच्च .. ... ... | ३१७ |
| द्रव्यसंयोगाच्चोदना.. ... ... | १४० |
| द्रव्यसंयोगो न हि तस्य .. . | १५० |
| द्रव्यसंस्कार प्रकरणविशेषात् .. | ४१७ |
| द्रव्यसंस्कारकर्मसु ... ... | ४८० |
| द्रव्यसंस्कारविरोधे . .. | ६०१ |
| द्रव्याणां कर्मसंयोगे .. ... | ६९८ |
| द्रव्याणान्तु क्रियार्थानां ... .. | ४९५ |
| द्रव्याणि त्वविशेषेण .. | ४४१ |
| द्रव्ये चाचोदितत्वात् ... ... | २०५ |
| द्व्येकत्वे कर्मभेदात् ... | ७१० |
| द्वयोरुपपत्तेरुभयो स्यात् .. ... | ६९० |
| द्व्योपदेश इति चेत् . .. .. | ६११ |
| द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं ... | ५६७ |
| द्वादशाहस्तु वा प्रकृतिवत् .. .. | ७४९ |
| द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् . | ७११ |
| द्विसंस्थत्वं वा .. .. | २९० |

| सूत्रम् | पृष्ठः |
| --- | --- |
| द्वैयहकाल्ये तु .. .. ... | ६९५ |
| द्याधाने च द्वियज्ञवत् .. ... | ६१६ |
| द्याधानेष्वभौ .. ... ... | ४१९ |
| धर्ममात्रे तु कर्म स्यात् .. ... | ११५ |
| धर्मविप्रतिषेधाच्च .. ... | २०८ |
| धर्मस्य शब्दमूलत्वात् ... ... | ६४ |
| धर्मोपदेशाच्च ... ... .. | २०९ |
| न चाऽनियमात् .. .. ... | ७१ |
| न चाऽव्यपदेशात् ... ... ... | १११ |
| न काम्यत्वात् .. ... ... | ६९१ |
| न कालविधिश्चोदितत्वात् ... .. | ६४९ |
| न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ... .. | ६४८ |
| न क्रिया स्यादिति चेत् ... .. | ८१ |
| न चैकं प्रति शिष्यते .. ... | २०१ |
| न चैकसंयोगात् .. ... ... | ७११ |
| न चोदनाविरोधात् .. .. | ६०० |
| ,, ,, ... .. | ७७४ |
| न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनाच्च | ३४४ |
| न चोदनैकार्थ्यात् .. .. .. | ६१० |
| न तत्प्रधानत्वात् .. .. ... | ७१८ |
| न तत्र ह्यचोदितत्वात् ... ... | ७३५ |
| न तत्समत्वात् .. .. ... | ६३९ |
| न तदर्थत्वात् लोकवत् .. .. | ६११ |
| न तदीप्सा हि ... .. | ६०४ |
| न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात्... . | ६८८ |
| न तद्वदनानुपपात ... . | ६८१ |
| न तस्यादुष्टत्वात् ... ... ... | ८०४ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| न तस्यानधिकाराद्यर्थ्य ... | ३७६ | न स्थेयमर्थविधानात ... .. | ४५५ |
| न तस्येति चेत् .. .. .. | ५५८ | न श्रुतिविप्रतिषेधात .. | ३०५ |
| न तुच्छत्वात् .. .. | ६०८ | न श्रुतिसमवायित्वम् .. . | ११८ |
| न भेदे वैरूप्यात .. .. ... | ६०८ | न समवायात् | ६४० |
| न त्वाघातेषु .. .. | ६११ | न सर्वत्र विनिवेशात् .. ... | १८० |
| न देवताग्निशब्द .. .. | ६६० | न सर्वेषामनधिकार .. | ४०४ |
| न माया स्यादपेक्षा . | १०० | न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् .. | ७५ |
| न नित्यत्वात .. .. | ६१९ | न सामान्यादपि विशेषे . ... | ७६४ |
| न पर्तिकामत्वात . .. ... | ३०७ | नाणुत्वात् .. .. | ५४१ |
| न पूर्वां न .. .. | ५० | नानुमानमतच्छब्दात .. ... .. | ७१४ |
| न प्रकृतेरात्मनिष्पत्ते . | ३०६ | नातत्त्वदर्शनात .. .. | ९८ |
| न प्रकृतेरेकवाक्यत्वात . .. | ३९९ | नात्मनश्च नित्यत्वात . | ७४८ |
| न प्रतिनिधौ समत्वात् | ६६४ | नाभावात .. .. .. .. | ४६७ |
| न भक्तिमात्रेण हि .. . | ७१४ | नासर्वकत्वात् .. ... ... | ४७१ |
| न भूमिः स्यात् सर्वान् . .. | ७४१ | नानावीर्यविशेषवत .. | ७१६ |
| न निवर्तकत्वात् . .. | ५०८ | नानुक्रमाद्दर्शनम् ... .. | ४११ |
| न वा अनुपविरोधात् . . | ७३१ | नावश्यकार्यत्वम् .. | ३११ |
| न वा नाना सदर्थत्वात . . | ३७१ | नाविधौ कृत्वा हि .. .. | ८१ |
| न वाकारोऽभावादन्यात . | ७१० | नानवधकं विशेष .. | १०७ |
| न वा परिमाणात् . . | ३०९ | नान्यद्दर्शनात .. . | ३०१ |
| न वा पात्रत्वात ... . | ४१७ | न कश्च समवायभावात . | ४११ |
| न वा प्रकरणात . | ६९ | नामकवादात . .. | ३१४ |
| न वा शब्दहीनत्वात स्यात | ३११ | न समवाय सु स्योत्पत्ति ... .. | ३०८ |
| न वा सर्वीयत्वात् . . | ७१० | नाधारार्थम् . .. | ७१६ |
| न वा समत्वात् . | ३८० | नियमो वा चतुर्थं स्यात् | १०४ |
| न स्वैकत्वात . | ३०४ | नियमश्च विधौ . . | ७११ |
| न च स्यादिश्च प्रदात | ६९ | नित्य कोऽसान्वयात् . | ३१० |

| सूत्रम् | पृष्ठः |
|---|---|
| नित्यम्, स्याद्दर्शनस्य | ९९ |
| नित्यो वा स्यादर्थवादात् | ५२१ |
| निमित्तार्थेन बादरिः | ६२१ |
| नियतं वार्थवत्त्वात् | ७०१ |
| नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिः | ४०४ |
| नियमार्थः क्वचिद्विधिः | ६६० |
| नियमार्थो गुणश्रुतिः | ३८२ |
| नियमार्था वा श्रुतिः | ५८२ |
| नियमो वा तन्निमित्तत्वात् | ६८२ |
| नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदात् | ७३५ |
| निरवदानात् शेषः स्यात् | ११६ |
| निरूढे स्यात्तत्संयोगात् | ७०६ |
| निर्देशस्य गुणार्थत्वम् | ६०६ |
| निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः | ६०६ |
| निर्देशात् पक्षे स्यात् | ६११ |
| निर्देशात् विकल्पे | ६६० |
| निर्देशात् विज्ञानाय पूर्वस्य | ३१८ |
| निर्देशात् स्यादन्यदर्थादिति | ३३४ |
| निर्देशाद्वाऽसमर्थं स्यात् | ७३४ |
| निर्देशाद्वा प्रधानो | ६११ |
| निर्देशाद्वान्यदागमयेत् | ६०४ |
| निर्देशाद्वाऽशक्तिरिति न | ६८० |
| निर्देशो वाऽनाहिताग्नेः | ७६४ |
| निवीतमिति मनुष्यधर्मः | ३१२ |
| निशिन्दर्शनाच्च | ५८१ |
| निष्क्रयवादाच्च | ६६८ |
| निष्क्रयश्च तदङ्गवत् | ३१४ |
| नैकत्वात्तस्य चानधिकारात् | ८१९ |
| नैकदेशत्वात् | ६७५ |
| नैमित्तिक तु प्रकृतौ | ६७० |
| नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगात् | ६०३ |
| नैमित्तिकमतुल्यत्वात् | ६८१ |
| नैमित्तिके विकारत्वात् | ६८६ |
| नोत्पत्तिसंयोगात् | ६०८ |
| नोत्पत्तौ हि | ६६८ |
| न्यायविप्रतिषेधाच्च | ६०० |
| न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनं | ४६९ |
| न्याय्यो वा कर्मसंयोगात् | ६९० |
| पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् | ६६८ |
| पक्षेणेति चेत् | ६०३ |
| पक्षे चोत्पन्नसंयोगात् | ३११ |
| पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः | ६६० |
| पदकर्माप्रयोजकम् | ४३१ |
| पयोदोषात् पञ्चशरावे | ७०१ |
| परकृतिपुराकल्पं च | ७३१ |
| परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् | १० |
| परार्थत्वात् गुणानाम् | ६० |
| परिसंख्या | १८ |
| पर्वणि दिष्ट पशुपुर-विरुद्धत्व | ११० |
| पशोश्चाविदनाहीति चेत् | ५६८ |
| पश्यामः इति चानाकाङ्क्षा | ६०१ |
| पशावभावात् | ३३१ |
| पशावपि तस्य तस्मादवयवेन | ४६१ |
| पशुचोदनायाम् नियम | ७११ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| पादेऽङ्ग रशना स्यात् | ४१० | प्रकरणन्तु पौर्णमास्याम् | १६० |
| पादेऽङ्ग कार्यकत्त्व स्यात् | ३९८ | प्रकरणविभागे विप्रतौ | २६९ |
| प्राप्ते प्रत्यक्षभावात् | ७२१ | प्रकरणविभागादसंयुक्त | १८७ |
| प्राचीने तु पूर्वस्यात् | १८७ | प्रकरणाविभागात् तदुक्तस्य | १९९ |
| प्राचीने तु पूर्ववत् | ११९ | प्रकरणसम्बन्धात्ताविद्धाता | ३११ |
| पालपापश सदन | ६२२ | प्रकरणान्तु कार्ये स्यात् | ३९६ |
| पितृयज्ञः स्वकालत्वात् | ४२५ | प्रकरणादिति चेत् | ३०९ |
| पितृयज्ञे तु दर्शनात् | ७९८ | प्रकरणाद्धात्मसंयोगात् | ४०० |
| पितृयज्ञ प्रयुक्तत्व | ७९५ | प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् | १९० |
| पुनराधुर्यगत्व सर्वेषाम् | ९९७ | प्रकरणाविभागादुभे | २५५ |
| पुनराधेयमाद्दर्शनात् | ६८० | प्रकरणाविभागाद्वा | १०७ |
| पुरुषकल्पेन वा विकृतौ | ७४० | प्रकरणाविशेषे च विप्रतिपत्ति | ४१८ |
| पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् | २११ | प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् | ७१० |
| पुरुषार्थैकसिद्धित्वात् | ६११ | प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षे | ६१ |
| पुरोडाशस्त्वनिर्देशात् | ४९९ | प्रकृतिविकृत्योरेव | ९५ |
| पुरोनुवाक्याधिकारो वा | ४०८ | प्रकृत पूर्वोक्तत्वादपूर्वम् | ३६४ |
| पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् | ५७९ | प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वात् | ५३६ |
| पूर्वपक्षोऽविभागाद्वा | ८० | प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् | ९६६ |
| पृथक्त्वनिवेशात् | १२ | प्रक्रमात् नियम्यते | ६४० |
| पृथक्त्वादुपनिवेश | ४६५ | प्रक्रमाद्वा नियोगेन | ७०४ |
| पृथक्त्वं व्यभिधानयोः | ४१४ | प्रधानकार्याच्च योगात् | ९६ |
| पौर्णमासीवदुपांशुयाजः | १४४ | प्रति नविध नहत् | ४८६ |
| पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् | ४९० | प्रतियाजदिति चेत् | ९६६ |
| पौर्णमास्यामनियम | ७१४ | प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्समानम् | ४८२ |
| पौर्णमास्याः समानम् | ५९१ | प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य | ४७५ |
| प्रायणीयं एव दीक्षणं | ७९४ | प्रतिषेध च दर्शनात् | ४९९ |
| प्रोक्षणवचन विकृतौ | ३०४ | प्रतिविध चाधिकारेण हि | ९९३ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| प्रतिषिद्धं च दर्शनात् | ५२६ |
| प्रतिषेधाच्च पूर्व्वलिङ्गानां | ५८६ |
| प्रतिषेधाद्यो ग्रमवभूयादृष्टे | ७१८ |
| प्रतिषेधप्रकरणत्वात् | ६४३ |
| प्रतिषेधेष्व न साधम् | ७१८ |
| प्रतीयते इति चेत | ४४४ |
| प्रत्यक्षोपदेशाच्च | ६३६ |
| प्रत्ययञ्चापि दर्शयति | १०७ |
| प्रत्ययाच्च | ५०० |
| प्रतायं चातिभाव इति | ६१९ |
| प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् | ६०२ |
| प्रधानमाभिसंयाताम | ५१७ |
| प्रधाने श्रुतिलक्षणम | ६०७ |
| प्रयोगचोदनाभावात् | ७८ |
| प्रयोजनार्थमिति चेत | ७२ |
| प्रयोगस्य परम् | ९० |
| प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रह | ७११ |
| प्रयोग पुरुषम अ | ६३५ |
| प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात् | ७६ |
| प्रकरणात् प्रपरस्य | २६१ |
| प्रहृत्योर्वेति चेत | ६७२ |
| प्रहृता वा उपचारात् | ७०६ |
| | ७११ |
| प्रहृत्या हतकाभ्यासात | ५१० |
| प्रकृत्या तुल्यकालत्वात् | ५८१ |
| प्रकृता | १०७ |
| प्रभा वा विहारानामात् | ५८० |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| प्रवृत्ते प्राप्तप्रसथन | ६९७ |
| प्राकृताच्च पुरस्तात् | ५६६ |
| प्रागपरोधात् | ६२५ |
| प्राप्ताकमण्यायात्मा | ५०६ |
| प्रातरनुवाके च | ४०९ |
| प्राप्तयोर्दर्शिते | ७१९ |
| प्राप्ताच्च निमित्तस्य | ५५४ |
| प्रायश्चित्तं निमित्तेन | २१२ |
| प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र | ७१९ |
| प्रायश्चित्तमापदि स्यात् | ७१९ |
| प्राचार्धकमिधानाच्च | ६५६ |
| | ७१७ |
| प्राय वचनाच्च | १४६ |
| प्रासङ्गिके च नोत्कर्षत् | ३३१ |
| प्राकृतवन्मेधावत्वाच्च च | ४७० |
| प्रैषानुवचनम् | १०८ |
| प्रैषेषु च पराधिकारात् | १०७ |
| प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् | ८५ |
| फलं च पुरुषार्थत्वात् | ४१० |
| फलं चाकर्मसन्निधौ | १८२ |
| फलकामो निमित्तम् | ६९० |
| फलचमसो नैमित्तिक | २६१ |
| फलनिवृत्तिश्च | ६६४ |
| फलस्य भोगधानाधाम् | ४९० |
| फलस्य सहमद्या | ११७ |
| फलस्य च यो निर्देशाम् | ५०९ |
| फलवत्ता च दर्शयति | ६१४ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
| --- | --- | --- | --- |
| पश्चद्दोऽऽरेशुमात् .. | ११८ | मनापकर्षदपा .. | ११८ |
| पश्चमेन् कर्म स्यात् . | ११८ | मांसम् पक्वमोथ्मा .. | ११६ |
| पश्चदयोऽद्रवोऽद्रि | २११ | माया वैकाहवान् नै ... | ७१४ |
| पश्चवोगात् चातिदम् | १८८ | मिथ्यामर्दनम् ... | ६० |
| पश्चना बाधा निदपम्मे वा | ४८ | मिथ्यामर्दनमस्मात् ... | ११८ |
| पश्चायमात् बदंच रात | १०४ | मुख्यमन वाहानां | ११४ |
| पश्चादिमान् माविकेन .. | १०४ | मुख्यस्याभिसंस्कार ... | ११० |
| पश्चादिमात्रा.नियम | १११ | मुख्याहा पूर्वकालमात् .. | ११६ |
| पश्चोऽनुमात्राविशेषात् . | १११ | मुख्यधर्मे मुख्यमनम | १०० |
| पश्चोभदेशो वा ... | १०४ | मुख्यानमर्थमाने च .. | ११६ |
| पश्चमात् प्रश्ने . | ११७ | मुख्यार्थौ वा चतम्र .. | ११० |
| पुरुषाकात् | ४६ | मुद्देशवाधावहानां .. | ११८ |
| प्राप्तमध्यम् तु भेदविधा . | १११ | प कर्मेण्य प्रदोष | [illegible]८ |
| प्राप्तधामां वैनयो . | ७११ | पर्थमवाद्नां दूष . | ३८१ |
| प्राप्तया वा मुख्यस्थलात् | ३४१ | दमनिल् दूषदक्षयोः . | १८१ |
| प्रतिष्ठमनिवादमाप्ते नि चेत् | ३११ | दनमाः भय स्थानात | ११० |
| प्रत्या निवृत्यादू दोष | १०७ | दशदि वा मह पवनम् | ११० |
| प्रचादौ [illegible] दर्भे समसात | १९० | पर्वति वाद्देशकात् | १११ |
| प्रचादचवात | ११७ | दव देवन वा . | ११६ |
| प्रचादौ वर्षे च्या . | १०८ | दशाहमन वा | १८३ |
| पृथा | १०४ | दशर्थ वा प्रदपमनवदनाम | ११६ |
| पूर्वमर्थं च सपदवृनि | १८१ | दव चृमोनि वज . | १८१ |
| मह्रार्दनि वम | १०७ | दर्द च वधु | ३४ |
| मध्यमवदन् वथन म | ३०१ | दधूष मा वाचट क म् . | ७११ |
| मध्यः दच ममवर्ष | ११ | दद वा वाचन हक म | ११६ |
| मध्यम् विदेव वचन | ११६ | वर्धन मृषोदय | ८५ |
| मध्यम चापदवा म | ४६ | वर्धन् दर्प दुषदद . | ११५ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| यस्य वा प्रभुः स्यात् | ६४७ |
| याच्ञाक्रयणमविद्यमाने | ७७१ |
| याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् | ४१२ |
| याजमाने समाख्यानात् | ४१० |
| याज्यापवचनात्प्रयोगे . | ३१० |
| यावज्जीविकोऽभ्यासः | १९४ |
| यावदुक्तं वा कर्मणः | १८१ |
| यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् | ४९७ |
| येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे . | २११ |
| येषां तूत्पत्तौ स्वे | ११० |
| यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते | ११३ |
| यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते | ११३ |
| योगसिद्धिर्वाऽर्थस्य | ५०६ |
| रचना च लिङ्गदर्शनात् | ३०८ |
| रूपात् प्रायात् . | ४७ |
| रूपान्यत्वात् | ७७७ |
| रूपालिङ्गाच्च | ७७७ |
| लक्षणमात्रमितरत् | ७०७ |
| लक्षणार्था शृतच्छ्रुतिः | ७०५ |
| लिङ्ग समसमाख्यानात् . | ३५६ |
| लिङ्गदर्शनाच्च | ९९ |
| १३१ १८० १९१ २०८ २३५ ४६८ | |
| ३०६ ३८८ ४३६ ५७२ ४३६ ५८८ | |
| ६१४ ६७३ ७१२ ७४९ | |
| लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वात् . | २०३ |
| लिङ्गविशेषनिर्देशात् ... | ६०७ |
| लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधाने | ३६६ |

| सूत्रम् | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| लिङ्गसमवायात् | ... | १०३ |
| लिङ्गसमाख्यानाभ्याम् | .. | १६२ |
| लिङ्गाच्च | ... | २५० |
| १०६ ५८१ | | |
| लिङ्गार्थेऽप्यविशेषवत् | ... | ७३० |
| लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य | ... | ७४ |
| लिङ्गोपदेशश्च | .. | ६१ |
| लोकवदिति चेत् | .. | ६० |
| लोके कर्माणि वेदवत् | ... | ६४१ |
| लोके सन्नियमात् | .. | ३५ |
| वचनं परम् | ... | ३१७ |
| वचनाच्च | | ११७ |
| वचनाच्चान्याय्यम् | .. | ६६८ |
| वचनात् दाशतये | .. | ५०१ |
| वचनात् द्विसंयोगः | .. | ७५७ |
| वचनात् परिसंख्यानात् | ... | ५६० |
| वचनात् समुच्चयः | ... | ६८६ |
| वचनात्त्वयथार्थम् | .. | ६३६ |
| वचनात् सर्वपेषणं तं प्रति | ... | ६०९ |
| वचनादङ्गानुपपत्तेः | | ६१८ |
| वचनादितरेषां स्यात् | ८१२ | ८१५ |
| वचनादिति चेत् | २६४ | ७१२ |
| वचनादिष्टपूर्वत्वम् | | ६८८ |
| वचनादर्थविशेषः | ... | ११० |
| वचनाद्यज्ञकारस्याधाने | .. | ६१० |
| वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् | .. | ७११ |
| वचनादेककाम्यं स्यात् | .. | ३६४ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| वचनानि तु अपूर्वत्वात् | ७४९ |
| वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् | ४६१ |
| वत्ससंयोगे | ६९४ |
| वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् | ६९५ |
| वर्णान्तरमविकारः | १८ |
| वर्हिराज्ययोरसंस्कारे | ९४ |
| वशायामर्थसमवायात् | १११ |
| वशावद्वा गुणार्थं स्यात् | ११९ |
| वषट्कारश्च कर्तृवत् | २०३ |
| वषट्काराच्च भक्षयेत् | ३३५ |
| वाक्यनियमात् | ५६ |
| वाक्यशेषत्वात् | ३१५ |
| वाक्यशेषश्च तद्वत् | ४१५ |
| वाक्यानां च समाप्तत्वात् | १४० |
| वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् | ४९९ |
| वाचिकानां वा | ७३५ |
| विकारः सप्रभवन् | ७५० |
| विकाराच्च कामसंयोगे | २८० |
| विकारे तद्याजानां | ५६२ |
| विकारो नोत्पत्तिकत्वात् | ७०८ |
| विकारो वा प्रकरणात् | १८० |
| विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात् | ५४८ |
| विकृतेः प्रकृतिकालत्वात् | ५९५ |
| विकृतौ सर्वार्थः शेषः | ७३० |
| विकृतौ तस्य कर्मवत् | ८०१ |
| विद्यानिर्देशान्न निषेधेत् | ६१३ |
| विद्यापराधे च दर्शनात् | ७३१ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| विद्याप्रशंसा | ४८ |
| विद्याया धर्मशास्त्र | २०१ |
| विद्यावचनमसंयोगात् | ६२ |
| विधिकोपश्चोपदेशे | २५० |
| विधिना चैकवाक्यत्वात् | ७१५ |
| विधिना त्वेकवाक्यत्वात् | ४२ |
| विधिप्रत्ययाद्वा | ५८४ |
| विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यम् | १२४ |
| विधिरप्येकदेशे | ६७१ |
| विधिर्वा संयोगान्तरात् | २१९ |
| विधिर्वा स्यादपूर्वत्वात् | ४० |
| विधिशब्दाच्च | ६१ |
| विधिरानर्थक्यं क्वचित् | ५२ |
| विधिस्त्वपूर्वत्वात् | २११ |
| विधेः कर्मापवर्गित्वात् | ४८१ |
| विधौ च वाक्यभेदः स्यात् | ४२ |
| विधौ तु वेदसंयोगात् | ७१४ |
| विध्यपराधे च दर्शनात् | ६५५ |
| विनिवेशश्च मुख्यानां | ७०८ |
| विप्रतिपत्तौ वा | ५३७ |
| विप्रतिषेधात्ताभिः | ३१४ |
| विप्रतिषेधात् गुणप्रकारः | ७५९ |
| विप्रतिषेधे करणः | ४११ |
| विप्रयोगे च दर्शनात् | ६१८ |
| विभागश्रुत प्रत्यक्षम् | ७११ |
| विरोधेऽपि पूर्ववत् | १९९ |
| विरोधिना असंयोगात् | ७०३ |

| सूत्रम् | पृष्ठं | सूत्रम् | पृष्ठं |
|---|---|---|---|
| विरोधे च श्रुतिविशेषात् | ४१८ | व्यपदेशादपकृष्येत .. ... | ६२४ |
| विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् | ६६ | व्यपदेशादितरेषां स्यात् .. | ४१७ |
| विवृद्धिः कर्मभेदात् | ५६८ | व्यपदेशाय तद्वत् .. | ११३ |
| विवृद्धिर्वा नियमादानुपूर्व्यस्य | ५९३ | व्यपवर्गे च दर्शयति .. . | १९४ |
| विशये प्रायदर्शनात् . | १८८ | व्यर्थे स्तुतिरन्याय्येति . | ५१ |
| विधिपदकर्माच . . | १०१ | व्यवस्था वा अर्थसंयोगात् .. | ४३१ |
| विप्रतिषिद्धधर्मे मात .. . | ६९२ | व्यवस्था वा अर्थस्य .. | ४३१ |
| विप्रतिपत्तौ होमसंयोगात् .. | ७३६ | व्यवायान्नानुषज्येत ... | १११ |
| विहारस्य प्रभुत्वात् | ७३० | व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः . | १९१ |
| विहितप्रतिषेधात् . | २०५ | शक्यत्वाच्च प्रतीयेत .. .. | ६०१ |
| विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् | २११ | शङ्कते च अनुपोषणात् .. | ७८ |
| वीते च कारणे नियमात् | ५०९ | शब्दे च समर्थ .. | ४१३ |
| वीते च नियमस्तदर्थं | ५०८ | शब्दपृथक्त्वाच्च ... | ४१८ |
| वृद्धिदर्शनात् तस्मात् . | १५ | शब्दपृथक्त्वाच्च .. .. | ११३ |
| वेदसंयोगात् | ११७ | शब्दवत्तूपलभ्यते .. ... | ५०१ |
| वेदसंयोगान्न प्रकरणेन . .. | २८० | शब्दविप्रतिषेधाच्च .. | ४४१ |
| वेदार्थेषु प्रतिकर्षम् . . | ७६ | शब्दान्तरे कर्मभेदः . .. | ११० |
| वेदोपदेशात्पूर्ववत् . | ४१० | शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेः ... . | ७६ |
| वेदो वा प्रायदर्शनात् . .. | ७५८ | शक्तित्वाच्च शब्दभेदात् .. | ४०० |
| वैगुण्यादिति चेत् ६९७ | ७१० | शाखान्तरे सर्वप्रधानत्वात् .. | ४३१ |
| वैश्वदेवे विकल्पः | ६६ | शाखान्तरेषु तत्प्रधानत्वादुपसंहारः | ४३१ |
| वैश्वानरे विप्रः | ५११ | शास्त्रदृष्टविरोधाच्च .. | ६० |
| व्यक्तिकर्मे यथा प्रीति . .. | ७८० | शास्त्रफलं प्रयोक्तरि ... | १९२ |
| व्यपदेशभेदाच्च . .. | ६१० | शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् . | ७० |
| व्यपदेशस्य तुल्यवत् .. | ५७२ | शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन .. | ६११ |
| व्यपदेशाच्च .. . | ६३० | शिष्टाकोपेऽविरुद्धम् .. .. | ६८ |
| ३१ १०१ | | शुष्कस्य कर्माकरणम् . . ... | ७४१ |

| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| शेष इति चेत् .. | .. ८९४ | सर्वार्थे तु प्रक्रमात् ... | .. ५५९ |
| शेषः परार्थत्वात् .. | १०८ | संवत्सरो विचालित्वात् | .. ७१९ |
| शेषदर्शनाच | .. ६२७ | समसंरमभिव्याप्तेः .. | ... ६४९ |
| शेषभूतत्वात् .. | . ६८० | संस्कारकत्वात् | .. ९४९ |
| शेषश्च समाख्यानात् .. | ... २१९ | संस्कारप्रकरणे .. | .. १८१ |
| शेषस्तु गुणसंयुक्तः ... | ... ९४० | संस्कारस्तु न भिद्येत | .. १४३ |
| शेषः प्रकरणाविशेषात् | ... ६२८ | संस्कारस्य तदर्थत्वात् | . ६१५ |
| शेषात् द्व्यवदानताशे | .. ६७४ | संस्कारा वा गुणानाम | ... २१० |
| शेषे ब्राह्मणशब्दः | ... १९७ | संस्कारात् पुरुषसामर्थ्ये | . ९११ |
| शेषे यजुःशब्दः .. | .. १०९ | संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ४८३ | ६१७ |
| श्यावद्दिति चेत् . | ... ७५० | संस्कृतत्वाच . | .. ३१८ |
| श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावे | ... ६५९ | संस्कृते कर्म संस्काराणाम् | ९०९ |
| श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं | .. ५३० | संस्थाच कर्तृवत् | ७०० |
| श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण | .. ३८४ | संस्थानु समानविधाना | .. ३८४ |
| श्रुतेर्जाताधिकारः .. | . ९७८ | स स्वामी स्यात् .. | .. ९९४ |
| श्रुत्यपायाच .. | . ३७४ | स कुलकल्पः स्यात् .. | .. ७१० |
| श्वस्त्वं कथा नव माक् | ... ७७४ | सहिते त्वग्निविप्लुतम् | .. ५७० |
| षट्चिति पूर्ववत्वात् | .. ५०९ | सतः परमदर्शनं ... | ... १६ |
| षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् | .. ५१५ | सतः परमविज्ञानं .. | . ६७ |
| संख्याभावात् .. | . ३० | स तद्वर्णः स्यात् ... | . ६६५ |
| संख्यायुक्तं क्रतोः .. | .. ३०४ | सति सद्वचनं .. | . ३४८ |
| संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् | .. २४१ | सत्राणि सर्ववर्णानां | ... ७३१ |
| संज्ञोपबन्धात् .. | . १८७ | सत्ताकरे च | ... ९४ |
| सत्त्रे कर्म . | .. ९१ | सत्संप्रयोगे पुरुषस्य | ... ९ |
| सदसदर्थानां वा प्रतिपत्तिः | .. ३७७ | स देवतार्थस्तत्संयोगात् | ... १३९ |
| संज्ञा वा तद्दर्शनात् | ७३९ | सन्दंशे ग्रहणौ ... | ... १०१ |
| सद्गृहस्थंदर्शन . | .. ६८९ | सन्निधौ तु अवायात् | .. ९१८ |

# सूचीपत्रम् ।


| सूत्रम् | पृष्ठ | सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|---|---|
| स नैमित्तिकः पशौ | ७३८ | सर्व्वप्रदानं हविषः | २२६ |
| सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् | १०४ | सर्व्वमिति चेत् | ५४६ |
| सन्निधाने विशेषात् | ४९१ | सर्व्वशक्तौ प्रवृत्तिः | ६५९ |
| सन्निधौ त्वविभागात् | १९२ | सर्व्वस्य उक्तकामत्वात् | २२६ |
| सन्निपातश्चेत् | ५६६ | सर्व्वस्य वैककर्म्यात् | ५९६ |
| सन्निपातात्तु निमित्तविघातः | ७२९ | सर्व्वाणि त्वेककार्य्यत्वात् | ५५८ |
| सन्निपाते प्राधान्यात् | ४५० | सर्व्वार्थं वा प्राधान्यस्य | २०१ |
| सन्निपातेऽवैगुण्यात् | ७२६ | सर्व्वार्थत्वाच्च | ७६० |
| सन्निवापं च दर्शयति | ७२८ | सर्व्वार्थमप्रकरणात् | २९९ |
| स प्रत्यामनेत् स्थानात् | ६९८ | सर्व्वासां वा समत्वात् | ५१७ |
| स प्रायात् कर्म्म | २१२ | सर्वे तु वेदसंयोगात् | २५१ |
| समन्तं तत्र दर्शनम् | १९ | सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात् | ११८ |
| समवाये चोदना | ५०७ | सर्व्वं वा सर्व्वसंयोगात् | २५८ |
| समाख्यानं च तद्वत् | ४९५ | सर्वेषां तु विधित्वात् | २५४ |
| समानयनन्तु मुख्यं | ४६० | सर्वेषां भावोऽर्थं | २११ |
| समाप्तं च फले वाक्यं | १७९ | सर्वेषां वा अविशेषात् | ४२१ |
| समाप्तिः पूर्व्ववत्त्वात् | २०४ | सर्वेषां वा चोदना | ५८४ |
| समाप्तिरविशिष्टा | १८० | सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् | ७२१ |
| समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा | २०२ | सर्वेषां वा लक्षणत्वात् | २१५ |
| समिध्यमानवतीं | ५६९ | सर्वेषां वा शेषत्वस्य | ६८० |
| समेषु कर्म्मयुक्तं | ५६२ | सर्वेषां वैकजातीयं | ५५० |
| समेषु वाक्यभेदः | १३२ | सर्वेषां वैकमन्त्र्यम् | २७९ |
| सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः | ५५५ | सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् | २०१ |
| सम्बन्धादर्शनात् | ७१७ | सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् | २९१ |
| सर्व्वं च प्रयोगात् | ७३ | सर्वेषामविशेषात् | ७६१ |
| सर्व्वं वा यौगपद्यात् | २९ | सर्वं मिति चेत् | १११ |
| सर्व्वत्वमाधिकारिकं | ९९ | सर्वेषु वाऽभावात् | २७९ |

| सूत्रम् | पृष्ठ |
|---|---|
| सर्वेषां समवायात् ... | ६७६ |
| स स्वर्गः स्यात् .. | ५०० |
| सहत्वम वतुभर ... | ७५७ |
| साकप्रस्थाय्ये स्विष्टकृत् | ६४६ |
| साकाङ्क्षन्त्वेकवाक्यं ... | २२२ |
| साग्नेया वेष्टिपूर्वत्वात् | ७२७ |
| साधारण्यान्न ध्रुवायां ... | ३४४ |
| सान्नपनीया तूत्कर्षेत् | ४५३ |
| सान्नाय्यसंयोगात् .. | ७१० |
| सान्नाय्याग्निषोमीय . | ५८६ |
| सान्नाय्येऽपि तथेति .. | ७०४ |
| सा प्रकृति स्यात् ... | ७५९ |
| सामान्यं तच्चिकीर्षा हि | ६६६ |
| सामिधेनीस्तदन्वाहु . | ८८१ |
| साम्नो कर्मवृद्ध्यैकदेशेन ... | ५७० |
| साम्युत्थाने विश्वजित् | ७११ |
| सारस्वते च दर्शनात् .. | ७२७ |
| सारस्वते विप्रतिषेधात् . | २०६ |
| साकल्यात् | १०२ |
| सार्वकाम्यमङ्गकामैः .. | ४०४ |
| सार्वरूप्यात् ... | ५१० |
| सा लिङ्गादार्त्विजे | ४२१ |
| स्थालीपाके च कालविधि .. | २५२ |
| सोमपानात्तु प्रापणं .. | ७६८ |
| सोमयैकेषां ... | ५८८ |
| सोमे वचनाद्भक्ष . | ३३८ |
| सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु . | ३०६ |
| सौधन्वनास्तु हीनत्वात् . | ६२१ |
| सौभरे पुरुषश्रुतेः .. | १६५ |
| सौमिके च कृतार्थत्वात् ... | ४८० |
| स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो | ११८ |
| स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वात् .. | ५२ |
| स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगात् ... | ३५१ |
| स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने | ५७१ |
| स्थपतिर्निषादः स्यात् ... | ६२२ |
| स्थपतौ हि प्रवासवत् ... | ७६८ |
| स्थपतीष्टिवल्लौकिके ... | ७६६ |
| स्थानाच्च पूर्वस्य ... | ३०८ |
| स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात ... | ५४४ |
| स्थानात्तु पूर्वस्य .. | ३०६ |
| स्यात् गुणप्रतिषेधात् .. | ४६२ |
| स्यात्तस्य मुख्यत्वात् .. | ४५९ |
| स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वात् | १४४ |
| स्यात् श्रुतिनिर्देशे ... | ६६९ |
| स्यादनित्यत्वात् .. | ३०४ |
| स्यादन्यायत्वात् | ६८२ |
| स्याद्योगाख्या हि ... | ७५ |
| स्याद्वा कर्मदर्शनात् ... | ३४८ |
| स्याद्वा कारणभावात् .. | ३५६ |
| स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षाया | ४४८ |
| स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात् ... | ६२१ |
| स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मं . | ६७८ |
| स्याद्वा यथार्थत्वात् | ७१७ |
| स्याद्वा विधिस्तदर्थेन .. | ५०१ |

| सूत्रम् | पृष्ठ° | सूत्रम् | पृष्ठ° |
|---|---|---|---|
| स्यादाम्य स्योमात् . | ३२७ | स्वामिसप्तदशाः ... | ४०५ |
| स्याद्विद्यार्थत्वात् .. | ५८६ | स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् .. | ७३८ |
| स्वकाले स्यात् . | ४९२ | स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धः .. | ४४१ |
| स्वदाने सर्वम् . | ७४७ | हरणे तु जुहोतिः .. | ४७३ |
| स्वस्थाग्निदेशत्वात् .. | ५३८ | हारियोजने वा ... | ३३६ |
| स्वरूपत्वमेकानिष्पत्ति .. ३५६ | ४७० | हेतुत्वाच्च शब्द . | ४५८ |
| स्वतन्त्रेनु वचनात् ... | ६१२ | हेतुदर्शनाच्च | ६८ |
| स्ववत्तामपि दर्शयति | ६१२ | हेतुमात्रमदन्तत्वम् .. | ३१७ |
| स्वस्थानात्तु विवृध्येरन् | ५६९ | हेतुर्वा स्यात् ... | ५२ |
| स्वाध्यायवद्वचनात् .. | ५८ | होता वा मन्त्रवर्णात् ... | २५३ |
| स्वामिकर्म परिक्रीत .. | ४१२ | होमात् | २६१ |
| स्वामित्वादितरेषाम् .. | ७३५ | होमाभिषवभक्षणं च .. | ६८८ |
| स्वामिधर्मो महत्त्वात् . | ५९२ | होमाभिषवाभ्यां च .. | ३५५ |
| स्वामिनो वा तदर्थत्वात् .. २१५ | ४१५ | होमास्तु व्यवतिष्ठेरन् ... | २९८ |